विश्वधर्म-दर्शन

श्रीसाँवलियाबिहारीलाल वर्मा
एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० एल० सी०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

सम्मेलनभवन, पटना ३

प्रथम संस्करण

वि० सं० २००६ :: सन् १९५३ ईसवी

मूल्य १२) सजिल्द १३॥)

मुद्रक

श्रीमणिशंकर लाल

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना ४

विश्वधर्मदर्शन



स्वामी शिवानंद जी

सर्वधर्म-समन्वय की भावना से प्रेरित होकर
सभी संप्रदायों के मूल में एक ही प्रभु की सत्ता की अनुभूति करके
मानवमात्र को एक अविभक्त कुटुम्ब समझकर
बिना भेदभाव के मनुष्यजाति में नई चेतना जाग्रत कर
ज्ञान, कर्मयोग एवं भक्तिमार्ग की शिक्षा द्वारा
साधना-पथ पर अग्रसर करने में संलग्न
आधुनिक कर्मयोग के ज्वलंत आदर्श
ऋषिकेश के संत

स्वामी शिवानन्दजी

के

चरणकमलों में

सादर-सविनय समर्पित

—**साँवलियाबिहारीलाल वर्मा**

वक्तव्य

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्म्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वै विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥
—(हनुमन्नाटक)

जिस समय बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के कार्यसंचालन का श्रीगणेश हुआ, उसी समय यह ग्रन्थ (विश्वधर्म-दर्शन) प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ था। परिषद् द्वारा प्रकाशनार्थ स्वीकृत होनेवाला सबसे पहला ग्रन्थ यही है। इसके विद्वान लेखक छपरा-निवासी श्रीसाँवलियाबिहारीलाल वर्मा, एडवोकेट, एक पुराने हिन्दी-साहित्यसेवी हैं। यह ग्रंथ उनके अनवरत स्वाध्याय का एक सुन्दर फल है। इसके लिए उन्होंने भारत के अनेक सुसम्पन्न पुस्तकालयों, सांस्कृतिक केन्द्रों, पवित्र आश्रमों एवं मत-मतान्तर की प्रसिद्ध संस्थाओं में स्वयं जाकर प्रत्यक्ष अनुभव अर्जित किया। इसमें अंकित सारी बातें उनकी अपनी जानी-सुनी-देखी और जाँची-समझी हैं। इसके लिए जितने ग्रन्थों का उन्होंने मन्थन एवं मनन किया है, उनकी सांकेतिक सूची इस ग्रन्थ के अंत में दी गई है। इसके जिस खण्ड और जिस परिच्छेद के लिखने में उन्हें जिन-जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है, उनका यथाक्रम उल्लेख उक्त सूची में है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता तो स्पष्ट है ही, इसके विषयों का विस्तृत अध्ययन करने के लिए पाठकों के सामने क्रमबद्ध साधन भी उपस्थित है।

परिषद् द्वारा प्रकाशित होनेवाला प्रत्येक ग्रन्थ विशेषज्ञ विद्वान् से जँचवाया जाता है। यह ग्रन्थ भी, प्रकाशन से पूर्व, परीक्षित हो चुका है। परिषद् के नियमानुसार, यह एक मान्य विद्वान् के पास सम्पादनार्थ भी भेजा गया था। किन्तु इसका विधिवत् संशोधन-सम्पादन परिषद्-कार्यालय में ही करना पड़ा। इन बातों का विवरणात्मक उल्लेख लेखक के 'दो शब्द' में है।

भारतीय धर्म और संस्कृति की महत्ता का प्रतिपादन करने में सर्वधर्मसमन्वयवादी लेखक ने अपनी लकीर बड़ी कर दिखाने के लिए किसी की लकीर छोटी करने या मिटाने की चेष्टा नहीं की है, बल्कि सभी धर्मों और संस्कृतियों का असली रूप दिखाने में काफी निष्पक्षता और सहृदयता से काम लिया है। आशा है कि इस ग्रन्थ के पाठ से सभी धर्मों और संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन का अच्छा अवसर मिलेगा।

मनुष्य की कोई कृति प्रायः सर्वथा निर्दोष नहीं होती। इस ग्रन्थ के गुण-दोष का वास्तविक विवेचन तो अधिकारी विद्वान् ही कर सकेंगे। यदि वे सहृदयतापूर्वक कोई सुधार का सुझाव देने की उदारता दिखायेंगे, तो परिषद् उसपर समुचित रूप से विचार करेगी और उसकी उपयोगिता समझकर उनका आभार अंगीकार करते हुए इसके अगले संस्करण में आवश्यक परिवर्त्तन-परिवर्द्धन करने में दुराग्रह न करेगी।

हमारा विश्वास है कि देश की वर्तमान परिस्थिति में हिन्दी-प्रेमी पाठकों के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपादेय सिद्ध होगा। धर्मजिज्ञासु पाठक-समुदाय के लिए यह एक निर्देश-ग्रन्थ भी प्रमाणित होगा। इसमें लेखक ने कहीं कोई ऐसी बात नहीं लिखी है जिससे किसी की धार्मिक भावना को आघात पहुँचे। परिषद् ने इस ग्रन्थ को इसी दृष्टि से प्रकाशित किया है कि समस्त राष्ट्रभाषाभाषी सभी धर्मों के मूलतत्त्व से परिचित हो जायँ और देश में धार्मिक एकता स्थापित हो तथा विदेशों के हिन्दी-प्रेमी भी भारतीय संस्कृति की वास्तविक महत्ता से परिचित हो जायँ।

महाशिवरात्रि
संवत् २००६ वि०

शिवपूजनसहाय
परिषद्-मंत्री

दो शब्द

थियोसोफिकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय मद्रास शहर से प्रायः सात मील दूर, 'आदयार' नदी के तट पर, 'अदयार' नामक स्थान (मद्रास-राज्य) तथा गंगातटस्थ काशी (उत्तरप्रदेश) में है। अतएव प्रति दूसरे वर्ष इस सोसाइटी का वार्षिकोत्सव मद्रास तथा काशी में समारोह के साथ मनाया जाता है, जिसमें संसार के देश-देश के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। सर्वप्रथम मुझे १६४४ ई० के दिसम्बर में काशी के अधिवेशन में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी तथा सिख वहाँ एकत्र थे। एक साथ ईश्वर के प्रतीक 'ज्योति' की पूजा करते थे। अधिवेशन के कार्यारम्भ के पूर्व, सभी धर्मों के अनुयायियों ने सम्मिलित रूप से ईश्वर-प्रार्थना की। इस प्रार्थना-पद्धति ने मेरे हृदय पर अमिट प्रभाव डाला।

उक्त सोसाइटी का ध्येय है सर्वधर्मसमन्वय द्वारा विश्व-बन्धुत्व स्थापित करना; मानवान्तःकरण में निहित आध्यात्मिक शक्तियों का अनुसन्धान एवं समन्वय करना; धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, राष्ट्र, वर्ग आदि का भेदभाव न रखकर सारे विश्व को एक प्रेम-सूत्र में गूँथना।

पूर्वोक्त घटना ने मुझमें संसार के सब धर्मों के तत्त्व की जिज्ञासा पैदा की। मैंने भिन्न-भिन्न धर्मों के सम्बन्ध में स्वर्गीया एनी बेसेण्ट द्वारा लिखित पुस्तकों का अध्ययन किया। डा० भगवानदास का 'एसेन्शियल यूनिटी ऑफ ऑल रेलिजन्स' नामक ग्रन्थ भी पढ़ा। तत्पश्चात्, वैदिक काल से लेकर गांधीवाद तक के भारतीय धर्म और दर्शन का अध्ययन करना चाहा; किन्तु हिन्दी में पुस्तकों का अभाव खटकने लगा। सिनहा लाइब्रेरी (पटना) तथा पटना-कालेज, लंगट सिंह-कालेज (मुजफ्फरपुर) और पटना-विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों का तो मैंने उपयोग किया; परन्तु पर्याप्त सामग्री मुझे प्राप्त न हो सकी। अतएव विवश होकर कलकत्ता की इम्पीरियल लाइब्रेरी (अब नेशनल लाइब्रेरी) का सदस्य होना पड़ा; किन्तु वहाँ भी, कोई ऐसी एक पुस्तक, अंग्रेजी में भी, नजर न आई जिसके द्वारा वैदिक काल से लेकर गांधीवाद तक की धार्मिक प्रगति के साथ-साथ संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों के मूलतत्त्व का भी ज्ञान हो जाय। भिन्न-भिन्न प्रामाणिक पुस्तकों में इस तरह का मसाला बिखरा पड़ा है; किन्तु उस बिखरी सामग्री को अनेक ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ से पढ़ लेने का धैर्य और साधन प्रत्येक जिज्ञासु के लिए सुलभ नहीं।

अतः स्वभावतः इच्छा हुई कि हिन्दी में, पाँच खण्डों में, ऐसी एक ही पुस्तक लिखी जाय जिससे वास्तविक धर्म-जिज्ञासु की इच्छापूर्ति हो सके, भारतीय धर्म और दर्शन की प्रगति के साथ-साथ संसार के अन्यान्य धर्मों की भी पर्याप्त जानकारी हो जाय।

मैंने पुस्तकों को पाँच खण्डों में विभाजित किया। ऐसा विचार था कि प्रत्येक खण्ड लगभग हजार पृष्ठों का अलग-अलग ग्रन्थ के रूप में हो; किन्तु वह पाँच खण्डोंवाला ग्रन्थ सर्वजनसुलभ नहीं हो पाता। अतएव मैंने इस एक ही ग्रन्थ में सारी सामग्री संक्षेपतः संकलित कर देने की चेष्टा की है।

मैंने प्रथम खण्ड के लिए सन् १९४५ ई० में अध्ययन करना शुरू कर दिया। वेदों के अनेक सानुवाद संस्करण प्राप्त किये। दस उपनिषदों का अध्ययन कर साधारण जनता के समझने लायक सरल भाषा में उनकी संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की। किन्तु अन्य उपनिषदें मुझे न हिन्दी में प्राप्त हो सकीं, न अंग्रेजी में। अतएव इस सम्बन्ध में मैंने पूना के भण्डारकर ओरिएण्टल इन्सटीट्यूट के संचालक और विख्यात वेदज्ञ श्रीदाण्डेकर साहब को पत्र लिखा। आपने सूचना दी कि १०८ उपनिषदें अदयार लाइब्रेरी (मद्रास) में प्राप्त हो सकती हैं। महर्षि रमण के दर्शन और सत्संग की प्रबल इच्छा तो पहले से थी ही, उपनिषदों की खोज की लालसा से मुझे १९४७ ई० में दूसरी बार मद्रास-यात्रा करनी पड़ी। अदयार लाइब्रेरी में मुझे १०८ उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य ७१ उपनिषदें भी प्राप्त हुईं।

मेरी इच्छा थी कि प्रथम खण्ड ५५ परिच्छेदों का होता जिसमें समस्त वैदिक साहित्य का परिचय हिन्दी पाठकों को सम्यक् रूप से मिल जाता। इसी उद्देश्य से मैं बहुत अध्ययन करने लगा था। किन्तु इसी बीच संयोगवश बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्कालीन सभापति तथा मुजफ्फरपुर-जिलाबोर्ड के वाइस चेयरमैन स्वर्गीय श्रीरामधारी प्रसाद मेरे यहाँ (सीतामढ़ी) आये। आपने ग्रन्थ के लिखित अंश को पढ़ा और मेरी योजना पसन्द की; किन्तु आपकी राय हुई कि मैं यदि अपनी योजना के अनुसार काम करूँगा तो सम्भवतः अपने जीवनकाल में ग्रन्थ पूरा नहीं कर सकूँगा; क्योंकि कार्य विशाल और गहन है तथा चलती वकालत के कारण मुझे अवकाश भी कम मिल सकेगा। अतएव आपने सुझाव पेश किया कि पाँचों खण्डों के विषय का एक संक्षिप्त संस्करण—प्रायः पाँच-छः सौ पृष्ठों का—तैयार किया जाय जिससे विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होगा और उन्हें इस बात की प्रेरणा मिलेगी कि वे इस ग्रन्थ के संक्षिप्त खण्डों पर विस्तार से स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार करें।

मुझे रामधारी भाई का यह सुझाव पसन्द आया। प्रथम खण्ड का विस्तृत रूप से अध्ययन, मनन तथा लेखन स्थगित करके मैंने पाँचों खण्डों के सारांश को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने का निश्चय किया। मुझे अत्यन्त शोक है कि रामधारी भाई अपने सुझाव के इस परिणाम को देखने के लिए जीवित नहीं रहे। फिर भी, मुझे विश्वास है कि इस तुच्छ कृति से उनकी दिवंगत आत्मा को आनन्द एवं संतोष होगा।

इस ग्रन्थ के अधिकतर अंश का प्रारूप १९४८ ई० में तैयार हो गया था। १९४८ ई० के अन्त में मैं दिल्ली गया। वहाँ देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद को मैंने ग्रन्थ के लिखित अंश के साथ अपनी योजना दिखलाई। अवकाशाभाव के कारण वे प्रस्तुत पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढ़ नहीं सके। किन्तु विषय-सूची और योजना देखकर उन्होंने प्रशंसा की। उनके प्रोत्साहन से मैंने इस ग्रन्थ को वर्त्तमान रूप में प्रस्तुत किया।

मित्रों के अनुरोध से मैंने पूरी पाण्डुलिपि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के पास भेज दी। परिषद् ने उसे आचार्य क्षितिमोहन सेन (शान्तिनिकेतन) तथा डाक्टर भीखनलाल आत्रेय (हि० वि० वि०) के पास सम्मति के लिए भेजा। उनकी सम्मतियाँ आने पर पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ स्वीकृत हुई। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने ग्रन्थ की कई त्रुटियों को सुधारने का सुझाव दिया था। तदनुसार मैंने यथोचित सुधार कर दिये। तत्पश्चात् परिषद् ने पूरी पाण्डुलिपि, सम्पादन के निमित्त, प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय (हि० वि० वि०) के पास भेजी। आपने पाण्डुलिपि में यत्र-तत्र साधारण परिवर्तन किये किन्तु वास्तविक संशोधन-सम्पादन का कार्य तो परिषद्-कार्यालय में ही हुआ। इस ग्रन्थ को ऐसे परिष्कृत रूप में जनता के समक्ष लाने का श्रेय परिषद् को ही है।

इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे प्रायः ५०० पुस्तकों का अध्ययन करना पड़ा है। पाठकों की सुविधा के लिए मैंने उनकी नामावली ग्रन्थ के अन्त में दे दी है। एक साथ समस्त पठनीय पुस्तकों की सूची देने से पाठकों को ज्ञात नहीं होता कि ग्रन्थ के किस विषय को विस्तृत रूप से समझने के लिए कौन-सी पुस्तक उपयोगी होगी; अतएव मैंने पठनीय पुस्तकों की नामावली विषयानुसार खण्डक्रम से अलग-अलग दे दी है। मैंने सिर्फ उन्हीं पुस्तकों की सूची दी है जिन्हें मुझे स्वयं पढ़ने का अवसर मिला।

यह ग्रन्थ साधारण हिन्दी-प्रेमी जनता के लिए लिखा गया है। मैंने सागर को गागर में भरने का प्रयत्न किया है, क्योंकि विषय विशाल है; किन्तु मेरी सफलता की जाँच तो सहृदय पाठक ही कर सकेंगे।

जिस प्रकार एक माली भिन्न-भिन्न रंग के गंधहीन पुष्पों को भी जब एक साथ बाँध-कर गुलदस्ता तैयार करता है तब गंधहीन पुष्पसमूह भी आकर्षक और लुभावना दीख पड़ता है। वही अवस्था इस ग्रन्थ की है। मैंने जहाँ-तहाँ से उपयुक्त विषयों का चयनमात्र कर दिया है। इसमें न मेरी मौलिकता है और न विद्वत्ता। किन्तु मेरी इस मधुमक्षिकावृत्ति से सर्वसाधारण जन अवश्य लाभान्वित होंगे—ऐसा मेरा विश्वास है, और यह आशा भी है कि ग्रन्थ की त्रुटियों की ओर विषय-विशेषज्ञ विद्वान मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करेंगे जिससे अगले संस्करण में आवश्यक सुधार हो सके।

किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय पर आक्षेप करने के बजाय मेरा एकमात्र ध्येय सब धर्मों और सम्प्रदायों में पारस्परिक सहिष्णुता द्वारा समन्वय की भावना स्थापित करना रहा है। इसलिए इस ग्रन्थ में ऐसा कोई भी वाक्य या शब्द मैंने नहीं लिखा है जिससे किसी धर्म या सम्प्रदाय के अनुयायी का दिल दुखे। फिर भी प्रत्यक्ष एवं कटु सत्य को संयत भाषा में अभिव्यक्त करने से मैं कहीं नहीं चुका हूँ।

संसार के सभी धर्मों और सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक महान सन्त जन और अवतारी पुरुष हुए हैं। उन लोगों ने अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार, जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर, सन्मार्ग प्रदर्शन किया है। उनके उपदेश बड़े गूढ़ हैं। उन्हें ठीक-ठीक न समझने के कारण जनता में भ्रान्ति फैली हुई है। अतः उनके प्रति अबोध जनता में अकारण अनादर की भावना और असहिष्णुता तीव्र हो उठी है। परिणामस्वरूप धर्मान्धता बढ़ गई है जिससे साम्प्रदायिक कटुता को बल मिलता जा रहा है। मुझे

विश्वास है, यह ग्रन्थ उक्त भ्रान्ति और कटुता को दूर कर जन-जन में सच्चे धर्मज्ञान और पारस्परिक सद्भाव का प्रसार करेगा।

भारत 'सेकुलर' (असाम्प्रदायिक) राष्ट्र है; किन्तु इसका वातावरण धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। इस देश में धार्मिक भावनाओं की आधारशिला अपने ढंग की निराली रही है। यह व्यक्तिगत मान-मर्यादा और देवी-देवता अथवा सर्वशक्तिमान ईश्वर की भक्ति के बदले चरित्रोत्कर्ष और जन-कल्याण पर निर्भर रही है। इसी कारण जहाँ ईश्वर की सत्ता न माननेवाले गौतम बुद्ध और सांख्यदर्शनकार महर्षि कपिल भी हमारे यहाँ भगवान् के अवतारों में गिने गये तथा सदा हमारी पूजा के भाजन बने रहे, वहाँ चरित्रहीनता के कारण चारो वेदों के मर्मज्ञ, कर्मकाण्डी और शिवभक्त रावण की गणना राक्षसों में की गई। ऋग्वेद में सर्वत्र 'ऋत' (नियम तथा आचार) की मर्यादा का ही बखान किया गया है।

आज हमारा देश स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखना अत्यावश्यक है। भारत को अपना पुराना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करना है। इसके लिए आवश्यक है कि भारत की जनता में धार्मिक कट्टरता और अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति असहिष्णुता का ह्रास हो, सर्वधर्म-समन्वय द्वारा भारत के जन-जन में बन्धुत्व दृढ़ हो जिससे सारा देश एक प्रेमसूत्र में गुँथ जाय। मेरा विश्वास है कि भारत में 'ऋत' के प्रचार और 'सर्वजन-सुखाय' की भावना के प्रसार में यह ग्रन्थ सहायक होगा।

ग्रन्थ की छपाई समाप्त होने पर मुझे विश्वस्त सूत्र से पता लगा कि दक्षिणभारत में एक ऐसे सन्त-महात्मा हैं जिन्होंने सर्वधर्मसमन्वय के सिद्धान्त का तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति का प्रचार करने में बहुत कीर्ति अर्जित की है। इसलिए मैंने श्रीअरविंद-आश्रम के एक साधक श्रीचन्द्रदीपजी से अनुरोध किया कि वे उनका संक्षिप्त परिचय लिखकर भेज दें। श्रीचन्द्रदीपजी ने उस महात्मा का जो परिचय लिख भेजा है, उसे मैं इस ग्रन्थ के अंत में परिशिष्ट के रूप में दे रहा हूँ। इस ग्रन्थ के आठवें खण्ड के तीसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के उन्नायकों का जो परिचय दिया गया है, उसीके अन्त में उक्त परिशिष्ट को मिलाकर पढ़ना चाहिए।

बिहार के पुराने कवि मित्रवर पण्डित उपेन्द्र मिश्र 'मंजुल' ने आरम्भ में पूरे ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पढ़कर अनेक सुझाव दिये थे, जिसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। सीतामढ़ी (मुजफ्फरपुर) के विद्याप्रेमी मुख्तार श्रीदेवरंजनप्रसाद वर्मा ने साफ प्रेस-कापी तैयार की है जो अवकाशाभाव के कारण मेरे लिए दुस्तर कार्य था। अतएव मैं आपका भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सर्वोपरि मैं स्वामी शिवानन्दजी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ का सभक्ति समर्पण स्वीकृत करके मुझे कृतार्थ किया है और जिनसे समय-समय पर इस ग्रन्थ के विषय में परामर्श और प्रोत्साहन मिलते रहे हैं।

सीतामढ़ी कोर्ट
गीताजयन्ती, २००६ वि०
२७-११-५२

—साँवलियाबिहारीलाल वर्मा

विषय-सूची

पहला खण्ड

दूसरा खण्ड

तीसरा खण्ड

चौथा खण्ड

पाँचवाँ खण्ड

छठा खण्ड

सातवाँ खण्ड

आठवाँ खण्ड

विश्वधर्म-दर्शन

पहला खण्ड

पहला परिच्छेद
सिन्धु-सभ्यता

आर्यों के पूर्व के भारत का हमें धुँधला चित्र मिलता है। भूगर्भवेत्ताओं की खोजों के अनुसार भारतवर्ष का स्वरूप और आकार युग-युग में बदलता रहा है। उनका कथन है कि दक्षिण भारत का अन्तरीप पुरातन काल में पृथक् था। वह उस महाद्वीप का एक भाग था, जो दक्षिण अफ्रिका से आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका तक फैला हुआ था। यह प्रायः निर्विवाद है कि हमारे देश का सबसे प्राचीन भूभाग दक्षिण है। यहाँ पुराने पत्थरयुग की चीजें बहुतायत से मिलती हैं। पत्थर-युग के बाद दक्षिण में लोहे के और उत्तर में ताँबे के युग का आरम्भ हुआ। यद्यपि इधर-उधर कभी-कभी कुछ काँसे की चीजें भी मिलती हैं। किन्तु पत्थरयुग अथवा आदिम ताम्रयुग की इतनी सामग्री हमें नहीं मिलती कि उस समय के जीवन, रहन-सहन आदि की हम साफ तस्वीर खींच सकें, परन्तु यह धुँधलापन अब हटता हुआ दिखाई देता है। विदेशियों की राय थी कि भारत में सभ्यता सुमेरिया, मिस्र और यूनान से फैली, किन्तु हड़प्पा और मोहेञ्जोदड़ो की खुदाई के बाद पुरातत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि सिन्धु-नद और सिन्ध-प्रदेश के 'मेहरान' नामक लुप्त नदी की तलहटी में ही सभ्यता का आदिम विकास हुआ।

खुदाई करने पर मोहेञ्जोदड़ो में एक दूसरी, पर बड़ी पुरानी, इमारतों की सात तहें मिली हैं। तीस फुट की गहराई तक पकाई हुई ईंटें प्राप्त हुई हैं। अनुमान किया जाता है कि सबसे नीचे की सतह के नीचे और भी तहें होंगी, जो पानी में डूबी हुई हैं। मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के निर्माताओं का निश्चित रूप से अभीतक पता नहीं चला है। कुछ विद्वान् उन्हें द्रविड़-जाति का मानते हैं और कोई इस सभ्यता को आर्य और अनार्य-सभ्यता का मिश्रण मानते हैं।

गृहनिर्माण

मोहेञ्जोदड़ो में आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व की बनी ईंटों के छोटे और बड़े मकान मिलते हैं। मकान में सड़कों की ओर खास दरवाजा रहता था। आँगन के चारों ओर कमरे अथवा कोठरियाँ बनी मिलती हैं, जिनमें खिड़कियों से धूप आने का प्रबन्ध था। मकानों में अक्सर तहखाने बने होते थे। कुँए भी होते थे, जिनमें कुछ तो इस ढंग

से बने पाये जाते हैं कि उनका उपयोग बाहर और भीतर दोनों ओर से हो सके। पानी के निकास के लिए ढँकी नालियाँ पाई जाती हैं। नहाने के लिए स्नानगृह भी होता था। शहर की सड़कें पक्की बनाई जाती थीं और पानी निकलने के लिए नालियाँ बनी हुई थीं।

सामाजिक जीवन

लोगों की धारणा है कि वहाँ के निवासियों को लोहे का ज्ञान नहीं था; क्योंकि सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे और जस्ते के बने हुए जेवर, सिक्के आदि मिलते हैं; किन्तु लोहे की बनी कोई चीज खुदाई से नहीं मिलती। हाथीदाँत और सीप की बनी चीजें भी वहाँ मिलती हैं। इसके अलावा तसले, लोटे, घड़े, छीपियाँ आदि मिली हैं। पता लगता है कि यहाँ के निवासियों को कपड़े और गहने का बहुत शौक था। मर्द अँगूठियाँ पहनते और स्त्रियाँ हार, कण्ठा, करधनी, कड़े आदि पहनती थीं। वे लोग मूर्त्तियाँ, चित्र और खिलौने भी बनाते थे। बन्दर, भालू, खरगोश, बाघ, गैंड़े और भैंसे की शक्ल के खिलौने, रंगीन हाँड़ियाँ, घड़े आदि मिलते हैं। पासे भी पाये जाते हैं, जिनसे अनुमान होता है कि सम्भवतः उन्हें जुआ खेलने का भी शौक था। वे लोग बैल, भैंस, भेड़, हाथी, ऊँट, सूअर, कुत्ते आदि पालते थे। सवारी और माल ढोने के लिए पहियावाली गाड़ियाँ और इक्के रखते थे। वे तीर, कमान, बर्छे, फरसे, गदा आदि का व्यवहार करते थे, किन्तु जिरहबख्तर (कवच) और ढालों का सम्भवतः उपयोग नहीं जानते थे। मुर्दों को जलाकर बची-खुची हड्डियों को बर्तन में रखकर गाड़ने की चाल थी।

धार्मिक विचार

विद्वानों का मत है कि सिंधु-सभ्यतावाले मूर्ति-पूजक थे। मोहेञ्जोदड़ो तथा हड़प्पा में एक प्रकार की मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं जिन्हें पुरातत्त्वशास्त्री मातृदेवी की मूर्त्तियाँ मानते हैं। ये मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजियन प्रान्त से सिंधुप्रांत के बीच के सभी देशों—फारस, मेसोपोटेमिया, ट्रैंसकस्पिया, लघुएशिया, मिस्र, सीरिया आदि में प्रचलित थी। उन देशों की मूर्त्तियों में इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रागैतिहासिक युग में मातृपूजा का भूमध्य-सागर से भारत तक प्रचार हुआ था। बलूचिस्तान में भी कुछ मातृदेवी की मृण्मयी मूर्त्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरतीमाता की पूजा से ही हुई होगी। बेबिलोन की कुछ मुद्राओं पर मातृदेवी अनाज की बाल के डंठल के साथ दिखलाई गई है। मेसोपोटेमिया के लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी हर प्रकार से नगरनिवासियों की रक्षा करती थी। इन्हीं दृष्टिकोणों से सिंधु-प्रांत में भी मातृदेवी की पूजा होती रही होगी। ऋग्वेद में मातृदेवी के लिए अदिति, प्रकृति तथा पृथ्वी-माता शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

इन खुदाइयों से ऐसी भी मुद्रा मिली थी, जिसे पुरातन-पण्डित, प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं। इस आकृति में शिव के तीन चेहरे हैं। हाथ दोनों ओर घुटनों के ऊपर रक्खे हैं और शिवजी पलथी मारकर पूर्ण-योग की अवस्था में एक तिपाई पर बैठे हैं। तिपाई की दाईं ओर चीते तथा बाईं ओर गैंड़े और भैंसे का चित्र है। ठीक

शिवजी के सम्मुख द्विशृंगी हिरण खड़े हैं। सिर पर दो सींग हैं जो सिरबंद से बँधे हैं। मुद्रा के ऊपरी भाग में सात शब्दों का एक लेख भी है। प्राचीन काल में सींग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सुमेर, बेबिलोन तथा ईरान में तो पुरोहित और राजा सींगों को पहनते थे। सम्भवतः सिंधुप्रान्त के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हो सकते हैं। सर जान मार्शल की राय है कि ऐतिहासिक युग में यही त्रिभंग प्रतीक त्रिशूल के रूप में आया। मोहेञ्जोदड़ो की शिव-आकृति में सम्भवतः तीन देवताओं को एक करने का प्रयत्न किया गया है। शिवजी की दूसरी प्रकार की मूर्ति एक ताम्रपत्र पर अंकित है। इसमें शिव योगासन में हैं, प्राचीन योगशास्त्रों में लिखा है कि योग-साधना के लिए तीन वस्तुओं की आवश्यकता है—(१) ठीक आसन, (२) सीधा मस्तक, धड़ और ग्रीवा तथा (३) अर्धनिमीलित नेत्र जो नासिका के अग्रभाग पर स्थिर हो। इन मूर्तियों में भी स्पष्ट रूप से ये गुण मौजूद हैं। शिवजी के दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो भक्त हैं। दो सर्प सम्मुख बैठे हैं। शिवजी अपने गले में भी सर्प धारण किये हुए हैं। मोहेञ्जोदड़ो में लिङ्ग और योनि के आकार की कई वस्तुएँ मिली हैं। ऋग्वेद् से ज्ञात होता है कि अनार्यों में लिंगपूजा प्रचलित थी। इन लोगों के बीच लिंग और योनि धार्मिक प्रतीक समझकर पूजे जाते थे। ऐसे अनेक उदाहरण दक्षिणभारत में भी पाये जाते हैं।

सभ्यता की रूपरेखा

पुरातत्ववेत्ता पाश्चात्य विद्वानों का विश्वास है कि आर्यों के भारत में आने के पूर्व ही मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और आर्यों से जो युद्ध हुआ, जिसका संकेत ऋग्वेद में मिलता है, उसके परिणामस्वरूप मोहेञ्जोदड़ो की सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हुई। डाक्टर मार्शल की धारणा है कि सिन्धु-सभ्यता आर्य-सभ्यता से पुरानी है, और इन दोनों में कोई सम्बंध नहीं है। आपका कथन है—

(१) गाय आर्य लोगों की सम्पत्ति थी ; किंतु सिंधुप्रान्त की किसी मुद्रा पर इसका चित्रण नहीं है; घोड़े का भी सिंधुप्रांत में अभाव है और जो हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं वे बहुत ही कम हैं। किंतु उनकी यह धारणा निर्मूल है। आर्य अपने घर के भीतर वेदी का निर्माण करते थे। वैदिक-काल में सम्मिलित उपासना की चाल आर्यों में न थी। स्पष्ट-तया वैदिक काल में मूर्तिपूजा भी आर्यों में प्रचलित न थी। अतएव यदि सिंधु-सभ्यता को प्राग्वैदिक सभ्यता समझें तो उस अवस्था में यह सम्भव नहीं जँचता कि मूर्तिपूजा प्रचलित होकर पुनः लुप्त हो गई हो।

(२) दूसरी बात यह है कि यहाँ की अनेक प्राप्त मुद्राओं के चिह्न (लिपि) सुमेरों और मिस्र के चिह्नों की तरह है। इस लिपि को कुछ विद्वान चित्र-लिपि मानते हैं जो आज भी चीन एवं जापान में प्रचलित है। सुदूर प्रशांत-महासागर में स्थित इस्टर टापू में भी सिन्धु-लिपि-जैसी लिपि मिली है। हण्टर साहब के अनुसार सिन्धु-लिपि संकेतात्मक है और इसकी उत्पत्ति पदार्थ-चित्रों तथा साधारण चित्रलिपि से हुई है। यह लिपि बाईं ओर से दाईं ओर को पढ़ी जाती थी, किन्तु कभी-कभी दाईं ओर से बाईं ओर को भी

पढ़ी जाती होगी। इस लिपि की उत्पत्ति प्रायः पाँच हजार वर्ष से बहुत पहले हो गई होगी। सिन्धुप्रान्त की लिपि तीन भागों—(१) अक्षरों (२) पदार्थ-चित्रों और (३) निर्धारिकों में विभाजित रही होगी। प्रत्येक मुद्रा पर इन्हीं में से एक चिह्न पाया जाता है। किन्तु वैदिक आर्यों को लिपि का ज्ञान न था। इससे भी स्पष्ट है कि सिंधु-सभ्यता वैदिक सभ्यता के बाद की है।

(३) तीसरा प्रमाण यह है कि यह निर्विवाद है कि वैदिक आर्यों को गेहूँ का ज्ञान नहीं था, ऋग्वेद में कहीं भी गेहूँ का उल्लेख नहीं है। इतिहासकाल में गेहूँ का स्पष्ट उल्लेख आता है, अतएव यह ज्ञात होता है कि अन्य देशों के सम्पर्क के बाद बाहर से गेहूँ भारत में आया। मोहेञ्जोदड़ो एवं हड़प्पा में प्रचुर संख्या में गेहूँ का दाना मिला है।

(४) चौथा प्रमाण यह है कि ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य शहरों में नहीं रहते थे। सर जान मार्शल की तो धारणा है कि उन्हें शहरों का ज्ञान ही नहीं था! मोहेञ्जोदड़ो एवं हड़प्पा सप्तसिन्धु-प्रदेश से सटे हुए थे, अतएव यह विश्वास नहीं होता कि वास्तव में यदि सिन्धु-सभ्यता आर्य-सभ्यता के पूर्व की होती, तो आर्यों को इसका ज्ञान नहीं होता। अनेक ऋचाओं से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सप्तसिंधु के पणि (वणिक्) दूर-दूर देशों से व्यापार करते थे, अतएव तत्कालीन समुद्र-तट पर होने के कारण ये नगर समृद्धिशाली हो गये थे; बाद में प्रकृति के प्रकोप से ये नगर नष्ट-भ्रष्ट हुए। इन नगरों के ध्वंस का यही उचित कारण प्रतीत होता है न कि आर्यों के संघर्ष के परिणामस्वरूप। अधिकांश विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वैदिक सभ्यता प्रायः ६००० वर्ष से कम की नहीं है। सिंधु-सभ्यता अधिक से अधिक ५००० वर्षों की है। इससे भी स्पष्ट है कि सप्तसिन्धु के आर्यों की सभ्यता के बाद की सिंधु-सभ्यता है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्य-सभ्यता सिंधु-सभ्यता से पुरानी है।

(५) मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की मूर्त्तियों से यह स्पष्टतया प्रमाणित नहीं होता कि सिंधु-प्रांत के निवासी मूर्त्तिपूजक थे। आज भी भारत में अनेक मनुष्य मिलेंगे जो किसी भी रूप में मूर्त्तिपूजा नहीं करते। यह स्पष्ट है कि मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा में कोई विशेष जाति नहीं रहती थी। भिन्न भिन्न जातियों के लोगों ने बाहर से यहाँ आकर अपनी-अपनी रीति-रस्मों का प्रचार किया होगा और अनेक मिश्रित तत्त्वों के समन्वय से यह सभ्यता बनी होगी। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, भारत के अनार्य मूर्त्ति-पूजक थे। ऐसी अवस्था में या तो मोहेञ्जोदड़ो एवं हड़प्पा की अनेक मूर्त्तियाँ कला की दृष्टि से बनी होंगी, जैसा आज यूरोप-अमेरिका आदि देशों में अनेक मूर्त्तियाँ शोभा के लिए रखी जाती हैं, अथवा अनार्य उनकी पूजा करते थे, क्योंकि सभ्यता और संस्कृति की पराकाष्ठा के युग में भी आज संसार के भिन्न-भिन्न देशों के आदिम निवासी मूर्त्तिपूजक हैं।

सुतराम् सिन्धु-सभ्यता वैदिक सभ्यता के परम्परागत विकास की एक शृंखला है जो वैदिक सभ्यता की नितांत प्राचीनता द्योतित कर रही है। सिंधु-सभ्यता के उद्भावकों को द्रविड़ या अनार्य मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

दूसरा परिच्छेद
आर्यों के आदि-निवास

आर्यों के आदि-निवास के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। गोरी जातियों ने अमेरिका, दक्षिण अफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में फैलकर उनपर केवल आधिपत्य ही नहीं जमाया, वहाँ पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार भी किया और प्रचार-कार्य करते हुए अपने से इतर जातियों को असभ्य कहने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं किया। पाश्चात्य सभ्यता की प्रधानता को कायम रखने के खयाल से, आरम्भ से ही, यूरोप और अमेरिका के अधिकांश विद्वानों का ध्येय यह रहा है कि भारत की आदि-सभ्यता का आदि-स्रोत प्रधानतः यूरोप में और अन्ततः मिस्र (इजिप्त) अथवा सुमेरिया (ईराक) में कायम करें। स्वेडन, लिथुआनिया आदि यूरोप के उत्तरी देशों की भाषा तथा वहाँ के प्राचीन निवासियों की खोपड़ियों की तुलना करते हुए उन विद्वानों का यह प्रयत्न रहा है कि आर्यों का आदि-निवासस्थान उत्तरी यूरोप में कायम करें। इसके अतिरिक्त वेद की ऋचाओं से मनमाना अर्थ निकालकर उन लोगों ने अपने इस मत की पुष्टि का प्रयत्न भी किया है। ऋग्वेद में इन्द्र का रंग सुनहला वर्णित है। शुक्ल-यजुर्वेद में रुद्र का बाहु सुनहला वर्णित है। ऋग्वेद के पहले मंडल के १२२ वें सूक्त के चौदहवें मंत्र में हम एक ऋषि को हिरण्यकर्णवाले सुन्दर पुत्र के लिए प्रार्थना करते हुए पाते हैं। ऐसे वाक्यों के आधार पर, अपने देश और जाति की महत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से, पाश्चात्य विद्वानों का यह मत रहा है कि वेदों से भी यह बात प्रमाणित होती है कि आर्य उत्तरी यूरोप से, जहाँ के निवासियों का रंग हिरण्यमय है, भारत में आये। आरम्भ से ही यूरोपवालों ने यह प्रचार किया कि आर्य लोग भारत के आदि-निवासी नहीं थे, बल्कि अपने मूल स्थान से डैन्यूब नदी के किनारे-किनारे होते हुए बासफरस और डार्डनल्स को लाँघकर, एशिया-माइनर के रास्ते, ईरान और अफगानिस्तान तथा सप्तसिंधु में पहुँचे; रास्ते में वे अपने दल को इधर-उधर छोड़ते आये और सप्त-सिंधु के आदि-निवासी काली जातियों से बहुत दिनों तक उनका संघर्ष होता रहा। अंत में उन्हें पराजित करके जंगलों में खदेड़ दिया अथवा अपना दास बना लिया। ईरानियों के आदिग्रन्थ 'जेन्द-अवस्ता' की भाषा, उसके भाव और देवगण के नाम आदि की तुलना करके भी उनलोगों ने यह

धारणा स्थिर की है कि ऋग्वेद के बनने के कुछ काल पूर्व यूरोप से आर्य ईरान होकर भारत आये और उनकी एक शाखा वहाँ बस गई। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने अपने मत का प्रसार ऐसे कौशल-पूर्ण ढंग से किया कि इसके परिणाम-स्वरूप भारतवासी भी यह विश्वास करने लग गये कि आर्य-लोग सचमुच भारत के आदि-निवासी नहीं थे और वे यूरोप, ईरान अथवा मध्य-एशिया से भारत में आये तथा यहाँ के अनार्यों को परास्त कर सप्तसिंधु (पंजाब) में बस गये। इसका फल यह हुआ कि आज अधिकांश इतिहासकार आर्यों का मूल-स्थान उस प्रदेश में मानते हैं जो मध्य-एशिया से डेन्यूब नदी तक फैला हुआ है और भारत के इतिहास का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

मिस्र, सुमेरिया, यूनान आदि देशों की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में पत्थर पर की खुदाई, मूर्ति, मन्दिरों के भग्नावशेष, 'पिरामिड' आदि से कुछ ज्ञान होता है, किंतु भारतवर्ष की सभ्यता के आदिकाल में न लिखने की चाल थी और न मूर्तिनिर्माण की। परिणामस्वरूप सिवा ऋग्वेद के हमें भारत की सभ्यता तथा संस्कृति की जानकारी का कोई साधन नहीं मिलता। ऋग्वेद में हमें बहुत-से साधन प्राप्य हैं। किंतु पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययन का दृष्टि-कोण ही भिन्न रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने विचार की पुष्टि के खयाल से जगह-जगह उनलोगों ने वेद के अर्थ का अनर्थ कर डाला। दुर्भाग्यवश भारतीय विद्वानों का ध्यान ऐतिहासिक दृष्टि से वेद के अध्ययन की ओर नहीं गया। हिंदुओं की धारणा है कि वेद अपौरुषेय और नित्य है तथा सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म-वाणी के रूप में उसका प्रादुर्भाव हुआ। इस धारणा के कारण उनलोगों ने ऐतिहासिक दृष्टि से वेद की छानबीन करने की जरूरत ही नहीं समझी।

लोकमान्य तिलक को पाश्चात्य विद्वानों का यह दृष्टिकोण, जो उन विद्वानों के संकुचित विचार पर अवलम्बित था, पसंद नहीं आया। आपने गत शताब्दी के अंत में, अपनी पुस्तक 'आर्टिक होम अफ द वेदाज' में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि आर्यों का आदि-निवासस्थान उत्तरी-ध्रुव के निकट था और उसी स्थान से आर्य यूरोप एवं सप्त-सिंधु में फैले। पश्चिम में सिंधु नद (इण्डस्) और पूरब में सरस्वती नदी—जो आज लुप्त है, तथा मध्य में सिंधु-नद की पाँच शाखाओं के बीच का जो प्रदेश है वही सप्त-सिंधु के नाम से विख्यात था। ऋग्वेद में उषा की विशेष रूप से स्तुति की गई है। उनकी संख्या कहीं-कहीं ९९ तक दी गई है। तिलक महाराज की धारणा है कि उषा उत्तरी ध्रुव की देवता है; क्योंकि पंजाब में उषा-काल प्रतिदिन सिर्फ थोड़े ही समय के लिए रहता है, किंतु ध्रुव-प्रदेश में उषा-काल लगातार कई सप्ताहों तक रहता है। अतएव भारत में आने के पूर्व से ही आर्यों में उषा की वन्दना की चाल थी। और, जब वे भारत में आये तब भी उन लोगों ने इसको जारी रखा। किंतु इसका कारण कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है। उषाकाल केवल अतिमनोहर समय ही नहीं है। यह काल आर्य-जनों के लिए संध्या-पूजा का समय था। इसलिए स्वभावतः आर्य-ऋषि कवियों में उषा की स्तुति करने की स्फूर्ति हुई होगी, जिसका परिणाम है कि उषा के स्तुति-सम्बंधी मंत्र ऋग्वेद में संभवतः सबसे सुन्दर ललित, तथा मनोहर हैं। ऋग्वेद में केवल भारतीय प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है। इसमें सप्त-सिधु के बाहर के नदी-पहाड़ आदि की चर्चा नहीं है। ऐसी अवस्था में यह

निश्चित है कि ऋग्वेद की रचना भारत में ही हुई। यह संभव नहीं कि आर्य लोग वर्षों के बाद, अनेक नदी-पहाड़ आदि को लाँघते हुए, जब सप्तसिंधु में आ बसे, तब उन्होंने उत्तरी ध्रुव की महत्ता का खयाल करके उषा की स्तुति में अनेक ललित पदों की रचना की। ऋग्वेद के मंत्रों से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद-काल में, वर्ष के अधिकांश समय में, सप्तसिंधु में काफी सर्दी पड़ती थी, महीनों वर्षा जारी रहती थी, जिससे उषा-सूर्य सघन पटल के भीतर छिपे रहते थे। किंतु अब पंजाब में वर्षा-ऋतु प्रायः गायब हो गई है। वहाँ अब बहुत कम वर्षा होती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में शीत-ऋतु की चर्चा है जिससे आर्यों को आध्यात्मिक उन्नति करने की सुविधा हुई। अब तो पंजाब ग्रीष्म-प्रधान देश हो गया है। भूगर्भशास्त्र-वेत्ताओं की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि बहुत काल पहले राजपूताना, सिंध, युक्तप्रांत का अधिकतर भाग, बिहार एवं बंगाल समुद्र के गर्भ में थे, और सप्त-सिंधु के तीन तरफ समुद्र था। इसी कारण ऋग्वेद में गंगा और यमुना का विशेष महत्त्व नहीं है। गंगा की चर्चा केवल दो बार ऋग्वेद में आई है, किंतु अथर्ववेद में गंगा और यमुना की केवल चर्चा ही नहीं है, गंगा-यमुना-तटवर्ती प्रदेशों और नगरों का भी उल्लेख है।

वेद में समुद्र की चर्चा

गंगा और यमुना थोड़ी दूर बहकर तात्कालिक समुद्र में गिर जाती थी। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं था। किंतु काल-क्रम से जब उपर्युक्त प्रदेश समुद्र के गर्भ से बाहर निकल आये तब वे समय पाकर समृद्ध देश हो गये। तभी उनकी चर्चा अथर्ववेद में विशेष रूप से हुई। अतएव यह प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद के आरम्भ काल में सप्तसिंधु के तीन ओर समुद्र था। इतने पर भी यूरोप के विद्वानों का दृष्टिकोण ऐसा संकीर्ण रहा है कि अपनी बात को साबित करने के अभिप्राय से वे वास्तविक अर्थ का विपर्यय करते रहे हैं। प्रसिद्ध विद्वान मेकडानल ने अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में यहाँ तक कह डाला है कि आर्य लोग समुद्र को जानते ही नहीं थे। उनका कहना है कि ऋग्वेद में वर्णित समुद्र का अर्थ जल-समूह है। किंतु ऋग्वेद के अनेक स्थलों में समुद्र शब्द आया है जिसका अर्थ सिवा समुद्र के दूसरा हो ही नहीं सकता। उदाहरण-स्वरूप ऋग्वेद के दो मंत्रों को देखिए—

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्

अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥

—मण्डल ७, सूक्त ८८, मंत्र ३

भावार्थः—वसिष्ठजी कहते हैं कि जिस समय हम और वरुण दोनों नाव पर चढ़े थे और जिस समय समुद्र के बीच नाव को हमने भली भाँति प्रेरित किया था तथा जिस समय जल के ऊपर गतिपरायण नाव पर हम थे, उस समय शोभायुक्त नौकारूपी झूले पर हमने सुख से क्रीड़ा की थी।

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥

—मं० ८, सूक्त ६, मं० ४

भावार्थ—जैसे नदियाँ समुद्र को प्रणाम करती हैं वैसे ही समस्त मानव-प्रजा इन्द्र के क्रोध के भय से उनको प्रणाम करती है।

अतएव यही उचित प्रतीत होता है कि वैदिककाल विशेषतः ऋग्वेद के समय के इतिहास की रूप-रेखा ऋग्वेद से प्राप्य सामग्री से रची जाय।

भाषा-विज्ञान और सभ्यता के अनुसन्धान करनेवालों की धारणा है कि पुरातनकाल में आर्यजाति जो एक स्थान में बसती थी, अनेक कारणों से अपने मूल स्थान से निकलकर यूरोप और एशिया में फैल गई। और, आर्यभाषा का प्रचार संसार के भिन्न-भिन्न देशों में हुआ। इससे अनुमान किया जा सकता है कि आर्यजाति किसी समय बहुत प्रबल और पराक्रमी थी। अपने मूलस्थान से निकलकर इस जाति ने संसार की सभ्यता पर अपना सिक्का जमा दिया। आर्यों के मूलस्थान के सम्बन्ध में यद्यपि गहरा मतभेद है तथापि मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के बाद कुछ लोगों का विश्वास भी हो गया है कि आर्य लोगों का मूलस्थान सप्तसिंधु अथवा उसके आसपास ही था—यद्यपि अधिकांश पाश्चात्य विद्वान अब भी इसको मानने के लिए तैयार दीख नहीं पड़ते।

डाक्टर अविनाशचन्द्र दास ने अपने 'ऋग्वैदिक इण्डिया' और 'ऋग्वैदिक कलचर' नामक ग्रन्थों में, स्वामी शंकरानन्द ने 'ऋग्वैदिक कलचर आफ द प्री हिस्टोरिक इण्डस' नामक ग्रन्थ में और पुरातत्त्व के विख्यात विद्वान रायबहादुर रमाप्रसाद चन्दा ने अपने 'इण्डस वैली इन द वैदिक पीरियड' नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद से उपलब्ध सामग्री की तुलना मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से निकली हुई चीजों से करके, यह साबित किया है कि आर्य-सभ्यता का आदिस्रोत सप्त-सिंधु ही था। सच तो यह है कि आर्यों के आदि-निवास-सम्बन्धी जो धारणाएँ अबतक थीं, सब केवल अनुमान पर ही अवलम्बित थीं और उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो निश्चित अथवा सर्वमान्य कही जा सके। किन्तु निष्पक्ष व्यक्तियों को मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के बाद यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं रही कि आर्यों की आरम्भिक रंगभूमि भारत के सप्त-सिंधु अथवा इसके निकट वर्त्तमान कश्मीर में थी और वहीं से आर्यों का विस्तार यूरोप और एशिया में हुआ। विख्यात जर्मन विद्वान सीमर (जीमर) का भी कहना है कि वेद में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके द्वारा आर्यों का आदि-वासस्थान भारत के बाहर कहा या माना जा सके। वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि आर्यों को कश्मीर से उत्तर के देशों का पता नहीं था। उत्तरकुरु और पाञ्चालों की सम्मिलित जाति भी कश्मीर में ही थी, न कि भारत की सीमा से बाहर। कश्मीर में ही सोमलता प्राप्य थी। अतएव कुछ विद्वानों की धारणा है कि आर्य मूलतः कश्मीर-निवासी थे, और संख्यावृद्धि अथवा प्राकृतिक परिवर्तन के कारण, सप्तसिंधु में आ बसे। वेशभूषा की तुलना से भी आर्य भारत के बाहर के आदिनिवासी नहीं जान पड़ते। यूरोप के लोग ऊँचा जूता और पाजामा पहनते थे। बाद ईरानियों ने इनसे पाजामा पहनना सीखा, किन्तु ऋग्वेदकालीन आर्य प्रायः विना सिला हुआ वस्त्र पहनते थे।

अगर आर्य बाहर से भारत में आते तो स्वभावतः किसी नेता के नेतृत्व में आते और उनकी यात्रा तथा सप्तसिंधुविजय की गाथा का समावेश ऋग्वेद में अवश्य होता। किन्तु ऋग्वेद में जो आर्य एवं दस्युओं के युद्ध की चर्चा है, वह सिर्फ एक ही देश के भिन्न-भिन्न समुदायों के बीच हुए संघर्ष की चर्चा के समान है। ऋग्वेद से यह स्पष्ट विदित होता है कि आर्यों का युद्ध केवल दस्युओं से ही नहीं हुआ; बल्कि समय-समय पर इन्द्र, वरुणादि देवताओं की उपासना करनेवाली तथा यज्ञादि कर्म करनेवाली भिन्न-भिन्न आर्य जातियो में भी हुआ, जिसमें राजा दिवोदास का युद्ध प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में वर्णित अनार्यों को कुछ विद्वान मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा का निर्माता अथवा पोषक मानते हैं। कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि आर्य-सभ्यता मिस्रवासियों और सुमेरियनों की देन है। किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह प्रमाणित होगा कि सिन्धुसभ्यता मिस्र और सुमेरियनों की सभ्यता से भी पुरानी है। सिन्धुसभ्यता में बैलों द्वारा गाड़ी खींची जाती थी, किन्तु सुमेरिया में गदहों द्वारा। बर्छे, भाले या त्रिशूल की तुलना से पता चलता है कि सुमेरियनों का बर्छा अधिक सुन्दर और सुनिर्मित था। इन सब बातों से भी सिंधु-सभ्यता पुरानी जान पड़ती है। मोहेञ्जोदड़ो में खुदाई के बाद देवालय या मन्दिर नहीं मिले। किन्तु मिस्र, सुमेरिया, बैबिलन, यूनान आदि देशों में हम मन्दिर अधिक संख्या में पाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि इन सब देशों की सभ्यता सिंधु-सभ्यता के बाद की है।

पणियों द्वारा समुद्री व्यापार

ऋग्वेद से हमें यह भी ज्ञात होता है कि सप्तसिन्धु के निवासी पणि लोग समुद्र द्वारा व्यापार करते थे। समुद्र के किनारे होने के कारण मोहेञ्जोदड़ो तथा हड़प्पा सप्तसिंधु के सीमान्त-प्रदेश में थे। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः —१।५६।२

भावार्थ—जिस प्रकार धनाभिलाषी वणिक् घूम-घूमकर समुद्र को चारो ओर से व्याप्त किये रहते हैं उसी प्रकार हव्यवाहक स्तोता लोग चारों ओर से इन्द्र को घेरे हुए हैं।

मंत्रार्थ से स्पष्ट है कि वे लोग समुद्र द्वारा व्यापार करते थे, यहाँ तक कि समुद्र के बीच स्थित टापू का भी जिक्र प्रथम मण्डल के १६६वें सूक्त के तीसरे मंत्र में आया है। पणि लोग आर्य व्यापारी थे जो मिस्र, सुमेरिया, यूनान आदि सुदूरवर्ती देशों से समुद्र द्वारा व्यापार करते थे। उपर्युक्त इतिहासज्ञ श्रीरमाप्रसाद चन्दा का मत है कि पणि लोगों ने ही मोहेञ्जोदड़ो को बसाया और समृद्ध दशा को पहुँचाया। ऋग्वेद में पणियों का जिक्र है। पणि लोग यज्ञ नहीं करते थे। इसलिए इंद्र के उपासकों के वे शत्रु बन गये थे। कर्ज न चुका सकने पर कर्जदार को दास हो जाना पड़ता था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०८वें सूक्त में पणियों और इन्द्र की दूती 'सरमा' के बीच सुन्दर संवाद है। स्पष्ट रूप से पणियों को नष्ट करने का आदेश हमें ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ५८वें सूक्त के दूसरे मंत्र में मिलता है। उसमें पणियों को अनार्य या असुर नहीं कहा है; किंतु उन्हें आसुरी बुद्धिवाला बतलाया है। इससे भी प्रत्यक्ष है कि पणि लोग आर्य व्यापारी थे, जो इन्द्र की पूजा और यज्ञ न करने से ऋषियों के कोप-भाजन थे। मोहेञ्जोदड़ो के समृद्धिकाल में पणियों ने संसार के भिन्न-भिन्न देशों से केवल व्यापार

ही नहीं किया, बल्कि उन देशों में जाकर वे बस भी गये और इस प्रकार उन लोगों ने आर्य-सभ्यता एवं आर्य-संस्कृति का प्रचार भी उन देशों में किया।

'जातक' के अनुसार भी प्राचीन बेबिलोन से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। प्रसिद्ध ईरानी सम्राट् दारा के प्राचीनतम शिला-लेखों में भी सिंधु और कुशावती का स्पष्ट उल्लेख है। अबिसिनिया (अफ्रिका) का प्राचीन नाम 'कुशावती' इस बात का द्योतक है कि वह सिन्धु-वासियों का किया हुआ नामकरण है। एशिया-माइनर आदि देशों में आर्यों के प्रसार की कथा का ऐतिहासिक आधार तो ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व तक मिलता है। भारतीय संस्कृति के साथ मैक्सिको (अमेरिका) की मय-जाति की सभ्यता की समानता की पर्याप्त चर्चा विद्वानों में हुई है। इस प्रकार भी हम देखते हैं कि पणियों ने मोहेञ्जोदड़ो के समृद्धि-काल में, संसार के भिन्न-भिन्न देशों से व्यापार कर, वहाँ आर्य-सभ्यता का प्रचार किया। जिस प्रकार इङ्गलैंड-निवासी जब अमेरिका में जा बसे तब वहाँ के कुछ नगरों का नाम अपने देश के नगरों के नाम पर रखा। उसी प्रकार जब पणि लोग अफ्रिका के तट पर जा बसे तब वहाँ के नगरों का नाम 'पण्य-जन-पद' रखा जो पीछे फिनिसिया हो गया। मिस्र देश की गाथा आदि से ज्ञात होता है कि आदि-मिस्री 'पुन्त' नगर से आ बसे। कुछ विद्वानों की राय है कि पुन्त नगर मध्य एशिया में है, किंतु शब्द की तुलना से पता चलता है कि यह 'पुण्य' अथवा 'पुणी' का अपभ्रंश था। इसलिए यह अनुमान होता है कि 'पुणी' लोग मोहेञ्जोदड़ो से आकर मिस्र में बसे थे। मोहेञ्जोदड़ो और मिस्र में मुर्दे का अन्तिम संस्कार एक ही प्रकार से होता था। यह बात भी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करती है।

सुमेरु-सभ्यता की भारतीयता

जब हम ऐतिहासिक काल में भारतीय विद्वानों को यूनान और अलेकजेण्ड्रिया में पाते हैं तो अनुमान होता है कि ऐतिहासिक युग के पूर्व भी आर्य उन देशों में थे। और, मैक्सिको की मय-सभ्यता तो बिल्कुल भारतीय ही थी। उत्तरी अमेरिका के लुसियाना-प्रदेश में कुछ जंगली जातियाँ वैदिक आर्यों की तरह अबतक भी अहर्निश अखण्ड अग्नि प्रज्वलित रखती हैं।* पुनः सुमेरियन लोग भी सिंधु-निवासियों की तरह स्त्री-देवता की पूजा करते थे जो चन्द्रमा अर्थात् सोमा थी। सोमा वैदिक देवता है। सुमेरियन लोगों के प्रधान देवता का नाम 'एनलिल' था जो संस्कृत 'अनिल' (वायु देवता) का ही शाब्दिक रूपान्तर है। अनेक आचार-विचारों से भी सुमेरियन लोग निश्चित रूप से आर्य सिद्ध होते हैं। यह बात पाश्चात्य आलोचकों को भी सर्वथा मान्य है।†

मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा में—सीमान्तप्रदेश एवं व्यापारिक नगर होने के कारण—खुदाई के बाद भिन्न-भिन्न जातियों की खोपड़ियाँ मिली थीं। किंतु वे अधिकांश भारतीयों की ही थीं। इससे भी विदित होता है कि आर्यों का आदि-निवास-स्थान सप्तसिंधु ही था, और इन दोनों प्राचीन महानगरों के आर्य, व्यापार-प्रिय होने के कारण, संसार के विभिन्न देशों में जाकर बस गये। सिर्फ वहाँ बसे ही नहीं, आर्य-सभ्यता और संस्कृति का वहाँ प्रचार भी किया।

---

*श्रीचमनलाल-रचित 'हिंदू-अमेरिका'। † स्टोरी अफ नेशन्स, प्रथम भाग, पृष्ठ ७५

तीसरा परिच्छेद
ऋग्वेद का कालनिर्णय

संसार के साहित्य में ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु इसके निर्माण-काल के निर्णय के सम्बन्ध में जितने विरोधी विचार हैं उतने अन्य किसी ग्रन्थ के नहीं। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद बाद को बने। किन्तु कुछ विद्वानों की राय है कि आर्यों ने सामवेद के मंत्रों का गान करते हुए सप्तसिन्धु में प्रवेश किया और बाद में उन लोगों ने क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की रचना की। अपने इस कथन की पुष्टि वे गीता के उस भगवद्वचन से करते हैं जिसमें योगेश्वर भगवान कृष्ण ने वेदों में अपने को सामवेद कहा (वेदानां सामवेदोऽस्मि)। सामवेद को भगवान द्वारा महत्ता प्राप्त करने का विशेष कारण था। आपने सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद्वेत्ता 'अंगिरस' से शिक्षा ग्रहण की थी, अतएव स्वभावतः आपकी दृष्टि में सामवेद की महत्ता सर्वोपरि थी। वेदों की अन्तरंग परीक्षा से भी सामवेद-सम्बन्धी धारणा गलत प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त, जैसा हम आर्यों के आदिस्थान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए कह आये हैं, आर्यों का आदि-निवासस्थान भारत से बाहर नहीं, बल्कि उसके अन्दर ही सप्तसिन्धु अथवा उसके निकटस्थ कश्मीर था। वे कहीं बाहर से सामगान करते हुए नहीं आये थे। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के बाद अन्य वेद बने।

अब देखना है कि ऋग्वेद का रचनाकाल क्या है। मुसलमानों तथा क्रिस्तानों के धर्मग्रन्थों से पता चलता है कि संसार में खण्डप्रलय हुआ था, जिसका वर्णन 'नोआआर्क' की कहानी से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी चर्चा 'मनु महाराज की बाढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। इस बाढ़ ने संसार में उथल-पुथल मचा दी। परिणाम-स्वरूप समुद्र सूखकर राजपुताना की मरुभूमि बन गया और द्रविड़ देश (दक्षिण भारत) सप्तसिन्धु में मिलकर एक हो गया। अगस्त्य ऋषि की पौराणिक कथा इस घटना से सम्बन्ध रखती है। अगस्त्य की कथा वास्तव में वृहत्तर भारत की कथा है। भूगर्भविद्या-विशारदों के अन्वेषण के अनुसार एक ओर विन्ध्य-पर्वत गगनचुम्बी होने के कारण याता-यात के लिए दुर्लंङ्घ्य था और दूसरी ओर वर्तमान राजपुताना में स्थित समुद्र, सप्तसिन्धु को दक्षिण से अलग करता था। किन्तु खण्डप्रलय के कारण एक ओर विन्ध्याचल की

ऊँचाई कम हो गई, तो दूसरी ओर राजपुतानावाला समुद्र सूखकर मरुभूमि बन गया। पौराणिक गाथा है कि सूर्य की भी गति रोकनेवाला विन्ध्याचल अगस्त्य ऋषि के सम्मुख झुक गया और अगस्त्य ने समुद्रपान कर लिया जिससे वह सूख गया!

ऋषि अगस्त्य का सांस्कृतिक महत्त्व

अगस्त्य वैदिक ऋषि थे। लोपामुद्रा उनकी धर्मपत्नी थी। उत्तराखण्ड के श्रीकेदारनाथ के मार्ग पर अगस्त्य-मुनि नामक स्थान उनका आश्रम कहा जाता है। किन्तु उनका आश्रम किसी एक प्रदेश में टिकाऊ नहीं था। अनेक स्थान इस गौरव के भागी हैं। वस्तुतः उनके आश्रमों की स्थिति उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर आर्यजाति के प्रसार को सूचित करती है। इससे यह ज्ञात होता है कि खण्डप्रलय के कारण जो भौगोलिक परिवर्तन हुआ, उसके परिणामस्वरूप एक ओर गगनचुम्बी विन्ध्याचल जमीन में धँसकर यातायात के लिए सुगम हो गया, दूसरी ओर समुद्र के सूखने से राजपुताना और सिंध मरुस्थल बन गया, जिसके कारण रमता योगी अगस्त्य ने विन्ध्याचल को पार कर दण्डकारण्य के बीच से दक्षिण-यात्रा का मार्ग खोज निकाला। तब से आजतक इस मार्ग का महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है। बाद में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने वनवास के समय इसी मार्ग से दक्षिण में प्रवेश किया था। आज भी 'मनमाड़' रेलवे-स्टेशन के दक्षिण, चार मील की दूरी पर, नासिक जानेवाली सड़क की बाईं ओर, अगस्त्यपुरी बताई जाती है। इस स्थान से भी दक्षिण मलयपर्वत पर अगस्त्य का आश्रम है। रामायण से ज्ञात होता है कि सुग्रीव ने सीता के अन्वेषण का मार्ग बताते हुए, हनुमान से मलय-पर्वत पर अगस्त्य के दर्शन करने के लिए कहा था।* इस प्रकार हम देखते हैं कि विन्ध्य-पर्वत को यातायात के योग्य बनाने के कारण अगस्त्य का नाम सप्त-सिंधु और उसके बृहत्तर रूपों को मिलानेवाला सेतु है। इनकी स्मृति भारत में ही नहीं, किंतु बाली आदि द्वीपों में भी आज सुरक्षित है। और, इसी घटना के आधार पर उनकी महत्ता को बढ़ाने एवं इस घटना को रोचक बनाने के उद्देश्य से पुराणों के रचयिता ने लिखा है कि अगस्त्य मुनि विन्ध्याचल के गुरु थे, अतः विंध्य-पर्वत प्रणाम करने के लिए उनके चरणों में झुक गया और उनको मार्ग प्रदान किया तथा अगस्त्य ने समुद्र-पान करके उत्तर-दक्षिण-भारत को मिलाकर बृहत्तर-भारत-राष्ट्र का निर्माण किया। इस प्राकृतिक परिवर्तन का काव्यात्मक उल्लेख ऋग्वेद के बाद के ग्रन्थों में ही है। अतः ऋग्वेद की अति प्राचीनता इस घटना से प्रमाणित होती है।

धर्मपरायण हिंदुओं की धारणा है कि सृष्टि का आरम्भ अरबों वर्ष पूर्व हुआ था। वेद दिव्यवाणी के रूप में सृष्टि के आरम्भ से ही हैं तथा प्रलय हो जाने पर उनका नाश न होगा; क्योंकि वेद अपौरुषेय एवं अनादि हैं। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में वेदों की उत्पत्ति का समय १९६०८५२९७६ वर्ष लिखा है। आपकी गणना का आधार मनुस्मृति है। किंतु पाश्चात्य विद्वानों तथा बुद्धिवादी भारतीय विद्वानों को इस काल-गणना पर संतोष नहीं है। उनका कहना है

*वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ४१, श्लोक १६

कि २५,००० वर्ष पूर्व मनुष्य बोलता भी था या नहीं, इसमें संदेह है; अरबों साल की तो बात ही क्या ? अतएव, अन्य साधनों के अभाव में हमें देखना है कि वैदिक साहित्य के बहिरंग और अंतरंग प्रमाणों पर पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों की क्या राय है।

ऋग्वेद का काल

सर्वप्रथम प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने इसकी चर्चा छेड़ी। आपकी राय में ऋग्वेद के मंत्र ईसवी-पूर्व के १५०० से १००० वर्ष के भीतर रचे गये। आपके बाद वैदिक विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। गिल्डनर वेस्ट तथा जैक्सन ने पारसियों के धर्म-प्रवर्त्तक ज़रथुस्त का समय ६६० से ५८३ ई० पूर्व निश्चित किया है और उसी आधार पर हापकिन्स तथा जैक्सन ने यह निश्चित किया है कि ऋग्वेद का काल ८०० से ६०० वर्ष ईसवी-पूर्व होता है। इन लोगों का कहना है कि ऋग्वेद तथा पारसी धर्म-ग्रन्थ 'जेंद-अवस्ता' की भाषा में काफी समता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वेद और 'जेंद-अवस्ता' प्राय: एक ही समय में बने। परंतु यह उनकी भूल है। यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ कुरान की आयतें (वाक्य) मुहम्मद साहब को २३ वर्षों में मिली थीं। अर्थात् २३ वर्ष में कुरान ग्रन्थ पूरा हुआ। इसी प्रकार वैदिक विद्वान इस विषय में सहमत हैं कि सम्पूर्ण ऋग्वेद की रचना एक साथ नहीं हुई। प्रसिद्ध विद्वान श्रीरमाप्रसाद चंदा ने अपनी पुस्तक 'इंडस वैली इन द वैदिक पिरियड' में लिखा है कि भिन्न-भिन्न आधुनिक विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों की रचना एक साथ नहीं हुई। उनकी राय है कि दूसरे मण्डल से लेकर सातवें मण्डल तक का अंश, जो पारिवारिक मण्डल के नाम से विख्यात है, सबसे पुराना है। उसके बाद प्रथम और अष्टम मण्डल की रचना हुई। नवाँ मण्डल पारिवारिक मण्डलों से कुछ मंत्र लेकर और कुछ स्वतंत्र मंत्रों से बना। दसवाँ मण्डल सबसे अंत में बना। यह बात ऋग्वेद के मंत्रो से ही प्रमाणित होती है।*

ऋग्वेद के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उसके मंत्र पहले के मंत्रों के आधार पर सुसंस्कृत और सुसज्जित करके बाद में इस रूप में बने। इस धारणा की पुष्टि भी उसीके मंत्रों से होती है।†

ऋग्वेद के आरम्भ के मण्डलों में हम वरुण को सर्वशक्तिमान् सर्वप्रधान देवता पाते हैं। किंतु बाद में इन्द्र की महत्ता बढ़ने लगती है और वरुण की घट जाती है। फलस्वरूप हम ऋग्वेद के अंत में वरुण को सिर्फ जल का देवता पाते हैं; इधर इन्द्र की मर्यादा वृत्रासुर को मारने के बाद बहुत बढ़ जाती है; किंतु इन्द्र की प्रधानता बहुत-से आर्यों को मान्य नहीं थी। कुछ वरुण की प्रधानता स्वीकार करते, कुछ सूर्य की और कुछ अग्नि की। अग्नि की स्तुति से वेद का आरम्भ ही हुआ है। इस कारण, इन्द्र को प्रधान माननेवाले आर्यों से इन्द्र-विरोधी आर्यों का समय-समय पर संघर्ष हुआ, जिसका आभास हमें ऋग्वेद में भी मिलता है। मोहेञ्जोदड़ो के आर्य-व्यापारी पणि भी इन्द्र की महत्ता स्वीकार नहीं करते थे।

---

* ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त ३२, मंत्र १३ : मं० ६, सू० २१, मं ५

† १ । ६६ । २ : १ । ८६ । ३

संभव है, कुछ शान्तिप्रिय आर्य, जो विशेष रूप से अग्नि के उपासक थे, संघर्ष के कारण ईरान जाकर बस गये और वैदिक धर्म को मानते रहे। फिर कालान्तर में महात्मा जरथुस्त्र ने वैदिक धर्म में सुधार कर उसकी रूपरेखा यद्यपि बदल दी तथापि पूर्व-संस्कार के कारण धर्म का आधार ऋग्वेद ही रहा। किंतु इंद्र की गणना, जिनका ईरानी नाम आंद्र पड़ा, देवता के स्थान पर असुरों में हुई। अतएव हापकिन्स और जैकसन का यह विचार कि ऋग्वेदकाल ८०० से ६०० ईसवीपूर्व है, भ्रमात्मक है।

प्रसिद्ध विद्वान विण्टर्मिट्स ने ऋग्वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के लगभग माना है। यह समय बहुत-कुछ निकटतम जान पड़ता है। लोकमान्य तिलक और याकोवी महाशय ने ज्योतिष-सम्बंधी गणना पर वेद-काल का निर्णय किया है। लोकमान्य ने अपनी पुस्तक 'ओरायन' में ऋग्वेद का समय ईसवी-सन् से लगभग ६००० वर्ष पूर्व प्रमाणित किया है और याकोवी ने ४५०० वर्ष पूर्व। किंतु पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों मतों का खण्डन इस आधार पर किया है कि ऋग्वेद के जिन मंत्रों के बल पर यह ज्योतिष-सम्बंधी गणना की गई है उनका अर्थ संदिग्ध है; ज्योतिष-सम्बंधी गणना तो केवल गणित पर अवलम्बित होती है।

ह्यूगो विंकलर ने १६०७ ई० में एशिया-माइनर के 'बोगज-कोई' नामक स्थान में खत्ती-राज्य-सम्बन्धी कुछ ईंटें खोद निकाली थीं। इनपर चौदहवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के खुदे लेखों में खत्ती और मितानी जातियों के बीच युद्ध-समाप्ति के फलस्वरूप हुई सन्धि का उल्लेख है। सन्धि में साक्षी-रूप से चार वैदिक देवताओं के नाम आये हैं—जैसे मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य। ये नाम जेन्द-अवस्ता के नामों से पूर्णतया नहीं मिलते; किन्तु ऋग्वेद में आये हुए नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद बनने के बहुत काल बाद आर्यों की एक शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर भी निकल गई और वहाँ उसने (आर्यशाखा ने) विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की। अतः ऋग्वेद का समय इस काल से अत्यन्त प्राचीन होना चाहिए।

सर जान मार्शल मोहेञ्जोदड़ो की सभ्यता को ई० सन् के ५००० से ३००० वर्ष पूर्व बतलाते हैं। मोहेञ्जोदड़ो के निवासी लोग आर्य थे। वे द्रविड़, मिस्र आदि देशों से व्यापार करते थे। इसलिए आधुनिक कलकत्ता की तरह मोहेञ्जोदड़ो एकदेशीय नहीं, सार्वदेशिक नगर हो गया था। वह किसी युद्ध के कारण नष्ट-भ्रष्ट हुआ नहीं जान पड़ता। उसका ध्वंस भौगोलिक और प्राकृतिक परिवर्तन के कारण हुआ। उसकी भूमि के निचले स्तर से कई टूटे हाथ, पाँव, खोपड़ियाँ आदि मिली हैं। साथ ही एक विशालकाय मनुष्य का अस्थिपञ्जर भी वहाँ मिला है। इससे कुछ लोगों का अनुमान है कि आर्यों ने द्रविड़ों को युद्ध में पराजित कर नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला तथा इस युद्ध में दोनों पक्षों की क्षति हुई। किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। इसकी पुष्टि में अभीतक युक्तियुक्त कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। इसी कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोहेञ्जोदड़ो की सभ्यता वैदिक आर्य-सभ्यता है, न कि द्राविड़ अनार्य-सभ्यता। इस गणना से ऋग्वेद-काल ई० सन् से ५००० वर्ष पूर्व का हो जाता है, जो लोकमान्य तिलक की गणना से मिलता-जुलता है। प्रसिद्ध विद्वान श्रीबालकृष्ण दीक्षित ने भी, भारतीय ज्योतिषशास्त्र-

सम्बन्धी अपने इतिहास-ग्रन्थ में, ऋग्वेदकाल की गणना की है। वह काल-गणना ई० सदी के प्राय: ३००० वर्ष पूर्व से प्राचीन आती है।* श्रीदीक्षित के उपर्युक्त निर्णय का खण्डन सम्भवत: आजतक किसीने नहीं किया।

पार्जिटर और मैकडानल का मत है कि हम यदि निश्चय के साथ बतला सकें कि यजुर्वेद अथवा शतपथब्राह्मण का समय कौन-सा है, तो ऋग्वेद का समय निश्चित कर सकते हैं। पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न सूक्तों का भिन्न भिन्न समय में बनाया जाना निर्विवाद है। इसी प्रकार यजुर्वेद की भी रचना कई शताब्दियों तक होती रही; क्योंकि ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल के पुरुषसूक्त में यजुर्वेद का उल्लेख है। मेकडानल के मतानुसार ब्राह्मणग्रन्थों की ऋग्वेदविषयक भिन्न-भिन्न चर्चाओं से ऐसा मालूम होता है कि उस समय ऋग्वेद की संहिता एक विशेष रीति से स्थिरतापूर्वक निश्चित हो चुकी थी। शतपथब्राह्मण में एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि यजुर्वेद के गद्यवचनों का पाठ बदलना असंभव है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह भी उल्लेख पाया जाता है कि ऋग्वेद के अमुक सूक्त में कितनी ऋचाएँ हैं; और इस समय उसमें उतनी ही ऋचाएँ मिलती हैं। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणग्रन्थों के समय में समग्र ऋग्वेद सुबद्ध, सुव्यवस्थित और सर्वमान्य ग्रन्थ समझा जाता था।

यह जो धारणा प्रचलित है कि ऋग्वेद की व्यवस्था करने का काम व्यासजी ने किया और व्यास महाभारत के समय में वर्तमान थे, उक्त विधान के अनुकूल है। कौरव और पाण्डव-युद्ध के बाद शतपथब्राह्मण का निर्माणकाल माना जाता है। इस विवेचन से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद का काल कम-से-कम ईसवी सदी से प्राय: ४००० वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए।

---

* इण्डियन ऐंटिक्वेरी—भाग २४, पृष्ठ २४५

चौथा परिच्छेद
वेद का अर्थानुसन्धान

वेद की भाषा अत्यन्त लचीली है। वेद की ऋचाओं के भिन्न-भिन्न विद्वानों ने, भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ किये हैं। यद्यपि प्राचीन काल से अबतक ऋग्वेद पर अनेक भाष्य लिखे गये तथापि ऋग्वेद की परिपूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकी। यह ठीक है कि बहुतेरे ऐसे सूक्त हैं जिनका अर्थ अब विवादास्पद नहीं रहा, परन्तु बहुतेरे ऐसे भी हैं जिनका प्रस्तुत अर्थ नितान्त भ्रम-मूलक है। अतएव यथार्थ भाव समझने में अपने को असमर्थ पाकर अनेक आधुनिक विद्वानों ने कतिपय मंत्रो को निरर्थक कह डाला है! भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से ऋग्वेद का अर्थ किया है, जिसके परिणामस्वरूप एक आचार्य का अनुवाद दूसरे से सर्वथा भिन्न हो गया है और कहीं-कहीं तो यह सन्देह होने लगता है कि ये भिन्न-भिन्न अनुवाद एक ही मंत्र के अनुवाद हैं या नहीं।

वेदार्थ-अनुसन्धान के सम्बंध में आजकल प्रधानतया तीन मत मिलते हैं, जिनमें से पहला सायण और उनके पूर्व के भाष्यकारों का, दूसरा पाश्चात्य भाष्यकारों का, और तीसरा अर्वाचीन भारतीय भाष्यकारो का है।

(क) प्राचीन भाष्यकारों में सबसे प्रसिद्ध भाष्य सायण का है और प्रायः उन्हीं के भाष्य के आधार पर पाश्चात्य एवं भारतीय भाष्यकारों ने भाष्य रचा है। सायण ने अपने भाष्य में भारतीय परम्परा को अपनाया है। अतएव उनका वृहत् भाष्य प्राचीन आचार्यों के आधार पर ही लिखा गया है। यास्क ने भी निरुक्त में कतिपय मंत्रो का भाष्य लिखा है तथा मंत्र के अर्थनिर्णय की प्रणाली को भली-भाँति समझाया है। सायण ने निरुक्तकार यास्क के मत का उल्लेख अपने भाष्य में सैकड़ों बार किया है। यास्क ने जिस परम्परा का पालन अपने निरुक्त में मंत्रों के अर्थ करने में किया है, उसी का अनुसरण हमें सायण-भाष्य में मिलता है। सुतराम् सायण ने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है। यह प्रायः निर्विवाद है कि सायण-भाष्य यदि न होता तो वेदार्थ-अनुशीलन की दयनीय अवस्था हो जाती। वास्तव में वैदिक भाषा और धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही साधन है और वह

है—सायण का चारों वेदों का भाष्य। प्रत्येक विद्वान के ऊपर सायण का ऋण यथेष्ट मात्रा में है। परन्तु योगी अरविन्द की राय में सायण की केन्द्रीय त्रुटि यह है कि उसने सदा कर्मकाण्ड-विधि में ही ग्रस्त रहकर, निरंतर वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित साँचे में डालकर, वैसा ही रूप देने का यत्न किया है। परिणामतः सायणभाष्य के द्वारा ऋषियों का, उनके विचारों का, उनकी संस्कृति का, उनकी अभीप्साओं का एक ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना संकुचित है कि यदि हम उसे स्वीकार कर लें तो वह वेद के सम्बंध में प्राचीन पूजाभाव को, उसकी पवित्र प्रामाणिकता को, उसकी दिव्य ख्याति को बिलकुल अबुद्धिगम्य कर देता है। फिर भी यद्यपि सायण का ग्रन्थ एक ऐसी कुञ्जी है जिसने वेद के आंतरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियों को खोलने के लिए अत्यंत अनिवार्य है। यूरोपियन पाण्डित्य का सारा-का-सारा विशाल प्रयास भी इसकी उपयोगिता का स्थान लेने योग्य नहीं हो सका है। प्रत्येक पग पर हम इसके साथ मतभेद रखने के लिए बाध्य हैं। यह एक चढ़ने का आवश्यक तख्ता या सीढ़ी है जिसका हमें प्रवेश के लिए उपयोग करना पड़ता है, यद्यपि इसे हमें अवश्य ही पीछे छोड़ देना चाहिए—यदि हम आगे बढ़कर आन्तरिक अर्थ की गहराई में गोता लगाना चाहते हैं और मन्दिर के भीतरी भाग में पहुँचना चाहते हैं तो।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को समझने का विपुल प्रयास किया है और किसी अंश में उन्हें जो सफलता मिली है वह सायण की ही अनुकम्पा का फल है। सायण की ही सहायता से वे लोग वैदिक मंत्रों के अर्थ कुछ अंश तक समझने में सफल हुए हैं। मैक्स-मूलर (Maxmuller) ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि सायण-द्वारा किये गये अर्थ की लड़ी हमें नहीं मिलती तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं कर सकते थे। यह दुर्भाग्य की बात है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में सायणभाष्य का अनुवाद अबतक नहीं हुआ। आवश्यकता तो यह है कि सायणभाष्य के अनुवाद के साथ-साथ यूरोपियन तथा श्रीअरविंद एवं स्वामी दयानंद आदि-द्वारा किये गये वेदार्थ का भी समावेश हो, जिसमें वेद को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समझने की सुविधा रहे। मंत्रों के तीन प्रकार के अर्थ रखने की दृष्टि से किया हुआ भाष्य ही पूर्ण हो सकता है।

(ख) पाश्चात्य वैदिक विद्वानों में सबसे प्रसिद्ध मैक्समूलर साहब हैं। आपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ और रोचक व्याख्यानों द्वारा भारतीय धर्म तथा संस्कृति को पश्चिमी देशों में लोक-प्रिय बनाया है। आपने बड़ा ही सहानुभूति-पूर्ण हृदय पाया था। अतएव आप भारतीय धर्म के अंतस्तल को परखने में कृतकार्य हुए। आपने भारतीयों के हृदय में ऐसा घर कर लिया है जैसा अन्य किसी पाश्चात्य विद्वान से न हो सका। आप भारतीय विद्वानों के समक्ष 'मोक्षमूलर भट्ट' के नाम से प्रख्यात हैं। आपके सायणभाष्य-समन्वित ऋग्वेद का संस्करण एक आदर्श और अनुपम संस्करण माना जाता है। छः जिल्दों में सम्पादित वेद-भाष्य की अंग्रेजी भूमिका अपूर्व और पठनीय है। किन्तु ऋग्वेद का सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद सायणभाष्य के आधार पर डाक्टर विल्सन ने किया। काशी के क्वींस कालेज के

अध्यापक डाक्टर ग्रिफिथ ने चारों वेदों का अंग्रेजी भाषा में पद्यात्मक अनुवाद किया है। डाक्टर लनमन और डाक्टर ह्विटनी का अथर्ववेद और डाक्टर कीथ का कृष्ण-यजुर्वेद का अंग्रेजी अनुवाद अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अतएव पाश्चात्य विद्वानों का वेदानुशीलन अत्यंत श्लाघ्य है। किन्तु वेदों से भारतीयता निकालकर उन्हें भारतेतर विज्ञान तथा धर्म की सहायता से समझने का दुस्साहस करना "मूले कुठाराघातः" की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है। इस प्रकार वेदों के अर्थ करके वैदिक आर्यों के विषय में इन लोगों ने विचित्र अनर्गल बातें तक कह डाली हैं।*

(ग) अर्वाचीन पद्धति के उद्भावक भारत के प्रसिद्ध सुधारक स्वामी दयानंद सरस्वती थे। आपने शुक्ल-यजुर्वेद एवं ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के कुछ अंश तक का नवीन भाष्य किया है। स्वामीजी के निधन पर आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान आर्यमुनिजी ने ऋग्वेद के अवशिष्ट भाग पर अपनी टीका लिखकर स्वामीजी के कार्य की एक प्रकार से पूर्ति की है। अजमेर के वैदिक यंत्रालय ने तो श्रीजयदेवजी द्वारा अनुवादित चारों वेदों को छपाकर और सुलभ मूल्य में प्रकाशित कर बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। औंध (अब पारडी, सूरत) के महाराष्ट्रीय आर्य-पण्डित सातवलेकरजी ने वेद के अंतर्गत अनेक विषयों पर अलग-अलग पुस्तिकाएँ लिखकर केवल वैदिक विचारधारा को ही सुलभ नहीं किया है, किन्तु वेदाध्ययन की ओर लोगों की प्रवृत्ति भी जागरित की है। आपके अथर्ववेद का सुबोध भाष्य मेरे विचार में सब भाष्यों से अधिक सुगम और सुपाठ्य है। हर्ष की बात है कि आप ऋग्वेद एवं शुक्ल-यजुर्वेद पर भी सुबोध भाष्य लिख रहे हैं जिनके कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुके हैं। भाष्य की पद्धति अथर्ववेद के सुबोध-भाष्य की है। गुरुकुल से संबद्ध अनेक विद्वानों ने भी वेद के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें पण्डित भगवद्दत्त का 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जो वैदिक साहित्य के जिज्ञासुओं के अध्ययन और मनन करने योग्य है। गुरुकुल-ज्वालापुर (हरिद्वार) के प्रधान आचार्य प्रियव्रतजी का 'वरुण की नौका' भी पठनीय है। हाल ही में वेदवाणी कार्यालय, (काशी) ने श्रीवीरेन्द्र शास्त्री द्वारा अनुवादित सामवेद-संहिता का सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। इस प्रकार आर्यसमाज ने और विशेषकर सातवलेकरजी ने वेदप्रचार में बहुत योग दिया है जिसके लिए वे हमारी श्रद्धा के भाजन हैं।

श्री टी० परम शिव अय्यर ने अपने बौद्धिक चमक-दमक से युक्त आश्चर्यजनक ग्रन्थ 'रिक्स' (Riks) में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि सारे ऋग्वेद में आलंकारिक रूप से उन भू-गर्भ-सम्बंधी घटनाओं का वर्णन है, जो उस समय हुई जब चिरकाल से जारी हिम-संहार समाप्त हुआ और उसके पश्चात् भौमिक विकास के उसी युग में हमारे ग्रह का नवीन जन्म हुआ।

* द्रष्टव्य—श्रीबलदेव उपाध्याय का 'आचार्य सायण और माधव', पृ० ११६-३२।

स्वामी दयानंदजी ने अपने भाष्य में अनेक विशिष्ट बातों का उल्लेख किया है। आपके विचार में वेद में धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्य का एक ईश्वर-प्रेरित पूर्ण ज्ञान है। आपने ऋषियों का भाष-सम्बंधी मलसूत्र हमें पकड़ा दिया है। इस विचार पर कि जगत् में एक ही देव की सत्ता है और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नाम और रूप से उस देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं, आपका कथन है कि वेद में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है। वेदों के सब शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ हैं, रूढ़ नहीं। यह सिद्धांत स्वामीजी की अर्थ-निरूपणपद्धति की आधारशिला है। जितने अग्नि, इंद्र, वरुण आदि देवता-वाचक शब्द हैं, यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक हैं। इस प्रकार स्वामीजी आध्यात्मिक शैली के माननेवाले थे। अंशतः यह सिद्धांत ठीक है। निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जितने देवता हैं वे सब एक ही महान देवता—परमेश्वर—की विशिष्ट शक्ति के प्रतीकमात्र हैं। अतएव हम स्वामीजी के इस निष्कर्ष से—कि जहाँ-जहाँ उपासना का व्यवहार लिया गया है वहाँ-वहाँ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है—सर्वथा सहमत हैं।

योगी श्रीअरविन्द ने 'द सिक्रेट आफ द वेदाज्' (The Secret of the Vedas) तथा 'सेलेक्टेड हिम्स' (Selected Hymus)—दो लेखमालाएँ वेद पर लिखी हैं। इनके अतिरिक्त 'ए डिफेंस आफ इण्डियन कल्चर' (A Defence of Indian Culture) लेखमाला में तथा 'आर्य' के अन्य लेखों में एवं उनके आश्रम के साधकों द्वारा पूछे गये वेद-सम्बंधी प्रश्नों के उत्तर में भी वेद के सम्बंध में अपने विचार प्रकट किये हैं। अभी हाल में ही श्रीअरविन्द के मन्तव्यानुसार श्रीकपाली शास्त्री ने ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की आध्यात्मिक विवेचना प्रस्तुत की है तथा इस भाष्य की प्रस्तावना में इस पद्धति के गुण तथा रूप का प्रतिपादन बड़े कौशल से किया है।

किन्तु सब बातों का विचार करते हुए हम स्वामी दयानंदजी के उस विचार से सहमत नहीं हैं कि वेदों में जहाँ-जहाँ ऐतिहासिक वर्णन किये गये हैं वे सब मिथ्या हैं। यह ठीक है कि बहुत-सी कथाएँ वेद में रूपक के रूप में दी गई हैं जिनका विस्तार महाभारत तथा पुराणों में हुआ है, किन्तु यह कहना कि वेद में वर्णित समस्त कथाएँ मिथ्या हैं, यथार्थ नहीं जँचता।

पाँचवाँ परिच्छेद
वेद और वैदिक साहित्य

साधारण बोलचाल में 'श्रुति' शब्द से समस्त वैदिक साहित्य का बोध होता है; किंतु अधिकांश विद्वान वेदों के केवल मंत्रभाग को ही श्रुति मानते हैं।

वैदिक साहित्य दो मुख्य भागों में विभाजित किया जाता है—(१) संहिता (अर्थात् मंत्र), (२) ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। महर्षि दयानन्द केवल संहिता को ईश्वर-कृत ठहराते हैं। उनके पहले के सायणादि भाष्यकार संहिता और ब्राह्मण दोनों को ईश्वर-कृत मानते हैं, किंतु पश्चिमी विद्वान समस्त वैदिक साहित्य को भिन्न-भिन्न ऋषियों की रचनाओं का संग्रह मानते हैं।

वेदों के सभी भाष्यकार इस बात से सहमत हैं कि चारो वेदों में समुच्चय रूप से प्रधानत: तीन विषयों का प्रतिपादन है।

(क) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञकर्म—जिसमे याज्ञिक या यजमान को इस लोक में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो और मरने पर श्रेष्ठ सुख मिले।

(ख) ज्ञानकाण्ड—जिसमे इहलोक तथा परलोक और परमात्मा के सम्बंध में वास्तविक तत्त्व तथा रहस्य की बातें जानी जाती हैं और जिससे मनुष्य के स्वार्थ, परार्थ तथा पारमार्थिक अभीष्टों की सिद्धि हो सकती है।

(ग) उपासनाकाण्ड—अर्थात् ईश्वर-भजन—जिससे मनुष्य की ऐहिक तथा पारलौकिक और पारमार्थिक सिद्धि हो सकती है।

वेद कोई पुस्तक-वाचक शब्द नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न ऋषि-मुनियो के अनुभव-सिद्ध आध्यात्मिक नियमों के संग्रह का नाम वेद है। यह शब्द विद् धातु से बना है। विद् का अर्थ जानना अथवा ज्ञान प्राप्त करना है। वेद में सभी विद्याएँ बीज रूप से विद्यमान हैं। वेद के मंत्र विस्मृत न हो जायँ और उनका कालान्तर में लोप न हो जाय, इसलिए ऋषि-मुनि उन्हें कण्ठाग्र रखते थे और शिष्यों को सिखलाते थे। बाद में लिपिकला प्रचलित होने पर, वे पुस्तकरूप में लिखे गये। जिस प्रकार समस्त कुरान को कण्ठस्थ करनेवाले हाफिज कहे जाते हैं उसी प्रकार समस्त वेद अर्थात् श्रुति को कण्ठस्थ करनेवाले ब्राह्मण श्रोत्रिय कहलाते थे। आज भी श्रोत्रिय ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा ब्राह्मणों में सर्वोपरि है।

इसी प्रकार जो दो वेदों में पारंगत थे वे द्विवेदी तथा तीन और चार वेदों के जाननेवाले क्रमशः त्रिवेदी तथा चतुर्वेदी के नाम से सम्बोधित होते थे।

ऋग्वेद

वेदों में ऋग्वेद का नाम सबसे पहले आता है। यही सबसे प्राचीन और प्रतिष्ठित समझा जाता है। इसके दो प्रकार के विभाग उपलब्ध हैं—(१) मण्डल, अनुवाक् और सूक्त; (२) अष्टक, अध्याय और सूक्त। पहला विभाग ऐतिहासिक और महत्त्वशाली है। इस विभाग के अनुसार समस्त ऋग्वेद दस खण्डों में विभक्त है जिन्हें मण्डल कहते हैं। मण्डल में संगृहीत मंत्र-समूह को सूक्त कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ अर्थात् मंत्र कहते हैं। सूक्तों की संख्या १०१७ है तथा मंत्रों की १०५५२। कुछ खिल अर्थात् अतिरिक्त सूक्त हैं जिनकी संख्या ग्यारह है। इस प्रकार सब मिलाकर सूक्तों की संख्या १०२८ है। प्रत्येक मण्डल के सूक्तों की संख्या बराबर नहीं है। प्रथम और दशम मण्डल में सबसे अधिक सूक्त हैं और द्वितीय मण्डल में सबसे कम। दूसरा विभाग अर्थात् अष्टक, अध्याय और सूक्त पाठक्रम के सुभीते के लिए बना प्रतीत होता है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार कुल ऋग्वेद ६४ अध्यायों में विभक्त है। सब मंत्र पद्य में हैं। इन पद्यों की शैली प्रचलित संस्कृत के छन्दों से बहुत कम मिलती है। भारतीय लोग परम्परा से वेद-मंत्रों को ऋषियों के द्वारा दृष्ट मानते हैं। स्त्रियाँ भी कई मंत्रों की द्रष्ट्री हैं। ऋषि शब्द का अर्थ है देखनेवाला। एक कुल के ऋषियों द्वारा दृष्ट मंत्र का संग्रह एक मण्डल में किया गया है। प्रथम और दशम मण्डल में तो नाना कुटुम्बों के ऋषियों के मंत्र हैं। परंतु द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक में एक ही कुटुम्ब के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मंत्रों का संकलन है। इन ऋषियों के नाम क्रमशः (१) गृत्समद, (२) विश्वामित्र, (३) वामदेव, (४) अत्रि, (५) भारद्वाज और (६) वसिष्ठ हैं। अष्टम मण्डल में कण्व-वंश और अंगिरा-गोत्र के ऋषियों के मंत्र हैं। नवम मण्डल में केवल सोम-सम्बन्धी मंत्र हैं। दशम मण्डल के मंत्र अनेक ऋषियों के हैं। इनमें केवल देवताओं की स्तुति नहीं है; अपितु अन्य विषयों का भी सन्निवेश है—जैसे जुआ खेलने से हानि, विवाह, श्राद्ध-मंत्र आदि। दूसरे से लेकर सातवें मण्डल तक ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है और दशम मण्डल सबसे अर्वाचीन।

प्रत्येक सूक्त में किसी दिव्य ईश्वरीय विभूति की स्तुति है और स्तुति के साथ-साथ सृष्टि के अनेक रहस्यों और तत्त्वों का उद्घाटन है। इनमें सबसे प्रसिद्ध नासदीय और पुरुष-सूक्त हैं। नासदीय सूक्त की गणना विश्व-साहित्य के महान् आश्चर्यों में है। काव्य और दर्शन दोनों की ऊँची से-ऊँची उड़ान इस सूक्त में अभिव्यक्त हुई है। इसमें अनेक वैज्ञानिक रहस्यों की ओर संकेत है। इसमें प्रकृति के विकास की दृष्टि से सृष्टि-रचना का उल्लेख है (१०।१२९)। पुरुषसूक्त भी वैसा ही रहस्यमय है (१०।९०)। इसमें भगवान के विराट् स्वरूप का वर्णन है जिसका आभास हमें गीता (अध्याय ११) में मिलता है। पुरुषसूक्त का निम्नांकित मंत्र भगवान् की स्तुति के लिए विशेषरूप से व्यवहार में आता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(१० । ६० । १-३)

अर्थात्—विराट् पुरुष (ईश्वर) सहस्र (अनन्त) सिरों, अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणोंवाला है। वह भूमि (ब्रह्माण्ड) को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अङ्गुल परिमाण अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित है। जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है सो सब ईश्वर (पुरुष) ही है। वह देवत्व का स्वामी है; क्योंकि प्राणियों के भोग्य के निमित्त अपनी कारणावस्था को छोड़कर जगदवस्था को प्राप्त होता है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है। वह तो स्वयम् अपनी महिमा से बड़ा है। उस पुरुष का एक पद (अंश) ही यह ब्रह्माण्ड है। इसके अविनाशी तीन पद तो दिव्य लोक ही है।

यजुर्वेद

ऋग्वेद-संहिता जहाँ सम्पूर्ण पद्य में है, यजुर्वेद का, उसके विपरीत, अधिकांश गद्य में है। यह आकार में ऋग्वेद का लगभग दो-तिहाई है। इसमें प्रधानतः यज्ञों के उपयोग में आनेवाले मंत्रों तथा उनके प्रयोग के समय, काम में लाये जानेवाली विधि और क्रिया आदि का वर्णन है। कहीं-कहीं गद्यभाग में भी कविता की कोमलता आ गई है। इसमें अग्नि के उत्पादन की कल्पना बहुत सरस और सुन्दर है। अनेक विद्वान गद्य-पद्य-मिश्रित यजुर्वेद की गणना वेद में नहीं करते। उनके विचार में चालीस खण्डों में विभाजित वाजसनेयसंहिता ही वास्तविक यजुर्वेद है। इस सम्बन्ध में एक सुन्दर कथा है —

ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने मामा वैशम्पायन से यजुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। बाद किसी कारण शिष्य से गुरु क्रुद्ध हो गये और पढ़ी हुई विद्या को वापस करने की आज्ञा दी। शिष्य ने वमन (कै) करके विद्या को वापस कर दिया और गुरु की आज्ञा से दूसरे शिष्यों ने तीतर बनकर उसे खा लिया, तत्पश्चात् यजुर्वेद का नाम तैत्तिरीय संहिता पड़ा। बाद में याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना की और उन्हें यजुर्वेद मिला जो शुक्लयजुर्वेद के

नाम से विख्यात हुआ। इसे वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। बुद्धि की मलिनता के कारण यजुओं (मंत्रों) का रंग काला पड़ गया। इसलिए वह कृष्ण-यजुर्वेद के नाम से विख्यात हुआ।

शुक्ल-यजुर्वेद ऋग्वेद की तरह सिर्फ पद्य में है। सोलहवें अध्याय में प्रसिद्ध शतरुद्री है। ऋग्वेद का रुद्र यहाँ शिव के रूप में उपस्थित होता है और शंकर, महादेव आदि नामों से उल्लिखित है। इसी प्रकार इस वेद में विष्णु ने भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। यजुर्वेद में सर्वप्रथम उपनिषद् के ब्रह्म का दर्शन होता है। इसका अन्तिम चालीसवाँ अध्याय संसार में ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है।

कृष्ण-यजुर्वेद और शुक्ल-यजुर्वेद में यज्ञों का क्रम भिन्न-भिन्न रूप से वर्णित है। वैदिक काल में यज्ञों की प्रधानता थी। कोई स्वर्ग के लिए यज्ञ करता था; कोई आर्थिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक उन्नति एवं प्रतिष्ठा के लिए। विश्वामित्र यज्ञरक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को ले गये थे। ऋषियों के यज्ञ में बाधा डालनेवाले राक्षस (अनार्य) भी यज्ञ करते थे। मेघनाद ने भी लक्ष्मण को पराजित करने के अभिप्राय से यज्ञ आरम्भ किया था। यजुर्वेद की इसी कारण प्रधानता हुई। यजुर्वेद में ऋग्वेद के अनेक मंत्र हैं।

सामवेद

सामवेद में १८१० मंत्र हैं जिनमें ७५ मंत्रों के सिवा सब ऋग्वेद के हैं। सामवेद के सभी मंत्र गाये जानेवाले हैं। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता है, उसे बुलाने के लिए उचित स्वर में उस देवता का स्तुतिमंत्र गाया जाता है। साम के गानों मे सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है, सामगान के माधुर्य का रसास्वादन उसके सुनने से ही हो सकता है। संगीत-शास्त्र का मूल यहीं उपलब्ध है। सामवेद के १५४९ मंत्र दो अर्चिकाओं में बाँटे गये हैं। पहले में छः और दूसरे में नव प्रपाठक हैं। भारतीय संगीत की उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से सामवेद का महत्त्व ऋग्वेद की अपेक्षा कहीं अधिक है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में भी अनेक मंत्र और विशेषकर १९—२० काण्ड के मंत्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। यह वेद गद्य-पद्य-मिश्रित है और इसमें प्रधानतः मंत्र, तंत्र, मोहनादि क्रियाओं का वर्णन है। इसमें मंत्र हैं, प्रयोग हैं और विधियाँ हैं जिनसे हम सब तरह के भूत, प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस आदि से बच सकें। जादू-टोना करनेवालों से, सर्पादि से, अनेक प्रकार के हिंसक जन्तुओं और रोगों से बच सकें—इसमें मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगों के लिए; सुख, सम्पत्ति, व्यापार, जूए आदि की सफलता के लिए; प्रार्थना और मंत्र हैं। आयुर्वेद-सम्बन्धी बहुत-सी बातें इसमें दी गई हैं और इसी कारण आयुर्वेद इस वेद का उपवेद समझा जाता है।

अथर्ववेद में वर्णित सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति तथा विभिन्न रोगोत्पादक कृमियों के विस्तृत वर्णन पर यदि शास्त्रीय ढंग से विचार किया जाय तो हमें तात्कालिक "कीटाणु-शास्त्र" का परिचय प्राप्त हो सकता है।

विद्वानों की धारणा है कि आर्य-अनार्य के मिश्रण होने पर जब अनार्यों से आर्य घुल-मिल गये तब अनार्यों के रस्म-रिवाज आदि आर्यों के रस्म-रिवाज से मिल गये और अथर्ववेद इस मिश्रण का फलस्वरूप है। इस वेद का पन्द्रहवाँ काण्ड उच्च-तत्त्वज्ञान-सूचक है। चौदहवें काण्ड में विवाह और अठारहवें में अन्त्येष्टिक्रिया की विधियाँ और पितरों के श्राद्ध की रीतियाँ दी हुई हैं। ऐतिहासिक छानबीन के लिए यह वेद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजनीति, समाजशास्त्र, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त भरे पड़े हैं। ज्योतिष-सम्बन्धी मंत्रों में नक्षत्रों का उल्लेख है।

अथर्ववेद अन्तिम वेद है। यह अन्य तीन वेदों की अपेक्षा बहुत बाद का है। वास्तव में यह वेद और ब्राह्मणों का सन्धिस्थल है। यहाँ आते-आते वेदों की गीतिमय शैली समाप्त होती है और ब्राह्मण के नीरस गद्य-युग का आरम्भ होता है। प्राचीनतम ग्रन्थों में अथर्ववेद की गणना वेदों में नहीं की गई है। जहाँ-तहाँ 'वेदत्रयी' शब्द का व्यवहार किया गया है।

चारों वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। शाखाएँ पाठ-भेद के कारण बन गईं। वेदों की शाखाएँ परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध नहीं हैं। प्रत्येक शाखा स्वतंत्ररूप से वेद है, अतएव किसी भी वेद की एक शाखा का अध्ययन करने से ही समग्र वेद का अध्ययन माना जाता है।

'ब्राह्मण'

वेदों के बाद 'ब्राह्मण' का स्थान आता है। इन रचनाओं का उद्देश्य यज्ञविधि आदि कर्मकाण्ड पर प्रकाश डालना था। ये सम्पूर्णतया गद्य में हैं। ब्राह्मणों की भाषा गद्य का प्राचीनतम नमूना है। वैदिक कर्मकाण्ड को समझने तथा उस युग के जीवन की झलक देखने के लिए इनका निस्संदेह बड़ा महत्त्व है। कतिपय विद्वान तो इन्हें वेदों का अतिप्राचीन भाष्य मानते हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं—(१) कौषीतकी, और (२) ऐतरेय। इन दोनों ग्रन्थों का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। दोनों ग्रन्थों में जगह-जगह एक ही विषय की आलोचना की गई है। किन्तु एक ब्राह्मण में दूसरे ब्राह्मण से विपरीत अर्थ प्रकट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के पढ़ने से ऐतिहासिक बातें मालूम हो जाती हैं। उसमें बहुत-से भौगोलिक विवरण भी हैं। उसमें प्रधानतः सोम और राजसूय यज्ञों का विवरण है।

तैत्तिरीय (कृष्ण-यजुर्वेद) और वाजसनेयी (शुक्ल-यजुर्वेद) एक ही विषय पर हैं और दोनों में मंत्र प्रायः एक ही हैं; कुछ थोड़ा-सा भेद है। कृष्ण-यजुर्वेद में मंत्रों के साथ-साथ क्रियाप्रणाली भी गद्य में खोलकर बताई गई है और जिन उद्देश्यों से मंत्रों का व्यवहार होता है वह भी बताया गया है। इस प्रकार इसका मंत्र-अंश वास्तव में ब्राह्मण है। पूरी संहिता ब्राह्मण के ढंग पर चलती है। कृष्ण-यजुर्वेद के मैत्रायणी और काठक ब्राह्मण-ग्रन्थ संहिता के अंश हैं; किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण पृथक् ग्रन्थ है। शुक्ल-यजुर्वेद का शतपथ-ब्राह्मण प्रसिद्ध है। बल्कि यह कहना भी ठीक होगा कि समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थ-समूह में शतपथ ब्राह्मण सबसे अधिक आदर और प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यह सब

प्रकार से पूर्ण और सुबद्ध ब्राह्मणग्रंथ है। बहुतों की धारणा है कि यह ब्राह्मणग्रंथ सबसे प्राचीन है। यह सौ अध्यायों में है। वेदकालीन धार्मिक समाज का उज्ज्वल चित्र इस ब्राह्मण के पृष्ठों में अंकित है।

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में तांडव और सामविधान अधिक प्रसिद्ध है। ताण्डव २५ अध्याय में है, इसीलिए इसे पंचविंशब्राह्मण भी कहते हैं। सामविधान में अधिकार-च्युत और अशक्त लोगों की शुद्धि के लिए कृच्छ्रादि प्रायश्चित्त और अग्न्याधान, अग्नि-होत्रादि का संग्रह है। षड्विंशब्राह्मण नामक एक दूसरा ब्राह्मण-ग्रन्थ वस्तुतः पंचविंश से अभिन्न है। इसमें केवल एक अध्याय 'अद्भुत-ब्राह्मण' नाम से अधिक है जिसे शकुन बतानेवाला वेदांग-जातीय ग्रंथ कहा गया है। सबसे पुराना सामवेदीय ब्राह्मण जैमिनीय ब्राह्मण है। धार्मिक और पौराणिक कहानियों के विवरण के अध्ययन की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सामवेदीय कौथुमशाखा का ब्राह्मण ४० अध्यायों में विभक्त है, उसीका भिन्न-भिन्न अंश पंचविंश, षड्विंश, मंत्र और छान्दोग्यब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है। सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण, वंश-ब्राह्मण, संहितोपनिषद्-ब्राह्मण आदि भी हैं।

अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण-ग्रन्थ गोपथ है जो बहुत प्रसिद्ध है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में अनेक तरह के आख्यान और अन्यान्य बहुत-से विषयों पर विचार है। उत्तरार्ध में कर्मकाण्ड पर आलोचना है। यह ब्राह्मण वास्तव में वेदांगश्रेणी का ग्रंथ है। यह परवर्ती रचना माना जाता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के तीन विभाग हैं—(क) ब्राह्मण, (ख) आरण्यक और (ग) उपनिषद्। अन्तिम दो भागों की अपनी निजी विशेषता होने के कारण उनका निर्देश तथा वर्णन अलग किया जाता है।

आरण्यक और उपनिषद्

संसार के समस्त विषयो को त्यागते हुए और कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाकर प्राचीन आर्य-ऋषि निर्जन शान्त अरण्य में जब रहने लगते थे और ब्रह्म-विद्या का अध्ययन करके गम्भीरभाव से परमात्मा की चर्चा में लग जाते थे तब अनेक गम्भीर अनुभूत विचार लोक-कल्याण के लिए प्रकट करते थे। इसी विचार-समूह का नाम आरण्यक है। इन्हें संसार त्यागकर वन में बसनेवाले पुण्यात्मा ही पढ़ते थे। सायण का मत है कि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आर्य-जीवन की तीन स्थितियों—गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों के प्रतीक हैं। आरण्यक-ग्रंथों में अधिकतर उपनिषद् के ही अंश हैं।

ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकी आरण्यक हैं। ऐतरेय आरण्यक के पाँच ग्रंथ आजकल पाये जाते हैं। इनमें प्रत्येक का नाम आरण्यक है। दूसरे और तीसरे तो स्वतंत्र उपनिषद् हैं। दूसरे के उत्तरार्ध के शेष चार परिच्छेद वेदान्त-ग्रंथ में गिने जाते हैं, इसलिए उनका नाम ऐतरेय-उपनिषद् है। कौषीतकी आरण्यक के तीन खण्ड हैं। इनमें दो खण्ड कर्मकाण्ड से भरे हुए हैं। तीसरा खण्ड कौषीतकी उपनिषद् कहलाता है। यह एक सारगर्भ उपादेय ग्रंथ है। इस आरण्यक में भौगोलिक बातें भी दी हुई हैं। हिमवान,

विन्ध्यादि पर्वतों और पहाड़ियों के नाम भी पाये जाते हैं। ऐतरेय, कौषीतकी, वाष्कल और मैत्रायणी ऋग्वेद की उपनिषदें हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का शेषांश तैत्तिरीय आरण्यक है। इस ब्राह्मण का सातवाँ, आठवाँ तथा नवाँ प्रकरण ब्रह्म-विद्या-सम्बन्धी होने के कारण उपनिषद् कहलाता है। दसवाँ प्रकरण याज्ञिकी अथवा नारायणी उपनिषद् के नाम से विख्यात है। इसमें मूर्तिमान ब्रह्मतत्त्व का वर्णन है। इसका भिन्न-भिन्न पाठ भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रचलित है। तैत्तिरीय आरण्यक में बहुत-से विषयों का विचित्र समावेश हुआ है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण तथा ब्रह्मविद्या का तत्त्व इस ग्रंथ में आ गया है। शतपथ-ब्राह्मण का चौदहवाँ काण्ड आरण्यक के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें संहिता के इकतीस से लेकर उनचालीस अध्यायों तक की सभी कथाएँ उद्धृत की गई हैं। इस स्थल में यह भी लिखा गया है कि विष्णु (सूर्य) ही सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं। इसके शेष छः अध्याय बृहदारण्यक-उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें युद्ध-प्रेम-विरह-सम्बन्धी कथाएँ संक्षेप में दी गई हैं। उग्रसेन, कुरु-पाञ्चाल आदि ऐतिहासिक नाम भी आये हैं। बृहदारण्यक शुक्ल-यजुर्वेद की और कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वेत, मैत्रायणी और कैवल्य कृष्ण-यजुर्वेद की उपनिषदें हैं। शतपथ-ब्राह्मण में वर्णित भौगोलिक सामग्री के सहारे कहा जा सकता है कि कुरु-पाञ्चाल-प्रदेश आर्यसंस्कृति का केन्द्र हो गया था।

सामवेद का आरण्यक सामसंहिता के अन्तर्गत है। सामवेदी ब्राह्मण छन्दोमय मंत्रों का गान करते हैं। इसलिए इस आरण्यक-ग्रंथ का नाम छान्दोग्य आरण्यक हुआ। यह आरण्यक-ग्रंथ छः प्रपाठों में विभक्त है। सामवेदीय उपनिषदों में छान्दोग्य-उपनिषद् और केनोपनिषद् प्रसिद्ध हैं।

अथर्ववेद का कोई आरण्यक नहीं मिलता है; किन्तु उसकी उपनिषदें अनेकों मिलती हैं। इनमें मुख्य उपनिषदें मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंहतापिनी हैं; क्योंकि बादरायण ने अपने वेदान्तसूत्र में इन्हीं चार उपनिषदों के प्रमाण अनेक बार दिये हैं। मुक्तिकोपनिषद् में अथर्ववेदीय ९३ उपनिषदों के नाम दिये गये हैं।

छठा परिच्छेद
वैदिक देवता

वेद में विशेषरूप से देवताओं की स्तुति की गई है जिनमें मुख्य वरुण, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, मित्रावरुण, अश्विनौ, सोम (चन्द्रमा), पृथ्वी, विष्णु और रुद्र हैं।

वैदिक युग के आरम्भिक काल में सबसे अधिक मर्यादा वरुण की थी। वरुण वेदों का शान्तिप्रिय देवता है। वह विश्व का नियंता और शासक है। वरुण को प्रसन्न रखने के लिए पवित्र जीवन व्यतीत करना परम आवश्यक है। वरुण प्राकृतिक और नैतिक नियमों का संरक्षक है। वरुण के नैतिक नियम को 'ऋत' कहा गया है जिसका पालन देवताओं को भी करना पड़ता है।

इन्द्र ऋग्वेद का योद्धा देवता है। इसलिए यूरोपीय विद्वान उसे वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देव कहते हैं। जिसके भय से आकाश और पृथ्वी काँपती है वह बलशाली इन्द्र है। इन्द्र ने वृत्र नाम के राक्षस को मारकर सात नदियों को बहाया। इन्द्र ने काँपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया। वह अंतरिक्ष और द्यौः को धारण करता है। उसकी सहायता के बिना कोई युद्ध में नहीं जीत सकता। इन्द्र जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि का संचालन करता है। ब्राह्मणों में वह अहल्याजार कहा गया है और इसी कथन के आधार पर पुराण एवं रामायण में गौतम-पत्नी अहल्या और इन्द्र का आख्यान रचा गया है।

ऋग्वेद का आरम्भ अग्नि की स्तुति से होता है। अधिकांश मण्डल भी अग्नि की स्तुति से आरम्भ होते हैं। अग्नि यज्ञ का पुरोहित और देवता है। वह देवताओं को यज्ञ-हवि पहुँचाता है। अग्नि कन्याओं का स्नेही और उनका प्रथमपति है; क्योंकि विवाह के पूर्व दम्पती उनकी भाँवर भरते हैं और कुमारी कन्या सर्वप्रथम अग्नि को ही अर्पित की जाती है।

यद्यपि सौरमण्डल के देवताओं में सूर्य अथवा विष्णु का स्थान सबसे ऊँचा है तथापि वरुण और इन्द्र से नीचे है। सबसे बड़ी विशेषता उनके तीन चरण हैं। अपने तीन पदों से विष्णु—पृथ्वी, आकाश और पाताल—तीनों लोकों को माप लेता है। पौराणिक काल के वामनावतार की कथा का मूलाधार ऋग्वेद के विष्णु-सम्बन्धी तीन चरणों का वर्णन

ही है। विष्णु तीनों लोक को धारण करता है। देवताओं के लिए यज्ञ करनेवाले विष्णुलोक को जाते हैं। विष्णुधाम में धर्मात्मा ही जाते हैं।

ऋग्वेद में उषा-सम्बन्धी ऋचाएँ अति सुन्दर हैं। उषा की स्तुति में बीस सुन्दर सूक्त कहे गये हैं। उषाकाल की वह देवी है। वह अन्धकार को भगाती है तथा रात्रि के काले आवरण को हटाती है। वह प्राचीनतम होते हुए भी युवती है। वह प्रकाश के द्वार को खोल देती है। वह सूर्य से सम्बन्धित की गई है। सूर्य उसका प्रेमी है। सूर्य उसके पीछे-पीछे जाता है जैसे कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है। उषा-सूक्त में अरुणाभ उषा के अधखिले सौन्दर्य की सुमधुर कल्पना की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र देवता का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, किन्तु रुद्र का स्वभाव उग्र और क्रोधी कहा गया है। यजुर्वेद-काल में रुद्र की प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई जिसके परिणामस्वरूप यजुर्वेद का सम्पूर्ण सोलहवाँ काण्ड रुद्र की स्तुति से ओतप्रोत है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में प्रजापति नामक देवता का महत्व बढ़ने लगता है और आगे चलकर पौराणिक काल में प्रजापति ब्रह्मा का पर्यायवाची शब्द हो जाता है। प्रजापति शब्द ईश्वरावतारपरक तथा जीव का बोधक भी है।

अश्विनौ की स्तुति और चर्चा वेदों में काफी हुई है। ये देवता आयुर्वेद के अधिष्ठाता समझे जाते हैं।

इस प्रकार वेदों में अनेक छोटे-बड़े देवताओं की स्तुति के कारण पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वैदिक आर्य बहु-देवता-उपासक थे। किन्तु उनकी यह धारणा निर्मूल है। गौड़जी का विचार है कि "जो लोग अनेक देवता मानते हैं, वे भी इन सब स्तुतियों को परमात्मा-परक मानते हैं, और कहते हैं कि सभी देवता और समस्त सृष्टि परमात्मा की विभूति हैं। इसलिए वे वरुण को जल का देवता, अग्नि को तेजस् का देवता, इन्द्र को आकाश का देवता इत्यादि रूप से परमात्मा की शक्तियों के अधिपति को परमात्मा के विभूतिरूप ही मानते हैं। जहाँ पृथ्वी की स्तुति की गई है वहाँ पृथ्वी के ही गुण का वर्णन है। पृथ्वी परमात्मा की सृष्टि और उसीकी विभूति है। पृथ्वी की स्तुति के व्याज से परमात्मा की स्तुति की गई है। जो पृथ्वी की स्तुति नहीं मानते, वे सूक्त के गूढ़ार्थ को खोलकर परमात्मा की स्तुति ही ठहराते हैं। ये स्तुतियाँ तथा उसके सम्बन्ध की प्रार्थनाएँ उपासनाकाण्ड के अन्तर्गत हैं। वेद में भिन्न-भिन्न देवताओं के स्तुतिपरक मंत्रों में विश्वरूप का वर्णन है। ये सब नाम एक ही आत्मा के हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न उपासकों ने परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूपों की स्तुति की है। एक जगह तो स्पष्टरूप से कहा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः

(अथर्व ६।१०।२८, ऋग्वेद १।१६४।४६)

अर्थात् एक ही सत् है जिसका वर्णन ज्ञानी अग्नि, यम, वायु आदि अनेक नामों से करते हैं। वह एक सत् परमात्मा है। उसीके लिए इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। एक ही देवता है जो नाना शरीर धारण करता है—

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा

ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान् महद् देवानामसुरत्वमेकम्

(ऋ० ३।५५।१४)

अर्थात् एक ही वर्णनीय देवता अनेक रूप-रंगवाले नाना शरीरों को धारण करता है। वह अपने तीन संरक्षणों से युक्त शक्ति का प्रकाश करता हुआ खड़ा रहता है। इस सत्य को जानकर मैं उसकी परिचर्या करता हूँ। देवों में एक ही जीवन-सत्ता का प्रदान करनेवाला सत् तत्त्व है।

पुरा-कालीन आर्य गगन, गगनस्थ और गगनगत कार्य तथा पृथ्वी के ही विशेष उपासक थे। इन अद्भुत पदार्थों को देखकर उनका हृदय भक्तिरस से परिपूर्ण हो जाता था। उस समय जिन बहुशक्ति-सम्पन्न तेजोमय वस्तुओं का असामान्य प्रभाव और उपकारी गुण वे देखते, उनका ही देवत्व और प्रधानत्व स्वीकार कर लेते।

इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेद के ऋषि एक ही ब्रह्म को भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते थे तथापि वे इतने देवताओं से अधिक काल तक संतुष्ट नहीं रह सके, क्योंकि जिस प्रकार आधुनिक शैव यह समझते हुए कि विष्णु शिव से भिन्न नहीं हैं तो भी स्वभावतः अपने प्रिय देवता की स्तुति करते समय अन्य देवताओं को भूल-से जाते हैं, और अपने आराध्य देव को सबसे बड़ा समझने तथा उसका वर्णन करने लगते हैं, उसी प्रकार वैदिक आर्य परमात्मा के किसी विशेष रूप की, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, उपासना करते रहे। सुतरां ऋषियों ने ईश्वर का एक ऐसा स्वरूप बताया जो ईश्वरवाद का अद्वैतवाद है।

वेद में कहा गया है कि आरम्भ में एक ही सत् था। उसने कामना की कि मैं जो एक हूँ, अब अनेक हो जाऊँ (*एकोऽहं बहु स्याम्*)। अपनी इसी प्रबल इच्छा से वही एक सत् नाना रूपों में प्रकट हुआ। जब वह नाना रूप से प्रकट हुआ तब वही अपनी शक्ति से विश्व का अधिष्ठाता अथवा नियन्ता बन गया। एक ही सत् नाना रूपों में ढल गया। यह पुरुष ही सब कुछ है। अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व पुरुष का ही रूप है। यह सम्पूर्ण विश्व जो भूतकाल में बन चुका था, वर्त्तमानकाल में बन रहा है और भविष्य-काल में बननेवाला है, इस पुरुष का ही रूप है। इस विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, आँख से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पाँव से भूमि, कान से दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं। इसी तरह अन्यान्य अवयवों से अन्य लोकों की उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है। यह पुरुष सर्वव्यापी है। इसीलिए पुरुषसूक्त में इसे हजारों सिर, आँख, नाक, कान, मुख, बाहु, पैर और जंघावाला कहा गया है। आर्यों ने ऐसे ईश्वर की कल्पना की थी जो सर्वभूतान्तरात्मा है।

इस प्रकार ऋग्वेद स्वयं कहता है कि भिन्न-भिन्न देवता एक ही विश्वव्यापक सत्ता के केवल भिन्न नाम और अभिव्यक्तियाँ हैं, और वही सत्ता अपनी निजी वास्तविकता में विश्व का अतिक्रमण किये हुए है। मंत्रों की भाषा से देवताओं के विषय में निश्चितरूप से हमें यह पता लगता है कि वे न केवल एक ही देव के भिन्न-भिन्न नाम हैं, किंतु साथ ही उस देव के भिन्न-भिन्न रूप, शक्तियाँ और व्यक्तित्व भी हैं। वेद का एकदेवतावाद विश्व की अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी और यहाँ तक कि बहुदेवतावादी दृष्टियों को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है। और, यह किसी प्रकार भी आधुनिक ईश्वरवाद का कटा-छँटा और सीधा-सा रूप नहीं है।

सातवाँ परिच्छेद

उपनिषद्

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सहज में ही यह पता लगाया जा सकता है कि उपनिषदों में वैदिक आर्यों ने जिस तत्त्वज्ञान का परिचय दिया उसका बीज ऋग्वेद के सूक्तों में ही विद्यमान था। ऋग्वेद का सुप्रसिद्ध **पुरुषसूक्त** (१०/९०), **हिरण्यगर्भसूक्त** (१०/१२१) तथा **नासदीयसूक्त** (१०/१२९) की ऊँचाई को मापकर इस कथन की सचाई का निर्णय किया जा सकता है। क्या नासदीयसूक्त के ऋषि की निम्नाङ्कित चुनौती का आज तक कोई संतोषजनक उत्तर देने में समर्थ हो पाया है?

"कौन जानता है और कौन कह सकता है कि कहाँ से यह सृष्टि पैदा हुई? कहाँ से यह आई? देवगण तो इसके बाद के हैं। कौन जानता है, पहलेपहल यह कहाँ प्रकट हुई? यह किसीके द्वारा बनाई गई अथवा नहीं? यह तो वही जानता होगा जो परम अन्तरिक्ष से साक्षी की तरह उसे देखता है, अथवा कह नहीं सकते कि वह भी जानता है या नहीं?"

इस महान् प्रश्न की प्रतिध्वनि हिरण्यगर्भसूक्त के इस भावमय प्रश्न में है कि हम किस देवता के प्रति अपने हविष् का विसर्जन करें (**कस्मै देवाय हविषा विधेम** १०/१२१)। यद्यपि वैदिक आर्यों ने अग्नि, वरुण, इन्द्र, सोम, सूर्य, उषा, रुद्र आदि विविध देवताओं के गीत गाये, किन्तु उन सबमें उन्होंने एक ही परमशक्ति को देखा। वह शक्ति एक ही है। केवल विप्रवर्य (विद्वज्जन) भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। ऋग्वेद का यही स्पष्ट एकेश्वरवाद उपनिषदों में आकर अद्वैतवाद की ऊँचाई पर पहुँच गया है जिससे ऊपर मानव-मस्तिष्क आजतक नहीं उठ पाया है। उपनिषद् को वेदान्त अर्थात् वेद का अन्तिम भाग कहकर अभिहित किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् वेदों में प्रतिपादित ज्ञान का सार है। उपनिषद् की सारी छानबीन और खोज का निचोड़ इस प्रश्न में है—'वह कौन-सी वस्तु है जिसे जान लेने पर सब-कुछ जान लिया जाता है?' और भिन्न-भिन्न रीति से इस प्रश्न का एक ही उत्तर हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों में पाते हैं कि वह 'ब्रह्म' है। यथार्थतः सब-कुछ ब्रह्म ही है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दो० ३/१४/१)। इससे सब कुछ पैदा होता है, इसमें ही रहता है और फिर लौटकर इसमें ही लीन हो जाता है। इस ब्रह्म को जानने में ही जीवन की सार्थकता है। इसको जानने से ही

मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है (कठ० ६—१५)। किन्तु ब्रह्म है क्या वस्तु ? "यह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म; न लघु है, न दीर्घ; न छाया है, न अन्धकार; न वायु है, न आकाश; न स्वाद है, न गन्ध। नेत्र और कर्ण, वाणी और मन, प्राण और मुख, भीतर और बाहर से रहित यह वस्तु न तो किसीका भक्षक है और न किसीका भक्ष्य ही है (बृहत्० ३/८/८)। तब, यह अद्भुत वस्तु है क्या ?" उपनिषद् इसका उत्तर देती है कि "वह तू ही है, मैं ही ब्रह्म हूँ, यह आत्मा ही ब्रह्म है,—अतएव सब बातों का सार यही है कि आत्मा को ही पहचानो।"

इसी एक विचार को उपनिषदों ने भिन्न-भिन्न रीतियों से, तरह-तरह की मनोरंजक आख्यायिकाओं और उदाहरणों से इस तरह समझाया है, उनकी वर्णन-शैली इतनी रोचक और भाषा इतनी ओजस्विनी है कि संसार के विचारधारा के इतिहास में उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। जर्मनी का प्रसिद्ध निराशावादी तत्त्वचिंतक शोपेन हावेर तो आज से प्रायः सौ वर्ष पहले उपनिषदों के एक भ्रष्ट अनुवाद को देखकर ही इतना प्रभावित हुआ कि उसके मुख से सहसा यह उद्गार निकल पड़ा कि * "अहो उपनिषद्, तुम्ही मेरे जीवन की सान्त्वना हो और तुम्ही मृत्यु में भी मुझे सांत्वना दोगी!" निस्सन्देह उपनिषद् संसार में ज्ञान का एक अक्षय भाण्डार है। भारत की तो सारी दार्शनिक विचारधारा का आदिस्रोत यही है। यदि संहिताओं में हमें सरलहृदय कवियों के और ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञीय क्रिया-कलाप में निपुण ऋत्विजों के दर्शन होते हैं तो उपनिषदों में अद्वितीय तत्त्वचिन्तक दार्शनिकों से हमारा साक्षात्कार होता है।

उपनिषदों की संख्या

मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों की सूची दी हुई है जिनका प्रकाशन अदयार-लाइब्रेरी—(मद्रास) से आठ जिल्दों में श्रीउपनिषद्—ब्रह्मयोगी की टीका के साथ हुआ है। अंग्रेजी अनुवाद भी अलग जिल्दों मे प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त उस लाइब्रेरी ने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर **'अप्रकाशित उपनिषद्'** के नाम से ७१ उपनिषदों का प्रकाशन किया है। इस प्रकार हमें १७९ उपनिषदें उपलब्ध हैं; किन्तु सर्वमान्य और महत्त्वपूर्ण उपनिषदों की संख्या बहुत कम है। निम्नलिखितश्लोक में दस उपनिषदें गिनाई गई हैं और इन्हीं की प्रतिष्ठा सर्वमान्य है—

ईश-केन - कठ-प्रश्न - मुण्ड - माण्डूक्य - तैत्तिरिः।
ऐतरेयश्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥

अर्थात् (१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक—ये दस उपनिषदें हैं। कुछ लोग कौषीतकी और श्वेताश्वतर की भी, मुख्य उपनिषदों में, गणना करते हैं। इन उपनिषदों के रचनाकाल का अलग-अलग निर्णय करना सर्वथा असम्भव है। श्रीराधाकृष्णन के

---

* "Thou art solace of my life and shall be solace of my death".

मतानुसार इनका रचनाकाल छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व तक माना जा सकता है। प्राचीन उपनिषदों में दार्शनिक चिंतन अधिक है। बाद की उपनिषदों में धर्म और भक्ति के भाव आने गये हैं। उत्तरकाल की उपनिषदों में वैदिक उपनिषदों की गंभीरता और विचारों की उदारता नहीं पाई जाती। इनमें अधिकतर दार्शनिक न होकर केवल धार्मिक अथवा उपासनापरक हैं जो बहुत बाद के धार्मिक सम्प्रदायों का प्रतिपादन करते हैं।

विषय के अनुसार अदयार-लाइब्रेरी (मद्रास) ने निम्नलिखित प्रकार से विभाग किया है—(१) दशोपनिषद्, (२) बीस योग-उपनिषद्, (३) चौबीस वेदान्त-उपनिषद्, (४) चौदह वैष्णव-उपनिषद्, (५) पन्द्रह शैव-उपनिषद्, (६) आठ शाक्त-उपनिषद् और (७) सत्रह संन्यास-उपनिषद्।

उक्त लाइब्रेरी ने अप्रकाशित ७१ उपनिषदों का भी वर्गीकरण इसी प्रकार किया है। इन अप्रकाशित उपनिषदों में एक अल्लोपनिषद् भी है जो मुसलमानों के अल्लाह के विषय में है! यह अकबर के राज्यकाल में बनी—ऐसा कहा जाता है। इसी तरह दशोपनिषद् का निर्माण वैदिक काल में ब्राह्मण-ग्रन्थो के बाद ही हुआ! अनेको उपनिषदें अपने-अपने सम्प्रदायों की मर्यादा और प्रतिष्ठा को बढ़ाने के उद्देश्य से मध्ययुग तक भी रची गईं।

उपनिषदों की भाषा बड़ी मनोहर है; परन्तु गूढ़ है। भाव नितान्त ऊँचा है। अतएव यह हृदय को आकर्षित करनेवाली है। यही कारण है कि जो कोई इसे पढ़ता है, मुग्ध हो जाता है। दाराशिकोह उपनिषद् का भक्त था और उसने कुछ उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में कराया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसी फारसी से लेटिन में अनुवाद हुआ और शीघ्र ही यूरोप में उपनिषदों की प्रसिद्धि हो गई। अंग्रेजी में उपनिषदों के अनेक अनुवाद हैं जिनमें, मैक्समूलर एवं ह्यूम के अनुवाद उल्लेखनीय हैं। अब तो प्रायः भारत की सभी भाषाओं में मुख्य उपनिषदों के अनुवाद हो चुके हैं। दशोपनिषद् पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपना-अपना भाष्य लिखा है और खींचतान की है। उपनिषदों में एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है; किन्तु हठधर्म ने विभिन्न टीकाकारों को, श्लोक अथवा वाक्य के सीधे-सादे अर्थों का अनर्थ करने पर लाचार कर दिया। हम संकीर्णता और पक्षपात को हृदय से निकाल देने पर ही विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों का उचित सम्मान कर सकेंगे और उपनिषद् की गूढ़ शिक्षा को हृदयङ्गम करने में समर्थ होंगे।

समस्त उपनिषदो में केवल ईशोपनिषद् मंत्र-उपनिषद् है अर्थात् शुक्ल-यजुर्वेद का चालीसवाँ काण्ड है। अन्य उपनिषद् वेदान्तर्गत ब्रह्मसम्बन्धी भावों का विस्तार है। ईशोपनिषद् में केवल १८ मंत्र हैं; किन्तु सब महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव यहाँ हम ईशोपनिषद् की विशिष्ट व्याख्या करेंगे। स्थानाभाव के कारण अन्य मुख्य उपनिषदों पर सम्यक् रूप से प्रकाश नहीं डाल सकते।

[१] **ईशोपनिषद्** में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का बीज पाया जाता है। आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों की आवश्यकता है। गीता के निष्कामकर्म का मूल भी यही उपनिषद् है।

प्रथम तीन मंत्रों में पाँच कर्त्तव्यों का विधान किया गया है जिनको आचरण में लाने से ही व्यक्ति ब्रह्म-विद्या में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

(क) ईश्वर को प्रत्येक स्थान में मौजूद समझना अर्थात् यह समझना कि सारा संसार ईश्वर से भरपूर है। ईश्वर इसके अन्दर, बाहर—हर जगह विद्यमान है। मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त स्थान खोजता है; परन्तु यह विश्वास होने पर कि ईश्वर हर जगह है, पापाचरण के लिए एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में उर्दू के एक कवि ने कहा है—

जाहिद * शराब पीने दे मसजिद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो॥

(ख) संसार की समस्त वस्तुओं को भोगते हुए यह भावना रखना कि सब वस्तुएँ ईश्वर की हैं; भोक्ता का इनमें सिर्फ प्रयोगाधिकार है। प्रत्येक प्रकार के भोग की आज्ञा दी गई है, परन्तु इन भोगों के साथ एक शर्त यह है कि मनुष्य इन प्राप्त मान्य पदार्थों को ईश्वर का समझकर भोग करे; उनमें अपना प्रयोगाधिकार समझे, किन्तु उनसे ममत्व न जोड़े, क्योंकि संसार के समस्त दुःखों का मूल ममता है।

(ग) किसीका धन या स्वत्व नहीं लेना, अर्थात् जो हमें नियमित रूप से प्राप्त हो उसीपर संतोष करें और उसीमें आनन्द मनावें; दूसरे के पदार्थों की अभिलाषा न करें। संसार में अशान्ति का मूल कारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्व छीना जाना अथवा स्वतन्त्रता में बाधा दिया जाना ही होता है।

(घ) कर्त्तव्य समझकर और फल की आकांक्षा से रहित होकर सदैव कर्म करना। मनुष्य को उचित है कि सत्कर्म करता हुआ सौ बरस जीने की इच्छा करे। इसका सारांश यह है कि जो लोग सर्वव्यापक परमात्मा को सब जगह देखने में असमर्थ हैं उन्हें वैसी दृष्टि प्राप्त करने के लिए पहले अन्तःकरण को निर्मल बनाना पड़ेगा और यह बनेगा निष्काम कर्म करने से। कर्मों के बन्धन को मिटानेवाला अगर कोई कर्म है तो वह निष्काम कर्म ही है। इस उपाय के अतिरिक्त कोई दूसरा ऐसा उपाय नहीं जिससे साधक कर्मों के चक्कर से बच सके।

(ङ) अन्तरात्मा के विरुद्ध कार्य न करे। चरित्र-निर्माण करने का मुख्य साधन भी यही आत्मप्रेरणा है। चरित्रवान हुए बिना मनुष्य अध्यात्म-जगत् में प्रवेश नहीं कर सकता। तीसरे मंत्र में जो 'आत्महन्' शब्द आया है उसका तात्पर्य है—आत्मा को न पहचाननेवाला। उपनिषदों के मत में वस्तुतः आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त है। अतएव अज्ञान के पर्दे के कारण जिनके चित्त में काम, क्रोध, लोभ भरा है वे आवागमन के चक्कर में पड़े रहते हैं और वे ही आत्मा का हनन करनेवाले हैं।

चौथे से आठवें मंत्र तक ब्रह्म-विद्या-सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है। जिस आत्मा के हनन की बात तीसरे मंत्र में आई है, वह क्या चीज है? उसका स्वरूप क्या है?

* जाहिद = शुद्धाचारी

इसके उत्तर में उपनिषद् कहती है कि यद्यपि सम्पूर्ण इन्द्रियों की अपेक्षा मन की गति तीव्रतर है तथापि आत्मा की गति उससे भी अधिक तीव्रतर है। मन को तीव्रतर गति से अभीष्ट स्थान पर पहुँचाना पड़ेगा; किन्तु आत्मा के लिए यह बात लागू नहीं है, क्योंकि यह तो सर्वव्यापक होने के कारण सब जगह पहले से ही विद्यमान है। आत्मा चलती भी है और नहीं भी, दूर भी है और अति निकट भी; इसी प्रकार वह सम्पूर्ण विश्व के भीतर और बाहर भी है। तात्पर्य यह कि जिनकी दृष्टि में आत्मा (ईश्वर) गमनशील है उनसे तो दूर है; क्योंकि वे तो ईश्वर को सुदूर स्वर्ग में स्थित समझते हैं। किन्तु जो उसे सर्वव्यापक, अगमनशील मानते हैं, उन्हें तो वह सर्वत्र ही प्राप्त है। एक ही आत्मा सारे पदार्थों के बाहर-भीतर सब जगह रमी हुई है। फलतः सारे प्राणी उसीके सार्वभौम गर्भ में समाये हुए हैं। जो साधक इस तत्त्व को दृष्टि में रखकर सबमें अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सबको देखता है, भला वह क्योंकर किसीसे घृणा कर सकता है! ज्ञानी पुरुष एक ही आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में ओत-प्रोत समझकर अपने से भिन्न किसीको नहीं समझता। अतएव उसे शोक और मोह कैसे उत्पन्न हो? जब सब-कुछ अपनी आत्मा ही है तब किसके कृत्य से शोक होगा और मोह कहाँ पैदा होगा? वह आत्मा सर्व-व्यापक, बल-स्वरूप, निर्विकार, निराकार, सर्वज्ञ, दीप्तिमान्, निर्मल, पापरहित, सर्वद्रष्टा, सबके ऊपर और अपने आप ही होनेवाली है। इस आत्मा को जो जान लेता है वह समस्त चराचर जगत् में ब्रह्म के सिवा कुछ नहीं देखता। इसी अवस्था को प्राप्त करने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। और इसी अवस्थावाला मनुष्य मरने पर आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नवें से सोलहवें मंत्र तक मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है जो ब्रह्म-विद्या का साधन है। कहा है कि जो सकामभाव से यज्ञ, पूजा, दान, धर्म आदि करते हैं वे प्रगाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं। उसका भाव यह है कि निष्कामकर्म में ही वह शक्ति है कि अन्तःकरण को निर्मल करके उसे आत्म-दर्शन-योग्य बना दे। सकाम कर्म वासनात्मक होने के कारण मनुष्य को नीचे ही गिराते जाते हैं। अज्ञान में जो पाप करें वे उदारफलोपभोग के अधिकारी हैं; किन्तु जो जान-बूझकर पाप करें वे तो पूर्ण दण्ड भोगने के पात्र हैं।

मौखिक ज्ञान परम दुर्दशा का कारण होता है। जबतक विशुद्ध ज्ञान नहीं होता तबतक मुक्ति होना असम्भव है, परन्तु यदि मौखिक ज्ञान कर्म का सहयोग प्राप्त करके अपने मार्ग में अग्रसर हो तो वह निस्सन्देह अमरत्व प्राप्त करनेवाला होगा। मोक्ष का द्वार धन, ऐश्वर्य, भोग, विलास आदि से बन्द रहता है। यदि मोक्ष पाना चाहो तो भोगों को हटाकर मोक्ष के साधन करने पर सत्य स्वरूप देखोगे।

उपासक सूर्यदेवता से कहता है कि चूँकि ब्रह्म का मुख प्रलोभात्मक पदार्थों अर्थात् माया से ढँका हुआ है, अतः हे मेरे उपास्य देव, आप उसे हटा दीजिए, जिससे मैं ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकूँ। हे सूर्यदेव! आपका जो अत्यन्त कल्याणात्मक सुन्दर रूप है, वह मेरा है—अर्थात् आपमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। यहाँ तादात्म्य के कारण उपास्य और उपासक में अभेद दिखाया गया है। उपासना की अन्तिम अवस्था

यही है। इसमें भेदभाव रह ही नहीं जाता। इस अवस्था को प्राप्त होने पर उपासक 'सोऽहम्' का अनुभव करने लगता है।

सत्रहवें मंत्र में एक महत्त्वपूर्ण परीक्षा की बात कही गई है और अन्तिम अठारहवें मंत्र में प्रभु से सफलता की प्रार्थना की गई है।

उपासक कहता है—हे मन, सावधान! अन्तिम समय है। अतः इस समय तू इधर-उधर न भटक, 'ओम्' नामक ब्रह्म का स्मरण कर। अपने अच्छे कर्मों का स्मरण कर। यदि तू इस समय सँभल गया तो सब बन जायगा। ग्रन्थों में कहा है कि अन्तकाल में मनुष्य जैसा ध्यान करेगा वैसा ही बन जायगा। बात भी ठीक है। जिस समय मरण-काल आता है उस समय मनुष्य की सारी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और सुध-बुध जाती रहती है। उस अतीव क्लेशमय समय में वही व्यक्ति ईश्वरानुचिन्तन कर सकता है और उसीके मुख से ओम् या ईश्वर का अन्य नाम निकल सकता है जिसने आजीवन वही किया हो। जो उपनिषद् में कहे गये पूर्वोक्त कर्त्तव्यों का पालन करेगा वही ओम् का स्मरण करते-करते संसार से विदा होगा।

अन्त में उपासक अग्नि से प्रार्थना करता है—'हे अग्नि! तुम हमें कर्मफलोपभोग के लिए अच्छे मार्ग से ले चलो। हमारे वञ्चनापूर्ण पापों का नाश कर दो। हम तुम्हें अनेक नमस्कार करते हैं।

[२] **केन-उपनिषद्** के अनुसार आत्मा मनुष्य की इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर नियोजित करती है। आत्मा अज्ञेय और अनिर्वचनीय है। ब्रह्म का वर्णन वाणी-द्वारा नहीं किया जा सकता। मन उसका मनन नहीं कर सकता। आँखें उसे देख नहीं सकतीं। कान से वह सुना नहीं जा सकता। इस उपनिषद् के अन्तिम भाग में कथा के रूप में बतलाया गया है कि किस प्रकार अग्नि, वायु और इन्द्र ने यक्षरूपधारी ब्रह्म को जानने का प्रयत्न किया और असफल होने पर भगवती उमा ने इन्द्र को ब्रह्मज्ञान दिया।

[३] **कठ-उपनिषद्** में नचिकेता और यम की कथा के द्वारा आत्मा और ब्रह्म की व्याख्या की गई है। यह कथा लोकप्रसिद्ध है। यम से नचिकेता ने आत्मा की अमरता के विषय में उपदेश देने की प्रार्थना की। यम ने उदाहरण देकर आत्मा का विवेचन करते हुए कहा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
(अध्याय १, वल्ली ३, श्लोक ३)

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(अ० १, वल्ली ३, श्लोक १४)

अर्थात् आत्मा को रथी जानो, शरीर को रथ समझो। बुद्धि को सारथि जानो और मन को लगाम समझो। उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है उसी प्रकार ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग दुर्गम है।

[४] प्रश्नोपनिषद् में वेदाभ्यास-परायण और ब्रह्मनिष्ठ छः ऋषि परब्रह्म-परमेश्वर की जिज्ञासा से पिप्पलाद ऋषि के पास पहुँचे। उन लोगों ने निम्नलिखित छः प्रश्न पूछे —

(क) जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नानारूपों में उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है ?

(ख) प्राणियों के शरीर को धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं ? उनमें से कौन-कौन इसको प्रकाशित करनेवाले हैं ? उन सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ कौन है ?

(ग) प्राण किससे उत्पन्न होते हैं ? वे इस मनुष्य-शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं ? वे अपने को विभाजित करके किस प्रकार शरीर में स्थित रहते हैं। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय वे पहले शरीर से किस प्रकार निकलते हैं ? इस बाह्य जगत् को वे किस प्रकार धारण करते हैं ? मन, इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक जगत् को किस प्रकार धारण करते हैं ?

(घ) गाढ़ निद्रा के समय इस मनुष्य-शरीर में रहनेवाले देवताओं में से कौन-कौन सोते हैं ? कौन-कौन जागते हैं ? स्वप्न-अवस्था में इनमें से कौन देवता स्वप्न की घटनाओं को देखता रहता है ? निद्रावस्था में सुख का अनुभव किसको होता है ? और, ये सब-के-सब देवता सर्वभाव से किसमें स्थित हैं अर्थात् किसके आश्रित हैं ?

(ङ) जो मनुष्य आजीवन ओंकार की भली भाँति उपासना करता है, उसे उस उपासना के द्वारा किस लोक की प्राप्ति होती है, अर्थात् उसका क्या फल मिलता है ?

(च) सोलह कलावाला पुरुष कहाँ है और उसका स्वरूप क्या है ?

[५] मुण्डक-उपनिषद् तीन मुण्डकों या अध्यायों में विभक्त है। पहले भाग में ब्रह्म और वेदों की व्याख्या है। दूसरे भाग में ब्रह्म का स्वभाव और उसका विश्व से सम्बन्ध प्रकट किया गया है। दूसरे के अन्त तथा तीसरे भाग में ब्रह्म की प्राप्ति के साधन बताये गये हैं। इस उपनिषद् में ब्रह्म ज्ञान के विषय में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥२।२।८
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परपुरुषमुपैति दिव्यम्॥३।२।८

अर्थात् ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और कर्मों का क्षय हो जाता है।

जिस प्रकार बहती नदियाँ अपने नाम और रूप को खोकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से छुटकारा पाकर दिव्य पुरुष—परब्रह्म—में लय हो जाता है।

[६] माण्डूक्य-उपनिषद् में ब्रह्म-आत्म-विषयक विवेचन मिलता है। इसमें ब्रह्म या आत्मा की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। कहा गया है कि ओम् का अ, उ और म् क्रमशः आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था का द्योतक है और पूरा ओम् शब्द उसकी चौथी अवस्था अर्थात् विकारहीन अद्वैतावस्था का संकेत करता है।

[७] **तैत्तिरीय-उपनिषद्** के दो भाग हैं—**शिक्षावल्ली** और **ब्रह्मानन्दवल्ली**। शिक्षावल्ली में शिक्षा—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल इत्यादि—के विषय में बताया गया है और वेदों के अध्ययन, ओम् के चिन्तन तथा पवित्र जीवन का चित्रण करके उपनिषद् की शिक्षाओं को ग्रहण करने की योग्यता निर्धारित की गई है। ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म के व्यक्त रूप का दिग्दर्शन कराया गया है जिससे विश्व की उत्पत्ति हुई है।

[८] **ऐतरेय-उपनिषद्** की शैली अधिक स्पष्ट है। इसके प्रथम अध्याय में विश्व की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सृष्टि के पहले केवल आत्मा थी, उसने लोकों की सृष्टि करने की बात सोची। दूसरे अध्याय में—जन्म, जीवन और मृत्यु—मनुष्य की तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में आत्मा को प्रज्ञानरूप बताया गया है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

[९] **छान्दोग्य-उपनिषद्** के प्रथम दो अध्यायों में साम और उद्गीथ (सामगान) के रहस्यों की व्याख्या की गई है। दूसरे अध्याय में ओम् की उत्पत्ति दी गई है। तीसरे अध्याय में पूर्णब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तथा उसको प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं। चौथे अध्याय में जनश्रुति और रैक्व तथा सत्यकाम की कथा मिलती है। पाँचवें अध्याय में प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। इसमें इनकी पारस्परिक स्पर्धा पर प्रजापति के न्याय करने का विवरण मिलता है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि ने बारी-बारी से शरीर को छोड़कर देखा कि उसका काम चल जाता है, किन्तु ज्यों ही प्राण शरीर छोड़ने को उद्यत हुए कि अन्य सभी के छक्के छूट गये। सबने प्राणों की श्रेष्ठता स्वीकार कर उनसे न जाने की प्रार्थना की। आगे चलकर इसमें श्वेतकेतु और उसके पिता ने जो मरणोत्तर-अस्तित्व-सम्बन्धी शिक्षा राजा प्रवाहण से ग्रहण की थी, उसकी कथा है। अध्याय के अन्तिम भाग में अश्वपति, औपमन्यव, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जनक, बुडिलका तथा उद्दालक के संवाद में आत्मविषयक चिन्तनाओं का वर्णन है। यह विषय शतपथब्राह्मण १०-६-१ में भी है। छठे अध्याय में श्वेतकेतु की कथा है। ऋषि अरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से वटवृक्ष के फल को फोड़ने के लिए कहा। उसमें से अनेक नन्हे-नन्हे बीज निकले। पिता ने उनमें से एक बीज को फोड़ने की आज्ञा दी। उसके फोड़े जाने पर पुत्र से पूछा कि तुम इसमें क्या देखते हो? पुत्र ने कहा कि मुझे कुछ भी नहीं दिखाई देता है। पिता ने अपने पुत्र को समझाया कि जिस बीज के भीतर तुम्हें कुछ भी नहीं दिखाई देता है उसीमें महान् वटवृक्ष है। इसी प्रकार ब्रह्म में सारा चराचर विश्व निहित है, फिर भी प्रत्यक्ष रूप में ब्रह्म दिखाई नहीं देता। सातवें अध्याय में नारद ने सनत्कुमार से ब्रह्मज्ञान की शिक्षा ली है। अन्तिम अध्याय में व्यक्ति और परमात्मा (ब्रह्म) का विवेचन किया गया है और परमात्मा को पाने का उपाय बताया गया है। इसी उपनिषद् में भगवान कृष्ण को हम ऋषि घोर-अंगिरस् के यहाँ अध्ययन करते पाते हैं। घोर-अंगिरस् सामवेदी पण्डित थे। अतएव गीता में कृष्ण ने वेदों में अपने को सामवेद कहा है।

[१०] **बृहदारण्यक-उपनिषद्** सब उपनिषदों से आकार में बड़ी है। इसके आरम्भ में 'अश्वमेध' की व्याख्या की गई है। अश्व के अंग-प्रत्यंग के निरूपण में विश्वरूप का

संतुलन किया गया है। आगे चलकर ब्रह्म, सृष्टि तथा आत्मा की एकता दिखाई गई है। इस उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा वाद-विवाद-द्वारा दी गई है। प्रथम संवाद गार्ग्य और राजा अजातशत्रु का है। अजातशत्रु ने कहा कि जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ छिटकती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से प्राणिमात्र निकलते हैं। ब्रह्म सर्वोच्च और एकमात्र सत्य है। दूसरा प्रसिद्ध संवाद याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का है। मैत्रेयी धन की इच्छा न कर अमर होने का उपाय पूछती है। महर्षि ने अनेक उदाहरण द्वारा ब्रह्म की सर्वमान्यता को समझाया। तीसरा संवाद राजा जनक की सभा में होता है। जब राजा ने सबसे अधिकब्रह्मज्ञानी को सहस्र गौएँ देने का वचन दिया तब याज्ञवल्क्य ने प्रश्नकर्त्ताओं की शंकाओं का समाधान कर उन गौओं को प्राप्त किया। प्रश्नकर्ताओं में देवी गार्गी का ब्रह्मज्ञान औरों से बढ़कर था। उसने विभिन्न लोकों और कालों के आधारों के विषय में अनेक प्रश्न पूछे। चौथे और पाँचवें संवाद जनक और याज्ञवल्क्य में हुए। राजा को ऋषि ने ब्रह्म का स्वरूप समझाया। पाँचवें अध्याय में प्रजापति ने, अपनी तीनों संतानों—देवों, मनुष्यों तथा असुरों—को शिक्षा दी है। छठे अध्याय में छान्दोग्य-उपनिषद् के पाँचवें अध्याय की दोनों कथाएँ दी गई हैं। उपनिषद् के अन्त में महत्त्व प्राप्त करने के लिए आवश्यक हवन का विवरण दिया गया है और विद्वान्, सच्चरित्र एवं वीर पुत्र पाने के लिए यथोचित भोजन की उपयोगिता बताई गई है।

[११] **श्वेताश्वतरोपनिषद्** दस उपनिषदों के बाहर है। किन्तु कौषितकी-उपनिषद् के साथ-साथ इसकी भी प्रतिष्ठा है। इस उपनिषद् ने सांख्य और वेदान्तदर्शन की अभिन्नता दिखाने का प्रयत्न किया है। इस उपनिषद् में ब्रह्म और आत्मा के रहस्य का स्पष्ट विवेचन है तथा अधिक-से-अधिक उदाहरण द्वारा विषय को सुबोध बनाया गया है। ईश्वर के रूप की सुन्दर कल्पना की गई है। जैसे—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः॥
—४।३

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
—६।११

अर्थात् तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार है या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही उत्पन्न होने पर अनेकरूप हो जाता है।—समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है। वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों की अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है।

इस उपनिषद् में रुद्र को प्रधानता दी गई है, और उसमें परमात्मा से तादात्म्य किया गया है। कहा है—**'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'**।

[१२] **कौषीतकी-उपनिषद्** का आरम्भ बड़े मनोरंजक ढंग से हुआ है। ऋषि अरुणि राजा चित्र से ब्रह्म का उपदेश लेने गये। चित्र ने उनको समझाया कि मरने के पश्चात् कुछ लोग अपने अच्छे कर्मों के बल से ब्रह्मलोक चले जाते हैं और ब्रह्ममय हो जाते हैं। कुछ लोग स्वर्ग या नरक में जा पड़ते हैं और शेष पुनः मर्त्यलोक में कर्मानुसार जन्म लेते हैं। दूसरे अध्याय में ब्रह्म को प्राणरूप बताया गया है। इस प्राणरूपी ब्रह्म का दूत है मन, चक्षु रक्षक है, श्रोत्र द्वारपाल है और वाणी दासी है। जो मनुष्य मन, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि के इन रूपों को जानता है वह इन्द्रियों पर अधिकार रखता है। तीसरे अध्याय में प्रज्ञा को प्राणरूप बताया गया है। प्रज्ञा से ही सत्य-संकल्प सम्भव है। चौथे अध्याय में गार्ग्य काशी के राजा अजातशत्रु के समक्ष ब्रह्म का विवेचन करते हैं। ऐसी कथा बृहदारण्यक-उपनिषद् में भी आई है।

आठवाँ परिच्छेद

वेदाङ्ग

साधारण व्यवहार में श्रुति से वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् का बोध होता है और ये ही ग्रंथ वैदिक साहित्य समझे जाते हैं। इनका संक्षेप विवेचन हम कर चुके हैं। स्मृति से (१) वेदाङ्ग, (२) इतिहास, (३) पुराण, (४) धर्मशास्त्र और (५) नीति के सभी ग्रंथ समझे जाते हैं। स्मृति शब्द का व्यापक प्रयोग है। अनेक विद्वान वेदाङ्ग को वैदिक साहित्य में सम्मिलित करते हैं। अतएव यहाँ वेदाङ्ग की उपयोगिता पर प्रकाश डाला जाता है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों वैदिक साहित्य की जटिलता भी बढ़ती गई और उसका समझना कठिन हो गया। यज्ञ याग का इतना विस्तार हो गया था कि उसे याद करने के लिए छोटे-छोटे ग्रंथों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए धार्मिक सिद्धान्तों को, और विशेष कर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को, एक नया साहित्यिक रूप दिया गया। अर्थ और विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए कुछ नवीन ग्रंथ रचे गये। इनसे वेदों के अध्ययन में सहायता भी मिलती थी। अतः इन्हें वेदाङ्ग कहा जाता है। इनकी रचना सूत्र-शैली में हुई थी। गागर में सागर भरने के सिद्धान्त के अनुसार कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ व्यक्त करने के विचार से छोटे-छोटे वाक्यों में महत्त्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये गये। ये सारगर्भित वाक्य ही सूत्र कहलाते हैं। अपनी संक्षिप्त शैली के लिए यह विश्व-साहित्य में अपने ढंग का एक अनूठा साहित्य है। सूत्रों की रचना बड़ी विलक्षण है। छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का प्रयत्न किया गया है।

वेद के अंग अर्थात् सहायक साहित्य संख्या में छः हैं—(१) कल्प, (२) शिक्षा, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द तथा (६) ज्योतिष। इनका वर्णन इसी क्रम से उपस्थित किया जायगा।

[१] **कल्प**—कल्पसूत्रों के द्वारा कर्मकाण्ड तथा धर्मशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का विस्तृत विवेचन किया जाता है। यह तीन विभागों में विभक्त किया गया है—

(क) श्रौतसूत्र, (ख) गृह्यसूत्र और (ग) धर्मसूत्र। श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के दैनिक यज्ञ आदि का और धर्मसूत्रों में सामाजिक नियम आदि का विवेचन किया गया है।

(क) **श्रौतसूत्र**—श्रौत का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध कर्म-काण्ड। अतः श्रौत-सूत्रों में श्रौत-कर्मों का विधान है। इनकी संख्या १४ है। इनके द्वारा भारत की प्राचीन यज्ञ-पद्धति का अच्छा परिचय मिलता है। ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं—शांखलायन और आश्वलायन। इन दोनों में आश्वलायन अधिक पुराना मालूम होता है। सामवेद के तीन श्रौतसूत्र—मशक अथवा आर्षेय, लाट्यायन और द्राह्यायण प्राप्य हैं। शुक्ल-यजुर्वेद का एक कात्यायन और कृष्ण-यजुर्वेद के छः श्रौतसूत्र—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन्, बौधायन, भारद्वाज, मानव और वैखानस—प्राप्य हैं। अथर्ववेद का एकमात्र श्रौतसूत्र वैतान है।

[२] **गृह्यसूत्र**—ये सूत्र श्रौतसूत्र के बाद के मालूम पड़ते हैं। इनमें जन्म से मरण तक किये जानेवाले समस्त पारिवारिक संस्कारों का वर्णन है। इन संस्कारों का अनुष्ठान मानव-जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर प्रत्येक हिन्दू-गृहस्थ के लिए आवश्यक समझा जाता था। इनमें चालीस संस्कारों का वर्णन है जो मानव-जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किये जाते थे। इनमें पञ्च महायज्ञ, पाकयज्ञश्राद्ध आदि, का भी समावेश हो जाता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन भारतीयों के गार्हस्थ आचार-विचार तथा विभिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाजों का विशद परिचय मिलता है। शाङ्खलायन तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र ऋग्वेद के हैं। शुक्ल-यजुर्वेद का पारस्कर और कृष्ण-यजुर्वेद के आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन्, बौधायन, मानव, काठक और वैखानस सूत्र हैं। सामवेद के गृह्यसूत्र गोभिल और खादिर हैं तथा अथर्ववेद का कौशिक गृह्यसूत्र है। गोभिल गृह्यसूत्र प्राचीनतम समझा जाता है।

(ग) **धर्मसूत्र**—इन सूत्रों में सामाजिक जीवन के संचालन के लिए नियमों का विवेचन किया गया है। इनमें धर्म की विवेचना, वर्णाश्रम-व्यवस्था, राजा-प्रजा के कर्त्तव्य, विवाह के भेद, दायभाग की व्यवस्था, स्त्रियों का स्थान, निषिद्ध-भोजन, शुद्धि, प्रायश्चित्त, न्यायालयादि के व्यवहार आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं धर्मसूत्रों के आधार पर बाद में स्मृतियों का निर्माण हुआ, जो आज भी हिन्दू-समाज के लिए मान्य हैं। वेद-शाखा से सम्बन्धित धर्मसूत्रों में केवल तीन—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् और बौधायन—प्राप्य हैं। इनके अलावा गौतमधर्मसूत्र और वसिष्ठधर्मसूत्र भी सूत्र-ग्रन्थ माने जाते हैं; क्योंकि इनमें भी सूत्रों का ही उपयोग किया गया है। इनके अलावा एक वैखानस धर्मसूत्र भी है। गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र को 'स्मृति' भी कहते हैं।

इन सूत्रों के अतिरिक्त एक प्रकार के सूत्र और भी हैं जिन्हें शुल्व कहते हैं। इनका सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से ही है। शुल्व का अर्थ है मापनेवाला डोरा। इन सूत्रों में यज्ञ की वेदियों के लिए उपयुक्त स्थान चुनने, उनकी माप करने तथा उनकी निर्माण-प्रणाली आदि का विस्तार से वर्णन है। ये सूत्रग्रन्थ भारतीय ज्यामिति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं।

[२] **शिक्षा**—इसका सम्बन्ध शब्दशास्त्र से है। वेदों के उच्चारण पर ऋषियों ने सबसे अधिक ध्यान दिया है। जिसके द्वारा स्वर, मात्रा और उच्चारणादि पर विचार किया गया है वह 'शिक्षा' कहलाती है। लोगों की धारणा थी कि स्वर की विषमता से या वर्ण की विषमता से शब्द दूषित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में अशुद्ध उच्चारण से निकला हुआ वाक्य वज्र की तरह यजमान का कामना-साधन करने के बदले उसे नष्ट ही कर देता है। स्वर के दोष से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान वृत्र की हत्या का कारण हुआ।

शिक्षा में वर्ण तथा उनके उच्चारण-आदि-सम्बन्धी कितने ही नियम दिये गये हैं, जिनकी ओर पश्चिम के भाषा-वेत्ताओं का ध्यान अब आकृष्ट हुआ है। शिक्षा-ग्रन्थों की संख्या काफी बड़ी है। काशी से **शिक्षा-संग्रह** नाम का संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें वेदों की नाना शाखाओं से सम्बद्ध शिक्षाएँ दी गई हैं। पाणिनि के नाम से प्रख्यात पाणिनीय शिक्षा के अध्ययन-द्वारा इस विषय का पर्याप्त परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

वेदाध्ययन के अत्यन्त पूर्वकाल में ऋषियों ने पढ़ने की स्वरादि-विशेषता को निश्चित करके अपनी शाखा की परम्परा चला दी। जिस-किसी ने जिस शाखा से वेद-पाठ सीखा, वह उसी शाखा को वंश-परम्परा का कहलाया। ब्राह्मणों की गोत्र-प्रवर-शाखा आदि की परम्परा इसी तरह चल पड़ी। जब यह बहुत काल की हो गई तब उस विभेद को स्मरण रखने के लिए और अपनी-अपनी रीति की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थ बने। इन्हीं प्रातिशाख्यों में शिक्षा और व्याकरण दोनों पाये जाते हैं। अब केवल ऋग्वेद की शाकल-शाखा का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, सामवेद का साम प्रातिशाख्य और अथर्ववेद का अथर्वप्रातिशाख्य या शौनकीय चतुराध्यायी उपलब्ध है। प्रातिशाख्यों में शिक्षा का विषय अधिक है और व्याकरण का अत्यन्त कम।

[३] **व्याकरण**—इसका काम है भाषा के नियमों का प्रदर्शन। पतञ्जलि ने एक जनश्रुति का उल्लेख किया है कि 'बृहस्पति ने इन्द्र को सहस्र दिव्य वर्षों तक प्रतिपदोक्त शब्द का पारायण कराया, फिर भी शब्द-समूह का अन्त नहीं हुआ।' इस जनश्रुति से यह प्रकट होता है कि सबसे पुराने वैयाकरण देवताओं के गुरु बृहस्पति थे और इन्द्र का नम्बर उनके बाद पड़ेगा। पाणिनि के आरम्भ के पहले चौदह सूत्र **'माहेश्वरसूत्र'** कहे गये हैं। इससे सहज में ही यह अनुमान होता है कि माहेश्वरसूत्र भी किसी और व्याकरण के ही सूत्र होंगे। वे व्याकरण चाहे अब न मिलें; परन्तु पाणिनि से पहले जरूर रहे होंगे।

इस समय प्राप्य ग्रन्थों में सबसे पुराना व्याकरण-ग्रन्थ 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आठ अध्याय हैं और हरएक अध्याय में चार-चार पाद हैं। सूत्रों की सम्पूर्ण संख्या ३९९६ है। ये पाणिनि के बनाये हुए हैं। बहुत-से ऐसे सूत्र भी हैं जिनमें पूर्वाचार्यों का मत भी संश्लिष्ट है। पाणिनि का समय ईसवी सन् से ७०० वर्ष पूर्व समझा जाता है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में वेद को सर्वत्र 'छन्द' कहा है।

सबसे प्राचीन व्याकरण का क्या क्रम रहा होगा, उसकी विषयावली क्या रही होगी,—ये सब बातें इस समय ठीक-ठीक मालूम नहीं हो सकतीं। परन्तु गोपथब्राह्मण (१।२४) में यह क्रम दिया गया है—(१) वेद की रक्षा के लिए, (२) उसका अर्थ समझने के लिए,

(३) शब्दों के ज्ञान के लिए, (४) सन्देहनिवारण के लिए, (५) अशुद्ध शब्द के परित्याग के लिए, (६) यज्ञादि कर्मों में शुद्ध शब्दों के व्यवहार के लिए, (७) पटु ऋत्विज होने के लिए, (८) सन्तान के शुद्ध नाम-करण के लिए और (९) सत्यासत्य के निर्णय के लिए व्याकरण का यथार्थ ज्ञान अत्यन्त प्रयोजनीय है।

[४] **निरुक्त**—इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति पर ही विचार किया गया है। इससे वैदिक शब्दों का अर्थ किया जाता है। निरुक्त के ग्रन्थ प्राचीन वैदिक काल में अनेक रहे होंगे; किन्तु इस समय केवल महर्षि यास्क का ग्रन्थ उपलब्ध है। निरुक्त से ही पता चलता है कि ऋग्वेद का पाठ अत्यन्त शुद्ध है। निरुक्त पञ्चाध्यायात्मक है—(क) अध्ययनविधि, (ख) छन्दोविभाग, (ग) छन्दोविनियोग, (घ) उपलक्षित कर्मानुकूल भूतकाल और (ङ) उपदर्शित लक्षण। इन सब अंगों से वेदों का अर्थ मालूम होता है। इसमें शब्दों के अर्थ लिखे हुए हैं। अर्थ ही सर्वापेक्षा प्रधान है; क्योंकि अर्थ न मालूम होने से पाठ निष्फल होता है। वेदों के शब्दार्थ के लिए निरुक्त ही प्रमाण है। ऋक् अनुक्रमणिका में लिखा है कि वेदों की व्याख्या के लिए निरुक्त प्रधान उपकरण है। संक्षेप में निरुक्त वेद का कोष-विशेष है।

अनुश्रुति के अनुसार 'निघण्टु' महर्षि यास्क द्वारा ही प्रणीत है; परन्तु वास्तव में यह ग्रन्थ यास्क की रचना नहीं है। स्वयं यास्क ने भी इसपर टीका अथवा भाष्य लिखा है। वेदार्थ समझने लिए निघण्टु का निर्माण हुआ।

यास्क का समय पाणिनि से पूर्व अर्थात् ईसवी पू० ७०० से भी प्राचीन माना जाता है।

[५] **छन्द**—केवल कृष्ण यजुर्वेद गद्य और पद्य दोनों में है। अन्य वेद पद्यमय हैं। गद्य सुनकर कान और मन को वह तृप्ति नहीं होती जो पद्य को सुनकर होती है। पद्य याद जल्द होते हैं और बहुत काल तक स्मरण रहते हैं। साथ ही साथ इनके द्वारा गम्भीर-से-गम्भीर भाव थोड़े में व्यक्त कर दिये जाते हैं। वेदाध्ययन में छन्दों का ज्ञान अनिवार्य है। छन्दों के ज्ञान के बिना वेदों के मंत्रों का उच्चारण भी भली भाँति नहीं हो सकता।

छन्दों को वेद का चरण बतलाया गया है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणिका' में सात छन्दों का उल्लेख है—(१) गायत्री, (२) उष्णिक्, (३) अनुष्टुप्, (४) बृहती, (५) पंक्ति, (६) त्रिष्टुप् और (७) जगती। कात्यायन के बाद छन्दःशास्त्र के सबसे प्राचीन ज्ञाता महर्षि पिङ्गल हैं। संस्कृत-साहित्य में लगभग ५० प्रकार के छन्द व्यवहार में आते हैं। पिङ्गल का ग्रन्थ ३०० ईसवी पूर्व की रचना समझा जाता है।

[६] **ज्योतिष**—संस्कारों और यज्ञों की क्रियाएँ निश्चित मुहूर्तों पर, निश्चित समयों में और निश्चित अवधियों के भीतर होनी चाहिए। मुहूर्त, समय और अवधि का निर्णय करने के लिए ज्योतिष-शास्त्र का ही अवलम्ब है। ज्योतिष वेदाङ्ग का ही एक अंग है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के ऊपर एक छोटा-सा पद्यात्मक ग्रन्थ है जिसमें नक्षत्रों और चन्द्रमा आदि ग्रहों पर विचार किया गया है। ज्योतिष के अन्तर्गत भूगोल एवं खगोल का ज्ञान भी सम्मिलित है।

पराशर और गर्ग भारी ज्योतिर्विद् हो गये हैं। इनके पीछे के ज्योतिर्विदों में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, कमलाकर आदि प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो चुके हैं। ये सभी गणित और फलित–दोनों ही प्रकार के ज्योतिष के आचार्य माने जाते हैं। ज्योतिष के ग्रन्थ अनेक हैं और प्रचलित भी हैं। इनपर अच्छे प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे जाने की परम्परा टूटी नहीं है। और, आज के वैज्ञानिक संसार में भी इसका उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है।

वेदानुक्रमणी

वेदों से सम्बन्धित वेदाङ्ग के अतिरिक्त एक और साहित्य है जिसे 'अनुक्रमणी' कहते हैं। इन अनुक्रमणियों में वेदमंत्र, ऋषि, छन्द, देवता आदि की सूचियाँ दी गई हैं। **छन्दोऽनुक्रमणी** में ऋग्वेद के छन्दों की सूची है। **अनुवाक-अनुक्रमणी** में ऋग्वेद के अनुवाकों के प्रारम्भिक शब्दों और सूत्रों की संख्या का ब्योरा आता है। **पदानुक्रमणी** में मन्त्रों के पाद का ब्योरा है। **देवतानुक्रमणी**-सम्बन्धी १२०० श्लोकवाले **'बृहद्देवता'** ग्रन्थ में ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र के देवता का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इसमें कितनी ही दन्तकथाएँ और कथनाक इकट्ठे किये गये हैं। इन सब अनुक्रमणियों के सारांश का कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी में वर्णन किया गया है।

सामवेद की दो, कृष्ण-यजुर्वेद की दो और शुक्ल-यजुर्वेद की एक अनुक्रमणी है।

नवाँ परिच्छेद
वैदिक सभ्यता

वैदिक सभ्यता के उषाकाल में भिन्न-भिन्न परिवार, कुल के नाम से, प्रसिद्ध था। बहुत-से कुलों को मिलाकर गोत्र बनता था और गोत्रों को मिलाकर गोष्ठी तथा गोष्ठियों को मिलाकर ग्राम। ग्रामो की संस्था 'जन' के नाम से प्रसिद्ध थी। मुख्यतः चुनाव की प्रथा थी।

वैदिक ग्राम स्वावलम्बी होता था और सब जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ ग्राम ही प्रस्तुत करता था। धान, जौ, तिल, कपास आदि ग्राम ही उपजाता था। प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकता के अनुसार सूत कातकर कपड़ा बुन लेता था। यह कार्य महिलाओं का था (अथ० १४।१।४५)।

गाँव के बढ़ई जिन्हें 'त्वष्टा' कहते थे, रथ, नाव, युद्ध के शस्त्र एवं खेती के औजार बनाते थे। शौकीन स्त्री-पुरुषों में माला धारण करने की चाल थी और माली उनके लिए माला प्रस्तुत करते थे।

जानवरों की खाल को ममाला द्वारा दुरुस्त करके भिन्न-भिन्न प्रकार के सामान बनाये जाते थे। वैद्यों की प्रतिष्ठा थी और उन्हें भरपूर धन भी मिलता था। ऋग्वेद (१०-९७-४) में एक ऋषि कहता है कि वह भिषक् (वैद्य) के लिए गाय, घोड़ा, कपड़ा और यहाँ तक कि अपने को उत्सर्ग करने को भी प्रस्तुत है। ऋग्वेद (१०-९७) का पूरा सूक्त जड़ी-बूटियों की प्रशंसा में है। अथर्ववेद में तो आयुर्वेद की बात भरी पड़ी है। सारांश, वैदिक ग्राम स्वयं साधन-परिपूर्ण था।

अपनी जीविका के अनुसार ग्रामवासी विभक्त थे। जो यज्ञ नहीं करते और वैदिक देवताओं में विश्वास नहीं रखते, उनकी गणना शूद्रों में होती थी।

वैदिककाल में संध्या-प्राणायाम प्रायः सब करते थे।*

---

* जब रात्रि चार घड़ी शेष रहे अर्थात् सूर्योदय के प्रायः डेढ़ घंटा पूर्व, शय्या को त्यागकर शौच-स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त हो, शुद्ध चित्त से एकान्त, निर्मल और स्वच्छ स्थल में बैठकर वेदानुकूल विधि के साथ ईश्वर की प्रार्थनादि करने को संध्या कहते हैं। इसी प्रकार सायंकाल में सूर्यास्त और रात्रि के बीच के समय की प्राणायाम-उपासना सायं-

वैदिककाल में निम्नलिखित पञ्चमहायज्ञ प्रचलित थे—

(१) **ब्रह्मयज्ञ**—ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यों की सेवा करना और उनके द्वारा वेदादि का उपदेश ग्रहण करना।

(२) **पितृयज्ञ**—माता-पिता, गुरु-आचार्य की समुचित आज्ञाओं का पालन करना। उनकी मृत्यु के बाद उनके कथनानुसार आचरण कर उनकी कीर्ति में वृद्धि करना।

(३) **अतिथियज्ञ**—अतिथि का अधिकारानुसार सत्कार करना, उनके सुकार्य में सहायता देना अतिथि-यज्ञ है। अतिथि विद्वान अथवा वयोवृद्ध हों तो उनसे ज्ञान ग्रहण करना उचित है। किन्तु अतिथि से कोई काम लेना अथवा धन लेना उचित नहीं।

(४) **भूतयज्ञ**—प्राणिमात्र को भूत कहते हैं। गाय, बैल, कुत्ता आदि समस्त जीवों को यथाशक्ति अन्न, जल, तृण आदि से तृप्त करना भूतयज्ञ है।

(५) **देवयज्ञ**—यह यज्ञ सर्वोपरि है। केसर, कस्तूरी, घी, तिल, चावल, चन्दन, पान आदि से हवन करना देवयज्ञ है। प्रत्येक गृहस्थ के घर में अग्नि-कुण्ड रहता था जो अहर्निश जलता रहता था। भगवान ने गीता में इसे गार्हस्थ-अग्नि कहा है। अग्नि की रक्षिका घर की सौभाग्यवती महिलाएँ होती थीं और जबतक घर में एक भी सौभाग्यवती रहती, अग्नि-कुण्ड सदा प्रज्वलित रहता।

ये सब नित्य-यज्ञ थे। किन्तु वैदिक इष्टियज्ञ (महीने में दो बार), पशुयज्ञ आदि भी करते थे। पशुयज्ञ में बकरा, घोड़ा आदि के मांस से हवन होता था। शुनःशेप की कहानी में पुरुषमेध का जिक्र आया है। परन्तु इससे नरबलि देने के सिद्धान्त का निश्चितरूप से समर्थन नहीं होता। शुक्ल-यजुर्वेद का सम्पूर्ण तीसवाँ काण्ड पुरुषमेध यज्ञ के सम्बन्ध में है और इसमें पुरुषमेध में बलि दिये जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुष और स्त्रियों की चर्चा है। अनेक विद्वानों की राय है कि पुरुषमेध का उल्लेख आलंकारिक भाषा में है और वास्तव में मनुष्य की बलि नहीं होती थी; किन्तु पुतले जलाये जाते थे। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों का तो यहाँ तक कथन है कि वैदिककालीन भारत में पशु-बलि भी नहीं होती थी और समस्त यज्ञ दुग्ध, घृत, चन्दनादि द्वारा होता था। बाद में, भारत के अवनतिकाल में, पशु-बलि की प्रथा चल निकली।

संध्या कही जाती है। प्राणों को स्वाधीन करना प्राणायाम है। संध्या-कर्म से निवृत्त होकर पद्मासनस्थ हो, शरीर के अन्दर से साँस बाहर निकाल, नासिका के वाम छिद्र से वायु को अन्दर खींचे और जितना समय वायु को खींचने में लगे उससे दुगुना या चौगुना समय तक उसे हृदय में रोक रखे। बाद धीरे-धीरे उस वायु को नासिका के दूसरे छिद्र से बाहर कर दे। यह क्रिया करते समय मन में 'ओम्' या किसी मंत्र का जप करते रहना चाहिए। पुनः दाहिने छिद्र से वायु को अन्दर कर बाएँ छिद्र से निकाले। कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक दस प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम करने से मन स्थिर, शांत और पवित्र होता है। यह एक प्रकार का व्यायाम भी है। इससे स्वास्थ्य में भी पर्याप्त उन्नति होती है।

सामाजिक दशा

आज की तरह वैदिक आर्यों में जाति-भेद नहीं था। जाति-भेद का उल्लेख हमें पहलेपहल ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०-६०-१२) में मिलता है। जाति-भेद जन्मगत नहीं, किन्तु कर्मगत था। क्षत्रियकुल में उत्पन्न विश्वामित्र और देवापी को हम पुरोहित तथा वेदमंत्रों के द्रष्टा के रूप में पाते हैं (३-५३-६)। भृगु ऋषि के वंशज रथ तैयार करने में पारंगत बढ़ई थे (१०-३६-१४)। प्रत्येक व्यवसाय मर्यादापूर्ण समझा जाता था; क्योंकि सबकी आवश्यकता थी। जो विद्वान और मनीषी होते थे उन्हें ब्राह्मण अथवा ऋषि का स्थान प्राप्त होता था। भरद्वाज ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने पर भी क्षत्रिय राजा रहे। नाभाग क्षत्रिय होने पर भी वैश्य हो गये। ऐतरेय-ब्राह्मण (२।८।१) से ज्ञात होता है कि कवस शूद्र-वंश में जन्म लेने पर भी ऋषि हो गये। अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में जाति-भेद जन्मगत नहीं था।

चूँकि जाति-विभाग जन्मगत नहीं था इसीलिए एक जाति का दूसरी जाति में विवाह प्रचलित था। अर्चताना ऋषि के पुत्र श्यावस्वं का राजा रथवीति की पुत्री के साथ विवाह हुआ था जिसकी मनोहर कथा ऋग्वेद (५।६१) में आई है। राजा पूर्णमित्र की कन्या विमदा ने कामध्य ऋषि को स्वयंवर में चुना। प्रसिद्ध वैदिक ऋषि घोषा राजकन्या थी और जब उसकी ख्याति फैली तब उसका एक ऋषि के साथ विवाह हुआ।

व्यापार अधिकतर बदलौवल के रूप में प्रचलित था। लेन-देन की इकाई गाय समझी जाती थी। आर्यों में पणि लोग व्यापारी थे और समुद्र से दूर-दूर तक जाकर व्यापार करते थे। उनका नेता प्रभु था जो गंगातट पर—सम्भवतः समुद्र के पूर्वी किनारे पर—निवास करता था। वह दानवीर था और उसकी प्रशंसा ऋग्वेद के तीन मंत्रों में की गई है (५।४५।३१-३३)। गाय के अतिरिक्त सिक्के के रूप में 'निष्क' और 'मना' नाम के सिक्कों का प्रयोग होता था। आरंभ में निष्क गले में पहनने का सोने का गहना था जिसमें चौखूटे अथवा गोल सोने के टुकड़े साथ-साथ गूँथे रहते थे। धनी स्त्री-पुरुष इन्हें गले में पहनते थे। ये वजन में बराबर होते थे। बाद में सम्भवतः इनका व्यवहार सिक्के के रूप में होने लगा। मना नामक सिक्के का व्यवहार पणि लोग करते थे। इन सिक्कों को वे बेबिलन और असीरिया में ले गये जहाँ इनका नाम 'मेना' पड़ा। बाद ग्रीकों ने उसे 'माना' कहा। ऋग्वेद में यह शब्द आया है। चाँदी के निष्क का भी हम जिक्र पाते हैं।

खरीद-बिक्री के समय जो वादा होता था उसका अक्षरशः पालन किया जाता था। सूद की चाल भी थी। पणि लोग काफी सूद पर रुपया कर्ज देते थे। कर्ज अदा करने में असमर्थ होने पर कर्जखोर, महाजन के, दास हो जाते थे। बाप-दादा द्वारा किये गये कर्ज को उनके वंशज अदा करते थे। कर्ज का धन तमादी हो गया—ऐसी भावना न थी।

ऋग्वेद-काल में दास-प्रथा थी। राजाओं और अमीरों के सैकड़ों दास होते थे। ये दास अधिकतर पराजित शत्रु अथवा पणियों-द्वारा दूर देश से लाकर बेचे हुए होते थे। काले रंगवाले दासों का जिक्र हमें ऋग्वेद में मिलता है।

आर्यों में जूआ खेलने का व्यसन बहुत प्रचलित था। ऋग्वेद के दशम मण्डल का सम्पूर्ण ३४ वाँ सूक्त इसी सम्बन्ध का है। इस सूक्त से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में द्यूत-प्रथा प्रचलित थी। इसी सूक्त से यह भी ज्ञात होता है कि जूए के परिणाम-स्वरूप जुआड़ी की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती थीं।

राजा पत्थर के बने विशाल भवन में रहते थे। (४।३०।२०) स्त्रियाँ महल के अन्दर रहती थीं। पर्दे की चाल नहीं थी। किन्तु जब विवाहित स्त्रियाँ बाहर निकलतीं तो चादर से अपने सिर को ढँक लेतीं। आज भी कुलीन हिन्दू स्त्रियों में यह प्रथा है जो अब धीरे-धीरे उठ रही है। विवाह के समय जो अग्नि जलाई जाती थी, विवाहित स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य था कि अपने जीवन-पर्यन्त उसे बुझने न दें। गौ दूहने का काम कुमारी लड़कियों का था जिससे उनका नाम दुहितृ अथवा दुहिता पड़ा।

बर्तन एवं असबाब सादे ढंग के होते थे। मिट्टी और धातु दोनों प्रकार के बर्तनों का व्यवहार होता था। सोमरस, मधु, दही तथा पानी रखने के लिए लकड़ी के कलश का भी व्यवहार होता था।

भोजन

मुख्यतः लोग जौ का आटा, चावल और भिन्न-भिन्न प्रकार की दाल का उपयोग करते थे। मक्खन, घी, दही, मधु और मांस खाने की चाल थी। गेहूँ का जिक्र हमें वेद में कहीं नहीं मिलता। भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्वान्न बनाने की चाल थी। वर्ष के अधिकतर भाग में सर्दी पड़ती थी (२।१।११; ५।५४।१५; ६।१०।७)। आर्य मांस-भक्षण प्रचुर मात्रा में करते थे। कुछ लोग कहते हैं कि वैदिक आर्यों को गोमांस से परहेज नहीं था; क्योंकि वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक जगह हम इसका उल्लेख पाते हैं—(१०।२७।२; १०।८६।१३-१४)। किन्तु अनेक विद्वान इन वाक्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ लगाकर यह प्रमाणित करते हैं कि वैदिककाल में गोवध अथवा गोमांस-भक्षण की प्रथा न थी। जानवरों के वध के लिए निश्चित स्थान रहता था। किन्तु ऐसे पुरुषों का भी हम उल्लेख पाते हैं जो निरामिष थे। गाय बहुत उपयोगी जानवर है, अतएव स्वभावतः धीरे-धीरे इसके वध के विरुद्ध आन्दोलन बढ़ता गया। अन्त में ऐसा समय आया कि गाय की प्रतिष्ठा चरम सीमा पर पहुँच गई और गाय मारना जघन्य पाप समझा जाने लगा। इसीसे उसे 'अघन्या' कहते हैं और यह नाम ऋग्वेद में भी मिलता है। सम्भवतः मछली खाने की चाल न थी। यद्यपि ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर (७।१८।६, १०।६८।८) मछली का जिक्र आया है। सम्भवतः नीच जाति के लोग ही मछली खाते थे।

वैदिक आर्यों में सोमरस पीने की चाल थी। इससे उत्साह होता था और रोगों का निवारण भी। युद्ध के अवसर पर उत्साह प्रदान करने के लिए विशेष रूप से इसका व्यवहार होता था। सोमरस की आहुति देवताओं के लिए भी दी जाती थी। ऋग्वेद का नवाँ मण्डल तो सोम-स्तुति से ओतप्रोत है।

सोम के अतिरिक्त सुरा का भी प्रयोग होता था। किन्तु सुरा की निन्दा की गई है

और कहा है कि सुरा के वशीभूत होकर मनुष्य पाप और नियम-भंग करता है तथा चेतना-शून्य हो जाता है (८।२।१२)। इसकी गणना खराब वस्तुओं में थी (८।८६।६)।

ऊनी और सूती दोनों प्रकार के वस्त्रों का व्यवहार होता था। बहुत लोग जानवर की खाल को भी पहनते थे। कपड़ों में रंग-बिरंग का काम करने की चाल थी। स्त्रियाँ सुन्दर और आकर्षक वस्त्र धारण करती थीं।

स्त्री और पुरुष दोनों गहने पहनते थे। निष्क को पुरुष गले में और स्त्रियाँ छाती पर पहनती थीं। सोने का बाजू स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। कर्णशोभा स्त्रियाँ कानों में पहनती थीं। गले में मोतीमाला पहनी जाती थी।

युद्ध में शिरस्त्राण और छाती बचाने के लिए धातु की अटकली आर्य योद्धा पहनते थे।

आर्य घुड़सवारी के बहुत प्रेमी थे। युद्ध में भी घोड़े का व्यवहार होता था। घुड़दौड़ की भी बहुत चाल थी। इस अवसर पर घोड़े अक्सर सोने-चाँदी के गहनों से सुशोभित किये जाते थे।

स्त्री-पुरुष दोनों में नाचने-गाने की चाल थी। किन्तु सम्मिलित नाच-गान का जिक्र वेद में नहीं मिलता है।

विवाह

वैदिक काल में पूर्ण युवती होने के पहले लड़कियों का विवाह नहीं होता था—(१०।८५।२१-२२, ७।५५।८)। ऋग्वेद में ऐसी कन्याओं का भी जिक्र है जिन्होंने आजीवन विवाह नहीं किया। विभिन्न प्रकार के विवाह प्रचलित थे जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१) पिता का योग्य वर खोज कर विवाह करना (१०।८५।१५-२३)।

(२) पिता की इच्छा के विरुद्ध जीतकर 'जबरदस्ती कन्या को विवाहार्थ ले जाना। विमद ने पूर्णमित्र की कन्या को उसके पिता की इच्छा के विरुद्ध हरण कर विवाह किया (१।११२।१६; १०।३६।७)।

(३) विद्वान को उसकी विद्वत्ता अथवा प्रतिभा के कारण कन्या दी जाती थी। इसे आर्ष-विवाह कहते थे। श्यावाश्व का इसी प्रकार विवाह हुआ।

विवाह कन्या के घर पर सम्पन्न होता था, गहने-कपड़ों से विभूषित युवक कन्या के घर पर मित्र और सम्बन्धियों के साथ जाता था। पिता अथवा अन्य अभिभावक कन्या-दान करते (१०।८५।३६, अथर्व० १४।१।१६)। बाद अग्नि के चारों ओर वर-कन्या साथ-साथ घूमते। इस क्रिया के बाद विवाह सम्पन्न होता (१०।८५।३६-३८; १०।१८।८)। ऋग्वेद और अथर्ववेद के मंत्रों में नवविवाहिता कन्या के गृह में स्थान, कर्त्तव्य आदि का विशद वर्णन मिलता है। कन्या स्थायी रूप से पति के यहाँ रहने के लिए जाती थी, यद्यपि समय-समय पर पिता के घर पर आने की चाल थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८५ वें सूक्त में हमें विवाह-सम्बन्धी मंत्र मिलता है। अथर्ववेद का सम्पूर्ण चौदहवाँ काण्ड विवाह के सम्बन्ध में है और नवदम्पती के मनन करने योग्य है।

वैदिककालीन भारत में बहुविवाह की भी प्रथा थी। किन्तु ऋग्वेद के मंत्रों से हमें आभास मिलता है कि बहुविवाह से पति की अवस्था दयनीय हो जाती थी, गार्हस्थ्य जीवन सुखमय नहीं रहता था (१।१०५।८ ; १०।३३।२)। स्पष्टतया एकपत्नी-व्रत की प्रथा सर्वमान्य थी (१।१२४।७ ; ४।३।२)।

विधवा-विवाह की प्रथा हम ऋग्वेद में नहीं पाते। किन्तु मृत पति के छोटे भाई के साथ विवाह की प्रथा शायद थी (१०। १८। ८)। यह प्रथा आज नीच जातियों में मान्य है। अथर्ववेद (६।५।२७-२८, १८।३।१-२, ६।४६।८, १०।४०।२) में हमें विधवा-विवाह का जिक्र मिलता है।

अतिथि-सत्कार का बड़ा महत्त्व था। यह महत्त्वपूर्ण धार्मिक कर्म समझा जाता था। इसकी गणना पञ्चयज्ञों में थी। ऋग्वेद (१०।११७) में हमें अतिथि-सत्कार के उच्च आदर्श की झाँकी मिलती है।

पठन-पाठन की प्रणाली सर्वोत्तम थी। गुरुकुल की परिपाटी प्रचलित थी। बाल्यकाल में गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण की जाती थी। वहाँ बिना भेद-भाव के दरिद्र और सम्राट् के लड़के एक साथ रहते और पठन-पाठन करते। उस समय सत्य बोलने, अपना कर्तव्य पालन करने, वेदाध्ययन करने, सत्य से अविचलित रहने, दिक वैशिक्षा का पालन करने और देवयज्ञ तथा पितृयज्ञ को नियमित रूप से करने, माता का देवी के समान पूजन करने, पिता को देवता-तुल्य मानने और सुकर्म पर श्रद्धा रखने का उपदेश दिया जाता था। उस समय की विचार-प्रणाली परमोच्च अवस्था पर पहुँच चुकी थी।

दसवाँ परिच्छेद
पारसी धर्म

मजदाओ सखारे मइरी श्तो (गाथ २६।४)।

[केवल मजदा ही एकमात्र उपास्य हैं। उनके अतिरिक्त कोई भी देवता उपासना के योग्य नहीं है।]

पारसी धर्म के उपास्य देवता का नाम है अहुर मजदा तथा इस धर्म के प्रवर्त्तक का नाम है जरथुश्त्र। आपका मूल नाम स्पितमा था, परन्तु घोर तपस्या के अनन्तर जब आपने सिद्धि प्राप्त की तब आपका यही नाम पड़ा। जिस प्रकार सिद्धार्थ गौतम को सिद्धि प्राप्त कर लेने पर 'बुद्ध' के नाम से अभिहित किया गया उसी प्रकार स्पितमा को भी सिद्धिप्राप्ति की सूचिका यह उपाधि दी गई। जरत = सुवर्ण तथा उश्त्र = प्रभा-मण्डित। अतः जरथुश्त्र का अर्थ होता है सुवर्णप्रभ अर्थात् सुनहली प्रभा से मण्डित व्यक्ति।

जरथुश्त्र के जन्म-समय के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। पश्चिमी विद्वानों ने तो इनका समय ईसवी सन् से पूर्व सप्तम शतक (६६० ई० पू०—५८३ ई० पू०) माना है। परन्तु पारसी परम्परा के अनुसार इनका समय बड़ा प्राचीन माना जाता है। यूनानी ग्रन्थकारों ने इनका समय अफलातून (प्लेटो) से प्रायः छः हजार वर्ष पहले माना है। प्रसिद्धि है कि हमारे पुराणों के रचयिता वेदव्यास ईरान गये थे और वहाँ जरथुश्त्र के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ था। परन्तु प्रमाणों के अभाव में इस दन्तकथा का मूल्य आँकना हमारे लिए असम्भव बात है। यह भी कहा जाता है कि हिब्रू लोगों के पूर्व-पुरुष अब्राहम तथा जरथुश्त्र एक ही समय विद्यमान थे (बाइबिल के अनुसार ई० सन् से लगभग १६२० वर्ष पूर्व) तथा एक ही स्थान पर रहते थे जिसका बाइबिल के अनुसार नाम है हरन तथा फारसी के अनुसार नाम है अर्रन। जेन्द-अवस्ता

से पता चलता है कि जरथुश्त्र का जन्म 'अरियानम् वेइग' (आर्यों का बीज) नामक स्थान में हुआ। इस विषय के विशेषज्ञ डाक्टर स्पीगल का कथन है कि 'अरँन' शब्द 'अरियानम् वेइग' का ही संक्षिप्त रूप है। जो कुछ भी हो, इसी स्थान तथा समय की एकता होने के कारण ही पारसी धर्म का यहूदी धर्म के ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा था—यह विद्वानों * का मान्य सिद्धान्त है। इस प्रकार जरथुश्त्र के आविर्भावकाल के विषय में आज भी विद्वानों में मतभेद बना हुआ है। परन्तु अधिकांश विद्वान इस विषय से सहमत हैं कि इनका समय १५०० ई०-पू० से लेकर १००० ई०-पू० तक था।

जीवन-चरित्र

जरथुश्त्र का जन्म का नाम सितम, था। १५वर्ष की अवस्था में आपका विवाह हो गया। किन्तु गौतम की तरह आप भी गृहस्थाश्रम के मायाजाल से शंकित हो उठे। दुखियों के कातर क्रन्दन ने आपको चौंका दिया। आपने पन्द्रह वर्षों तक घोर साधना की और साधना के परिणाम-स्वरूप आपकी बुद्धि की प्रखर प्रतिभा दमक उठी। पंद्रह वर्ष के संन्यास एवं निर्वास के बाद ज्ञानलाभ कर लोक-सेवा के उद्देश्य से आप पुनः अपने कुटुम्ब में आ मिले। आपको विश्वास हो गया कि मनुष्य कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करते हुए भी दैवी आदर्श को प्राप्त कर सकता है। आपका लोगों ने बहुत विरोध किया। वर्षों तक आपको अपने भतीजे के सिवा कोई साथी न मिल सका। प्रचलित धर्म के विरुद्ध प्रचार करने के कारण शासकवर्ग तथा पुरोहितवर्ग आपका कट्टर शत्रु हो गया; पर आप इससे हताश नहीं हुए, बल्कि आपकी दृढ़ता बढ़ गई। कुछ समय बाद पड़ोसी बाख्त्री (बैक्टेरिया) के शासक राजा वीश्तास्य ने आपके सिद्धान्तों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की और अपने कर्मचारियों के साथ वह आपका अनुयायी हो गया। इसका प्रभाव लोगों पर पड़ा और आपकी ख्याति दिन-दूनी-रात-चौगुनी बढ़ती गई तथा अनुयायियों की संख्या पर्याप्त हो गई। जरथुश्त्र के मत को स्वीकार करने के कारण ईरान के बादशाह ने बैक्टेरिया के शासक से युद्ध छेड़ दिया; किन्तु उसे पराजित होना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि सारे ईरान में जरथुश्त्र के मत का प्रचार हो गया और अपने जीवनकाल में ही अपने मत को अपनी जन्मभूमि एवं समस्त ईरान में फलते-फूलते देखने का सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ। अन्त में ईरान के सम्राट् ने इस मत को देश के कोने-कोने में फैलाया।

जिस प्रकार कालान्तर में बौद्धधर्म अपने जन्मस्थान—भारत—से निर्वासित होकर सुदूर चीन, जापान, बर्मा आदि देशों में फलता-फूलता दीख पड़ता है, उसी प्रकार यह धर्म भी आज अपने उद्गम-स्थान से निर्वासित होकर भारत में बसे हुए कुछ लाख पारसियों में ही सीमित रह गया है। इस्लामधर्म की आँधी के सम्मुख ठहरने में असमर्थ होकर सारे ईरान ने इस्लामधर्म स्वीकार कर लिया। कुछ कट्टर अनुयायी अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए, लगभग १००० वर्ष हुए, ईरान छोड़कर भारत के पश्चिमी तट

* धर्म का आदिस्रोत—गंगाप्रसाद

पर आबसे। उन्हीं की संतान फारस से आने के कारण पारसी कहलाती है और आज भी इस पुरातन पुनीत धर्म के प्रदीप को प्रज्वलित रखे हुई है।

धर्मग्रन्थ

पारसी-धर्म का मूल ग्रन्थ है 'अवस्ता' जिसका अर्थ होता है मंत्र अथवा ज्ञान (उपस्था)। इसके ऊपर कालान्तर में गद्यात्मक व्याख्यान भी प्रस्तुत किया गया है जिसे 'जेन्द' कहते हैं। दोनों भाग एक साथ मिलाकर 'जेन्द-अवस्ता' के नाम से विख्यात है।

अवस्ता चार भागों में विभक्त है —

(१) **यस्न** (यज्ञ, पूजा) पूजा-विधान का प्रतिपादक मुख्य ग्रन्थ है। इसमें ७२ भाग हैं जिन्हें 'हा' कहते हैं और इसकी संख्या के आधार पर कुस्ती में ७२ ऊन के डोरे लगाये जाते हैं। इसी के भीतर १७ सूक्तों में विभक्त जरथुश्त्र के निजी वचन तथा उपदेश हैं जो 'गाथा' कहलाता है। भाषा की दृष्टि से यह वेद के बहुत पास पहुँचता है। गाथा की संख्या पाँच है—(१) अहुनवइति, (२) ऊश्तवइति, (३) स्पेन्त-मइन्यु, (४) वोहु-क्षथ और (५) वाहिश्तो-इश्त।

(२) **विस्पेरद**—पारसी कर्मकाण्ड के विधान की यह पुस्तक यस्न की अपेक्षा काल तथा महत्त्व में हीन मानी जाती है।

(३) **वेन्दिदाद**—विशेष कर शुद्धि के नियमों का प्रतिपादक है। यह ग्रन्थ धार्मिक तथा व्यावहारिक नियमों-कानूनों का भी वर्णन करता है। इसमें २२ फरगर्द (परिच्छेद) हैं।

(४) **यश्त**—देवताओं की स्तुतियों से संवलित यह ग्रन्थ अनुष्ठान-विधान के अवसर पर विशेष मान्य है।

इनके अतिरिक्त एक खण्ड और भी है जो (५) **खोर्द-अवस्ता** (छोटा अवस्ता) के नाम से विख्यात है। यह उपासना की दृष्टि से बड़े अवस्ता का एक उपादेय संक्षिप्त संकलन है।

इन ग्रन्थों के रचना-काल के विषय में गहरा मतभेद है। वैदिक भाषा से इसकी आश्चर्यजनक समता है। समग्र ग्रन्थों का रचनाकाल ई०-पू० सप्तम शतक से अर्वाचीन नहीं माना जाता।

पारसी एक सर्वशक्तिमान देवता की उपासना करते हैं। उन्हें वे अहुरमज़द कहते हैं। अहुरमज़द के साथ उनके छः अन्य रूपों की कल्पना की गई है। जरथुश्त्र ने उनमें भगवान् के छः मुख्य गुण बतलाये हैं। ये वस्तुतः आरम्भ में गुण ही हैं और उन षड्गुणों से युक्त अहुरमज़द की कल्पना **'षाड्गुण्यविग्रह'** भगवान् विष्णु से विशेष मिलती है। पीछे वे देवता अथवा फरिश्ता बना दिये गये हैं और **अमेसा-स्पेन्ता** (पवित्र अमर शक्तियाँ) के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम तथा रूप का परिचय इस प्रकार है :—

(१) **अष (ऋत)**= संसार की नियामक शक्ति।

(२) **वोहुमनो** (भला मन)= प्रेम तथा पवित्रता।

(३) **स्पेन्त-आर्मइति** = पवित्र सद्बुद्धि, धार्मिक एकनिष्ठा।

(४) **क्षथ-वइर्य** = प्रभुत्व का सूचक।

(५) **हऊर्वतात्** = सम्पूर्णता का सूचक।

(६) **अमृततात्** = अमरत्व दर्शाया है।

जरथुश्त्र ने इन छः गुणों से युक्त अहुरमजद की आराधना करने का उपदेश दिया तथा **आतश्** (अग्नि) को भगवान् का भौतिक रूप मानकर उसकी रक्षा करने की आज्ञा ईरानी प्रजा को दी।

भगवान् के तो असंख्य नाम और गुण हैं; किन्तु अहुरमजद और उपर्युक्त छः नाम बड़े महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख करते हैं। उस एक अविनाशी दिव्य-स्वरूप उत्तम गुणों से समन्वित परमात्मा को सात नामों से पुकारते हैं। मनुष्य में परमात्मा के समस्त गुणो का ध्यान आना सम्भव नहीं। अतएव मजदा के सबसे अधिक आकर्षक और प्रभावशाली गुणों के मूर्त्ति-स्वरूप भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम लिये गये हैं। किन्तु जनता की मूर्खता के कारण तत्त्व को समझने में असमर्थ होने पर मजदा के पूर्वोक्त ज्वलन्त गुणों के आधार पर पृथक्-पृथक् सात देवताओं की कल्पना चल निकली। अहुर-गाथा के छठे मंत्र में लिखा है—"तुम उनमें से दोनों के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकते अर्थात् एकेश्वरवादी तथा बहुदेवोपासक साथ-साथ नहीं बन सकते।"

इस धर्म के मुख्य धर्मग्रन्थ अवस्ता तथा वेद में इतनी आश्चर्यजनक समानता है कि ऐतिहासिक सोसाइटी के प्रसिद्ध प्रवर्त्तक सर विलियम जोन्स ने कहा था—"जब मैंने अवेस्ता के शब्दकोष का अनुशीलन किया तब यह जानकर कि उसके दस शब्दों में सात शुद्ध संस्कृत हैं—अकथनीय आश्चर्य हुआ।" डाक्टर हॉग का कहना है कि चाहे वेद और जेन्द-अवस्ता सर्वथा एक ही प्रकार के भले ही न हो तथापि उनमें इतना अधिक साम्य है कि जो कोई संस्कृत का थोड़ा भी ज्ञान रखता है वह उसे सरलता से पहचान सकता है। यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जेन्द-अवस्ता की छन्द-रचना वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जैसे छन्द गाथाओं में हैं उसी प्रकार के छन्द वैदिक मंत्र में हैं। वैदिककालीन हिन्दू को आर्य कहते थे। जेन्द-अवस्ता से ज्ञात होता है कि इस धर्म के अनुयायी भी आर्य कहे जाते थे।

वैदिक आर्यों की तरह इस धर्म में चार वर्ण थे—(१) होरिस्तान (पुरोहित), (२) नूरिस्तान (योद्धा), (३) रोजिस्तान (उद्योग और कृषि करनेवाले) और (४) मोरिस्तारान (सेवा करनेवाले)।

पारसियों के लिए यज्ञोपवीत धारण करने का विधान अत्यन्त मनोरंजक है। यज्ञोपवीत को वहाँ कुस्ती कहते हैं। वर्णन आता है कि जरथुश्त्र ने मजदा से पूछा—"किस अपराध के कारण अपराधी मृत्युदण्ड पाने के योग्य होता है?" अहुरमजदा ने

उत्तर दिया—"निकृष्ट धर्म और मत की शिक्षा देने से। जो कोई तीन वसन्त-ऋतुओं तक पवित्र सूत्र (कुस्ती) नहीं धारण करता, गाथाओं का पाठ नहीं करता, पवित्र जल की प्रतिज्ञा नहीं करता इत्यादि।"

पारसियों की कुस्ती सातवें वर्ष में होती है और वैदिक धर्म में यज्ञोपवीत का समय सातवें वर्ष से ही आरम्भ होता है। इस प्रकार स्थान और काल के भेद के साथ भिन्न-भिन्न रूप में यज्ञोपवीत की चाल आर्य एवं पारसी धर्मावलम्बियों में थी।

अध्यात्मपक्ष

जरथुश्त्र ने एकेश्वरवाद का प्रचार किया। अपनी गाथा में उन्होंने अनेक देवताओं की भावना की निन्दा की है और सर्वशक्तिमान ईश्वर अहुरमजद के आदेश पर चलने की आज्ञा दी है। जरथुश्त्र इस तरह के एकेश्वरवादी थे कि उन्होने सर्वशक्तिमान के लिए "अहुरमजद" शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द के प्रयोग का भी सर्वथा निषेध किया है। वे गाथा में स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं —

"तेम् ने यस्नाईस आर्मतोईस् मिमघ्जो
ये आन्मेनी मज्दाओ स्रावि अहूरो"

—गाथा ४५/१०

अर्थात् हम केवल उसीको पूजते हैं जो अपने धर्म के कामों से और "अहुरमज्द" के नाम से विख्यात है।

जरथुश्त्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सिवा भगवान् के मेरा अन्य कोई रक्षक नहीं है—

नोइत् मोइ वास्ता क्षमत् अन्या।

—गाथा २९/१

अर्थात् हम पूरे एकेश्वरवादी हैं।

फिर भी उनपर विद्वानों ने आरोप किया है कि वे द्वैतवादी थे—अहुरमजद तथा अह्रिमान् दोनों के माननेवाले थे। किन्तु यह नितान्त असत्य है। सच तो यह है कि वे पूर्ण अद्वैतवादी थे और वैदिक धर्म के अनुसार ही कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के मार्गों के भी समर्थक थे।*

किन्तु जरथुश्त्र की मृत्यु के बाद शुद्ध एकेश्वरवाद की वह भावना कायम नहीं रह सकी। प्रकृति के भिन्न-भिन्न प्रतीक को वे देवता मानने लगे। कालान्तर में सर्वशक्तिमान अमेस-स्पन्द और उनके अन्तर्गत यजता अर्थात् निम्नस्थ देवता पूजे जाने लगे। उन्हें यह विश्वास हो गया कि विभिन्न वस्तुओं के अधिष्ठाता अलग-अलग देवता हैं यद्यपि जरथुश्त्र ने संसार की उत्पत्ति इन्हीं भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा स्वीकार की थी। अग्नि (आतश) की पूजा ईरानियों में सबसे अधिक पवित्र मानी जाती है। पारसियों के घर में अग्नि अहर्निश प्रज्वलित रहती है। वैदिक आर्यों में भी अग्नि का महत्त्व था और गृह की सधवाएँ सदा अग्नि प्रज्वलित रखती थीं।

---

*J. M. Chatterjee-Ethical Conception of the Gatha, Page 91-94

'गाथा अहुनवेती' ईरानियों का एक दार्शनिक धार्मिक ग्रंथ है। इसमें बहुत सुन्दर और मनोरंजक दार्शनिक भावों का विवेचन हमें मिलता है। जरथुश्त्र का दार्शनिक सिद्धान्त मुख्यतः सत् (अच्छा) तथा असत् (बुरा) के विवेचन पर सीमित है। उन्होंने बताया है कि जीवन में इन दोनों परस्पर-विरोधी शक्तियों का महत्त्व है; क्योंकि असत् की उपस्थिति से ही सत् का मूल्य आँका जाता है। जीवन में सुख जितना सत्य है उससे कम दुःख नहीं है। एक की उपस्थिति से दूसरे का महत्त्व जाना जाता है। शोभन-शक्ति का नाम है 'स्पेन्ता मइन्यु' तथा अशोभन-शक्ति की संज्ञा है 'अंग्रोमइन्यु'। इन्हीं के परस्पर संघर्ष का फल है यह संसार।

जरथुश्त्र ने उर्वन (आत्मा) और फर्वसी (एक प्रकार की शक्ति) में भेद माना है। इस शरीर द्वारा जो कुछ सत्कर्म अथवा कुकर्म होता है उसका जिम्मेवार उर्वन (आत्मा) है और उर्वन को ही पारितोषिक अथवा दण्ड मिलता है। मृत्यु के चौथे दिन उसके कार्य की जाँच होती है और उस समय से उसका नाता संसार से टूट जाता है तथा वह पुनः वापस नहीं आता।

फर्वसी का उल्लेख अवस्ता में आया है, किन्तु गाथा में उसका उल्लेख नहीं है। यह विचित्र अदृश्य वस्तु है, जो प्रत्येक जीवधारी में मौजूद रहती है। यही आत्मा को सुकर्म करने की प्रेरणा देती है और कुकर्म से बचाने में मार्ग-प्रदर्शक का काम करती है। मार्ग-प्रदर्शक होने के कारण यह अच्छे बुरे काम का फल-भोक्ता नहीं होती। यह विश्वास है कि अहुरमज़द पर ही सृष्टि की रक्षा का भार है। उर्वन् (आत्मा) के साथ वह शरीर में प्रवेश करती है और मृत्यु के बाद शरीर से वह उर्वन् के साथ ही अलग हो जाती है। उर्वन् और फर्वसी का नाम हिन्दू-दर्शन के आत्मा और परमात्मा के भाव से मिलता-जुलता है। मुण्डक-उपनिषद् (३।१।१) और श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।६) में कहा है कि जीव और ईश्वररूप दो पक्षी एक ही वृक्ष पर फलोपभोग के लिए निवास करते हैं। उन दोनों में से एक अपने कर्म से प्राप्त होनेवाला सुख-दुःख-रूप फल खाता है, अर्थात् अविवेकवश भोगता है। किन्तु अन्य—दूसरा, जो नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप, सर्वज्ञ, मायोपाधिक ईश्वर है, उसे न तो ग्रहण करता है और न भोगता है; केवल साक्षी-रूप में देखता रहता है।

व्यवहारपक्ष—नीति और धर्म

उनकी समस्त नीति तीन भागों में बटी हुई है—(१) **हुमत**—उत्तम विचार, (२) **हुख्त**—उत्तम वचन और (३) **हुवर्श्त**—उत्तम कार्य। इन तीनों का दूसरा रूप (१) अधम विचार, (२) अधम वचन और (३) अधम काम है। अच्छे तीनों के व्यवहार का परिणाम स्वर्ग और बुरे तीनों के व्यवहार का नरक होता है।

सुकर्म – पारसी-धर्म के अन्तर्गत सुकर्मों में निम्नाङ्कित मुख्य समझे जाते हैं—

(१) दूसरों के साथ ईमानदारी का व्यवहार। कर्ज का सुविचार और सुव्यवहार के साथ अदा करना। (२) सरोसा अर्थात् नम्रता। यथोचित अधिकारी की आज्ञा का पालन करना। (३) दया एवं अनुकम्पा—वीर और सम्पन्न का भूषण समझी जाती है।

किन्तु दुष्टों पर दया करना उन्हें दुष्कर्म में प्रोत्साहन देने के तुल्य है। (४) शान्तिभाव—पवित्र बुद्धि का द्योतक समझा जाता है। (५) समृद्ध अवस्था में परमात्मा को धन्यवाद देना और कष्ट में उनकी इच्छा पर निर्भर रहना। (६) माता-पिता से प्रेम तथा उनका आदर करना। गुरुजन, पड़ोसी एवं देशवासियों के प्रति आदर और निम्नस्थ एवं छोटों के प्रति स्नेह-भाव प्रदर्शित करना। (७) राजभक्ति। (८) उपयोगी जीव—जैसे गाय, बकरे आदि की रक्षा और भयानक एवं हानिकारक जीव—जैसे साँप, बाघ, भेड़िया आदि का विनाश। (९) सत्यवादिता। (१०) भोर में उठना और अपने कर्त्तव्य का परिश्रम तथा ईमानदारी के साथ पालन करना। (११) शुद्धता इस धर्म का भूषण है। (१२) स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता की प्रशंसा की गई है। (१३) दान सत्पात्र को और अच्छे कार्य के लिए देना उचित है। अयोग्य व्यक्ति को दान देकर सहायता करने की निन्दा की गई है। चिकित्सालय, विद्यालय आदि स्थायी पुण्य-कार्य के लिए दान का बड़ा महत्त्व समझा गया है। (१४) सज्जनों की रक्षा करना और दुष्टों का विनाश करना। (१५) शिक्षा-प्रचार। (१६) सत्कर्म की मर्यादा, ईश्वर के नाम-गुण-कीर्त्तन से उत्तम समझी गई है। (१७) अच्छे, योग्य तथा धार्मिक व्यक्ति का आतिथ्य-सत्कार नहीं करना पाप समझा जाता है। (१८) स्वच्छता का स्थान ईश्वर के बाद ही समझा जाता है। अर्थात् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान स्वच्छता को दिया गया है।

कुकर्म—(१) बेईमानी, लालच तथा अहंकार; (२) निर्दयता और हृदय की कठोरता; (३) ईर्ष्या करना और बदला लेना; (४) असत्य; (५) गाली देना; (६) झूठी गवाही अथवा झूठ का प्रचार; (७) धोखा देना, वचन-पालन नहीं करना; (८) झगड़ा पैदा करना; (९) आलस्य; (१०) भीख माँगना; (११) चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या; (१२) वेश्यागमन, परस्त्री-गमन, अप्राकृतिक मैथुन; (१३) ईमानदारी के साथ कर्ज अदा न करना; (१४) फिजूलखर्ची; (१५) कृपणता; (१६) किसी जुर्म में सहायता देना; (१७) घमण्ड, उद्दण्डता, झूठी बदनामी करना।

धार्मिक प्रणाली—बालक-बालिकाओं को पन्द्रह वर्ष की अवस्था के भीतर **सुदरेह और कुस्ती** देना अनिवार्य समझा जाता है। सुदरेह उजले कपड़े का बनता है। उजला रंग पवित्रता का द्योतक है। इसका धारण करना हर पारसी के लिए आवश्यक है। ऐसे अवसर पर वे रेशमी या दूसरी तरह के कपड़े नहीं पहन सकते। इस तरह धनी या निर्धन सबके लिए एक ही उज्ज्वल वस्त्र का विधान है। इससे समानता का बोध होता है।

कुस्ती—भेड़ों के ऊन के बहत्तर धागों से बनता है। भेड़ निर्दोष प्राणी समझा जाता है। इसलिए उनकी भावना है कि कुस्ती धारण करनेवाले को उसीकी तरह निर्दोष होना चाहिए। कुस्ती की तीन भाँवरें कमर में बाँधनी पड़ती हैं। इसे शरीर पर सदा रखना पड़ता है। तीन भाँवरें बाँधने का रहस्य हुमता (उत्तम विचार), हुकता (उत्तम वचन) और हुवर्तता (उत्तम कार्य) के भावों को व्यक्त करता है। कमर में बाँधने का यह भी अभिप्राय है कि जिस प्रकार योद्धा देश-रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार जरथुश्त्री को अपने धर्म के रक्षणार्थ सदैव तैयार रहना चाहिए।

तीसरी जरूरी बात है सर को ढकना अर्थात् टोपी पहनना। अतएव पारसियों में अनिवार्यरूप से टोपी पहनने की प्रथा है।

प्रार्थना-विधि

कुस्ती धारण करने के समय प्रार्थनाएँ करनी पड़ती हैं। उन प्रार्थनाओं का लक्ष्य मनुष्य को कर्त्तव्य और धर्म पर दृढ़ रखना है। पारसियों में दिन-रात में कई बार प्रार्थनाएँ की जाती हैं। प्रार्थना करने के पूर्व हाथ-पैर एवं शरीर के खुले हुए भाग (मुख आदि) को धोना आवश्यक है। गाथा के मंत्रों से प्रार्थना की जाती है।

अग्नि की पूजा पारसियों में सबसे पवित्र मानी गई है। जरथुश्त्र के समय में अग्निपूजा के लिए मन्दिर अथवा वेदी बनाने की प्रथा थी या नहीं, इसका हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं है। बाद में अग्निमन्दिर मान्य हो गया। यद्यपि प्राचीन पारसी अग्नि को श्रद्धा-सम्मान क दृष्टि से देखते थे तथापि वे कभी अग्नि के उपासक नहीं हुए। जरथुश्त्र ने स्वयं, अपनी गाथा में, इसे मजदा की सृष्टि का एक शक्तिशाली और ज्वलन्त प्रतीक समझा एवं मूर्त्ति तथा मनुष्य-निर्मित अन्य वस्तुओं की तुलना में इसे आदरणीय माना।

इस धर्म में विवाहित जीवन की बड़ी मर्यादा है और आजीवन अविवाहित रहने की निन्दा की गई है। इस धर्म में बहु-विवाह मान्य नहीं है। विवाह-कार्य बड़े पुरोहित द्वारा सम्पन्न होता है, अन्य पुरोहित सहायता करते हैं। आशीर्वाद देने के सिलसिले में पुरोहित वर और कन्या से तीन बार इस बात को घोषणा कराते हैं कि विवाह उन दोनों की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है। विवाह निश्चित करनेवाले अभिभावक तथा गवाहों की भी सम्मति तीन बार ली जाती है। जबतक यह कार्य होता रहता है तबतक चावल के कुछ दानों (अक्षत) की वर्षा नवदम्पती पर निरन्तर होती रहती है। यह कार्य भावी सुख और समृद्धि का द्योतक समझा जाता है।

अन्त्येष्टिक्रिया—इस धर्म का तत्त्व है कि अग्नि, भूमि और जल को पवित्र रखना चाहिए। इसी कारण पारसी-धर्मावलम्बी न तो शव को गाड़ते हैं और न उसे जलाते हैं। शव को पत्थर के ऊँचे बने चबूतरों पर अथवा इसके अभाव में वृक्ष अथवा पहाड़ की चोटी पर रख देते हैं। वहाँ गृद्ध आदि जीव उसका मनमाना उपयोग करते हैं। इससे दो उद्देश्यों की पूर्त्ति होती है। एक तो शरीर जीव-जन्तुओं के उपयोग में आता है और दूसरा लाभ है कि शरीर के गलने से दुर्गन्धि नहीं फैलने पाती। बम्बई में एक बहुत ऊँचा चबूतरा बना है जिसे शान्ति का मीनार (Tower of Silence) कहते हैं। शव ढोनेवाले भी स्वच्छ कपड़े पहनते हैं। शव को अत्यन्त पुराने कपड़े से ढकते हैं। वह कफन का कपड़ा ऐसा होना चाहिए जो अत्यन्त जीर्णता के कारण व्यवहार के सर्वथा अयोग्य हो गया हो। उनके यहाँ नया कपड़ा कफन के लिए व्यवहार करना वर्जित है। करोड़पति ताता के मृत शरीर पर भी जीर्ण-शीर्ण कपड़े का ही उपयोग किया गया था।

पुरोहित-प्रथा—अवस्ता से यह ज्ञात नहीं होता कि पुरोहित जन्मगत होता था अथवा कर्मगत। आजकल पुरोहित जन्मगत हो गया है। पुरोहित के प्रत्येक पुत्र को ओस्ते और कन्या को ओस्ती कहते हैं। यदि पुरोहित-पुत्र शारीरिक रुग्णता के कारण अयोग्य न

हो तो वह पुरोहित हो सकता है। जब पुरोहित का पुत्र वेन्दिदाद को छोड़कर समस्त अवस्ता को कण्ठस्थ कर लेता है तब उसे पुरोहित की दीक्षा दी जाती है। यह दीक्षा छः महीने में पूर्ण होती है। इस दीक्षा के बाद उसका नाम **'ईरवद'** अर्थात् पुरोहित पड़ता है। बड़े पुरोहित को **'दस्तूर'** कहते हैं। केवल पुरोहितों को ही मंत्र उच्चारण करने का अधिकार है। अग्नि में पौधों का रस, दुग्ध, रोटी, घी, पवित्र जल, चन्दन आदि की ही आहुति दी जाती है।

सारांश, जरथुश्त्र (पारसी) धर्म का आधार सर्वजनसुखाय और पवित्रता पर निर्मित है। इस धर्म में संन्यास, आत्मकष्ट आदि गर्हित समझा जाता है। परोपकार, दया, प्रेम, त्याग, उदारता आदि दैवी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। विपत्ति से पीड़ितों की सहायता से बढ़कर दूसरा पुण्यकार्य नहीं है। ज्ञान, भक्ति और कर्म मुक्ति के साधन माने जाते हैं; पर इन तीनों में जरथुश्त्र ने कर्म का मार्ग ही चुना। पारसी-धर्म भारतीय कर्मयोग का रूपान्तर है। इस धर्म में अहिंसा, शान्तिप्रियता, स्वार्थ-त्याग तथा पवित्रता का विशेष स्थान है। एक ही शब्द में यदि इस धर्म का सार कहा जाय तो वह है—**'परोपकार'**। सच्चा जरथुश्त्री वही है जो अपने लिए कुछ नहीं माँगता और प्रत्येक कर्म में दूसरों की भलाई देखता है। इसी सद्गुण के कारण पारसी जाति ने देश-विदेश में सभी जातियों के लिए लाखों रुपये दान में दिये हैं। अनेक अनाथालय पारसी चलाते हैं। उन अनाथालयों में प्रतिदिन जो धार्मिक क्रियाएँ होती हैं उनमें अन्न, कपड़े आदि वस्तुएँ मजदा को अर्पित की जाती हैं और वे अर्पित वस्तुएँ बाद में अनाथ बच्चों में बाँट दी जाती हैं। इस क्रिया को पारसी लोग **'बाज'** कहते हैं। मृत कुटुम्बी की आत्मा के लिए भी बाज की क्रिया की जाती है। इससे अनाथालय और साथ-साथ मृतात्मा को लाभ होता है।

जरथुश्त्री लोग करनी के नियम को भी मानते हैं। जैसा करेगा वैसा ही भरेगा—यह नियम है। अपने कर्म का फल सबको भोगना पड़ता है।

भलाई करनेवाले नर-नारियों को, चाहे वे किसी भी देश या जाति के हों, आदर के साथ याद करना यह धर्म स्वीकार करता है। यदि शत्रु भी भले हों तो उन्हें भी सम्मान से याद करना चाहिए—यह इस धर्म का आदेश है। इसका अभिप्राय यह है कि उन्हें याद करने से हम भी उन-जैसे महान् और पवित्र बन सकते हैं। इस प्रकार मन की श्रेष्ठता और विशालता को इस धर्म ने स्वीकार किया है। यह धर्म कर्ममार्ग पर विशेष जोर देता है।

प्रचलित पारसी-प्रार्थना का रूप—

मजदा अत मोइ वहिश्ता स्रवा ओस्चा श्योथनाया।
ता-दू बहू मनंघहा आशात्रा इषुदेम स्तुतो॥
क्षमा का अथा अहूरा फेरषेम् वस्ना हइ स्मेम् दाओ अहूम्।

अर्थात् ऐ मज्द ! (भगवान !) सर्वोत्तम धर्म के शब्द और कामों के बारे में मुझे कह, ताकि मैं नेकी के रास्ते पर रहकर तेरी महिमा का गान करूँ। तू जिस तरह चाहे, मुझे आगे चला। मेरी जिन्दगी को ताजगी दे और स्वर्ग का सुख दे। [यह भजन महात्मा गांधी की दैनिक प्रार्थना का एक अंग था]

दूसरा खण्ड

प्रथम परिच्छेद

इतिहास-कालीन भारत

वैदिक युग के अन्तर्गत सूत्रकाल भी है। उसके बाद रामायण महाभारत का समय आता है, जो इतिहासकाल के नाम से प्रसिद्ध है।

शतपथ-ब्राह्मण में इतिहास का जिक्र आया है। शतपथ में जनमेजय के यज्ञ की कथा है। जनमेजय अर्जुन का प्रपौत्र और परीक्षित का पुत्र था। अतएव इससे ज्ञात होता है कि शतपथ ब्राह्मण के निर्माणकाल में इतिहास-ग्रन्थ विद्यमान थे और पुराने हो चुके थे। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में रामायण और महाभारत के अतिरिक्त हमें तीसरा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। इतिहास को छान्दोग्य-उपनिषद (७।१।२) में पंचम वेद कहा है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण, उपनिषद् और बौद्ध ग्रन्थों में जिस इतिहास का संकेत किया गया है, वह रामायण और महाभारत ही है। घटनाक्रम से रामायण की कथा महाभारत से पहले की है, किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि साहित्यिकता, वर्णनशैली आदि से पता चलता है कि वाल्मीकीय रामायण का निर्माण महाभारत के बाद हुआ !! किन्तु यह बात अनेक विद्वानों को मान्य नहीं है। रामायण में महाभारत की घटनाओं और पात्रों का उल्लेख तक नहीं है; परन्तु महाभारत में रामायण की घटनाओं, पात्रों, आख्यानों तथा श्लोकों का भी पता मिलता है। ऐसी दशा में महाभारत ही रामायण से अर्वाचीन है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। *

वाल्मीकीय रामायण (अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०९, अध्याय ३४) में बुद्ध को नास्तिक एवं चोर कहा है! इससे यह भी स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण के रचनाकाल तक बुद्ध की गणना भगवान के नवें अवतार में नहीं हुई थी। कुछ विद्वानों का मत है कि रामायण में बुद्ध का नाम, मांस-मदिरा आदि का वर्णन प्रक्षिप्त है। अतः मूल रामायण का समय बुद्ध से प्राचीन है।

रामायण और महाभारत—दोनों का रचनाकाल एक न होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ प्रायः एक-सी हैं। जिस प्रकार वैदिक-साहित्य में प्राचीन आर्यों की

---

* प्रो० बलदेव उपाध्याय—संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५५-५६

धार्मिक परम्परा और अनुश्रुति सुरक्षित है, उसी प्रकार रामायण और महाभारत में भी उनकी राजनीतिक गाथाएँ और अनुश्रुतियाँ संगृहीत हैं।

सामाजिक दशा

वर्ण-व्यवस्था—भारतीय हिन्दू-समाज का एक विलक्षण स्वरूप है। वैदिक काल से आज-तक यह किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रहा है। इसका उद्गमस्थल ऋग्वेद (१०–१२६) है। किन्तु शुद्ध वैदिककाल में जाति-विभाग जन्मना नहीं था। इतिहास-काल में जाति-विभाग जन्मना हो चुका था और इसका आभास हमें रामायण में मिलता है, जब राम ने निरपराध-तपस्वी शूद्र-शम्बूक का वध किया। महाभारत में द्रौपदी-स्वयंवर के समय हमें इसका उल्लेख मिलता है—द्रौपदी स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि सूतपुत्र (कर्ण) के साथ वह विवाह नहीं करेगी। उस समय उच्चजाति से नीच जाति की कन्या का विवाह मान्य था। यह नियम था कि स्त्री चाहे जिस वर्ण की हो, उसकी सन्तान का वही वर्ण होगा जो पिता का है। धीवर-कन्या सत्यवती के गर्भ से पराशर-ऋषि-द्वारा उत्पन्न व्यास ब्राह्मण हुए और बाद में उसी सत्यवती के गर्भ से राजा शान्तनु-द्वारा उत्पन्न चित्रांगद और विचित्रवीर्य क्षत्रिय थे। महाभारत के अनुशासन-पर्व (अध्याय ४४) में लिखा है—'ब्राह्मणों को अधिकार है कि वे तीनों वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की भी कन्या ले सकते हैं और उनसे जो सन्तान होगी वह ब्राह्मण ही होगी!' किन्तु उच्चवर्ण की स्त्री के गर्भ से नीच वर्ण द्वारा उत्पन्न सन्तान बहुत ही निन्द्य समझी जाती थी।

गोत्र—महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय २६) में कहा है कि आरम्भ में सिर्फ चार गोत्र—आङ्गिरा, काश्यप, वासिष्ठ और भार्गव—थे। फिर उनके प्रवर्त्तकों के कर्म-भेद के कारण और-और गोत्र उत्पन्न हुए। तप के प्रभाव से वे गोत्र उन प्रवर्त्तकों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। समयान्तर में, विवाह आदि श्रौत स्मार्त कर्मों में, इन गोत्रों का उपयोग होने लगा। किन्तु आजकल मूल गोत्र आठ ही समझे जाते हैं। सप्तर्षि एवं अगस्त्य—ये ही गोत्र के आदि-प्रवर्त्तक समझे जाते हैं।

शिक्षा-पद्धति

प्राचीन समय में लोगों को शिक्षा देने का काम एकमात्र ब्राह्मणों का था। राजा ब्राह्मणों की जीविका का प्रबन्ध करता और ब्राह्मण निश्चिन्त हो शिक्षा-दान किया करते। आजकल की तरह स्कूल-कालेज अथवा पाठशालाएँ नहीं थीं। ब्राह्मण का घर अथवा ऋषि का आश्रम ही विद्यालय था। त्रिवर्ण के प्रत्येक बालक के लिए विद्याध्ययन अनिवार्य था। विद्याध्ययन में कम-से-कम बारह वर्ष लगते थे। विद्यार्थी-जीवन में विवाह निषिद्ध वा अमान्य था। विद्याध्ययन करने के बाद, गुरु-गृह से लौटने पर, विवाह करने की स्वाधीनता थी। गुरु के यहाँ विद्याध्ययन करने के पूर्व, सात-आठ वर्ष की अवस्था में, उपनयन-संस्कार (जनेऊ) होता था और लौटने पर समावर्त्तन। किन्तु आजकल उपनयन और समावर्त्तन कुछ ही सनातन-धर्मी परिवारों में विधिवत् सम्पन्न

होते हैं, नहीं तो अब वे सिर्फ तमाशे की चीज रह गये हैं। केवल आर्यसमाजी हिन्दुओं में बहुत अंश तक इसका पालन किया जाता है। आर्यसमाज की वर्त्तमान गुरुकुल-पद्धति बहुलांश में उसी ढंग की है और सर्वथा अनुकरणीय भी। जबतक स्वाधीन भारत की शिक्षा-पद्धति प्राचीन संस्कृति के आधार पर कायम न होगी, राष्ट्रोन्नति अतिकठिन है।

गुरु के आश्रम में ऊँच-नीच और राजा-रंक का भेद नहीं था। गुरु के सो जाने पर विद्यार्थी सोता और उनके उठने के पूर्व ही उठ बैठता था। दास को जो काम करना चाहिए, वह शिष्य ही करता था। गुरु के भोजन किये बिना वह भोजन भी नहीं करता था। शिष्य के कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन शान्तिपर्व (अध्याय २४३) में है, जो विद्यार्थियों के लिए मननीय है।

शूद्रों को वेद-विद्या पढ़ने का अधिकार न था। इस कारण उन्हें वेद नहीं पढ़ाये जाते थे। किन्तु अन्य विद्याएँ सीखने में उनके लिए कोई बाधा न थी। ब्राह्मण नीच जाति को वेदेतर विद्या भी पढ़ाने से हिचकते थे। इसका प्रमाण द्रोण और एकलव्य की प्रसिद्ध कथा है।

महाभारत के समय उच्चवर्ण की स्त्रियों को नियमित रूप से शिक्षा देने की रीति थी। किन्तु बालक के लिए गुरु के घर पर अथवा ऋषि के आश्रम में शिक्षा पाने की जैसी व्यवस्था थी वैसी बालिकाओं के लिए नहीं थी। स्त्रियों को अपने घर पर ही पिता से, भाई से अथवा अन्य गुरुजनों से शिक्षा मिलती थी। अतएव उनको प्रायः लिखने-पढ़ने की साधारण शिक्षा ही मिलती रही होगी, जिससे वे धार्मिक कथाओं और विचारों को भलीभाँति हृदयंगम कर सकें तथा धर्मग्रन्थों को पढ़ सकें। तथापि गार्गी, मैत्रेयी, विद्योत्तमा, लीलावती, भारती, विज्जका आदि विदुषी स्त्रियाँ इतिहासकाल की उपज थीं।

इसके अलावा कन्याओं को ललितकला की भी शिक्षा दी जाती थी, जिसका आभास हमें विराटपर्व में मिलता है, जब राजा विराट की कन्या उत्तरा को गीत एवं नृत्य आदि सिखाने के लिए बृहन्नला (अर्जुन) की नियुक्ति हुई थी।

विवाह-संस्था

आदि-पर्व (अध्याय १२२) में यह कथा है कि उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा कायम की। उसकी माता का हाथ एक ऋषि ने पकड़ लिया था, जो उसे सह्य नहीं हुआ। उसने यह नियम कर दिया कि जिस स्त्री का अपने पति के सिवा किसी अन्य पुरुष से समागम हो उसे भ्रूण-हत्या का पातक लगेगा और अपनी स्त्री को छोड़ अन्य स्त्री से समागम करनेवाले पुरुष को भी यही पाप होगा।

पुनर्विवाह

एक स्त्री के रहने दूसरी स्त्री से विवाह करने की प्रथा भी प्रचलित थी। अर्जुन ने द्रौपदी के अतिरिक्त सुभद्रा, चित्राङ्गदा आदि से विवाह किया था। किन्तु स्त्रियों का पुनर्विवाह मान्य नहीं था। वनपर्व (अध्याय ७६) में स्पष्ट कहा है कि दूसरा पति करना स्वच्छन्द व्यवहार है। अर्जुन ने जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करते हुए शपथ की थी कि जयद्रथ-वध न कर सकने पर मुझे वही निन्दनीय लोक मिले, जो ऐसी स्त्री से, जिसका

विवाह के पूर्व पुरुष-संसर्ग न हुआ हो, विवाह करनेवाले पुरुष को मिलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विधवा-विवाह की चाल न थी। किन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि उस समय ऐसी लड़कियों का पुनर्विवाह भी होता था अथवा नहीं, जिनको विवाह के बाद पति से संसर्ग होने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ हो—अर्थात् जो विवाह होने पर भी पतिभुक्ता न हों। ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में दीर्घतमा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह को अनुचित कहा है। और पातिव्रत की उच्च कल्पना के कारण यह मान्य भी हो गया। उच्चवर्ण की स्त्रियाँ ऐतिहासिक काल में पुनर्विवाह नहीं करती थीं। विवाह के समय कन्या का उपभोग के योग्य होना आवश्यक था। लिखा है कि ३६ रजोदर्शन तक यदि अभिभावक कन्या का विवाह न कर दें, तो कन्या स्वयं विवाह करने के लिए स्वतन्त्र है। अतएव पौराणिक काल के सदृश इतिहासकाल में, बचपन में, विवाह नहीं होता था। इतिहासकाल में भी ब्राह्म, क्षात्र, आसुर तथा राक्षस-विवाह प्रचलित थे और इनमें ब्राह्म विवाह—जिसमें कन्या दान की जाती है—श्रेष्ठ समझा जाता था। क्षत्रियों में राक्षस-विवाह—अर्थात् अभिभावकों की इच्छा के विरुद्ध बल-पूर्वक कन्या का अपहरण करने—की चाल थी। सुभद्रा का विवाह अर्जुन ने इसी रीति से किया था। गान्धर्व-विवाह स्त्री-पुरुष में प्रेम हो जाने पर गुप्तरूप से होता था, आसुर-विवाह में कन्या खरीदी जाती थी। अपने पराक्रम से विजित कन्या के साथ किया हुआ—उसके अभिभावक द्वारा पौरुष-परीक्षा के निश्चित कार्य के सम्पादन के बाद का—विवाह क्षात्र-विवाह था। राम-सीता एवं अर्जुन-द्रौपदी का विवाह इसी प्रकार के विवाह का ज्वलन्त उदाहरण है। आजकल ब्राह्म और आसुर-विवाह ही मुख्यरूप से प्रचलित हैं—यद्यपि पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम-स्वरूप अब किसी-न-किसी रूप में गान्धर्व-विवाह की चाल भी चल निकली है।

पर्दे की प्रथा

महाभारत और रामायण से ज्ञात होता है कि आजकल के सदृश उस युग में कठोर पर्दा नहीं था। पर्दा सिर्फ मर्यादा की चीज था। राम के साथ सीता का वनवास एवं जनक के बाग में स्वच्छन्दरूप से राम-लक्ष्मण का घूमना और सखियों के साथ सीता का वहाँ आगमन तथा स्त्री-पुरुष सबका एक साथ चित्रकूट में राम को वापस लाने के लिए जाना आदि घटनाएँ सूचित करती हैं कि पर्दे की प्रथा नहीं थी। महाभारत में भी हम पाते हैं कि जूए के समय द्रौपदी धृतराष्ट्र के परिवार की स्त्रियों में बैठी थी। परन्तु रामायण और महाभारत से यह भी पता चलता है कि इतिहास-काल में मर्यादापूर्ण पर्दे की प्रथा थी। सीता के अग्निप्रवेश के अवसर पर प्रसंगवश राम ने कहा—"विवाह, यज्ञ अथवा संकट के समय यदि स्त्रियाँ लोगों के सामने आवें तो कोई हानि नहीं।" * महाभारतीय युद्ध के

* व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दुष्यते स्त्रियः॥
सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता। दर्शने नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥
(वाल्मी०—युद्धसर्गः ११४, श्लोक २८-२९)

अन्त में, कौरवों की पराजय के बाद, जब हस्तिनापुर से स्त्रियाँ जलाञ्जलि-प्रदान करने के लिए गंगा जाने को निकलीं तब वर्णन किया गया है कि जिन स्त्रियों को सूर्य ने भी नहीं देखा था वे (असूर्यम्पश्या) ही अब खुले तौर पर सबके आगे जा रही हैं। इससे स्पष्ट है कि उच्चवर्ग में मर्यादापूर्ण पर्दा-प्रथा थी।

सती-प्रथा

सती-प्रथा भी प्रचलित थी। सुलोचना मेघनाद के साथ और माद्री पाण्डु के साथ सती हुई। श्रीकृष्ण की अनेक स्त्रियों के सती होने का वर्णन हमें महाभारत में मिलता है। यूनानी इतिहासकारों के प्रमाण से भी महाभारतकाल में इस प्रथा का प्रचलित होना प्रमाणित होता है।

मांसभक्षण

महाभारतीय युद्ध के समय और उसके बहुत बाद तक, बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार के समय तक, यज्ञों में पशु को बलि देने की चाल थी। महाभारत में रन्तिदेव की कथा है, जिसमें लिखा है कि रन्तिदेव के यज्ञों में मारे हुए बैलों की ढेरी के पास बहनेवाली नदी का नाम 'चर्मण्वती' पड़ गया। अश्वमेध में खाण्डवराग पक्वान्न बनाने में बहुत आदमी लगते थे और अगणित पशु मारे जाते थे (अश्वमेध-पर्व, अध्याय ८६)। सभागृह में प्रवेश करते समय दस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। उस समय युधिष्ठिर ने उत्तमोत्तम कन्द-मूल-फल, वराहों और हिरनों के मांस, घी, शहद, तिलमिश्रित पदार्थ और तरह-तरह के अन्य मांसों से उनको सन्तुष्ट किया (सभापर्व, अध्याय ४)।

वाल्मीकीय रामायण में भी जगह-जगह मांस-भक्षण का प्रसंग आया है। चित्रकूट में पहुँचने पर राम ने लक्ष्मण से कहा कि हरिण का मांस लाकर हमलोग पर्णशाला की अधिष्ठात्री की पूजा करेंगे। * भरद्वाज ऋषि ने जब भरत का सत्कार किया तब उनके तथा अन्य अयोध्यावासियों के लिए भोजन का सुन्दर प्रबन्ध किया, जिसमें फल के रस से बनाये हुए बकरे और वन-शूकर के मांस तथा व्यंजन और सुगन्ध-रसयुक्त दाल विद्यमान थी; शराब से भरी हुई बावलियाँ थीं; मृग, मयूर तथा मुर्गे के स्वच्छ मांस गरम पात्रों में रखे हुए थे।†

किन्तु महाभारत के निर्माणकाल में विचार-धारा बहुत-कुछ बदल चुकी थी। महाभारत में सप्तर्षि और राजा नहुष के बीच इस सम्बन्ध के झगड़े की कथा हमें मिलती है। ऋषियों के मत से गवालम्भ वेद में वर्णित होने के कारण प्रमाण था, किन्तु नहुष ने स्पष्ट शब्दों में उस प्रमाण को नहीं माना (उद्योग०, अध्याय ७)। द्रोणपर्व (अ० ७३) में अर्जुन ने जो प्रतिज्ञा के समय शपथें खाई हैं उनमें कहा है कि ब्राह्मण की हत्या करनेवाले और गोवध करनेवाले मनुष्य जिस निन्दनीय लोक में जाते हैं वही मुझे प्राप्त हो।

---

* ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम (अयोध्या ५६ । २२)।

† अजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः। फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥
वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः। प्रतप्तैः पठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥
—अयोध्या ६१ । ६७ और ७०

अतएव, इतिहास-काल में, मांस खाने की प्रथा थी। और इसे देवताओं को अर्पित कर लेने के बाद खाने का विधान था, जिसका आभास हमें रामायण के अयोध्याकाण्ड (७५।३०) में मिलता है। शान्तिपर्व के छत्तीसवें अध्याय में युधिष्ठिर ने भी भीष्म से स्पष्टरूप में पूछा है कि ब्राह्मण के लिए कौन-सा मांस खाना वर्जित नहीं है और कौन-सा वर्जित है। महाभारत के (अनुशासन०, अध्या० १४४) में लिखा है कि हिंसा चारों प्रकार से वर्जित होनी चाहिए—अर्थात् मन, वचन, कर्म और भक्षण द्वारा। तपश्चर्या करनेवाले मांस-भक्षण से अलिप्त रहें; मांस खानेवाला मनुष्य पापी है, उसको स्वर्ग-प्राप्ति कभी न होगी; उदार पुरुषों को अपना प्राण देकर भी दूसरों की रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार अहिंसा-धर्म का वर्णन हो चुकने पर युधिष्ठिर ने प्रश्न किया—"इधर आप अहिंसा-धर्म को श्रेष्ठ बतलाते हैं और उधर श्राद्ध में पितर मांसाशन की इच्छा करते हैं; हिंसा के बिना मांस मिलना सम्भव नहीं; फिर मांस-भक्षण का यह विरोध कैसे टलेगा?"

उत्तर में भीष्म ने कहा—"जिसे आयुवृद्धि, विवेक और स्मृति की इच्छा है उसे हिंसा न करनी चाहिए; जो मनुष्य प्राणों का नाश करता या करवाता है उसे प्रत्यक्ष हत्या करने का पाप लगता है; मांस मोल लेनेवाला द्रव्य द्वारा हिंसा करता है और मांस खानेवाला उसके उपयोग द्वारा। किन्तु साधारण जगत् के लिए ऋषियों ने यह नियम कर दिया है कि यज्ञ में मारे हुए पशु को छोड़कर अन्य पशु का मांस नहीं खाना चाहिए। यज्ञ के सिवा और कभी पशु-हत्या न करनी चाहिए। जो करेगा उसे निस्सन्देह नरक-प्राप्ति होगी। कहा है, अगस्त्य ऋषि ने जंगली मृगों को, समस्त देवताओं के उद्देश्य से, प्रोक्षण करके पवित्र कर दिया है। अतएव देवकार्य अथवा पितृकार्य में यदि मृगमांस अर्पित किया जाय तो वह कर्महीन नहीं होता। मांस न खाने में सारे सुख हैं। जो कार्त्तिक महीने के शुक्लपक्ष में मधु तथा मांस खाना छोड़ देता है उसे बहुत पुण्य होता है। बरसात के चार महीनों (चातुर्मास्य) में जो मांस नहीं खाता उसको कीर्ति, आयु और बल प्राप्त होता है। कम-से-कम इन महीनों में से जो एक महीना तक मांस छोड़े रहेगा वह कभी बीमार न होगा।

महाभारत के भिन्न-भिन्न आख्यानों में मांसभक्षण-सम्बन्धी मतभेद दीख पड़ता है। उदाहरणार्थ—वन-पर्व (अध्याय २०८, श्लोक ३) में कहा गया है कि प्राणियों का वध करनेवाला मनुष्य निमित्तमात्र है। शान्तिपर्व (अध्याय २६२–६५) में जो तुलाधार तथा जाजलि का संवाद है उसमें हिंसा और मांस-भक्षण की निन्दा की गई है। कहा है—"न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।" इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पाञ्चरात्र धर्म तथा बौद्ध और जैनधर्म के प्रचार के कारण, भारत से, महाभारत-ग्रन्थ-निर्माण-काल में, मांस-भक्षण-विषयक और सामिष यज्ञ-सम्बन्धी विचारधारा दूसरी ओर वेगवती हो चली थी; जन-समुदाय में, यज्ञों के सम्बन्ध में हिंसा-प्रयुक्त घृणा उत्पन्न हो गई थी। विशेष कर विष्णु की भक्ति करनेवाले लोगों में, महाभारत-काल में, मांस-भक्षण निषिद्ध था। पाञ्चरात्र धर्म के प्रतिष्ठापक श्रीकृष्ण ने स्वयं अहिंसा को परम धर्म कहा है।* कुछ

* प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न च हिंस्यात् कथञ्चन (कर्ण० २३।६६)

विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में अहिंसा की उत्पत्ति जैनों तथा बौद्धों से मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है। क्योंकि इस सिद्धान्त का उदय ब्राह्मणधर्म के भीतर ही हुआ। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय का यह भी विचार है कि 'नितान्त वैदिक भागवतधर्म ने ही सर्वप्रथम अहिंसा-सिद्धान्त का आरम्भ तथा प्रचार किया †।' जो हो, यह अत्यन्त विवाद-ग्रस्त विषय है कि अहिंसा-धर्म का आरम्भ बौद्ध और जैन-सिद्धान्तों के प्रचार से हुआ या बौद्ध और जैनधर्मों ने वर्तमान अहिंसा-सिद्धान्त को विशेष रूप से प्रगति दी।

मद्यपान

वैदिककाल में सोमरस पीने की प्रथा थी, किन्तु सुरा पीना खराब समझा जाता था। इतिहास-काल में मद्यपान की चाल जोरों पर थी। श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के मद्यपान का जिक्र जगह-जगह महाभारत में आया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध-महोत्सव को 'सुराभैरेव सागरः' कहा है। यादवों का विनाश मद्यपान के कारण, आपस के युद्ध से, हुआ। किन्तु इतना तो ज्ञात होता है कि इतिहास-काल में ब्राह्मणों ने सुरा का पूर्णतया त्याग कर दिया था।

राजा

शान्तिपर्व में कहा है कि राजा का—उसे मनुष्य जानकर—कोई अपमान न करे; क्योंकि मनुष्यरूप में वह पृथ्वी पर एक देवता ही है। मनुष्य कभी राज्यद्रव्य का अपहरण न करे। जो अपहरण करेगा वह इस लोक और परलोक में निन्दित होगा। राजाओं का देवतारूप इतिहासकाल में पूर्ण रीति से मान्य हो गया था। राजा के प्रति लोगों के मन में पूज्य भाव था।

इसका आभास इन पंक्तियों के लेखक को सन् १६३८ ई० में मिला, जब वह नैपाल की राजधानी 'काठमाण्डू' में गया था। होलिकोत्सव का अवसर था। सड़क पर लोगों की अपार भीड़ थी। लेखक ने भीड़ का कारण पूछा। लोगों ने कहा—'भगवान आ रहे हैं।' उन्हीं के दर्शन के लिए जन-समुदाय खड़ा था। किसी ने नहीं कहा कि महाराजाधिराज अथवा पाँच-सरकार आ रहे हैं।

तीर्थ

तीर्थों की कोई सूची हमें रामायण में नहीं मिलती; किन्तु महाभारत के वनपर्व में दो जगह मिलती है। इन दोनों सूचियों में कुछ फर्क है। वनवास-काल में पाण्डव जिन-जिन तीर्थों में गये थे उनका विस्तारपूर्वक वर्णन है। तीर्थों में मुख्य ये हैं—(१) काम्यकवन, (२) नैमिषारण्य, (३) प्रयाग, (४) गया, (५) मणिमती नगरी, (६) गंगासागर, (७) वैत-रणी नदी (उड़ीसा में), (८) गोदावरी नदी, (६) महाकाल (उज्जैन), (१०) पुष्कर आदि। लिखा है कि गया में 'गयाशिर' नामक पर्वत, रेत से सुशोभित 'फल्गु' नदी और अक्षयवट हैं। ये स्थान श्राद्ध के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं। सप्तपुरियों में सिर्फ उज्जैन की गणना तात्कालिक

† 'वैष्णवधर्म'—प्रो० उपाध्याय, प्रथम परिच्छेद।

तीर्थों में थी। रामेश्वरम्, जगन्नाथपुरी, बदरिकाश्रम तथा द्वारकापुरी का उल्लेख नहीं है। उस समय भी प्रयाग और पुष्कर की विशेष प्रतिष्ठा थी।

नित्यकर्म

इतिहास-काल में संध्या-वन्दन और होम-हवन नियमित रूप से किया जाता था। कौरवों से समझौते के लिए जाते हुए कृष्ण का, मार्ग में, प्रातः और सायंकाल में, सन्ध्या करना महाभारत में वर्णित है। महाभारतीय युद्ध के समय भी क्षत्रिय योद्धाओं का, प्रातः-कालीन सन्ध्या से छुट्टी पाकर, युद्ध में संलग्न होना वर्णित है। अतएव, स्पष्ट है कि इतिहासकाल में संध्या-पूजा और सूर्योपासना का विशेष महत्त्व था। दूसरा कर्त्तव्य था अग्नि में घृतादि की आहुति देना। उद्योगपर्व में लिखा है—

कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिलंकृतः।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥

वाल्मीकीय रामायण में भी स्पष्टतया राम और लक्ष्मण के सन्ध्या-कर्म का वर्णन आया है। यह अनिवार्य रूप से किया जाता था। आज तो ब्राह्मण भी विरले ही संध्या करते हैं। हवन की चाल तो एकदम उठ-सी गई है। सनातनधर्मियों में कहीं कहीं कुछ अग्निहोत्री लोग हैं। आर्य-समाजी हिन्दू अपने घर में तो नहीं, किन्तु आर्य-समाज-मन्दिर में प्रायः रविवार को सामूहिक रूप से हवन करते हैं। अनेक स्मार्त हिन्दू विवाहादि के अवसर पर यदा-कदा होम किया करते हैं।

मूर्त्तिपूजा

यह निर्विवाद है कि वैदिक आर्य मूर्त्तिपूजक नहीं थे। मूल वैदिक धर्म में मन्दिरों अथवा मूर्तियों का माहात्म्य नहीं था और न लोगों के नित्य के धार्मिक कृत्यों में मूर्त्तिपूजा का समावेश था। महाभारतीय युद्धकाल में भी इसकी चाल न थी। इसका आभास हमें महाभारत से ही मिलता है। उसमें कृष्ण एवं युधिष्ठिर की दैनिक क्रियाओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन आया है। किन्तु, उसमें किसी देवता की धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति के पूजे जाने का वर्णन नहीं है। भिन्न भिन्न गृह्यसूत्रों में देवताओं की पूजा विधि बतलाई गई है। पर देवताओं की प्रतिमा बनाकर पूजा नहीं होती थी।

कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि हिन्दुओं में मूर्तिपूजा की चाल बौद्धों की देखादेखी चल पड़ी और उसी कारण सूत ने जब 'भारत' का विस्तार कर वर्तमान 'महाभारत' का रूप दिया तब इसमें जगह-जगह मन्दिरों का और मन्दिरों में स्थित मूर्तियों का वर्णन आ गया। श्रीबलदेव उपाध्याय की राय है कि वैदिकधर्म में मूर्तियों का निर्माण बुद्ध से प्राचीनतर है। पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी में, जिसका समय बुद्ध के पूर्व निश्चित है, कृष्ण तथा अर्जुन की मूर्तियों के निर्माण का निर्देश मिलता है।

मैं समझता हूँ कि मूर्तियाँ अनादिकाल से, कला की दृष्टि से, बनती आई हैं। अर्जुन की गणना कभी देवताओं में नहीं हुई। अतएव, सम्भव है, पाणिनि के समय में कला की

दृष्टि से ही मूर्तियाँ बनती हों। बुद्ध के पूर्व के किसी धर्मग्रन्थ में धातुमयी अथवा पाषाण-मयी मूर्ति की पूजा का उल्लेख हमें नहीं मिलता।

देवता

महाभारत में तैंतोस देवताओं के नाम हैं—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और दो अश्विन। इन तैंतीस देवताओं में मुख्य वैदिक देवताओं के अतिरिक्त, शिव का नाम ग्यारह रुद्रों और विष्णु का बारह आदित्यों में आया है।

इतिहास-काल में वैदिक देवताओं की प्रधानता गायब हो चुकी थी। उनके बदले त्रिमूर्त्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ने स्थान ग्रहण कर लिया था। ब्रह्मा की पूजा प्रचलित न हुई; किन्तु शिव और विष्णु के सम्बन्ध से तत्त्वज्ञान के दो पन्थ प्रचलित हुए, जो पाशुपत और पाञ्चरात्र के नाम से विख्यात हुए। इन्हीं दो देवताओं के 'सहस्र-नाम' प्रसंगवश महाभारत में आये हैं। इतिहास-काल में देवताओं के बीच शिव और विष्णु के अग्रणी होने का जो भाव उत्पन्न हो गया था वह अविच्छिन्न रूप से अबतक स्थिर है।

कुछ लोग समस्त देवताओं में शिव को मुख्य मानते हैं और कुछ विष्णु को। शंख, चक्र, गदा और पद्म के साथ विष्णु के चतुर्भुज रूप की कल्पना इतिहास काल में पूर्णतया प्रचलित हो चुकी थी। इसी प्रकार गौर शरीर, सिर पर जटाएँ, बाघम्बर पहने, दिगम्बर-वेश में शिव का रूप प्रचलित हो चुका था। महाभारत में बतलाया गया है कि शिव के अन्य रूपों की पूजा की अपेक्षा लिङ्ग-स्वरूप शिव की पूजा करना अधिक महत्त्व का और विशेष फलदायक है। कहा है—"लिङ्गं पूजयिता चैव महतीं श्रियमश्नुते।"

महाभारत में स्कन्द-देवता का बहुत-कुछ वर्णन है। स्कन्द शिव के ज्येष्ठ पुत्र हैं और उत्तर-भारत में 'स्वामी कार्तिकेय' और दक्षिण-भारत में 'सुब्रह्मण्यम्' नाम से विख्यात हैं। यह देवता शिव की संहार-शक्ति का प्रतीक है और देवताओं का सेनापति है। आजकल सिर्फ दक्षिण-भारत में स्कन्द की पूजा होती है।

महाभारत में स्कन्द के पश्चात् पूज्य दुर्गादेवी हैं। यह भी मारक-शक्ति है। शक्ति की—अर्थात् दुर्गा की—भक्ति इतिहास-काल में खूब की जाती थी। विराट्पर्व के आरम्भ में दुर्गा का स्तोत्र है। उसमें दुर्गा को विन्ध्यवासिनी और महिषासुर-मर्दिनी भी कहा है, काली-महाकाली नाम से भी सम्बोधित किया है। दुर्गापूजा शक्ति पूजा का ही आदिरूप है। कालान्तर में यह पूजा बहुत प्रसिद्ध हो गई और शाक्त-सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त बन गई।

अतएव, महाभारतीय युद्ध और महाभारत-ग्रन्थ के निर्माण के बीच जो सैकड़ों वर्षों का अन्तर पड़ा उसमें मुख्य वैदिक देवता इन्द्र, वरुण आदि पीछे पड़ गये और विष्णु, शिव, स्कन्द और दुर्गा ने उनके स्थान ले लिये तथा इन देवताओं की भक्ति पूर्णतया स्थापित हो गई। इस अवधि में बौद्ध और जैन धर्मों का हिन्दूधर्म से संघर्ष हुआ और देवताओं की प्रतिमाएँ तथा उनके मन्दिर बने।

धार्मिक सम्प्रदाय

महाभारतकाल में अनेक मत और सम्प्रदाय प्रचलित थे। भीष्म-पितामह ने उनमें से पाँच की चर्चा शान्तिपर्व (अध्याय ३४९) में की है—(१) पाञ्चरात्र, (२) पाशुपत, (३) वेदान्त, (४) सांख्य और (५) योग।

(१) **पाञ्चरात्र**—ईश्वर की सगुण उपासना करने की परिपाटी शिव और विष्णु की उपासना से ही प्रचलित हुई दीखती है। जेसा हम पहले कह आये हैं, महाभारत-काल में ही यह बात मान्य हो गई थी कि सब वैदिक देवताओं में विष्णु और शिव श्रेष्ठ हैं। अतएव, वैष्णवधर्म का मार्ग धीरे-धीरे बढ़ता गया और महाभारतकाल में उसे 'पाञ्चरात्र' नाम मिला। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान से जान पड़ता है कि महाभारत के समय में भगवद्भक्ति करनेवाले 'भागवत' कहलाते थे। इस सम्प्रदाय में विष्णु को परमेश्वर मानकर भक्ति की जाती थी। पाञ्चरात्र तथा भागवत एक ही सम्प्रदाय के नाम हैं। इसका आधार नारायणय आख्यान है। इस मत के मूल आधार नारायण हैं। सनातन विश्वात्मा नारायण से नर-नारायण तथा हरि और कृष्ण—चार मूर्त्तियाँ उत्पन्न हुईं। नर तथा नारायण नामक ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया। नारद ने जाकर उनसे प्रश्न किया, जिसके उत्तर में उन्होंने पाञ्चरात्र-धर्म सुनाया। पाञ्चरात्र-धर्म में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों का विवेचन है। चित्र-शिखण्डी नामक ऋषियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर 'पाञ्चरात्र' नाम का शास्त्र तैयार किया। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग हैं। यह दोनों का आधार-स्तम्भ है। शान्तिपर्व के नारायणीय आख्यान में पाञ्चरात्र-धर्म का विवरण दिया गया है। इस मत में अहिंसा-धर्म की प्रधानता थी और साथ-ही-साथ यह वेदों और यज्ञों को भी मानता था। नारायण ने नारद से कहा कि जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जो चौबीस तत्त्वों से परे पचीसवाँ पुरुष है, उसे सनातन पुरुष वासुदेव कहते हैं; वही सर्वव्यापक है; प्रलयकाल में उसके सिवा कुछ भी नहीं रहता; पञ्च-महाभूतों का जो शरीर बनता है उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्मरूप से प्रवेश करते हैं; यही देहवर्ती जीव होने पर 'शेष' तथा 'सङ्कर्षण' कहलाता है। राजा वसु उपरिचर का अहिंसामय यज्ञ का विधान इस बात का स्पष्ट दृष्टान्त है।*

पाञ्चरात्र में वेद का पूरा माहात्म्य दिया गया है। साथ-साथ वैदिक यज्ञ-क्रियाएँ भी उसी तरह मान्य की गई हैं। किन्तु यज्ञ का स्वरूप अहिंसायुक्त वैष्णव-यज्ञ है। इस ग्रन्थ में यह वर्णन है कि श्राद्ध-क्रिया भी यज्ञ के समान नारायण से निकली है। श्राद्ध में जो तीन पिण्ड दिये जाते हैं वे, वे ही हैं, जिन्हें पहले नारायण ने, अपने वराह-अवतार में, अपने दाँतों में लगी हुई मिट्टी के पिण्ड से निकालकर, अपने-आप को पितर-रूप समझ-कर, दिये थे। इसका तात्पर्य यह है कि विष्णु ही पितर हैं और पितरों को दिये हुए पिण्ड विष्णु को ही मिलते हैं। संक्षेप में, पाञ्चरात्र मत का यही सिद्धान्त है।

(२) **पाशुपत**—यह कहना कठिन है कि सगुण उपासना का शैवरूप अधिक प्राचीन है या वैष्णवरूप। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में ईश्वर का तादात्म्य शंकर से किया गया है।

* श्रीबलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५२३-३७

महाभारत में विष्णु की स्तुति के बाद बहुत शीघ्र शंकर की स्तुति आती है। महाभारत-कालीन शिवपूजा पाशुपतमत के नाम से विख्यात है।

पाशुपत में तप का विशेष महत्त्व है। इसीलिए पाशुपत-मतावलम्बी कुछ लोग वायु-भक्षण करते थे; कुछ लोग जल पर ही निर्वाह करते; कुछ लोग जप में निमग्न रहते; कोई योगाभ्यास से भगवत्-चिन्तन करते, कोई केवल धूम्रपान करते थे; कोई उष्णता का सेवन करते थे; कोई दूध पीकर रहते थे; कोई हाथों का उपयोग न करके केवल गायों के समान खाते-पीते थे; कोई पत्थर पर अन्न कूटकर जीविका चलाते थे; कोई चन्द्र की किरणों पर, कोई जलफेन पर और कोई पीपल के फलों पर अपना निर्वाह करते थे; कोई पानी में पड़े रहते थे; इसी तरह एक पैर पर खड़े होकर हाथ ऊपर उठाकर वेदपाठ करना भी एक विकट तप था।

पाशुपत तत्त्वज्ञान में जगत् के पाँच पदार्थ माने गये हैं। वे हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त, जिन्हें आचार्यों ने सूत्र-भाष्य में बतलाया है।* परन्तु महाभारत में उनका उल्लेख नहीं है। पाशुपत मत सब वर्णों को समान मोक्ष देनेवाला है। इसी कारण नीच वर्ण के भी अनेक स्त्री-पुरुष इस धर्म के अनुयायी हुए। इस मत में पशुपति सब देवों में मुख्य है। वह सारी सृष्टि को उत्पन्न करता है। इस मत में पशु का अर्थ है जीव।

(३-४) **वेदान्त, सांख्य और योग**—महाभारत-काल में सांख्य और योग, वेदान्त के साथ-ही-साथ, समानरूप से पूज्य माने जाते थे। तथापि, यह स्पष्ट है कि वेदान्त-मत ही मुख्य था और उसी के साथ अन्य मतों का समन्वय किया जाता था।

वेदान्त-ज्ञान में वैराग्य की आवश्यकता है। सुख-दुःख, पुण्य-पाप—दोनों जब छूटेंगे तब मोक्ष मिलेगा। शान्तिपर्व (अध्याय २०५) में कहा है—

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ॥६॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥७॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदान्त-तत्त्व का यह मत महाभारतकाल में निश्चित था। उपनिषदों में जिन वेदान्त-तत्त्वों का उपदेश किया गया है, उनका विस्तार भगवद्गीता ने भी किया है। महाभारत में जगह-जगह सुन्दर संवाद और आख्यान इस विषय में मिलते हैं। व्यास-शुकाख्यान बहुत ही मनोहर है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह उपनिषद्-वाक्य वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादक है और आगे चलकर शंकराचार्य के हाथ में पड़कर इसने विराट् रूप धारण कर लिया।

सांख्य अनीश्वरवादी सिद्धान्त था। अतएव भारत में स्वभावतः वह अधिक काल तक फूला-फला नहीं रह सका।

---

* प्रो० बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५६१-६५

शान्तिपर्व (अध्याय ३१६) में योग का विस्तृत वर्णन है। योग-शास्त्र के जो लक्षण तथा सिद्धान्त पतञ्जलि ने बतलाये हैं, अधिकांश में वे ही लक्षण उपर्युक्त वर्णन में आये हैं; परन्तु यह वर्णन पतञ्जलि (द्वितीय शतक ई० पू०) से नितान्त प्राचीन है। महाभारत के अनुसार योग और सांख्य एक ही हैं; किन्तु परमात्मा को मानने से योग में छब्बीस तत्त्व माने जाते हैं।

महाभारत-काल में वेदान्त मत ही मुख्य था और उसी के साथ अन्य मतों का समन्वय किया गया है।

आचार-विचार

उपवास और व्रत—महाभारत में उपवास की तिथियाँ निर्दिष्ट हैं। पञ्चमी, षष्ठी और कृष्णपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी उपवास की तिथियाँ हैं। इन तिथियों में जो उपवास करता है उसे कोई दुख-दर्द नहीं होता। महाभारत में चान्द्रायण, कृच्छ्र-चान्द्रायण और सन्तापन आदि व्रतों के भी नाम आये हैं; किन्तु उन व्रतों की विधि का वर्णन नहीं आया है। जन्माष्टमी, वसन्त-पञ्चमी (सरस्वती-पूजा), रामनवमी, विजयादशमी, नवरात्र आदि का कहीं उल्लेख नहीं है।

उपवास के साथ-साथ जप की महिमा भी इतिहास-काल में थी। जप कामना-रहित होने से श्रेष्ठ माना जाता है; परन्तु कामना-सहित होने से निकृष्ट। योगासन लगाकर और ध्यानमग्न होकर जो प्रणव का जप करता है वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। किसी कामना से जप करनेवाला अपनी कामना को प्राप्त करता है। किन्तु निष्काम जप करनेवाला सब फलों से श्रेष्ठ ब्रह्मलोक को जाता है।

सदाचार

महाभारत में आरम्भ से अन्त तक नीति के आचरण की अत्यन्त उदात्त स्तुति की गई है। 'आचार' धर्म का एक प्रधान अंग माना जाता था। सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, अपने उपार्जित किये हुए द्रव्य के अंश का दान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व सहना, शान्ति, निर्मत्सरता, अहिंसा, शुचिता और इन्द्रिय-निग्रह—ये सब धर्म सबके लिए कहे गये हैं और सद्गति देनेवाले हैं। महाभारत में आचार-सम्बन्धी विस्तृत वर्णन मिलता है।

स्वर्ग-नरक की कल्पना

हम प्रथम खण्ड में कह आये हैं कि वेद में स्वर्ग की चर्चा तो मिलती है; किन्तु नरक के विषय में वर्णन प्रायः नगण्य है। महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में व्यास ने स्वर्ग और नरक का जीता-जागता चित्र खींचा है। युधिष्ठिर का आचरण अत्यन्त धार्मिक था। इस कारण उन्हें सदेह स्वर्ग जाने का सम्मान मिला।

युधिष्ठिर को लेकर देवदूत ऐसे मार्ग पर पहुँचा जो बहुत ही खराब था; उसपर चलना कठिन हो रहा था; पापाचारी पुरुष उस रास्ते से आते-जाते थे; वहाँ सब ओर घोर अन्धकार छा रहा था; चारों ओर से बदबू आ रही थी; इधर-उधर सड़े मुर्दे दिखाई देते

थे; जहाँ-तहाँ कच्ची खाल और हड्डियाँ पड़ी हुई थीं; लोहे के चोंचवाले कौवे और गीध मँडरा रहे थे; सूई के समान नुकीले मुखोंवाले पर्वताकार प्रेत सब ओर घूम रहे थे।

युधिष्ठिर ने देखा कि खौलते हुए पानी की नदी बह रही है, जिसके पार जाना कठिन है। दूसरी ओर तीखे छुरों-जैसे पत्तों से परिपूर्ण 'असिपत्र' नामक वन है। कहीं गरम-गरम बालू बिछी है। कहीं तपाये हुए लोहे से बड़ी-बड़ी यातनाएँ दी जा रही हैं। उनपर युधिष्ठिर की दृष्टि पड़ी तो घबराकर उन्होंने लौटने का ही निश्चय किया। ज्योंही उस स्थान से वे निकलने लगे त्योंही उनके कानों में उत्पीड़ित जीवों की दयनीय पुकार सुन पड़ी—"धर्मनन्दन! आप हमलोगों पर कृपा कर थोड़ी देर यहाँ ठहर जाइए। आपके आते ही परम पवित्र और सुगन्धित हवा चलने लगी है। इससे हमें सुख हो रहा है। क्षणभर और ठहर जाइए।"

युधिष्ठिर के पूछने पर कि 'आपलोग कौन हैं?' आवाज आने लगी—'मैं कर्ण हूँ, मैं भीमसेन हूँ, मैं अर्जुन हूँ, मैं द्रौपदी हूँ'—इत्यादि। इस प्रकार अपना-अपना नाम बताकर सब लोग विलाप करने लगे। यह सब सुनकर युधिष्ठिर सोचने लगे—"ये लोग सम्पूर्ण धर्म के ज्ञाता, शूर-वीर, सत्यवादी तथा शास्त्र के अनुकूल चलनेवाले थे तथापि इनकी ऐसी दुर्गति क्यों हुई? मैं सोता हूँ या जागता हूँ? मुझे चेत है या नहीं? कहीं यह मेरे चित्त का विकार अथवा भ्रम तो नहीं है?" सोच-विचार कर युधिष्ठिर ने दूत से कहा—"तुम जिनके दूत हो उनके पास लौट जाओ; मैं वहाँ नहीं चलूँगा, यहाँ मेरे रहने से मेरे भाई-बन्धुओं को सुख मिलता है।" देवदूत चले गये।

क्षणभर बाद इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता वहाँ आये। यातना का वह भयावह दृश्य कहीं नहीं दिखाई देता था। इन्द्र ने युधिष्ठिर को शान्त करते हुए कहा—"महाबाहो! अबतक जो हुआ सो हुआ। अब इससे अधिक कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं। हम पर क्रोध न करना। मनुष्य अपने जीवन में शुभ और अशुभ—दो प्रकार के कर्मों की राशि संचित करता है। जो पहले शुभ कर्मों का फल भोगता है उसे पीछे नरक भोगना पड़ता है और जो पहले नरक का कष्ट भोगता है वह पीछे स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है। जिसके पाप-कर्म अधिक और पुण्य थोड़े होते हैं, वह पहले स्वर्ग-सुख भोगता है; और जो पुण्य अधिक तथा पाप थोड़े किये रहता है वह पहले नरक भोगकर पीछे स्वर्ग भोगता है। इसी नियम के अनुसार तुम्हारी भलाई सोचकर पहले मैंने तुम्हें नरक का दर्शन कराया है। तुमने अश्वत्थामा के मरने की झूठी बात कहकर द्रोणाचार्य को उनके पुत्र की मृत्यु का विश्वास छल से दिलाया था, इसलिए तुम्हें भी छल से नरक दिखलाया गया। तुम्हारे पक्ष के जितने राजा युद्ध में मारे गये हैं वे सभी स्वर्गलोक में पहुँच चुके हैं। महान् धनुर्धर कर्ण भी उत्तम सिद्धि को प्राप्त हुआ है।"

इस वर्णन से महाभारत के समय में स्वर्ग-नरक की कल्पना के प्रतिष्ठित होने की स्पष्ट सूचना मिलती है।

श्राद्धकर्म

अनुशासन-पर्व में श्राद्ध-विधि की मुख्य बातें हैं। लिखा है कि श्राद्ध में पितरों के बदले जिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय वे वेद के विद्वान हों—इस बात पर बहुत जोर दिया गया है। श्राद्ध में जो ब्राह्मण न्योते जाते थे, वे जैसे-तैसे न होते थे। श्राद्ध में विद्वान ब्राह्मण को, और उसमें भी शुद्ध आचरणवाले ब्राह्मण को, जाँच करके न्योता देने का नियम था।

महाभारत-काल में श्राद्ध में मांसान्न की आवश्यकता होती थी। श्राद्ध में प्रदत्त भिन्न-भिन्न मांसों के भिन्न-भिन्न फलों का वर्णन महाभारत में आया है। महाभोज में मांस भी परसा जाता था। श्राद्ध में मांस के स्थान पर उड़द के बड़े भी कभी-कभी परसे जाते थे। आज भी मिथिला में, श्राद्ध में, पितरों के उद्देश्य से, मछली के साथ सिद्धान्न का उत्सर्ग किया जाता है।

महाभारत में श्राद्ध-विधि भी दी गई है। श्राद्ध-विधि का उल्लेख उसके अनेक स्थलों में है। अनुशासन-पर्व में इसका विस्तृत वर्णन है। श्राद्ध में, ब्राह्मण-भोजन के सिवा, पितरों के लिए पिण्डदान करने की विधि भी होती है। अनुशासन-पर्व में ही इसकी एक गुप्त विधि बतलाई गई है। वह यह है कि पिता को दिया हुआ प्रथम पिण्ड पानी में छोड़ना चाहिए, दूसरे पिण्ड को श्राद्ध करनेवाले की स्त्री खाय और तीसरे पिण्ड को अग्नि में जला दे। आजकल यह विधि प्रचलित नहीं है। इस विधि का रहस्य यह है कि श्राद्ध करनेवाले की स्त्री गर्भवती हो और उसके उदर से दादा (प्रपिता) जन्म ग्रहण करे। यह प्रसिद्ध ही है कि दूसरा पिण्ड दादा को दिया जाता है।

सुतरां, वैदिक युग में कर्मकाण्ड का और उपनिषद्-काल में ज्ञान का प्राधान्य था तथा इतिहास-काल में उपासना के साथ-साथ यज्ञों की भी प्रधानता थी। किन्तु पशु-यज्ञ के स्थान पर आत्म-संयम और चरित्र-शुद्धि के निमित्त पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक माना गया था। ये यज्ञ हैं—(१) **देवयज्ञ** अर्थात् प्रातःसंध्या में विधिपूर्वक हवन करना; (२) **पितृयज्ञ**—तर्पण द्वारा पितरों को तृप्त करना; (३) **ऋषियज्ञ**—धार्मिक ग्रन्थों को नियम-पूर्वक पढ़ना; (४) **नृ-यज्ञ**—अतिथियों की सेवा और उनका सत्कार करना; (५) **भूतयज्ञ**—विविध प्राणियों को खाद्य पदार्थ द्वारा संतुष्ट करना।

धर्म का अर्थ केवल ईश्वर की पूजा ही नहीं; सत्य और नैतिकता के साथ जीवन-यापन करना भी था। चरित्र और आचार को इस काल में बहुत महत्ता दी गई थी। महाभारत में लिखा है कि जहाँ शील, धर्म और सत्य रहते हैं वहीं लक्ष्मी का निवास होता है। युधिष्ठिर का सत्य-प्रेम और राम का प्रणपालन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। चारित्रिक उच्चता और सत्य-प्रियता के कारण इन महापुरुषों का रामायण एवं महाभारत में विशिष्ट स्थान है।

दूसरा परिच्छेद
रामायण

रामचरित्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ, आरम्भ में संस्कृत में और बाद में भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में, रचे गये। पुराणों में भी रामचरित्र आया है। इनमें अध्यात्म-रामायण लोक-प्रसिद्ध है। यह निर्विवाद है कि ऋषि वाल्मीकि का रामचरित्र सबसे प्राचीन है। वाल्मीकीय रामायण में वर्णित अनेक घटनाओं से यह स्पष्ट है कि रामजन्म के कई सदियों के बाद वाल्मीकीय रामायण की रचना हुई होगी। जिस प्रकार ऋग्वेद का प्रथम और दशम मण्डल बहुत बाद का ज्ञात होता है उसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण के बाल और उत्तरकाण्ड भी बाद के रचे मालूम पड़ते हैं। इन दो काण्डों में [1] राम का वर्णन विष्णु के अवतार के रूप में हुआ है। किन्तु अयोध्या से लेकर युद्धकाण्ड तक राम स्पष्टतया पुरुषोत्तम ज्ञात होते हैं—यद्यपि अयोध्याकाण्ड के आरम्भ में [2] और युद्धकाण्ड के अन्त में [3] स्पष्टतया राम को विष्णु का अवतार कहा है। प्रसंगवश सुन्दर-काण्ड में भी [4] एक जगह कहा है कि युद्ध में त्रिलोकी के स्वामी राम के सामने देवता, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, यक्ष—कोई भी नहीं ठहर सकते। किन्तु प्रसिद्ध भक्त शवरी [5] ने राम को पुरुषश्रेष्ठ के रूप में सम्बोधित किया है। वाल्मीकीय रामायण में बुद्ध का भी उल्लेख आया है और उनकी गणना लोकायत नास्तिक में करते हुए चोर के सदृश उन्हें दण्डनीय कहा गया है—

यथा हि चौरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।

—अयो०, सर्ग १०९, श्लोक ३४

बौद्धधर्म का जिक्र कहीं प्रसंगवश भी नहीं आया है, किन्तु बौद्ध चैत्य और जैन श्रमणों का उल्लेख यों मिलता है—

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च। चतष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च।

—अयो०; सर्ग ६, श्लोक ११

---

(१) बाल-सर्ग १७ तथा ७६। (२) सर्ग १ श्लोक ७। (३) सर्ग ११७। (४) सर्ग ५१ श्लोक ३९-४३। (५) अरण्यकाण्ड, सर्ग ७४, श्लोक १७।

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम्। श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया ॥

—किष्किधा०, सर्ग १८, श्लोक ३३

अतएव, यह स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण की रचना दशावतार की भावना की पुष्टि की पहले की है।

रामायण की कथा से स्पष्ट है कि वाल्मीकि ने लौकिक भाषा में साधारण पाठकों के लिए राम के जीवनकाल में ही रामकथा लिखी होगी। किन्तु उस मूल रामायण का कहीं पता नहीं मिलता। जिस कवि ने प्रचलित वाल्मीकीय रामायण की रचना की है वह राम का समकालीन वाल्मीकि ऋषि नहीं है। जिस प्रकार जगद्गुरु शङ्कराचार्य के मठ के अध्यक्ष भी श्रीशङ्कराचार्य की उपाधि से प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार वाल्मीकि की शिष्य-परम्परा के किसी प्रतिभाशाली कुशल कवि ने, राम-सम्बन्धी बिखरे हुए ऐतिहासिक ग्रन्थों को बटोरकर, अपूर्व काव्यात्मक रीति से उन्हें शृङ्खला-बद्ध कर दिया, और बाद में पुराणकाल के दशावतार की धारणा के मान्य होने पर बाल और उत्तरकाण्ड में आमूल परिवर्तन कर, श्रीराम को पुरुषोत्तम के बदले, भावुक जनता के सम्मुख, विष्णु के सातवें अवतार के रूप में उपस्थित किया।

रामायण से ही ज्ञात होता है कि एक व्याध ने काम से मोहित क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को मार डाला। यह देखकर सहसा ऋषि वाल्मीकि के मुख से यह उद्गार निकला—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

—बाल०, सर्ग २; श्लोक १५

भावार्थ—हे निषाद! तुम बहुत दिनों तक इस संसार में प्रतिष्ठा नहीं पा सकते हो; क्योंकि क्रौंच के जोड़े में से एक को, जो काम से मोहित था, तुमने मारा है।

कहा जाता है कि वाल्मीकि मुनि के मुख से सहसा निकले हुए इसी श्लोक से लौकिक छन्दों का श्रीगणेश हुआ, इसके पूर्व वैदिक छन्द ही थे। अतएव, रामचरित्र के रचयिता वाल्मीकि 'आदि-कवि' कहे जाते हैं और रामायण 'आदि-काव्य' कहलाता है। महा-काव्य के समस्त गुण सर्व-प्रथम वाल्मीकीय रामायण में ही पाये जाते हैं। रामायण में उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अलंकार आदि काव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। काव्य-साहित्य में इनका प्रारम्भ रामायण से ही हुआ, इसी कारण इसे 'आदि-काव्य' कहते हैं। यह २४००० श्लोकों का महाकाव्य सात काण्डों में विभक्त है।

रामायण की कथा

रामायण की कथा लोक-प्रसिद्ध है। अयोध्या के राजा दशरथ के तीन रानियाँ थीं। बड़ी रानी कौसल्या से राम, मँझली कैकेयी से भरत और छोटी सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उत्पन्न हुए थे। राम का विवाह मिथिला के राजा जनक की कन्या 'सीता' से हुआ था। कैकेयी दशरथ की बहुत प्यारी रानी थी। एक बार उसने युद्ध में दशरथ की बहुत

सहायता की थी, जिससे प्रसन्न होकर दशरथ ने उसे दो वरदान माँगने को कहा, जिनको उसने थाती रख छोड़ा। जब दशरथ ने सबसे ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज बनाना चाहा तब कैकेयी ने एक वर चौदह वर्ष के लिए राम का वनवास और दूसरा वर भरत के लिए अवध का राज्य माँगा। पिता के वचन का पालन करने के लिए, अयोध्या की जनता की इच्छा के विरुद्ध भी राम, सीता और लक्ष्मण वन चले गये। भरत उन दिनों अपने मामा के यहाँ दूर देश में थे। जब उनको इसकी खबर मिली, तब राम को अयोध्या लौटा लाने के उद्देश्य से वे चित्रकूट गये। किन्तु राम लौटने को सहमत नहीं हुए। तब, भरत राम की खड़ाऊँ साथ लेते आये और उसे राज्यसिंहासन पर स्थापित कर राम की ओर से राज्य-शासन करते रहे। उधर राम दक्षिण-भारत पहुँच गये। वहाँ वर्तमान नासिक के पास पञ्चवटी से लंकाधिपति रावण ने सीता का हरण कर लिया। सीता को खोजते-खोजते राम किष्किन्धा पहुँचे। वहाँ वानरजाति के हनुमान और सुग्रीव से मित्रता कर वानराधिपति बालि को मारा। फिर सुग्रीव एवं हनुमान की सहायता से रावण को सपरिवार मारकर सीता को प्राप्त किया। तदुपरान्त अयोध्या लौटकर राम ने शान्तिपूर्वक बहुत काल तक ऐसा प्रजापालन किया कि बाद में सुशासन का नाम ही 'रामराज्य' पड़ गया।

रामायण के बालकाण्ड में राम के जन्म का कारण, उनका जन्म एवं सीता से उनके विवाह का प्रसंग वर्णित है। अयोध्या-काण्ड में राम के युवराज बनाये जाने का प्रस्ताव, उनका निर्वासन, भरत से चित्रकूट में उनकी भेंट आदि कथाएँ हैं। अरण्यकाण्ड में सीता-हरण की कथा है। किष्किन्धा-काण्ड में बालि-वध एवं सुग्रीव से राम की मित्रता का वर्णन आया है। सुन्दर-काण्ड में सीता के अशोक-वाटिका में निवास और लंकादहन का प्रसंग है। युद्ध-काण्ड में राम-रावण-युद्ध और अन्तिम उत्तरकाण्ड में राम-राज्याभिषेक, राक्षसों (अनार्यों) की उत्पत्ति का वर्णन, रावण एवं हनुमान का जन्म-वृत्तान्त, राम की राजचर्या, शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध, रामजी की आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण का सीता को तपोवन में छोड़ आना, राम के पुत्र लव और कुश का वाल्मीकि के आश्रम में जन्म, शत्रुघ्न का आश्रम में बालकों के मुख से रामचरित्र सुनना, राम के अश्वमेध में वाल्मीकि का शिष्यों सहित आना, राम की राजसभा में लव-कुश द्वारा वाल्मीकि प्रणीत रामचरित्र का गान, कुश-लव को सीता के पुत्र जानकर सीता को घर लाने के लिए दूत भेजना, राजसभा में सीता का आगमन और पातालप्रवेश की कथाएँ हैं।

रामचरित्र अनेक कवियों ने लिखा है। अध्यात्मरामायण, वाल्मीकीय रामायण और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' बहुत प्रसिद्ध हैं। अध्यात्मरामायण ज्ञानपरक, वाल्मीकीय कर्म-प्रधान और तुलसीकृत भक्ति-प्रधान हैं। अनेक स्थलों पर वाल्मीकीय और तुलसीकृत रामायण की कथा में भेद है। उदाहरणार्थ—जहाँ वाल्मीकीय में जनकपुर से लौटते समय मार्ग में परशुराम से भेंट होती है, वहाँ तुलसीकृत में विवाह के पूर्व जनकपुर में ही यह घटना हो जाती है। परशुराम और लक्ष्मण के अद्भुत संवाद का वाल्मीकीय में कहीं पता नहीं है। तुलसीकृत में अहल्या पत्थर की हो गई है और राम की चरण-रज के स्पर्श से पुनः दिव्य सुन्दरी बन जाती है, पर वाल्मीकि की अहल्या पत्थर की नहीं, किन्तु जड़वत् हो गई थी और राम के दर्शन तथा सदुपदेश से उसका कायापलट हुआ। वाल्मी-

कीय में सीतावनवास के बाद जब लव-कुश द्वारा रामचरित्र का गान राम के दरबार में होता है और सीता का पाताल-प्रवेश हो जाता है, तब उत्तरकाण्ड समाप्त होता है; किन्तु तुलसी का रामचरित्र अयोध्या में राज्याभिषेक के बाद ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में तुलसीदास ने लिखा है कि कल्प-कल्प में पुनः-पुन रामावतार हुए हैं और रामचरित्र में जगह-जगह जो भिन्नता हो गई है वह उसी कल्पभेद का परिणाम है।

रामायण के पात्र

भारतीय राष्ट्रीय चरित्र की गुण-गरिमा का वर्णन हम रामायण में पाते हैं। रामायण में वर्णित अनेक पात्रों के चरित्र पृथ्वी के दूसरे-दूसरे देशों के लिए शिक्षाप्रद और आदर्श हैं।

प्रधानपात्र राम नियतात्मा हैं। उन्होंने इन्द्रियों पर विजय पा ली है। वे महा-पराक्रमी हैं। संग्राम में वे पैर पीछे नहीं रखते। वचन एवं नीति के वे आदर्श पालक हैं। कथा के आरम्भ में ही वाल्मीकि मुनि नारद से प्रश्न करते हैं कि इस लोक में गुणवान, वीर्यवान, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रत, चरित्रवान, सर्वसख, विद्वान, वीतराग, सुन्दर, समर्थ, धैर्यवान, क्रोधजयी, तेजस्वी, ईर्ष्यारहित और युद्ध में शत्रु को भयभीत कर देने-वाला कौन है? नारदजी का उत्तर भारतीय चरित्र की विशेषताओं को बताने के लिए आज भी एक मापदण्ड है। वाल्मीकि हमें बार-बार याद दिलाते हैं कि प्रजा के हित में निरन्तर रत रहनेवाले राम ही स्वजन और धर्म के रक्षक हैं। राम का चरित्र-चित्रण करके महाकवि ने एक अपूर्व आदर्श चरित्र सामने रखा है।

पम्पा, मन्दाकिनी, चित्रकूट, दण्डकवन आदि स्थानों में रहनेवाले मुनियों को राक्षस अनेक प्रकार से सताते थे। अतएव मुनियों ने राम से अपनी रक्षा करने के लिए अनुरोध किया। राम ने उदारतापूर्वक रक्षाभार अपने ऊपर ले लिया।

पति का कल्याण चाहनेवाली सीता इस प्रतिज्ञा पर शंकित हो गईं। उन्होंने चतुरता से राम को संघर्ष-कार्य से विरत करने के अभिप्राय से, नम्र निवेदन किया—"हम वन में आये हुए हैं। कहाँ वन का वास, कहाँ शस्त्र का प्रयोग; कहाँ तप की वृत्ति, कहाँ क्षात्र-धर्म—दोनों में मेल नहीं खाता। हमें तो देशधर्म का ही पालन करना उचित है। अयोध्या लौटने पर फिर क्षात्र-धर्म ग्रहण कीजिएगा।"

यह निर्विवाद है कि धर्म से सब कुछ बनता है। धर्म ही जगत का सार है। किन्तु सीता के धर्मवाद की युक्ति का राम पर कुछ असर न हुआ। उनका यह उद्‌गार—**"क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त्तशब्दो भवेदिति"** (अरण्य०, १०। ३) अर्थात् 'क्षत्रियलोग इसलिए धनुष धारते हैं कि देश में आर्त्तशब्द सुनाई न दे'—सब स्थानों और युगों के लिए राजधर्म की कसौटी बना रहेगा। इसी प्रकार का कर्त्तव्य, धर्म और चरित्र वाल्मीकि को इष्ट था, जिसका आदर्श रामचरित्र में उन्होंने उपस्थित किया है।

वाल्मीकि ने भरत के मुख से गृहस्थ-धर्म की श्रेष्ठता और मर्यादा का प्रतिपादन कराया है। भरतजी राम से कहते हैं—"हे धर्मज्ञ! चारों आश्रमों में गृहस्थ-आश्रम ही श्रेष्ठ है। ऐसा सभी धर्मज्ञ कहते हैं, फिर उसे आप क्यों छोड़ना चाहते हैं?"—

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि॥

(अयोध्या० १०६। २२)

लोकायत-दर्शन के अनुयायी जाबालि ने राम से निवेदन किया—"कौन किसका बन्धु है, किसको किससे क्या पाना है ? मनुष्य अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। अतएव माता पिता समझकर जो मनुष्य व्यक्ति-विशेष में प्रेम करता है उसे उन्मत्त ही समझना चाहिए; क्योंकि कोई किसी का नहीं है। जिस प्रकार दूसरे गाँव में जाता हुआ कोई मनुष्य बाहर थोड़ी देर विश्राम करता है और दूसरे दिन उस स्थान को छोड़कर चला जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों के पिता-माता, घर आदि केवल आश्रय-स्थान हैं, इनमें सज्जन कभी अनुराग नहीं करते। प्रत्यक्ष अर्थ को छोड़कर जो लोग धर्म का आश्रय ग्रहण करते हैं, मैं उन्हीं के लिए शोक करता हूँ, दूसरों के लिए नहीं; क्योंकि वे इस लोक में दुःख उठा, परलोक में नष्ट हो जाते हैं। पितरों के उद्देश्य से लोक में श्राद्ध करने का जो विधान प्रचलित है, उसमें केवल अन्न का नाश किया जाता है; क्योंकि मरा हुआ मनुष्य कैसे खा सकता है ? यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में जाता हो तो प्रवास में जानेवालों का भी श्राद्ध किया जाय, ताकि उन्हें रास्ते में भोजन मिले। यज्ञ करो, दान दो, यज्ञ के लिए दीक्षा लो, तपस्या करो, संन्यास लो—इत्यादि बातें बतानेवाले ग्रन्थ बुद्धिमानों ने स्वार्थवश दान लेने के लिए बनाये हैं। इस लोक के अतिरिक्त दूसरा लोक नहीं है, यह तुम समझो। जो प्रत्यक्ष है उसीको तुम समझो और जो परोक्ष है उसका त्याग करो। सज्जनों की सलाह मानकर तुम राज्य ग्रहण करो। भरत तुम्हें मना रहे हैं। यही सबको इष्ट है।"

(अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०८)

परन्तु राम पिता की सत्य-प्रतिज्ञा के पालन को श्रेष्ठ मानते थे और समझते थे कि 'सत्य ही धर्म का मूल है और उसका त्याग करने में इहलोक और परलोक दोनों में निस्तार नहीं।' अतएव, सत्य को सर्वोपरि मानते हुए, जाबालि से, राम कहते हैं—"चरित्र ही—वेद-मर्यादा का पालन ही—मनुष्य की कुलीनता और अकुलीनता, पवित्रता और अपवित्रता, वीरता और कायरता बतलाता है। प्राणियों पर दया करनेवाला सनातन राजधर्म सत्य ही है। इसलिए राज्य सत्य-स्वरूप कहा जाता है और लोक भी सत्य की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते हैं। ऋषि और देवता सत्य ही को कल्याणप्रद समझते हैं, सत्य इसी लोक में मनुष्य को अक्षय ब्रह्मलोक प्राप्त कराता है। लोक में धर्म की पूर्ति सत्य से ही होती है। अतएव, सत्य सबका मूल कहा जाता है। सत्य ही ईश्वर है। सज्जनों के द्वारा आश्रित धर्म सत्य (ईश्वर) में वर्तमान है। यह समस्त संसार का मूल सत्य—ईश्वर—ही है, अतएव सत्य से बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ पद नहीं है। दान, यज्ञ, हवन, तपस्या, वेद—इन सबका मूल सत्य ही है, अतएव मनुष्य को सत्यपरायण होना चाहिए। लोभ, मोह, या अज्ञान द्वारा प्रेरित होने पर भी सेतु के समान अविचल होकर पिता के सत्य का त्याग नहीं करूँगा; क्योंकि मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ। जो मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं

करता है, वह धर्मच्युत और चंचल मनुष्य, यदि देवता और पितर को हव्य-कव्य दे, तो वे ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार, चार्वाक-मत के अनुकूल बुद्धि रखकर, संसार के नाश के लिए भ्रमण करनेवाले और वेदविरुद्ध मार्ग में श्रद्धा रखनेवाले नास्तिक आपको जो मेरे पिता ने याजक बनाया, मैं पिता के उस कार्य की निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप वैदिक धर्म से च्युत हैं। जैसा चोर दण्डनीय है वैसा ही यह बुद्ध भी दण्डनीय है। लोकायतिक और नास्तिक को भी वैसे ही समझो।" (अयोध्या, सर्ग-१०९)

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

(अयोध्या, स० ११२। १८)

अर्थात्—"लक्ष्मी चन्द्रमा को छोड़ दे, हिमालय शीतलता को त्याग दे और समुद्र अपनी मर्यादा का भले ही उल्लंघन कर दे; पर मैं अपने पिता के वचन के पालन की प्रतिज्ञा को नहीं त्याग सकता।"

इस प्रकार वाल्मीकि ने बड़ी सुन्दरता से बार-बार हमें बतलाया है कि धर्म की मर्यादा यदि टूट जाती, सत्य का बाँध ढीला पड़ जाता, तो राम और भरत-जैसे धीर पात्र का आचरण क्या होता?

वाल्मीकि के समस्त पात्र—राम, सीता, भरत, लक्ष्मण, कौसल्या, हनुमान आदि सबने अपने-अपने धर्म का पालन किया। प्रायः समस्त मुख्य पात्रों ने आदर्श व्यक्ति के ऐसा आचरण किया है।

रामायण में सामाजिक चित्र

रामायण के साहित्य में जीवन का जीता-जागता सत्य है, व्यवहार में आनेवाला धर्म है, परिवार को सुखी और सम्पन्न बनानेवाले आदर्श हैं। बन्धु, स्त्री, मित्र, शत्रु, सेवक, देवता और दानव के चरित्र हैं। प्रजा के प्राणप्रिय राजा एवं मानवरूप में देवता के स्पष्ट दर्शन हैं।

यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण-निर्माण-काल में जन्मगत जाति-विभाग सुदृढ़ हो चुका था। हल जोतनेवालों की भी गणना, ब्राह्मणवंश में जन्म होने के कारण, ब्राह्मण में होती थी।[1] इसके परिणाम-स्वरूप राम ऐसे धर्मज्ञ आदर्श व्यक्ति को हम उत्तरकाण्ड में तपस्वी शूद्र शम्बूक का सिर चमकीली तलवार से काटते पाते हैं।[2] शम्बूक का एकमात्र अपराध था कि शूद्रवंश का होकर भी उसने तप करने की धृष्टता की थी। छल से बालि का वध, निरपराध तपस्वी शूद्र-शम्बूक का वध और अग्निपरीक्षा के बाद भी निरपराधिनी सीता का बहिष्कार—ये तीन ऐसी घटनाएँ हैं जो राम के विमल चरित्र में धब्बे के सदृश हैं। किन्तु बालिवध आदि के सम्बन्ध में श्रीनिवास शास्त्री का विचार है कि 'राम के इन तीनों कर्मों में विशेष रहस्य था। राम ने बालि का छल से वध नहीं किया था, प्रत्युत एक ही दिन में एक ही बाण से उसे मारने की प्रतिज्ञा को ही उन्होंने उक्त रीति से

---

१ अयोध्या० ३२। २९; २ उत्तर० ७६। ४

निभाया। वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी इन बातों में छल या अन्याय की छाया तक नहीं है। †

वाल्मीकि की राय में राजा राष्ट्र के कल्याण के लिए है। राजा ही साधु और असाधु को अलग-अलग रखता है। वाल्मीकि देश में अराजकता को सहन नहीं कर सकते थे। जब राष्ट्र में अराजकता आ जाती है, तब सब प्रकार के धर्म एवं मर्यादा का लोप हो जाता है। अराजक राष्ट्र की अवस्था का वर्णन जो वाल्मीकि ने अयोध्याकाण्ड में किया है वह अद्भुत है। वह सब काल तथा देश के लिए लागू है।

रामायण के निर्माणकाल के विषय में गहरा मतभेद है। विद्वानों की राय है कि रामायण का वर्तमान रूप ईसवीपूर्व ५०० से २०० वर्ष के बीच का है। श्रीवैद्य महोदय की राय है कि वर्तमान समय की रामायण शक के पूर्व पहली सदी की है।*

सांस्कृतिक चित्र

अब यह प्रश्न उठता है कि राम-रावण-युद्ध में राम के सहायक बन्दर-भालू आदि सचमुच जानवर थे अथवा जंगली जाति के अनार्य थे? हम प्रथम खण्ड में कह आये हैं कि दक्षिण-भारत के आदिनिवासी द्रविड़ थे और उनकी भी सभ्यता तथा संस्कृति महत्त्वपूर्ण थी। आज भी भारत में अनार्य जातियाँ एक्का (कछुआ), लकड़ा (बाघ) आदि के नाम से विख्यात हैं। उनमें अनेक सुसंस्कृत एवं विद्वान हैं। वे अपने को लकड़ा, कछुआ आदि जाति के बताते हैं। अगस्त्य ऋषि प्रथम आर्य थे, जिन्होंने सप्त-सिन्धु और दक्षिण में, विन्ध्य की तलहटी के मार्ग से, यातायात कायम किया। अगस्त्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग से ही दक्षिण जाकर श्रीराम ने बहुत काल तक पञ्चवटी में निवास किया था।

इसके सम्बन्ध में महात्मा गान्धी का मत अद्भुत है। 'क्या राम ने खून बहाया था?'—शीर्षक अपने लेख में महात्माजी ने इस प्रकार लिखा है—"और रामचन्द्र! कौन सिद्ध कर सकता है कि रामचन्द्र ने लंका में खून की नदी बहाई थी? दस सिरवाला कब जन्मा? बन्दरों की फौज किसने देखी? रामायण धर्मग्रन्थ है। वह रूपक है। करोड़ों लोग जिस राम की पूजा करते हैं, वह राम घट-घटव्यापी है। रावण भी हमारे शरीर में रहनेवाले दस सिरवाले विकराल विकारों का प्रतीक है। अगर किसी ऐतिहासिक राम ने ऐतिहासिक रावण से युद्ध किया भी हो, तो उससे हमें बहुत-कुछ सीखने को नहीं मिलता। क्या इस प्राचीन राम-रावण को खोजने की जरूरत है? आज तो वे दर-दर पड़े हैं, सनातन राम ब्रह्मस्वरूप हैं। सत्य और अहिंसा की मूर्ति हैं।"

अतएव भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में विश्व-कवि रवि बाबू ने कहा है कि भारतीय साहित्य की विशेषता आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों है।

ऋग्वेद आर्य-अनार्य-युद्ध-कथा से ओतप्रोत है। प्रत्यक्ष और आलंकारिक भाषा में उसमें अनेक युद्धों का उल्लेख आया है। ब्राह्मण-ग्रन्थ-निर्माणकाल तक आर्य और

† Lectures on Valmikiya Ramayan by Shriniwas Shastri.

* श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य—महाभारत-मीमांसा, पृष्ठ १६

अनार्य घुल-मिल गये थे। उत्तर-भारत में केवल आर्य-सभ्यता और आर्य-संस्कृति की पूरी छाप ही नहीं पड़ चुकी थी, बल्कि अनार्य एकमात्र आर्य-सभ्यता और आर्य-संस्कृति से ओत-प्रोत हो गये थे। किन्तु दक्षिण-भारत अछूता रहा। आर्य अपनी संस्कृति को स्वभावतः दक्षिण में फैलाने को व्याकुल थे और यही राम-रावण-युद्ध का मूल कारण था।

राजा दशरथ के राज्यकाल में उत्तर-भारत में राष्ट्रीयता लुप्तप्राय थी। भारत की राजनीतिक स्थिति बहुत डाँवाँडोल थी। कोई ऐसा बलवान राजा नहीं था जो सब छोटे-मोटे बिखरे हुए राज्यों को एक सूत्र में ग्रथित करके उन्हें संगठित राष्ट्र का रूप देता, ब्राह्मणों में भी राज्यलिप्सा बलवती हो चली थी। वे परशुराम के नेतृत्व में जगह-जगह क्षत्रियों का संहार कर राज्याधिकार पाने में सफल हुए थे। उस समय उत्तर-भारत में दो राज्य ऐसे थे जो कुछ शक्ति रखते थे—एक कोसल और दूसरा मिथिला। जिस प्रकार मुसलमानों के भारत-आक्रमण-काल में, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति का ह्रास देखते हुए भी, आपस के मनोमालिन्य एवं स्वार्थ के कारण, हिन्दू नरेश एक सूत्र में नहीं बँध सके, उसी प्रकार एक ओर परशुराम की संहार-भावना और दूसरी ओर अनार्यों के उपद्रव पर भी तत्कालीन कोसल तथा मिथिला एक सूत्र में नहीं बँध सके थे। इसी मनोमालिन्य का परिणाम था कि सीता-स्वयंवर के लिए कोसलाधिपति को सम्भवतः निमंत्रण नहीं मिला था, जैसा घटना-क्रम से ज्ञात होता है।

विश्वामित्र जन्मना क्षत्रिय थे और अपने समय के बहुज्ञ, दूरदर्शी तथा अनुभवी राजनीतिज्ञ भी। वे समझते थे कि वास्तविक राष्ट्रहित तथा जनहित क्षात्रबल एवं ब्राह्मबल के समन्वय में है। अतएव, वे सुअवसर की खोज में थे। उन्होंने ब्राह्म-बल के अधिष्ठाता वसिष्ठ और क्षात्रबल की तेजस्विता से पूर्णतया मण्डित श्रीराम में इसका पूर्वाभास पाया। सीता-स्वयंवर ने मिथिला और कोसल को स्नेह सूत्र में बँधने का सुयोग दिया। विश्वामित्र ने इस सुयोग का सदुपयोग किया। वे राक्षसों (अनार्यों) से यज्ञ की रक्षा कराने के बहाने राम-लक्ष्मण को अयोध्या से ले जाकर ठीक मौके पर सीता-स्वयवर में पहुँचाने में समर्थ हुए।

साम्राज्यवादी और कूटनीतिज्ञ रावण, भारत के आर्य-राजाओं में आपसी फूट तथा एकता की कमी देखकर, परिस्थिति से लाभ उठाने के उद्देश्य से, भारत के उन अनार्यों को—जो अपनी कट्टरता के कारण, आर्यों से घुलमिल जाने के प्रतिकूल, जंगलों और पहाड़ों में भागकर, अपनी संस्कृति की रक्षा कर रहे थे—इस बात के लिए भड़का रखा था कि आर्यों की शिक्षा और संस्कृति के पीठस्थानों—तपोवनों—में तोड़फोड़ की कार्रवाइयाँ जारी रखें। इसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार, भारत का विभाजन हो जाने पर भी, यदा-कदा पाकिस्तानी मुसलमान निकटस्थ भारत-सीमा के निवासियों पर आक्रमण किया करते हैं, उसी प्रकार अनार्यों के छापामार भी तपोवनवासी ऋषियों और ब्रह्मचारी छात्रों को नाना प्रकार से सताया करते थे। विश्वामित्र ने राम को नये-नये अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी। राम भी अनार्यों की नेत्री ताड़का को मारने एवं उसके दल को नष्ट करने में समर्थ हुए। उसके बाद राम ने सुबाहु तथा मारीच के नेतृत्व में छापा मारनेवाले एक दूसरे दल का विध्वंस किया तथा मारीच को सुदूर दक्षिण की ओर खदेड़ दिया।

स्वभावतः राम की अनोखी वीरता की चर्चा चारों ओर फैल गई। विश्वामित्र, राम के शौर्य पर प्रसन्न हो, कोसल और मिथिला में राजनीतिक मैत्री कायम करने के सदुद्देश्य से राम और लक्ष्मण को सीता-स्वयंवर में ले गये। राम उस समय केवल सोलह वर्ष के थे। उनके चेहरे पर शौर्य और सौन्दर्य की आभा पूर्णरूप से विकसित थी। अतः राजा जनक एवं मिथिलावासियों को वे अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ हुए।

आर्य-अनार्य का संघर्ष

इधर रावण, जो भौतिक विज्ञान में पारदर्शी होने के कारण वायु-विमान से समन्वित था, मिथिलाधिपति को स्नेहसूत्र में बाँधने के लिए लालायित था। इसी उद्देश्य से वह मिथिला गया। सीता-स्वयंवर में उसने अपनी शक्ति की जाँच करनी चाही। किन्तु जब उसने देखा कि दूसरा पराक्रमी अनार्य योद्धा बाणासुर भी उसी उद्देश्य से आया है तब दूरदर्शी रावण ने सोचा कि आर्यों के आगे अनार्य नरेशों का इस प्रकार आपस में लड़कर शक्तिहीन बन जाना उचित नहीं; क्योंकि इससे सिर्फ आर्यावर्त्त पर विजय प्राप्त करना ही असम्भव न होगा, बल्कि साथ-साथ अनार्यों की शक्ति भी क्षीण हो जायगी और उसके फलस्वरूप आर्यों को दक्षिण की ओर पैर फैलाने का उत्साह मिलेगा। अतएव, वह स्वयं भी हट गया और बाणासुर को भी वहाँ से हटा ले गया।

इधर विश्वामित्र की कूटनीति के फलस्वरूप, निमंत्रित न होने हुए भी, राम ने सीता-स्वयंवर में जाकर अपना प्रबल पराक्रम दिखलाया—अत्यन्त कठोर शिव-धनुष को तोड़कर अद्भुत शारीरिक शक्ति का परिचय दिया। इस प्रकार सीता से विवाह होने पर दो सम्भ्रान्त राजकुल स्नेहसूत्र में बँध गये। ये दोनों ही अबतक, अनार्यों का निरन्तर भय उपस्थित रहने पर भी, आर्य-संस्कृति और आर्य-सभ्यता के रक्षार्थ संगठित नहीं हो सके थे। किन्तु इनके परस्पर-सम्बद्ध हो जाने से उत्तर भारत में आर्य-संगठन का श्रीगणेश हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि दशरथ-मरण और राम-वनगमन तथा भरत-शत्रुघ्न के सुदूर ननिहाल में रहने पर भी किसी आर्य अथवा अनार्य नरेश को अयोध्या पर चढ़ाई करने का साहस न हुआ।

क्षत्रियों की यह बढ़ती हुई शक्ति परशुराम को सह्य न हुई। वे राम को नीचा दिखाने के लिए कटिबद्ध हो गये। किन्तु जब उन्हें राम की प्रतिभा और वीरता का परिचय भलीभाँति मिल गया और उन्होंने जान लिया कि आर्य-राष्ट्र का कल्याण राम के द्वारा ही होगा, तब वे, अपनी शक्ति तथा अपने गौरव का अवसान-काल समझकर, राजनीतिक क्षेत्र से एकबारगी अलग होकर, जंगल में तप करने चले गये।

परशुराम के संन्यास तथा कोसल और मिथिला के एक सूत्र में बँध जाने के कारण विश्वामित्र ने उत्तर-भारत को सर्वथा निरापद समझा और आर्य-सभ्यता तथा आर्य-संस्कृति को सुदूर दक्षिण में फैलाने का सुअवसर जाना। राम के वनगमन में अनेक आलोचक घरेलू राजनीतिक षड्यंत्र की छाया देखते हैं; पर दूसरे आलोचकों को इसमें कोई गहरा उद्देश्य दीख पड़ता है। राम को वन भेजने में ऋषि-मुनियों का हाथ था, यह इससे भी ज्ञात होता है कि भरद्वाज ऋषि भी भरत से (अयो० ९२।३०) कहते हैं कि

रामचन्द्र के वन जाने का अन्त बड़ा सुखकारी होगा। राम के अभिषेक के अवसर पर भरत तथा जनक को बुलाना भी रहस्यमय है।

राम स्वभाव से ही उदार थे। अतएव वनवासी होकर उन्होंने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि वे आर्य-ऋषियों और अनार्य-हरिजनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हुए। नीचातिनीच स्त्री-पुरुषों ने भी उनमें आत्मीयता का अनुभव करके उनका साहचर्य प्राप्त किया। उन्होंने १३ वर्षों तक सुदूर दक्षिण में गोदावरी-तट पर निवास किया और अपनी उदारता, वीरता एवं उच्च संस्कृति से किरात, निषाद, वानर, भालू, गृद्ध आदि अनेकानेक अनार्य जातियों पर अपने सद्भाव का अमिट प्रभाव डाला। परिणामस्वरूप वे उनकी ओर इस प्रकार खिंच गये कि चौदह वर्ष के वनवास में सिर्फ उन्हीं अनार्य राजाओं और नेताओं की सहायता से वे महापराक्रमी बालि एवं अनार्यकुल-श्रेष्ठ रावण को पराजित कर सके, तथा आर्य-सभ्यता और आर्य-संस्कृति को दक्षिण में फैलाने में समर्थ हुए।

रावण की कूटनीति

अनार्य-शिरोमणि महाबाहु रावण के पराजय के बिना ऋषि-मुनियों एवं गुरुकुलों की रक्षा सम्भव नहीं थी। साथ ही आर्य-संस्कृति और आर्य-सभ्यता को कायम रखना भी सम्भव नहीं था। अतएव, अयोध्या के निकट चित्रकूट के रमणीक जंगल में निवास करने के बदले, राम ने सुदूर दक्षिण में गोदावरीतट पर निवास किया। इस निवास के कारण ऋषि अगस्त्य से सम्पर्क का अवसर मिला। अगस्त्य ने राम को बहुत-से नये अस्त्रों का प्रयोग सिखाया। दक्षिण-प्रदेश में निवास करने के कारण अगस्त्य स्वभावतः रावणादि अनार्य-राजाओं के कुचक्रों से परिचित थे। उन्होंने राम को इनसे सचेत किया। ताड़का, सुबाहु आदि के वध के कारण रावण भी राम की वीरता से परिचित था। राम के पंचवटी-निवास एवं उनके प्रति अनार्यों की बढ़ती हुई श्रद्धा को वह अपने मार्ग का कण्टक समझने लगा तथा भविष्य के लिए शंकित हो गया। उसने राम की प्रत्येक गतिविधि का पता लेने के लिए जासूसों को नियुक्त किया। उनमें शूर्पणखा प्रमुख थी। वह सुन्दरी थी। प्रथम यूरोपीय युद्ध की प्रसिद्ध जासूस-महिला 'माताहरी' की तरह वह अपने सौन्दर्य का अमोघ अस्त्र राम और लक्ष्मण पर चलाना चाहती थी, किन्तु सफल न हो सकी। पहले वह राम के पास गई। पर राम उसके चक्कर में न आये। हताश होकर वह लक्ष्मण के पास गई। लक्ष्मण भी उसके चकमे में न आये। उसका उद्देश्य समझकर और उसे बहुत खतरनाक जानकर उन्होंने उसकी नाक काट ली।

रावण को जब अपनी बहन की दुर्दशा का समाचार मिला तब एक ओर अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा बनाये रखने के उद्देश्य से तथा दूसरी ओर राम के बल की जाँच करने की नीयत से उसने पराक्रमी खर-दूषण को सेना के साथ भेजा। जब राम उन्हें अनायास ही नष्ट करने में समर्थ हुए तब रावण को बड़ी घबराहट हुई। राम से युद्ध करने में अपने को समर्थ न पाकर उसने उन्हीं को लंका में आकर युद्ध करने के लिए विवश करना चाहा। इसी उद्देश्य से उसने राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में छल से सीता का हरण किया।

राम, सीता की खोज में, लक्ष्मण के साथ, निकल पड़े। वे सीता की करुण-कहानी कहकर गृद्ध, वानर आदि जातियों को अपने प्रेम-बन्धन में बाँधने में सफल हुए। राम का उद्देश्य साम्राज्य-विस्तार नहीं था; किन्तु दक्षिण-भारत में आर्यों को निरापद करना एवं आर्य-सभ्यता तथा आर्य-संस्कृति को फैलाना ही उनका लक्ष्य था। चतुर राजनीतिज्ञ होने के कारण यह बात उनकी समझ में आ गई कि अनार्यों का सामना करने के लिए अनार्यों की ही सहायता लेनी चाहिए। अतएव, जब उन्होंने सुग्रीव से मैत्री कर बालि का वध किया तब राज्य और धन से निर्लिप्त रहकर जहाँ एक ओर सुग्रीव को राज्य सौंपा, वहाँ दूसरी ओर बालितनय अंगद को युवराज बनाकर दोनों दलों को एक साथ प्रेमपाश में बाँधा भी। इसीका फल था कि अनेक अनार्य-राजाओं ने तन-मन-धन से अनार्यकुल-भूषण रावण को युद्ध में पराजित करने में राम की सहायता की।

बालि रावण का परम मित्र था। बालि को मारकर राम केवल अपना मार्ग-कण्टक ही दूर करने में समर्थ न हुए, बल्कि वानर-जाति की सम्मिलित शक्ति से सहायता पाने में भी समर्थ हुए।

सुग्रीव की सहायता से राम ने अनेक दूतों को, रावण की सैनिक स्थिति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से, लंका भेजा। इसी बीच आसपास की अनेक अनार्य जातियों से मेल-मिलाप कर उन्होंने बहुत-बड़ी सेना का सगठन करके लंका पर चढ़ाई की।

लंका पहुँचाने पर उन्होंने रावण के रण-नीति-सम्बन्धी भेद जानने के उद्देश्य से, कुछ अनार्यों को फोड़ने का प्रयत्न किया। इसमें वे सफल भी हुए। सर्वोपरि, रावण के भाई विभीषण को राज-सिंहासन का प्रलोभन देकर उन्होंने अपने दल में मिला लिया। कुछ विद्वानों की राय है कि रावण के बुरे व्यवहारों से तंग आकर विभीषण स्वयं राम की शरण में आया। रावण ने विद्युत-शक्ति को अपने वश में कर लिया था। उसके पुत्र मेघनाद ने अग्नि-वर्षक आदि अनेक अस्त्रों का आविष्कार किया था। उन्हीं आग्नेय अस्त्रों के द्वारा राम पर विजय पाने का उसे अटल विश्वास था। विभीषण द्वारा इन अस्त्रों के रहस्य से राम अवगत हो गये। समय पर उन अस्त्रों के निरोध की विधि का आविष्कार करने में भी वे समर्थ हो सके।

राम का अनुपम कार्य

रावण को सपरिवार युद्ध में मारने के पश्चात् भी राम ने अपना कोई स्वार्थ नहीं साधा। उन्होंने अमूल्य वस्त्र, भूषण, स्वर्ण, मणि आदि अनार्य सिपाहियों को ही दे दिये। उनके इस निःस्वार्थ का परिणाम यह हुआ कि अनार्यों की श्रद्धा-भक्ति उनके प्रति दृढ़ और स्थायी हो गई तथा अनार्यों पर आर्य-सभ्यता और आर्य-संस्कृति की अमिट छाप पड़ गई। वे लंका के राज्य विभीषण को सौंपकर सीता और लक्ष्मण के साथ, अयोध्या वापस आये तथा अनार्यों के प्रतिनिधि हनुमान को राजदूत की तरह निरन्तर अपनी सभा में ऐसे प्रेम और वात्सल्य के साथ रखा कि हनुमान उनके दासानुदास बन गये। जिस

प्रकार राम के पूर्व उत्तर-भारत के आर्यों के भीतर घुलमिलकर अनार्य अपना अस्तित्व खो चुके थे, उसी प्रकार राम अपने अपूर्व नीति-कौशल, चरित्र-बल और शौर्य-द्वारा सुदूर-दक्षिण में भी अनार्यों को आर्य-संस्कृति में दीक्षित करने में सफल हुए। यत्र-तत्र कतिपय कट्टर अनार्य, इस परिवर्तन का विरोध करते हुए, जंगलों और पहाड़ों में जा बसे। उन लोगों ने अपनी संस्कृति को कायम रखा। उनके वंशज वर्त्तमान नागा, संताल, कोल, भील आदि हैं।

राम सर्वगुण-सम्पन्न, श्रेष्ठ, धर्मवान् और नीतिज्ञ थे। सर्वोपरि, दक्षिण की सांस्कृतिक विजय उनकी अक्षय कीर्ति थी। इसी कारण भावी जगत् की जनता उनको अवतार मानकर पूजती है।

तीसरा परिच्छेद
महाभारत

भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में वेदों के बाद, महाभारत का महत्त्व बहुत अधिक है। इसमें प्राचीनकाल की अनेक ऐतिहासिक कथाएँ, एक ही स्थान में, ग्रथित की गई हैं। इसके अतिरिक्त, इसमें स्थान-स्थान पर लोक-धर्म, तत्त्वज्ञान, आचार-व्यवहार, राजनीति, समाजनीति आदि के सम्बन्ध में ऐसा विस्तृत विवेचन किया गया है कि वह एक धर्म-ग्रन्थ अथवा राजनीति-शास्त्र ही बन गया है।

इस कारण जिन परिस्थितियों का वर्णन है उनके एक ओर तो यह वैदिक साहित्य की ऊँचाई तक जा पहुँचता है और दूसरी ओर यह अर्वाचीन काल के बौद्ध-जैन-ग्रन्थों तथा ग्रीक लोगों के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों से आ मिलता है।

इसकी श्लोक-संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। भिन्न-भिन्न मतानुसार इसमें कम-से-कम १९२३ अध्याय से लेकर अधिक-से-अधिक २३१५ अध्याय हैं। इसमें एक खिल (अधिक) पर्व 'हरिवंश' है—इसकी श्लोक-संख्या १२००० है, यह भी महाभारत का अंग ही माना जाता है।

महाभारत-कर्त्ता

महाभारत के कर्त्ता व्यास मुनि कहे जाते हैं। किन्तु महाभारत के ही वर्णनानुसार इसके तीन रचयिता हैं—(१) व्यास, (२) वैशम्पायन और (३) सौति। भारतीय युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की। इसको, उनके शिष्य वैशम्पायन ने पाण्डवों के प्रपौत्र जनमेजय को, सर्प-यज्ञ के अवसर पर सुनाया था। वहाँ उस कथा को सुनकर, सूत लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा ने, उन ऋषियों को सुनाया जो नैमिषारण्य में सत्र कर रहे थे। आदि-पर्व तथा अन्तिम (स्वर्गारोहण) पर्व में कहा है कि 'जयोनामेतिहासोऽयम्'—अर्थात् मूलग्रन्थ जो इतिहास है उसका नाम 'जय' है। इस ग्रन्थ को आगे चलकर 'भारत' नाम प्राप्त हो गया। जब इसका विस्तार बहुत बढ़ गया तब इसे महाभारत कहने लगे। यह मान लेना युक्ति-संगत जान पड़ता है कि 'जय' से पाण्डवों की विजय का अर्थ सूचित किया गया है। संभवतः मूल इतिहास-ग्रन्थ इसी नाम का होगा। वर्त्तमान महाभारत के आरम्भिक श्लोक में इसी ग्रन्थ या नाम का उल्लेख है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो 'जय' मुदीरयेत् ॥

इसके तीन रचयिता होने के सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण यह है कि इसका आरम्भ तीन स्थानों से होता है। 'मन्वादि भारत केचित्' अर्थात् मनु, आस्तिक और उपरिचर—ये तीन इस ग्रन्थ के आरम्भ माने जाते हैं। राजा उपरिचर के आख्यान [आदिपर्व, अध्याय ६३] से व्यास के ग्रन्थ का आरम्भ होता है। आस्तिक के आख्यान [आदि०, अ० १३] से वैशम्पायन के ग्रन्थ का आरम्भ होता है; क्योंकि वैशम्पायन का ग्रन्थ सर्प-सत्र के समय पढ़ा गया था। सौति के बृहत् महाभारत-ग्रन्थ का आरम्भ 'मनु' शब्द से—अर्थात् प्रारम्भिक शब्द वैवस्वत से—होता है।

तीसरा प्रमाण यह है कि सौति ने अपने ग्रन्थ के अठारह पर्व बनाये हैं। यह पर्व-विभाग नया है और उन्हींका किया हुआ है। वैशम्पायन ने अपने भारत में जो पर्व बनाये थे वे भिन्न हैं, छोटे हैं और उनकी संख्या १०० है। कोई ग्रन्थकार अपने एक ही ग्रन्थ में एक ही नाम का छोटा और बड़ा विभाग कभी नहीं करेगा। उदाहरणार्थ—सौप्तिकपर्व में सौप्तिकपर्व है, सभापर्व में सभापर्व आदि। महाभारत से यह स्पष्ट है कि पहले व्यासजी ने १०० पर्वों की रचना की। तदनन्तर सूत-पुत्र लोमहर्षण ने नैमिषारण्य में सिर्फ १८ पर्वों का पठन किया—

एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ।
यथावत्सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना ततः ।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ।

—आदिपर्व, अध्याय २ । ८४

विद्वानों का कथन है कि व्यासकृत 'जय' के श्लोकों की संख्या ८८०० थी, वैशम्पायन का 'भारत' २४००० श्लोकों का था और वर्त्तमान श्लोक-संख्या सौति के महाभारत की है। व्यास के जय-ग्रन्थ का रूप, अनेक शताब्दियों बाद, वर्तमान महाभारत हुआ। यह बात सिद्ध मानी जाती है कि ईसवी सन् के ३०० से लेकर ५० वर्ष पूर्व तक एक लाख श्लोक का वर्त्तमान महाभारत तैयार हुआ।[१] किन्तु श्री वैद्य महोदय की राय है कि ईसवी सन के पहले ३२० से २०० तक के समय में वर्त्तमान महाभारत का निर्माण हुआ।[२]

रचना का उद्देश्य

अब प्रश्न उठता है कि इस बृहद्-ग्रन्थ का निर्माण क्यों किया गया? उस समय भारत में दो नये धर्म उत्पन्न हो चुके थे और उनका प्रचार भी खूब हो रहा था। पहले महावीर ने बिहार-प्रान्त में जैन-धर्म का प्रचार किया और लगभग उसी समय के आस-पास बुद्ध ने अपने बौद्ध-धर्म का उपदेश दिया। इन दोनों धर्मों ने वेदों का एवं वैदिक यज्ञों का विरोध किया था। बौद्ध और जैन दोनों ने जन्मगत चतुर्वर्ण की संस्था का त्याग किया।

१ श्रीबलदेव उपाध्याय—'संस्कृत-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ ४५—४६

२ श्री चि० वि० वैद्य—'महाभारत-मीमांसा'—पृष्ठ ५३

उन दोनों धर्मों के अनुयायियों के लिए धर्म का आचरण केवल नीति के आचरण के सिवा और कुछ नहीं था। इन धर्मों ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य को इस बात का विचार करना कि ईश्वर है या नहीं, निरर्थक है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में ही भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर प्रचलित हो गये थे। कुछ लोग तो विष्णु को प्रधान देवता मानकर पाञ्चरात्र-मत का अवलम्बन कर रहे थे और कुछ शङ्कर को प्रधान देवता मानकर पाशुपत-मत का आश्रय ले रहे थे। कुछ लोग परमात्मा के रूप में देवी की आराधना करते थे और कुछ सूर्य के उपासक थे। इन भिन्न-भिन्न-मतावलम्बियों में आपस की कुछ शत्रुता भी रहती थी। वेदान्त और सांख्य में निरन्तर झगड़ा रहता था। मनुस्मृति का उस समय पता नहीं था। प्राचीन हिन्दूधर्म की गौरव-गरिमा को स्पष्ट रूप से दिखलानेवाला कोई ग्रन्थ नहीं था। बौद्ध और जैन धर्म के आक्रमण का प्रतीकार करने के लिए कोई साधन नहीं था। ऐसी अवस्था में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी जिसमें आनुषंगिक रीति से तत्त्वज्ञान, इतिहास, राजधर्म, नीति आदि अनेक विषयों का समावेश हो।

वैष्णव और शैव मतों के विरोध को दूर करने के अभिप्राय से सौति ने महाभारत में शिवस्तुति-विषयक अनेक उपाख्यान दिये हैं और साथ-साथ जगह-जगह प्रसंगवश नारायण की भी स्तुति आ गई है। एक जगह तो स्पष्ट शब्दों में नारायण के मुख से शङ्कर के प्रति कहलाया है कि जो तुम्हारा भक्त है वह मेरा भी भक्त है—जिसने तुम्हें पहचान लिया उसे मेरा भी ज्ञान हो गया—तुममें और मुझमें कुछ भी भेद नहीं है। नारायणीय आख्यान में नारायण ने स्पष्ट कह दिया है कि शिव और विष्णु एक हैं; हम दोनों को भिन्न समझनेवाला हम दोनों में से किसी का भक्त नहीं है। महाभारत में स्पष्ट वर्णन है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों देवता जगत् के तीन कामों (उत्पत्ति, पालन और नाश) पर नियत हैं। इन तीनों का एकीकरण परब्रह्म में किया गया है। इसीके साथ भिन्न-भिन्न मतों और मोक्षमार्गों के एकीकरण का यत्न भी सौति को करना पड़ा है। सौति ने वेदान्त, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि अनेक मतों के एकीकरण का सफल प्रयत्न किया है। परिणाम यह हुआ कि महाभारत-ग्रन्थ वर्त्तमान हिन्दूधर्म की सब शाखाओं—शैव, वैष्णव, वेदान्ती, योगी आदि सब—के लिए समान रूप से मान्य हो गया।

भारतीय कथा

संक्षेप में महाभारत की कथा इस प्रकार है—

देवव्रत महाराज शान्तनु के पुत्र थे। बाद, शान्तनु ने धीवर-कन्या सत्यवती से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु सत्यवती के पिता विवाह करने के लिए तभी सहमत थे जब राजा प्रतिज्ञा करें कि राजगद्दी सत्यवती की सन्तान को ही मिलेगी। देवव्रत सर्वगुण-सम्पन्न थे। अतएव राजा इस शर्त को स्वीकार न कर सके; किन्तु सत्यवती के प्रति आसक्त रहने के कारण दुःखी रहने लगे। जब इसकी खबर देवव्रत को मिली तब उन्होंने केवल राज्याधिकार छोड़ने की ही घोषणा न की, आजन्म 'अविवाहित रहने की भी घोर प्रतिज्ञा कर डाली, जिससे भविष्य में भी राज्याधिकार के लिए संघर्ष होने का भय न रहे। इसी भीषण प्रतिज्ञा के कारण देवव्रत का नाम 'भीष्म' (भयानक) पड़ गया।

सत्यवती से शान्तनु के दो पुत्र हुए। दोनों पुत्रों की असामयिक मृत्यु के बाद, विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण, कनिष्ठ पुत्र 'पाण्डु' सिंहासन पर बैठे। पाण्डु की अकाल-मृत्यु के समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव नाबालिग थे, अतएव कुछ काल के लिए धृतराष्ट्र को स्वयं राज्य-शासन की बागडोर सँभालनी पड़ी।

पाण्डु के पाँचों पुत्र 'पाण्डव' और धृतराष्ट्र के सौ पुत्र 'कौरव' के नाम से विख्यात हुए। युधिष्ठिर १०५ भाइयों में बड़े होने के अतिरिक्त अनेक सद्-गुणों से विभूषित थे, अतएव धृतराष्ट्र ने उनको युवराज बनाया। यह दुर्योधन और अन्य कौरवों को पसन्द नहीं आया। उनलोगों ने छल से लाह के गृह में पाण्डवों को दग्ध करने का असफल प्रयत्न किया। वहाँ से बचकर पाण्डव पाञ्चाल देश चले गये। स्वयंवर में पाञ्चाल-नरेश की कन्या द्रौपदी को जीत लिया। घटनाचक्र के कारण द्रौपदी का विवाह पाँचों भाइयों से हुआ। जब इसकी खबर धृतराष्ट्र को लगी तब उन्होंने पाण्डवों को बुलाकर आधा राज्य दे दिया। कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर और पाण्डवों की इन्द्रप्रस्थ हुआ।

किन्तु महालोभी और कपटी दुर्योधन पाण्डवों का वैभव नहीं देख सका। उसने अपने मामा शकुनि की सहायता से पाण्डवों को जूए में छलपूर्वक हराकर बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के लिए विवश किया। वनवास और अज्ञातवास के बाद दुर्योधन ने कृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" (बिना युद्ध के सुई की नोक के बराबर भूमि भी नहीं दूँगा)। फलतः युद्ध ठन गया। अट्ठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र के मैदान में भीषण युद्ध होता रहा। पाण्डवों की सात और कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना मारी गई। विजय पाण्डवों की हुई। बहुत काल तक राजकाज करके युधिष्ठिर, अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्यभार सौंपकर, द्रौपदी एवं चारो भाइयों के साथ हिमालय में अंतिम समाधि लेने चले गये।

वर्णन-शैली

महाभारत की वर्णन-शैली उच्चकोटि की है। वर्णन में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं दीख पड़ती। शब्द सरल और जोरदार हैं। दृश्यों के वर्णन आकर्षक हैं। स्त्री-पुरुष के स्वरूप-स्वभाव एवं वेशभूषा का वर्णन मनोहर है। प्रत्यक्ष युद्ध का वर्णन व्यास ने संजय के मुख से कराया है जो बहुत ही सजीव तथा ओजस्वी है। स्त्रियों और पुरुषों का वर्णन मर्यादायुक्त है। सभापर्व में युधिष्ठिर ने द्रौपदी का जो वर्णन किया है वह अपूर्व है। किसी प्रसङ्ग का वर्णन करते समय व्यास के नेत्रों के सामने धर्म का एक व्यापक रूप उपस्थित रहता था, किसी भी आख्यान के पढ़ने से यही तात्पर्य समझ पड़ेगा, समस्त ग्रन्थ में इसी तत्त्व की जयध्वनि सुन पड़ेगी—'यतो धर्मस्ततो जयः।' इस प्रकार धर्म और नीति को प्रधान हेतु रखने का प्रयत्न पूर्व अथवा पश्चिम के किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं किया गया है।

हरिवंशपर्व में भगवान कृष्ण के वंश का वर्णन है। इसमें विष्णुपर्व, शिवपर्व और साथ-साथ भविष्य-पर्व भी है। विष्णुपर्व में अवतारों का वर्णन है।

राजधर्म

धर्म और नीति के उपदेशों से महाभारत भरा-पूरा है। कहा भी है—

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

वाल्मीकि की तरह सौति ने भी स्पष्ट शब्दों (शान्तिपर्व, अध्याय ६८, १३०) में अराजकता का जीता-जागता चित्र खींचते हुए इस बात पर जोर दिया है कि राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य लोक में शान्ति की व्यवस्था करना है। धर्मोपदेश देते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से यहाँ तक कहा है कि राजा काल को बनाता है—न कि काल राजा को; अर्थात् राजा अपने आचरण से रामराज्य स्थापित कर सत्ययुग ला सकता है और उसके विपरीत आचरण करके अराजकता द्वारा निपट कलियुग भी। यथा—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ (शां०, ६९।६)

सुतरां, लोक का सारा जीवन राजधर्म पर आश्रित है। राजधर्म के नष्ट होने से सब-कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए।

सारा शान्ति-पर्व नानाविध ज्ञानगर्भ उपदेशों और उपाख्यानों से परिपूर्ण है। जब धर्मराज युधिष्ठिर को सभी सम्बन्धियों के संहार से वैराग्य हो गया तब शरशय्या पर पड़े भीष्म ने राजधर्म की व्याख्या करते हुए उन्हें आपद्-धर्म का उपदेश दिया। भीष्म ने जिस धर्म-नीति और मानव-धर्म का उपदेश दिया है वह किसी भी देश के जन-जीवन को उन्नत बनाने में समर्थ है। अनुशासन-पर्व में मुख्यतया धर्मशास्त्रानुसार आचरण तथा व्यवहार-विधान (कानून) की शिक्षा दी गई है। सुतरां, भारतीय जन और उनकी जन-क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति, राजनीति, अर्थनीति आदि का सुन्दर विवेचन महाभारत में है।

विश्वकोष

महाभारत को हम सच्चे अर्थ में प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष कह सकते हैं। संसार के साहित्य में इससे बड़ा ग्रन्थ नहीं है। जहाँ एक ओर यह प्राचीन धर्म और नीति का अमूल्य भण्डार है, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन गौरव-गरिमा का गान करनेवाला अपूर्व ग्रन्थ भी। यह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन-पद्धति, नीति और धर्म के आदर्श की खान है। इसके महान चरित्रों की अमर कथाएँ देश-देशान्तर में फैली हुई हैं। इसमें वर्णित अपने पूर्व-पुरुषों की चरितावली सुनने को, हमारे मन में, स्वाभाविक उमंग होती है। इसके अनेक पात्रों की वीरता, कर्त्तव्यपरायणता, न्याय-नीति एवं धर्मनिष्ठा देखकर हम आनन्द-गद्गद हो जाते हैं। व्यासजी का निम्नलिखित राष्ट्रगीत आज भी जन-गण के मन में भारत-राष्ट्र की उपासना करने की प्रेरणा देता है—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥
पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिवेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥
कुशिकस्य च दुर्धर्षगाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्षदिलीपस्य तथैव च ॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥

भावार्थ—हे भारत ! अब मैं तुम्हें भारत देश का यशोगान सुनाता हूँ। यह देश देवराज इन्द्र का भी प्रिय है। वैवस्वत मनु, पृथु तथा इक्ष्वाकु भारत को प्यार करते थे। ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचकुन्द, उशीनर-पुत्र शिवि, ऋषभ, ऐल, नृग, कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक बलशाली क्षत्रिय सम्राटों का परम प्रिय भारत था। राजन् ! इस दिव्यदेश का गौरव-गान मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

चौथा परिच्छेद

भगवद्‌गीता

भगवान वेदव्यास ने कहा—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र-संग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

—(भीष्म-पर्व, ४३।१)

अर्थात् गीता का ही भली भाँति श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं भगवान पद्मनाभ (श्रीकृष्ण) के मुख-कमल से निकली हुई है।

स्वयं भगवान ने मुक्त-कण्ठ से (गीता, ३।३१ में) घोषणा की है कि जो कोई मेरी इस गीता-रूप आज्ञा का पालन करेगा वह निःसन्देह मुक्त हो जायगा। यही नहीं, भगवान् (१८।७०) कहते हैं कि जो हमारे इस धर्म-संवाद का अभ्यास करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा।

भारत के किसी धर्मग्रन्थ का प्रचार और आदर गीता-सदृश नहीं हुआ। संसार की प्रायः समस्त भाषाओं में गीता का अनुवाद हुआ है। यह भीष्म-पर्व में वर्णित है।

कौरव-पाण्डव-युद्ध के आरम्भ में, उसके भीषण परिणाम को सोचकर, अर्जुन के मन में विषाद उत्पन्न हुआ। वे युद्ध से विमुख होने के लिए उद्यत हो गये। उस अवसर पर भगवान ने उन्हें जो उपदेश दिया वही ७०० श्लोकों का अर्जुन-कृष्ण-संवाद गीता-रूप में उपलब्ध है। गीता वस्तुतः ज्ञान का अथाह समुद्र है। इसमें ज्ञान का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका वास्तविक रहस्य समझने का प्रयत्न सभी विद्वान, तत्त्वालोचक एवं महात्मा करते हैं। किन्तु इसका रहस्य कोई-कोई भाग्यवान पुण्यात्मा ही समझ पाता है।

इस गीता-सागर में गोते लगाने से विभिन्न विचार-कोटि के जिज्ञासुओं को विलक्षण भाव-रत्नराशि की उपलब्धि होती है। वास्तव में अर्जुन को उपदेश देने के बहाने भगवान ने भवसागर के मोहान्ध जीवों को मुक्ति-मार्ग दिखलाया है।

सभी शास्त्रों में भगवान को प्राप्त करने के तीन प्रधान मार्ग—कर्म, उपासना और ज्ञान—बतलाये गये हैं। जिनका हृदय समाज-सेवा अथवा मनुष्यमात्र की सेवा से ओत-प्रोत है उनके लिए स्वभावतः कर्म ही अनुकूल है। जो भावुक प्रकृति के हैं उनकी प्रवृत्ति स्वभावतः भगवान की शरणागति द्वारा अनन्य भक्ति और उपासना की ओर होती है। किन्तु जो बुद्धिवादी हैं उनकी सन्तुष्टि ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकती। भिन्न-भिन्न धर्म और दर्शन भगवत्प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग प्रदर्शित करते हैं; किन्तु गीता की ही विशेषता है कि यह स्पष्टतया घोषित करती है कि मानव अपने स्वभाव की भिन्नता के कारण निष्काम कर्म द्वारा अथवा अनन्यभक्ति द्वारा अथवा ज्ञान-प्राप्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। पर 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी' के अनुसार भिन्न-भिन्न आचार्यों ने, अपनी-अपनी विचार-धारा के अनुसार, अपने गीता-भाष्य में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भगवान ने गीता में एक निर्दिष्ट मार्ग द्वारा ही मुक्ति का साधन बतलाया है। किन्तु कोई भी व्यक्ति, जिसे किसी मत-मतान्तर का प्रतिपादन अभी नहीं है, स्वीकार करेगा कि गीता का उपदेश त्रिवेणी की वह धारा है जो भिन्न-भिन्न मार्ग से बहता हुआ उसी असीम सागर में मिलकर एक साथ लीन हो जाता है।

कुछ विद्वानों की राय है कि गीता का मुख्य तात्पर्य है—अनादि-काल से अज्ञान-वश संसार-सागर में पड़े हुए जीवों को परमात्मा की प्राप्ति करवा देना। उसके लिए गीता में ऐसे उपाय बतलाये गये हैं कि मनुष्य अपने सांसारिक कर्त्तव्य-कर्मों का भलीभाँति पालन करता हुआ ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। व्यवहार में परमार्थ के प्रयोग की यही अद्भुत कला गीता में बतलाई हुई है। अधिकारि-भेद से परमात्मा की प्राप्ति के लिए, इस प्रकार की दो निष्ठाओं का प्रतिपादन किया गया है—ज्ञान-निष्ठा (सांख्य-योग) और योग-निष्ठा (कर्मयोग)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि अनादिकाल से भगवान को प्राप्त करने के तीन मार्ग—कर्म, उपासना और ज्ञान—कहे गये हैं, तो उस अवस्था में यदि गीता में भगवान की प्राप्ति के दो ही मार्ग (ज्ञान-निष्ठा और योग-निष्ठा) बताये गये हैं, तो उपासना (भक्तिमार्ग) छूट जाता है। परन्तु विचारपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि योग-निष्ठा एवं ज्ञान-निष्ठा के अन्तर्गत उपासना आ जाती है। जब अपने को परमात्मा से अभिन्न मानकर अपने शुद्ध स्वरूप की उपासना की जाती है तब वह ज्ञान-निष्ठा के अन्तर्गत आ जाता है; किन्तु जब मनुष्य अपने को परमात्मा से भिन्न समझकर द्वैतभाव से उपासना करता है तब वह एक प्रकार का कर्म हो जाता है और इसीलिए योग-निष्ठा के अन्तर्गत आ जाता है। यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि ज्ञान-निष्ठा हो अथवा योगनिष्ठा, सकाम कर्म के लिए किसी भी निष्ठा में स्थान नहीं है। सकाम-कर्मियों को तो भगवान ने तुच्छ बुद्धिवाला बतलाया है। (गीता २। ४२-४४; ७। २०-२३; ६। २०-२४)

गीता के विषय में गांधीजी

महात्मा गांधी ने अपने 'अनासक्ति योग' (गीता) की भूमिका में लिखा है—मनुष्य को ईश्वर-रूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शान्ति नहीं मिलती। ईश्वर-रूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन

जैसा धर्मग्रन्थों का विषय है वैसा ही 'गीता' का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची। आत्मार्थी को आत्मदर्शन का अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। यह अद्वितीय उपाय कर्मफल-त्याग है। इस मध्य-बिन्दु के चारों ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आस-पास तारामण्डलरूप में सज गये हैं। जहाँ देह है, वहाँ कर्म तो है ही। उसमें से कोई मुक्त नहीं है, तथापि देह को प्रभु का मन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादित किया है। परन्तु कर्ममात्र में कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्म-बन्धन में से अर्थात् दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीता ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—'**निष्काम कर्म से यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके अर्थात् मन, वचन और कर्म को ईश्वर में होम करके।**' पर निष्कामता कर्मफल-त्याग करने भर से नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। वह हृदय-मंथन से ही उत्पन्न होता है। इस त्याग-शक्ति को पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए।

किन्तु बिना भक्ति का ज्ञान हानिकारक है। इसलिए कहा गया है कि भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा। पर भक्ति आसान नहीं है। गीता में भक्त का लक्षण स्पष्ट शब्दों बतलाया गया है। किन्तु गीता की भक्ति बाहरी आचार-विचार नहीं है और न वह अंध-श्रद्धा ही है।

महात्माजी का विचार है कि 'गीता में बताये उपचार को—माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन को—भले ही भक्त बरतें, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है और ममता-रहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुख और शीत-उष्ण समान है, जो क्षमाशील है, जो सदा संतोषी है, जिसके निश्चित कर्म बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पित कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक-भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखनेवाला है, जिसे मानापमान समान हैं, जिसे स्तुति से आनन्द और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वही भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में सम्भव नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। साधन की पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है। गीता के मोक्ष का अर्थ परम शान्ति है।'

महात्माजी आगे कहते हैं कि—"लौकिक कल्पना में शुष्क पण्डित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नहीं रहता। उसी प्रकार लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है वाह्याचारी अर्थात् माला लेकर जप करनेवाला। सेवाकर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता। इन दोनों वर्गों को गीता ने साफ तौर से कह दिया है—कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ही ज्ञानी हुए। यदि मैं आलस्य-

रहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोकों का नाश हो जायगा। अतएव, फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो। **आशा-रहित होकर कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो—यही गीता का उपदेश है**। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह ऊपर उठता है। जो परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। अतएव कर्म-मात्र का त्याग गीता के संन्यासी को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अ-कर्मी। असली संन्यासी वही है जो सब कर्मों को करता है, परन्तु यह समझते हुए कि यह सब कार्य ईश्वर के हैं और मुझे इसके फल की जरूरत नहीं है। संन्यासी को चाहिए कि वह यह भाव त्याग दे कि कर्म करनेवाला अर्थात् कारण मैं ही हूँ। गीता में भगवान स्पष्टतया (३।७) कहते हैं कि जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त हुआ, कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के अंतर से त्याग होना चाहिए और बाहर से उसे काम करना चाहिए; क्योंकि त्याग से ही अध्यात्म-जीवन बनता है। **त्याग ही हमारी कामधेनु गौ है**। इस संसार में भी संसार की सारी वस्तुओं का आनन्द हमको तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उनको त्याग सकें।

सच्चा तपस्वी

भगवान ने गीता (१७।१४-१६) में तपस्वी के लक्षण देते हुए कहा है—'हे अर्जुन! देवता, ब्राह्मण, गुरु, अपने से बड़े और ज्ञानी का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन ही शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है। मन की प्रसन्नता, शान्तिपूर्वक भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भली-भाँति पवित्रता—यही मन की तपस्या कही जाती है। किन्तु जो पुरुष दम्भ और अहङ्कार में पड़कर काम और राग के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते हैं वे मूढ़ न केवल शरीरधारी प्राणियों को ही, वरन् शरीर में रहनेवाले परमात्मा को भी कष्ट देते हैं और वे अविवेकी तथा आसुरी स्वभाववाले हैं (१७।१६)। आगे भगवान कहते हैं कि योग और तप न बहुत खानेवाले का और न एकदम न खानेवाले का तथा न अतिशयन करनेवाले का और न अत्यन्त जागनेवाले का ही सिद्ध होता है। यह दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले का और यथायोग्य कर्मों में तत्पर रहनेवाले का एवं यथायोग्य शयन करने तथा जागनेवाले का ही सिद्ध होता है (६।१६-१७)। इस प्रकार गीता में सब जगहों पर समविचार को ही श्रेष्ठ माना है। इससे बुद्ध का मध्यम मार्गवाला सिद्धान्त आश्चर्यजनक समानता रखता है।

गीता के विषय में योगी अरविन्द

योगी अरविन्द लिखते हैं—"वेदों में जो बलिदान लिखा है, गीता उसको मानती है; पर उसका ढंग बदल दिया है—उसका आध्यात्मिक अर्थ लगाकर सबके लिए स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार से वर्ण भी गीता में माने गये हैं; किन्तु उनका ढंग आध्यात्मिक हो गया है। गीता के वर्ण-विभाग का अर्थ यह है कि मनुष्य के बाहरी और भीतरी (आन्तरिक)

जीवन में क्या भेद होना चाहिए अर्थात् मनुष्य के कर्म कहाँ तक ईश्वरीय नियम पर चल सकते हैं। आगे भगवान, शास्त्रविधि की मर्यादा की रक्षा करते हुए, कहते हैं कि 'जो शास्त्रविधि को त्याग कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करने लगता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न उसे सुख ही मिलता है और न उत्तम गति ही। अतएव शास्त्रविधि से नियत कर्म करना ही योग्य है' (१६।२३-२४)।"

सुतरां, गीता के अनुसार कष्टकारक योगाभ्यास करने से इस शरीर को स्वतन्त्रता (शान्ति) नहीं मिलती, या संसार को केवल त्यागने से ही कोई योगी नहीं हो सकता। इसी प्रकार शास्त्र-पद्धति को न मानने से भी छुटकारा नहीं मिलता। छुटकारा मिलता है केवल निष्काम कर्म करने से ही।

भिन्न-भिन्न देवताओं के पूजन एवं यज्ञकर्म के सम्बन्ध में भी गीता के विचार सहनशील हैं; क्योंकि गीता के मत में सब देवता उसी एक ईश्वर के अंश हैं। 'मैं उसी देवता के प्रति भक्त की श्रद्धा को स्थिर करता हूँ और वह उसी श्रद्धा से युक्त हुआ उसी देवता के पूजन की चेष्टा करता है तथा मेरे द्वारा ही उसे उन कर्मों के फल प्राप्त होते हैं (७। २१-२२) ।'

भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्ति की इच्छा करनेवाले और ज्ञानी। उनमें से जो नित्य समभावी एक को ही भजनेवाले हैं वे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं। मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

भगवान ने साकार और निराकार दोनों प्रकार की उपासना की सराहना की है। किन्तु निराकार की उपासना बड़े कष्ट से सिद्ध होती है; क्योंकि वह बहुत कठिन है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त स्वयं भगवान में विलीन हो जाय, और अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। यह स्थिति साकार की उपासना द्वारा ही सुलभ हो सकती है। इसलिए निराकार ब्रह्म की उपासना का मार्ग कष्ट-साध्य बतलाया गया है (१२। ५)।

ज्ञाननिष्ठा का साधन

अब प्रश्न उठता है कि सांख्य-(ज्ञान)-निष्ठा और योगनिष्ठा प्राप्त करने का क्या साधन है तथा प्राप्त करने पर मनुष्य कैसा हो जाता है। ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करने पर इस चराचर जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्ममय दीख पड़ता है। कर्म, कर्म के साधन एवं उपकरण तथा स्वयं कर्ता—सब-कुछ ब्रह्म ही ज्ञात होता है (४। २४)। जो कुछ दृश्य है वह मायामय, क्षणिक एवं नाशवान समझ पड़ता है (५। १७)। चर, अचर—सब ब्रह्म हैं। वह ब्रह्म मैं ही हूँ और सब मेरा ही स्वरूप है—ऐसा भासित होता है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर उसके लिए ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ भी नहीं रह जाता। वह उस विज्ञानानन्दघनस्वरूप में ही आनन्द का अनुभव करता है (५।२४, ६।२७, १८।५४)। इस अवस्था का वर्णन एक कवि ने इस प्रकार किया है—

"दिया अपनी खुदी को हमने मिटा
वह जो परदा-सा बीच में था, न रहा
रही परदे में अब न वह परदेनशीं
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।
जलवे से तेरे भर गईं इस तरह आँखें
हो कोई भी, आता है फक्त तू ही नज़र में
बेखुदी छा जाय, ऐसी दिल से मिट जाय खुदी
उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है।"

इस प्रकार की स्थिति प्राप्त करने के लिए भगवान ने गीता में अनेक युक्तियों से साधक को जगह-जगह यह समझाया है कि आत्मा ही द्रष्टा, साक्षी, चेतन और नित्य है तथा यह देहादि समस्त दृश्यवर्ग, अनित्य होने से असत् है। केवल आत्मा ही सत् है। इस बात की पुष्टि के लिए भगवान ने दूसरे अध्याय के ग्यारहवें से तीसवें श्लोक तक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निराकार, निर्विकार, अक्रिय एवं गुणातीत आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। अभेद-रूप से साधन करनेवाले पुरुष को, आत्मा का स्वरूप ऐसा ही मानकर साधन करने से, आत्मा का साक्षात्कार होता है (५।८-९, १४।१९); न वह कुछ करता है और न वह करवाता है। ऐसा समझकर वह नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है (५।१३)।

योग-निष्ठा के प्रकार

योग-निष्ठा के तीन मुख्य भेद हैं—

(१) कर्मप्रधान योग, (२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग, और (३) भक्ति-प्रधान कर्मयोग।

(१) समस्त कर्मों में, सांसारिक पदार्थों में, फल और आसक्ति का सर्वथा त्याग करके अपने वर्णाश्रमानुसार शास्त्र-विहित कर्म करते रहना ही कर्म-प्रधान योग है (५।१२; ६।१; १२।११; १८।११)।

(२) सारे संसार में परमेश्वर को व्याप्त समझते हुए, अपने-अपने वर्णोचित कर्म के द्वारा, भगवान की पूजा करते रहने को भक्ति-मिश्रित कर्मयोग कहते हैं (१८।४६)।

(३) समस्त कर्मों में ममता, आसक्ति और फलेच्छा का त्याग कर, तथा 'यह सब-कुछ भगवान का है, मैं भी भगवान का हूँ, मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान के हैं, भगवान ही कठपुतली की भाँति मुझसे सब-कुछ करवा रहे हैं'—ऐसा समझते हुए, भगवान के आज्ञानुसार, भगवान को ही प्रसन्नता के लिए जो शास्त्रविहित कर्म किया जाता है उसे भक्तिप्रधान कर्मयोग कहते हैं (३।३०; १२।६; १८।५७-६६)।

ज्ञान तथा योग

अब प्रश्न यह उठता है कि योग-निष्ठा स्वतन्त्ररूप से भगवत प्राप्ति करा देती है या ज्ञाननिष्ठा। इसका उत्तर यह है कि गीता को दोनों ही बातें मान्य हैं। अर्थात् वह योग-निष्ठा को भगवत्-प्राप्ति अर्थात् मोक्ष का स्वतन्त्र साधन भी मानती है और ज्ञाननिष्ठा

का सहायक भी। साधक चाहे तो बिना ज्ञान-निष्ठा की सहायता के सीधे ही कर्म-योग से परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है, अथवा कर्मयोग द्वारा ज्ञान-निष्ठा को प्राप्त कर फिर ज्ञान-निष्ठा द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। दोनों में कौन-सा मार्ग वह ग्रहण करे, इस बात को भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—मूर्ख लोग कहते हैं कि ज्ञान-निष्ठा और योग-निष्ठा भिन्न-भिन्न हैं। किसी भी एक मार्ग का भली-भाँति अवलम्बन करने से दोनों का फल मिल जाता है। जिस स्थान में ज्ञाननिष्ठ पहुँचते हैं वहीं योगनिष्ठ भी (५।४५;१३।२४)। भगवान में चित्त लगाकर भगवान के लिए ही कर्म करनेवाले को, भगवान की ही कृपा से, भगवान मिल जाते हैं। यह बात भी जगह-जगह भगवान ने कही है।

इसी प्रकार, निष्काम कर्म और उपासना—दोनों ही ज्ञान-निष्ठा के अंग बन सकते हैं (५।६; १४।२६); किन्तु ज्ञान-योग में अभेद उपासना है। इसलिए ज्ञान-निष्ठा, भेद-उपासना-रूप भक्तियोग का, योगनिष्ठा का, अंग नहीं बन सकती। यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञान-निष्ठा के साधक की रुचि अथवा मन आगे चलकर बदल जाय और वह ज्ञान-निष्ठा को त्यागकर योगनिष्ठा पकड़ ले, और उसे योग-निष्ठा द्वारा ही भगवत्-प्राप्ति हो।

अधिकारि-चर्चा

अब प्रश्न यह है कि गीतोक्त ज्ञान-योग और कर्मयोग के अधिकारी कौन हैं? भगवान ने मनुष्य-मात्र को उसका अधिकारी बताया है (५।१३)। भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मनुष्य-मात्र शास्त्र-विहित अपने-अपने कर्मों द्वारा सर्वव्यापी परमेश्वर की पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है (१८।४६)। इसी प्रकार, भक्ति के लिए भगवान ने स्त्री, शूद्र तथा पापयोनि तक को अधिकारी बतलाया है (९।३२)। जहाँ कहीं भगवान् ने किसी भी साधना का उपदेश दिया है वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि यह साधना करने का अधिकार किसी भी खास वर्ण, आश्रम या जाति का ही है, दूसरे को नहीं। यहाँ तक कि सांख्य-(ज्ञान)-योग का अधिकार संन्यासी एवं गृहस्थ सभी को समानरूप से दिया है। अतएव 'गीता' सभी वर्गों और आश्रमों के लिए है।

गति के प्रकार

गीता में जीवों के गुण एवं कर्म के अनुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन गतियाँ बतलाई गई हैं (८।२४)। उनमें जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं उनकी भी गति का वर्णन किया है (६।४०–४५)। वहाँ यह बतलाया गया है कि मरने के बाद वे (योगभ्रष्ट) स्वर्गादि लोकों को प्राप्त तो करते हैं; पर सुदीर्घकाल तक उन दिव्य लोकों के सुख भोग कर पवित्र आचरणवाले श्रीमन्तों के घर में जन्म लेते हैं, अथवा स्वर्ग में न जाकर सीधे योगियों के कुल में जन्मते हैं और वहाँ पूर्व-संस्कार अथवा पूर्व-अभ्यास के कारण पुनः योगसाधन में प्रवृत्त होकर परमगति को प्राप्त करते हैं।

सकामभाव से विहित कर्म एवं उपासना करनेवालों की गति का वर्णन नवें अध्याय के बीसवें और इक्कीसवें श्लोक में किया गया है—'वहाँ स्वर्ग के भोगों की प्राप्ति तथा पुण्य के क्षय हो जाने पर उनके पुनः मर्त्यलोक में प्रत्यावर्तित होने की बात कही गई है।

वे लोग किस मार्ग से तथा किस तरह स्वर्ग को जाते हैं; इसकी प्रक्रिया भी बतलाई गई है (८। २५)।

आगे सभी पुरुषों की गति संक्षेप में बतलाई गई है। सत्त्वगुण की बुद्धिवाले मरने पर उत्तमलोक को जाते हैं। रजोगुणवाले मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और तमोगुणवाले पशु-पक्षी, कीट-पतंग होते हैं।

भगवान ने वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) को अपना स्वरूप बतलाकर उसके प्रति बहुत आदर-भाव व्यक्त किया है (९। १७)। कहा है, परमात्मा की प्राप्ति के अनेक साधन वेदों में बतलाये गये हैं (४। ३२); किन्तु वेदत्रयी-धर्म का आश्रय लेकर सकाम कर्म करनेवाले पुरुष बराबर जन्मते-मरते रहते हैं, आवागमन के चक्कर से नहीं छूटते (९। २१)। गीता में भगवान ने वेदों की निन्दा नहीं की है, सिर्फ सकामभाव की अपेक्षा निष्कामभाव को अधिक महत्त्व दिया है और ईश्वर-प्राप्ति के लिए उसे (निष्कामता को) आवश्यक बतलाया है।

निष्कर्ष

सुतरां, गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय करके दिखला दिया गया है कि योगनिष्ठा द्वारा स्थित-प्रज्ञ को जो अवस्था प्राप्त होती है, और ज्ञाननिष्ठा द्वारा जीवन्मुक्त (गुणातीत) को जो अवस्था प्राप्त होती है, उनमें भेद नहीं है। दोनों में किसी भी अवस्था को प्राप्त करने पर साधक के लिए कोई कर्म अथवा अकर्म नहीं रह जाता; किन्तु वे 'लोक-संग्रह' के लिए कर्म करते हैं; वे अपने आचरण से जिसे प्रमाण बनाते हैं उसका लोग अनुसरण करते हैं। भगवान् कहते हैं—'हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने को नहीं है, कोई पाने योग्य वस्तु न पाई हो—ऐसा भी नहीं है, तब भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ। यदि मैं सावधान हो कर्मों में न लगूँ तो बड़ी हानि होगी; क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्ति-रहित पुरुष भी लोक-संग्रह के लिए उसी प्रकार कर्म करे। अतएव परमात्मा के स्वरूप में अटल होकर स्थितप्रज्ञ अथवा गुणातीत को चाहिए कि समस्त विहित कर्मों को भलीभाँति करता हुआ अज्ञानी जनों के सम्मुख कर्म का आदर्श उपस्थित करे।

इस प्रकार भगवद्गीता समस्त महाभारत ग्रन्थ का मन्थन करके निकाला हुआ अमृत है, यों तो सभी उपनिषदों का सार-तत्त्व उसमें संकलित हो गया है। उसमें महाभारत का सबसे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान भरा हुआ है। संस्कृत-भाषा के सम्पूर्ण साहित्य में, भाषा की दृष्टि से, भगवद्गीता की समानता करनेवाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। सरलता, शब्द-रचना की विलक्षणता, वाक्यों की श्रुतिमनोहरता, गम्भीर ध्वनि आदि उसकी भाषा के अद्वितीय गुण हैं। इस सर्वोत्तम गीताग्रन्थ का प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य सुवर्णमय है; क्योंकि वे सचमुच सुवर्ण के समान ही छोटे, वजनदार और तेजस्वी हैं।*

---

* श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य—'महाभारत मीमांसा' (पृष्ठ—४०)

पाँचवाँ परिच्छेद

यहूदी-धर्म

बाइबिल के दो खंड हैं। एक है पुरातन सुसमाचार (Old Tesament) तथा दूसरा है नूतन सुसमाचार (New Testament)। इसमें प्रथम भाग समग्र ग्रन्थ का तीन-चौथाई भाग है तथा यहूदी धर्म का मूल ग्रन्थ है। इसमें तीन भाग हैं—(१) व्यवस्था (Laws), (२) भविष्यवक्ता (Prophets) (३) पवित्र लेख (Sacred writings)। इन तीनों के भीतर आजकल ३९ ग्रन्थ (परिच्छेद) हैं, परन्तु मूल यहूदी बाइबिल में केवल २४ ग्रन्थ थे। नूतन सुसमाचार ईसाइयों का धर्मग्रन्थ है। इसमें २६ ग्रन्थ हैं।

साहित्य की दृष्टि से बाइबिल में सभी पुस्तकें समान महत्त्व की हैं। साधारण पाठकों को बाइबिल से जो आन्तरिक प्रेरणा मिलती है उसका मूल स्रोत घटनात्मक गाथाओं, जीवन-कथाओं तथा ईश्वरीय सन्देश-वाहक वाक्यों में ही है।

बाइबिल से हमें मानवजाति के इतिहास तथा उसके धार्मिक विकास का विवरण शुष्क और गूढ़ भाषा में मिलता है। इस गूढ़ता का कारण है प्रसंगों का सांकेतिक भाषा [सूत्ररूप] में वर्णन।

विषय-प्रतिपादन

पूर्व भाग की प्रथम पुस्तक जेनेसिस (उत्पत्ति) है। इसके पहले अध्याय में सृष्टि का वर्णन है। दूसरे में मनुष्य की उत्पत्ति की कहानी है। तीसरे में, शैतान के बहकावे में आकर, ईश्वर की स्पष्ट आज्ञा की अवहेलना करने के कारण, प्रथम मानव 'आदम' और उसकी स्त्री 'ईव' (हौवा) के स्वर्ग से पतन की कथा है। इसी कथा का विस्तार अंग्रेजी के विख्यात कवि मिलटन ने अपने अमर काव्य 'पाराडाइज लौस्ट' में किया है। जेनेसिस के शेष अध्यायों में नोह, अब्राहम, इसाक, जैकब और जोसेफ के जीवन का रोचक वर्णन है।

यहूदियों के आदि आचार्य

एकजोडस पूर्व भाग की द्वितीय पुस्तक है। इसमें यहूदियों के आदि-आचार्य 'मूसा' (मोसेज) की कथा है। इसराइल का इतिहास भी इसमें सम्बद्ध है। इसी प्रसंग का वर्णन

लेविटिकूस, नम्बर्स, ड्यूटरोनामी आदि पुस्तकों में है। मूसा ने यहूदियों के लिए अनेक कानून बनवाये। ये कानून बोधगम्य एवं पठनीय हैं। साहित्य की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनके कारण पूर्व भाग के नीरस प्रसंगों में भी, सरसता और सजीवता आ गई है।

'जोसुआ' नामक पुस्तक में मूसा के पुत्र जोसुआ की विजय-गाथा का वर्णन है। देशद्रोही वेश्या राहाव के विश्वासघात के परिणाम-स्वरूप जोसुआ को अभूतपूर्व सफलता मिली और नगर पर कब्जा हो गया। इसके अनन्तर 'बुक आफ जजेज' का क्रम आता है। इन पुस्तकों में हमें वीररमणी :'डेबोराह' का वर्णन मिलता है। इसकी तुलना भारतीय वीरांगना 'झाँसी की रानी' से की जा सकती है। इसके बाद रुथ की पुस्तक आती है। इस पुस्तक में यहूदी स्त्रियों के सामाजिक अधिकारों के तथा उत्तराधिकार के नियम हैं। इसमें वर्णित महिलाओं का जीवनचरित्र सरस, मार्मिक तथा पठनीय है। जन्मभूमि की स्मृति की भावना का सजीव चित्र इसमें है। सैमुएल और राजाओं की गाथा में यहूदी-साम्राज्य के गौरवशाली दिनों की कथा का विस्तृत वर्णन है। क्रोनिकल (इतिहास) की पुस्तकों में सर्वप्रथम 'डेविड' की कथा है। डेविड की गणना पूर्व पुस्तक के मुख्य चरित्रों में है, इस पुस्तक में प्रसिद्ध राजा सुलेमान के भाँति-भाँति के चरित्रों का वर्णन है और साथ-साथ मन्दिर-निर्माण की भी कथा है।

डेविड और उसके पुत्र सुलेमान की कथा बाइबिल-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यहूदियों के गौरवशाली राज्य के विस्तार का इतिहास सुलेमान की कथा ही है। इजरा और नेहमिया पुस्तकों में बेबिलोन से यहूदियों के पुनरागमन और यरुसलेम के पुनर्निर्माण की कथा है। इन पुस्तकों में वर्णन किया गया है कि किस कौशल से ईरानी बादशाह की यहूदी रानी सर्वनाश से यहूदियों की रक्षा कर सकी। इसके बाद जौब (अयूब) पुस्तक आती है। इसमें जूडिथ की कहानी उत्तेजना और कुतूहल से पूर्ण है। बाद में 'साम' (भजन) नामक पुस्तक है। तत्पश्चात् प्रोवर्ब (नीतिवचन-सम्बन्धी) पुस्तक है। यह आचार-सम्बन्धी उपदेश का खजाना है। यह सभी धर्मों और जातियों के लिए समानरूप से पठनीय एवं मान्य है। इकलेसियास्ट (सभोपदेश) पुस्तक भी सुन्दर उपदेशों से भरी है।

'सुलेमान के गान'(श्रेष्ठ गीत) नामक पुस्तक का एक-एक गीत भावपूर्ण और निर्गुण-परक है। उदाहरणार्थ, इसके तीसरे अध्याय में ईश्वर में लीन महिला कहती है—"रात के समय मैं अपने पलँग पर अपने प्राणप्रिय को ढूँढ़ती रही। उसे ढूँढ़ती तो रही; पर पा न सकी। मैं उठकर नगर की सड़कों और चौकों में घूमकर अपने प्राणप्रिय को ढूँढ़ती रही, पर वहाँ भी न पा सकी। जो चौकीदार नगर में घूमते हैं, वे मुझे मिले। उनसे मैंने पूछा, क्या तुमने मेरे प्राणप्रिय को देखा है? अन्त में प्राणप्रिय मुझे मिला। मैं उसे अपने घर ले आई। फिर उसे जाने न दिया। इसलिए, हे यरुसलेम की स्त्रियाँ, मैं तुम लोगों से कहती हूँ कि जबतक प्रेम आप-से-आप न उठे तबतक उसको न उकसाओ—न जगाओ।" इस तरह एक-एक गीत यद्यपि देखने में प्रेमी और प्रेमिका की विरहगाथा है तथापि है ईश्वरपरक और पूर्णतया निर्गुणात्मक।

इन निर्गुण-गीतों के बाद इसाइयाह पुस्तक आती है, जिसमें भविष्यवाणियों का खजाना है। यह संसार में ईश्वर के राज्य (Kingdom of Heaven) के पुनः स्थापित होने की सूचना देती है। जारमिया तथा लैमेण्टेशन (विलाप-गीत) और इजकेल नामक पुस्तकों के बाद दानियल की किताब आती है। दानियल संसार-प्रसिद्ध राजा हो गया है। इसकी न्याय-परायणता अपूर्व थी। इसकी पुस्तक में यरुसलेम के भविष्य के विषय में यह कहा है कि यरुसलेम के फिर बसने की आज्ञा के निकलने से लेकर अभिषिक्त प्रधान के समय तक सात सत्ते बीतेंगे और बासठ सत्तों के बीतने पर चौक तथा खाई-समेत वह नगर फिर से बसाया जायगा, उन बासठ सत्तों के बीतने पर अभिषिक्त पुरुष का नाश होगा—उसके हाथ कुछ न लगेगा, आनेवाली प्रजा नगर और पवित्र स्थान का नाश तो करेगी, पर उस प्रधान का नाश वैसे ही होगा जैसे बाढ़ से बस्तियाँ बरबाद होती हैं, अन्त तक लड़ाई होती रहेगी; इस नगर का उजड़ जाना अवश्यम्भावी है।

दानियल के बाद होशे, योयल, अमोस आदि बारह पुस्तकें हैं। जिस प्रकार अधर्म का प्रचार और धर्म की ग्लानि होने पर, पीड़ित जनता की प्रार्थना से, समय समय पर, धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश करने के लिए, भिन्न-भिन्न जाति और देश में, अवतार, नबी या पैगम्बर के रूप में, भगवान का आगमन होता आया है, उसी प्रकार भगवान के प्रादुर्भाव के लिए, हबक्कूक के प्रथम अध्याय में प्रार्थना की गई है—"हे मेरे परमेश्वर यहोवा ! मेरे पवित्र ईश्वर ! क्या तुम अनादिकाल से नहीं हो ? तुम तो ऐसे शुद्ध हो कि बुराई को देख नहीं सकते, उत्पात को देखकर चुप रह नहीं सकते। फिर तुम विश्वास-घातियों को क्यों देखते रहते हो और क्यों चुप रहते हो ? तुम क्यों मनुष्यों को समुद्र की मछलियों तथा रेंगनेवाले जीवों के समान—जिनका कोई राजा नहीं होता—बना देते हो ?"

अन्तिम पुस्तक 'मलाची' के तीसरे अध्याय में मलाची के मुख से ईश्वर कहता है—"सुनो, मैं अपने दूत को भेजता हूँ, वह मार्ग को मेरे आगे सुधारेगा, जिस प्रभु को तुम ढूँढ़ते हो वह अचानक अपने मन्दिर में आयेगा, पर उसके आने का दिन कौन कह सकेगा ? और, जब वह दिखाई देगा तब कौन खड़ा रह सकेगा ? क्योंकि वह सोनार की आग और धोबी के साबुन के सदृश है। मैं न्याय करने को तुम्हारे निकट आऊँगा। व्यभिचारियों और झूठी शपथ खानेवालों के विरुद्ध न्याय करूँगा। जो मजदूरों की मजदूरी हड़प जाते हैं, जो विधवा तथा अनाथ पर अत्याचार करते हैं, जो परदेशी पर अन्याय करते हैं और मेरा भय नहीं मानते, उनको दण्ड मिलेगा।" आगे चलकर, अन्तिम अध्याय में, भगवान कहते हैं कि सुनो, धधकते भट्ठे का दिन आता है जब अभिमानी और दुराचारी उसमें भस्म हो जायँगे—उनका पता तक न रह जायगा।

यहूदी धर्म के अनुयायियों की संख्या आज बहुत ही थोड़ी है; किन्तु संसार के दो प्रधान धर्म—'ईसाई' और 'इस्लाम'—उसीसे निकले हैं। हिटलर के शासन-काल में अनेक यहूदी मारे गये। यद्यपि आज फिलस्तीन के कारण यहूदियों एवं मुसलमानों में भीषण संघर्ष चल रहा है तथापि मुसलमान यह स्वीकार करते हैं, और कुरान में भी स्पष्ट उल्लेख है, कि उनके धर्म का मूल उद्गमस्थल यहूदी-मत है। मुसलमान

यहूदी-धर्म के प्रवर्तक हजरत मूसा को, और यहूदियों की पुरानी धर्म-पुस्तक (Old Testament) के भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों को, ईश्वर के भेजे हुए दूत (पैगम्बर) मानते हैं।

संक्षिप्त इतिहास

जल-प्रलय के बाद यहूदी जाति के कुछ लोग मिस्र देश में आ बसे। यहूदियों का सम्पर्क, चाल्डी सभ्यता से, बहुत दिनों से था। इसी कारण उनमें भी स्वप्न-विद्या का अच्छा प्रचार था। असीरिया तथा बैबिलोनिया का संयुक्त नाम चाल्डिया है। सुमेरी सभ्यता के अनन्तर चाल्डिया-सभ्यता का उल्लेख आता है। चाल्डी-सभ्यता के विद्वानों में ज्योतिष का विशेषरूप से प्रचार था। उस समय के महात्माओं का व्यक्तिगत वृत्तान्त तो ठीक-ठीक मिलता नहीं; किन्तु बाइबिल का पूर्वार्ध देखने से ज्ञात होता है कि इन लोगों में स्वप्न-विद्या का अच्छा प्रचार था। कई प्रसिद्ध स्वप्नों के फलादेश का वर्णन बाइबिल में मिलता है। इनमें इतनी सामर्थ्य थी कि स्वप्न का विस्तृत विवरण देकर उसका फल बतला सकते थे। इसी स्वप्न-विद्या के कारण यहूदियों के नेता जैकब के कनिष्ठ पुत्र यूसुफ का मिस्रदेश में सिर्फ सत्कार ही नहीं हुआ, बल्कि वह वहाँ का सर्वेसर्वा हो गया—वह अपने प्रबन्ध-कौशल से, सप्तवर्षीय अकाल से, मिस्रनिवासियों की रक्षा करने के कारण, जनप्रिय बन गया। उसने अपने पिता जेकब (याकूब) एवं भाइयों को अन्य यहूदियों के साथ मिस्र में बुला लिया। वहाँ कुछ काल तक यहूदी फूले-फले। इस घटना का विस्तृत वर्णन बाइबिल के पूर्वार्ध की 'जेनेसिस' नामक प्रथम पुस्तक में दिया हुआ है। कालान्तर में मिस्र का फराओ (राजा) यहूदियों से असंतुष्ट हो गया। वह उन्हें तरह-तरह के कष्ट देकर उनकी संख्या-वृद्धि रोकने का असफल प्रयत्न करता रहा। किन्तु, अन्त में जब सफल-मनोरथ न हो सका, तब उसने आज्ञा दी कि यहूदी स्त्री के गर्भ से होनेवाले प्रत्येक बालक की—बालिकाओं की नहीं—हत्या तत्काल कर दी जाय।

हजरत मूसा

इसी समय यहूदियों के परमार्थी महात्मा मूसा (Moses) का जन्म हुआ। मूसा भागकर मिडिया देश में चले गये। वहाँ अपना विवाह करके रहने लगे। एक दिन वे अपने श्वसुर की भेड़ों को चराते हुए पहाड़ पर पहुँचे। वहाँ उनको ज्योतिर्लिङ्ग (अग्नि-स्तम्भ) के रूप में भगवान के दर्शन हुए। भगवान ने उनको यहूदियों के भविष्य के विषय में आदेश किया, उनकी लाठी में शक्ति दी जिसकी सहायता से वे, अनेकानेक आश्चर्यों के प्रदर्शन के उपरान्त, यहूदियों को मिस्र देश से निकालकर, लालसागर के पूर्व की ओर लाने में समर्थ हुए। यहाँ सिनाई पर्वत के शिखर पर मूसा को पुनः भगवान के दर्शन हुए। भगवान ने यहूदियों के लिए न्याय एवं कर्त्तव्यशास्त्र-सम्बन्धी जो आज्ञा दी वह दूसरी पुस्तक 'एकसोडस' (निर्गमन) के बीसवें अध्याय में स्पष्टतया वर्णित है।

तत्पश्चात् मूसा ने भगवान की आज्ञा का प्रचार किया, भगवान की उपासना के लिए मन्दिर के निर्माण की सांगोपांग विधि का वर्णन किया; कहा—"ईश्वर की ओर से आज्ञा हुई है कि मैं उसके बताये हुए धर्म की स्थापना करूँ। अतः जो ईश्वर का सन्देश नहीं मानेगा, वह दोषी होगा।"

ईश्वर की आज्ञा विस्तार-पूर्वक तृतीय, चतुर्थ और पंचम पुस्तक—लैव्यवस्था (Levitiens), गिनती (numbers) और व्यवस्था (डिन्युटेरोमनी)—में उल्लिखित है। यहूदी-धर्म के तत्त्व जानने के लिए ये सर्वथा पठनीय हैं।

मूसा, जोशुआ को उत्तराधिकारी छोड़कर, १२० वर्ष की आयु में मरे। जोशुआ ने तीन आश्चर्यजनक कार्य किये—इसरायल की जनता को, बिना पैर भींगे ही जोर्डेडन नदी पार कराई; सिर्फ रणवाद्यों द्वारा जेरिको नगर पर अपना अधिकार स्थापित किया और सूर्य-चन्द्र की गति को अवरुद्ध किया। इन घटनाओं का मनोरंजक वर्णन जोशुआ नामक पुस्तक में है।

सुलेमान

मूसा के बहुत दिनों बाद यहूदियों में सुलेमान (Soloman) नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ। वह बड़ा बुद्धिमान, न्यायपरायण तथा धार्मिक राजा था। कालान्तर में बेबिलन के राजा नबूकनजर ने यहूदियों को परास्त करके उनकी संस्कृति को तहस-नहस कर डाला। अधिकांश यहूदियो को कैद करके दासरूप में, ५८७ ई० पू०, अपने देश में ले गया। इसके बाद जब फारस का राजा साइरस (खोरस) ने बेबिलन को जीता तब उनमें से अधिकांश मुक्त होकर अपने देश लौट आये। इस निर्वासन काल में यहूदियों के अनेक भविष्यवक्ता हुए। इनके नाम हैं—(१) होसिया, (२) अमोस, (३) ईसाइया, (४) माइकर, (५) नाहम, (६) जेफानिया, (७) हवाकूक, (८) जैरमिया, (९) एज्जैकियल, (१०) दानियल, (११) हग्गाई, (१२) जेकरिया, (१३) मलाखी, (१४) जोयल और (१५) ओवादिया। इन समस्त भविष्य-वक्ताओं के नाम पर, बाइबिल के पूर्वार्ध की भिन्न-भिन्न पुस्तकें हैं। इनमें 'दानियल' बहुत प्रसिद्ध है। बाइबिल के २७ वें पत्र अर्थात् पुस्तक का नाम दानियल है। इसमें इनकी अलौकिक शक्ति का पठनीय वर्णन है।

यहूदी आज अमेरिका और रूस में प्रभावशाली हैं। अन्य स्थानों से इन दो देशों में उनकी अधिक संख्या है। इसी प्रभाव के कारण इन दो देशों ने नवनिर्मित यहूदी-राज्य को स्वीकार कर लिया है। भारतवर्ष में इनकी संख्या १८०००के लगभग है। बृटिश शासन का जब से आरम्भ हुआ तब से ये लोग यहाँ व्यापारार्थ आ बसे। इनकी एक शाखा को वेनी इसरायल कहते हैं। उनका मूल पुरुष ६१४ ई० में अरबिस्तान से भारत आया। नवग्राम के निकट, समुद्र में तूफान उठने के कारण, जहाज नष्ट हो गया। उनमें से केवल ७ पुरुष और ७ स्त्रियाँ जीवित बचीं। इनकी सन्तति की संख्या बहुत बढ़ गई। आज भी कोंकण (महाराष्ट्र) के अनेक ग्रामों में ये लोग बसे हुए हैं। उनका

रहन-सहन हिन्दुओं की तरह है। उनके बच्चों के नाम—हिन्दू और हेब्रू—दोनों रखे जाते हैं।

इस धर्म के अनुसार 'अब्राहम' ईश्वर के प्रथम दूत (पैगम्बर) थे। आप महात्मा यूसुफ (Joseph) के दादा थे। आपने ही ईश्वर की आज्ञा से 'खतना' (Circumsation) का नियम प्रचलित कराया और बुढ़ापे में अपना भी खतना कराया। इस रिवाज को मुसलमानों ने भी स्वीकार किया। उनके यहाँ अब भी बच्चों का खतना धूमधाम से होता है।

यहूदी सिर्फ पूर्व पुस्तक को ही मानते हैं; किन्तु ईसाई समस्त बाइबिल को। कहा जाता है कि जब लार्ड रीडिंग भारत के वायसराय होकर आये, तब उन्हें अपने पद की शपथ लेने के लिए समस्त बाइबिल दी गई। पर जबतक उन्हें, उत्तरार्ध (New Testament) को अलग कर, सिर्फ पूर्वार्ध नहीं दिया गया, तबतक उन्होंने शपथ नहीं ली। भारत के विख्यात वायसराय श्रीमौण्टेगु साहब भी यहूदी थे।

यहूदी न्याय-दिवस (Resurrection Day), देवदूत, ईश्वर एवं शैतान के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यहूदियों का विश्वास है कि न्याय के दिन हरएक मनुष्य के कार्य की जाँच होगी और पुनरुत्थान के बाद मनुष्य को नरक के पुल से गुजरना पड़ेगा।

यहूदी-मत के मान्य सिद्धान्त

(१) यहूदियों का विश्वास है कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा तीन दिन तक शरीर के चारों ओर चक्कर काटती है; क्योंकि वह मोहवश शरीर छोड़ना नहीं चाहती।

(२) यहूदियों के मत के अनुसार भगवान के हाथ में वर्षा, जीवन और मृत्यु से सम्बन्ध रखनेवाली तीन कुञ्जियाँ हैं जिन्हें ईश्वर दूसरे को नहीं देता।

(३) ईश्वर का एकत्व, ईश्वर की पवित्रता एवं निराकारता—इस धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं।

(४) ईश्वर सारे संसार का रचयिता है। वह दयावान है। उससे अन्याय सम्भव नहीं, सारी सृष्टि का वह पिता है।

(५) यहूदी सन्तों ने पश्चात्ताप के प्रभाव पर बहुत जोर दिया है। कहा है, अन्तिमकाल के पश्चात्ताप पर मनुष्य का भाग्य निर्भर रहता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है तथा ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसपर पश्चात्ताप के अश्रु का प्रभाव न पड़े।

(६) यहूदियों की प्राचीन संस्कृति में यज्ञ का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। उनके यज्ञ में पशुबलि परम आवश्यक थी। इस बलिदान की प्रथा अब्राहम से आरम्भ हुई, जिन्होंने प्रतिज्ञानुसार अपने पुत्र का बलिदान देना चाहा; किन्तु भगवान ने आकर रोका

और बदले में भेड़े का बलिदान स्वीकार किया। यह कथा प्रथम पर्व जेनसिस में है और वैदिक कथा (शुनःशेप) से मिलती-जुलती है।

(७) यहूदी-धर्म में संन्यास का कोई स्थान नहीं है।

यहूदी-मत की दस मुख्य आज्ञाएँ

(१) मैं तुम्हारा ईश्वर हूँ और तुम्हें मिस्रदेश से, गुलामी के फन्दे से, निकालकर, यहाँ लाया हूँ।

(२) मेरे सिवा तुम्हारे लिए दूसरा कोई देवता न होगा। तुम न किसी प्रकार की मूर्ति बनाना और न स्वर्ग की किसी वस्तु के रूप को गढ़ना।

(३) तुम व्यर्थ ईश्वर का नाम न लेना, जो व्यर्थ ईश्वर का नाम लेगा वह निर्दोष नहीं समझा जायगा।

(४) तुम पवित्र दिन (शनिवार) को न भूलना। उस दिन तुम्हें कोई काम नहीं करना होगा। भगवान ने छः दिन काम कर सातवें दिन विश्राम किया।

(५) माता और पिता का आदर करो।

(६) हत्या न करो।

(७) व्यभिचार न करो।

(८) चोरी न करो।

(९) अपने पड़ोसी के खिलाफ झूठी गवाही न दो।

(१०) अपने पड़ोसी के मकान, स्त्री, नौकर, नौकरानी, बैल, गदहा—किसी वस्तु के प्रति लालच न करो।

महात्मा मूसा के प्रति यहूदियों की अपार श्रद्धा है। मूसा द्वारा निर्दिष्ट धर्मशास्त्र-विषयक आदेशों का उनमें बड़ा मान है। कुछ विद्वानों का मत है कि इन आदेशों में केवल यहूदी धर्म की बाह्य बातें दी गई हैं। यहूदियों में गुप्त तथा प्राचीन मौखिक रहस्य-वाद का प्रचार गुरु-शिष्य परम्परा से चला आता है। इस रहस्यवाद का नाम 'केबाला' है और इसका सम्बन्ध निश्चय ही गुप्त योग-क्रिया से है।

यहूदी-प्रार्थना

यही रसोन मिल्लेफनेख अदोनाई इलोहेनु
वेलोहे अबोथेनु
शेत्तरगिलेनु बेथोरथेखा वेथडबिकेनु
वेमिसवोथेका वियाल तिवेनु लिदे हेत।
वेलो लिडे अबरा वेलो लिडे निसायोन

वेलो लिद्दे विज्जायोन वेथारह्किेनु मियेसेर ह्राअ
-वेथदविकेनु वेयस्सेर हट्टाओव वेयेनेनु लेहेन
वेलहेसेड वेलरह्मिन।
वेनेखा वेबेने कोल रोएनु वेघोमलेनु
हसाडिनु तोविम।
वरुख अट्टा अडोनाई गोमेल हसाडिम
टोविम लेमो इसरायल। आमीन।

भावार्थ—ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमलोगों में आपकी आज्ञा और नियम के अनुसार चलने की क्षमता हो, हमलोग पाप न करें, लोभ में न पड़ें। हमलोगों का अपमान न हो। सब प्रकार की बुराई को हम से दूर कीजिए। हमें अपनी कृपा का पात्र बनाइए। भगवान, आप धन्य हैं कि आपकी कृपा इसराइलों पर है। एवमस्तु।

तीसरा खंड

पहला परिच्छेद

उपवेद

चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र वेदानामुपवेदाश्चत्वारो भवन्ति। ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः सामवेदस्य गन्धर्ववेदः अथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः स्कन्दो वा।

अर्थात्—वेदों के चार उपवेद हैं—ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र है। किन्तु सुश्रुत का कथन है कि **"इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य"**।[1] अथर्ववेद में चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक बातें दी गई हैं, जिनके आधार पर आयुर्वेद-ग्रन्थों की रचना प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्र को ही ऋग्वेद का उपवेद ठहराना उचित और युक्तिसंगत है।

अर्थशास्त्र पर आजकल वैदिक काल का, अथवा शुद्ध वैदिक साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाला कोई ग्रन्थ देख नहीं पड़ता। इसके सम्बन्ध में २८ प्रचलित स्मृतिग्रन्थ समझे जाने चाहिए; क्योंकि अर्थशास्त्र के विषयों पर थोड़ा-बहुत सबने लिखा है। तो भी 'शुक्रनीति' और 'कामन्दकीय नीतिसार' में अधिक विस्तार है। यह निर्विवाद है कि अर्थशास्त्र व्यापक नाम है और इसके अन्तर्गत समाज-शास्त्र, सम्पत्ति-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र एवं एवं नीतिशास्त्र का समावेश है। स्मृतियों के अतिरिक्त इस विषय का ग्रन्थ २७ हजार श्लोकों की दण्डनीति है। इस विषय का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ चाणक्य का अर्थशास्त्र है, जो 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' के नाम से विख्यात है। यह चन्द्रगुप्त मौर्य के सुप्रसिद्ध मंत्री चाणक्य की रचना है। चाणक्य का दूसरा नाम कौटिल्य भी था। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना ईसवी-सन्-पूर्व तीसरी शताब्दी में हुई। यह ग्रन्थ

१ सुश्रुत—सूत्रस्थान, अध्याय १

बृहत्काय है। इसमें १५ अधिकरण और १८० प्रकरण हैं। इन प्रकरणों के बीच में भी अध्याय हैं। यह ग्रन्थ गद्य में है; परन्तु स्थान-स्थान पर श्लोक भी दिये गये हैं।

प्रथम अधिकरण में राजा की शिक्षा का विषय है। वेद, वेदाङ्ग, सांख्य, योग तथा लोकायतशास्त्र के अध्ययन के साथ-साथ दण्डनीति का अध्ययन अनिवार्य कहा है। राजा की सभा और मंत्रियों के वर्णन के अनन्तर गुप्तचरों का विशद वर्णन है। द्वितीय में भिन्न-भिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्षों का रोचक विवरण है। तृतीय में कानून की चर्चा है। चतुर्थ में अपराधियों को पुलिस के द्वारा दण्ड दिये जाने का वर्णन है। पञ्चम में मंत्रियों तथा परिषद् से विरोध होने पर राजा के आचरण का विधान है। इसी प्रसंग में राजा के मन्त्रियों तथा अन्य कर्मचारियों के वेतन का परिमाण निर्दिष्ट है। छठे में सात प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन है। सप्तम में युद्ध के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। अष्टम में मृगया, द्यूत, कामिनी तथा सुरा में राजा के आसक्त होने पर देश में आनेवाली विपत्तियों का वर्णन है। नवम और दशम का विषय युद्ध है। ग्यारहवें में शत्रुपक्ष में भेद उत्पन्न करने के लिए किये जाने योग्य उपायों का मार्मिक विवरण है—गुप्तचरों द्वारा यह कार्य किया जाता था जिनमें स्त्रियाँ भी होती थीं। बारहवें में इसी का विशेष विवरण है। तेरहवें में राजा द्वारा दुर्ग पर आक्रमण तथा शत्रुओं को वश में करने की विधि एवं कला का उल्लेख है। चौदहवें में राजनीति की गुप्त बातें वर्णित हैं—शत्रु को पागल और अन्धा बनाने तथा मार डालने के नुस्खे दिये गये हैं; इन बातों के अलावा इस प्रकरण में यह भी बतलाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार अपने को अदृश्य कर सकता है, अन्धकार में देख सकता है, एक मास तक उपवास कर सकता है, आग में बिना किसी क्षति के चल सकता है—इत्यादि। अन्तिम पन्द्रहवें अधिकरण में पूरे ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है तथा ३२ प्रकार के उपयोगी राजनीतिक उपायों का विशद समीक्षण किया गया है।[1]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बृहस्पति, बाहुदन्तीपुत्र, विशालाक्ष तथा उशना अर्थशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्यों में गिने गये हैं। अर्थशास्त्र के प्रथम लेखक बृहस्पति हैं। इस विषय में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। आजकल उपलब्ध 'बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र' सूत्ररूप में है। इस शास्त्र के कतिपय मान्य ग्रन्थ ये हैं—

(१) **'शुक्रनीतिसार'**—इसमें भारत की प्राचीन राजनीति के अंगों का वर्णन बड़े ही सरल शब्दों में किया गया है।

(२) **'कामन्दकीय नीतिसार'**—सम्पूर्ण ग्रन्थ श्लोकों में है और बड़ा रोचक तथा सरस है। इसमें कहीं-कहीं कौटिल्य-अर्थशास्त्र का संक्षेप किया गया है और कहीं-कहीं विस्तार। कौटिल्य को कामन्दक अपना गुरु बताता है। बाली द्वीप की कविभाषा में भी यह ग्रन्थ अनुवाद-रूप में प्राप्य है।

(३) **'नीतिवाक्यामृत'**—इसके रचयिता सोमदेवसूरि हैं। ये कूटनीति के पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत नैतिक आचरण के पोषक हैं। ये राजा को लोकायत-दर्शनों का उपदेश देते हैं जिससे लौकिक कार्यों में उसकी प्रवृत्ति सुचारु रूप से हो।

---

१ 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार', पृष्ठ ११०—११२

(४) 'लघुअर्हन्नीति'—इसके रचयिता हेमचन्द्र हैं। हेमचन्द्र जैन थे। अतः उनकी व्यवस्था में जैनधर्म की अहिंसा स्पष्ट रूप से झलक रही है। प्राणियों की हिंसा होने के कारण वे युद्ध के नितान्त विरोधी हैं। वे विषदिग्ध बाणों के प्रयोग को युद्ध में उचित नहीं बतलाते। यह ग्रन्थ श्लोकबद्ध है।

(५) 'युक्तिकल्पतरु'—यह राजा भोज की रचना है। इसमें राजनीति के साथ-साथ अनेक भौतिक विज्ञानों का विशद विवेचन किया गया है। जैसे—भले-बुरे घोड़ों की पहचान, रत्नों की विशद परीक्षा, जहाजों की बनावट आदि। इसे ज्ञान और विज्ञान का कोष कहा जाय तो अनुचित न होगा।

(६) 'राजनीतिरत्नाकर'—इसके रचयिता मिथिला के प्रसिद्ध स्मृतिकार चण्डेश्वर हैं। इसमें राजा, अमात्य, पुरोहित आदि राज्य के महत्त्वपूर्ण अंगों का प्रामाणिक विवरण है।*

इन पुस्तकों से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज जिस प्रकार अध्यात्म-शास्त्र के चिन्तन में लीन रहते थे, उसी प्रकार लौकिक शास्त्रों के मनन तथा समीक्षण में भी कुशल थे।

यजुर्वेद के उपवेद धनुर्वेद में कोई विवाद नहीं है। इसके चार पाद माने जाते हैं—(१) मुक्त, (२) अमुक्त, (३) मुक्तामुक्त, (४) यन्त्रमुक्त। मुक्त आयुध चक्रादि हैं। अमुक्त खड्गादि हैं। मुक्तामुक्त शल्य और इसी तरह के और हथियार हैं। यन्त्रमुक्त शरादि हैं। मुक्त को अस्त्र कहते हैं, अमुक्त को शस्त्र।

वैशम्पायन का एक धनुर्वेद है जिससे जान पड़ता है कि पहलेपहल तलवार की चाल चली थी, फिर राजा पृथु के समय में धनुष का प्रचार हुआ। किन्तु राज्याश्रय के बिना बहुत काल तक धनुर्वेद का व्यवहार न होने के कारण धनुर्वेद का प्रायः लोप हो गया है।

'धनुष-प्रदीप' नामक ग्रन्थ, द्रोणाचार्य का बनाया हुआ, ७००० श्लोकों का है। इसकी रचना महाभारत-युद्ध के पहले हुई। 'धनुष-चन्द्रोदय' नामक एक दूसरा ग्रन्थ है, जिसमें ६०,००० श्लोक हैं और जिसे भगवान् परशुराम ने त्रेता में रचा था। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं।

'धनुष-प्रदीप' में धनुष और बाण बनाने के स्थूल विधान हैं। तरकस बनाने में किन-किन ओषधियों का रस-प्रयोग होता है, इसका वर्णन है। 'धनुष-चन्द्रोदय' में परमाणु से धनुष और बाण के निर्माण तथा परमाणु से ही समस्त शस्त्रों के निर्माण एवं प्रयोग की विधि लिखी है।

धनुर्विधि, द्रोणविद्या, कोदण्डमण्डन, धनुर्वेद-संहिता आदि ग्रन्थों में भी इस विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से किया गया है। शार्ङ्गधरपद्धति, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के युद्ध-वर्णन-प्रसंग से भी इस उपवेद के अनेक तथ्यों का चयन किया जा सकता है। पुराणों में भी, विशेषतः अग्निपुराण में, धनुर्वेद-विषयक कतिपय अध्याय उपलब्ध होते हैं।

---

* बिहार-रिसर्च-सोसाइटी (पटना) द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

संगीत-शास्त्र—यह सामवेद का उपवेद है। ऋग्वेद के मंत्र जब विशिष्ट पद्धति से गाये जाते हैं तब उन्हें 'साम' कहते हैं। साम का गान बड़ा ही मधुर, मनोहर तथा चित्ताकर्षक होता है। संगीत-शास्त्र की उत्पत्ति साम-गान से ही हुई।

किन्तु संगीत-शास्त्र के विकास का शृंखलाबद्ध इतिहास हमें नहीं मिलता। ऐतरेय आरण्यक में उस समय की प्रचलित वीणा का वर्णन मिलता है जो बड़ा ही मनोरंजक और तथ्यपूर्ण है।

सामगान की पद्धति बहुत ही कठिन है। उसकी ठीक-ठीक जानकारी के लिए सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। यही साम जब तीन बार गाया जाता है तब उसे 'स्तोम' कहते हैं। साम-गान के लिए स्वर को कभी दीर्घ, कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है।

भरत मुनि का ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' संगीत का प्रथम ग्रन्थ है। जितने संगीत-विषयक ग्रन्थ आजतक उपलब्ध हैं, यह उन सबमें निस्संदेह प्राचीनतम है। इसमें साथ-ही-साथ अलंकार-शास्त्र, छन्दःशास्त्र तथा संगीत-शास्त्र का भी वर्णन है। इसमें २८ से ३६ अध्याय तक संगीत का सांगोपांग वर्णन मिलता है।

भरत के अनन्तर शार्ङ्गदेव का 'संगीत-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ हमें संगीत के ज्ञान-विवर्धन के लिए उपलब्ध होता है। यह संगीत-शास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें संगीत के विभिन्न अंगों का बड़ा ही उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ पर पीछे के अनेक ग्रन्थकारों ने टीकाएँ लिखी हैं।

'संगीत-मकरन्द' नारद-रचित कहा जाता है। इस ग्रन्थ के दो मुख्य अध्याय या खण्ड हैं—(१) संगीताध्याय और (२) नृत्याध्याय। इसमें नाद की उत्पत्ति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। वाद्यों में विशेष कर मृदंग और वीणा के लक्षणों का अच्छा विवेचन है। स्वर की उत्पत्ति का प्रसंग भी बड़ा ही सुन्दर है। गायक के लक्षण तथा गीत-दोष के साथ संगीताध्याय समाप्त होता है। नृत्याध्याय में नाट्य-शाला के विशेष वर्णन के अनन्तर १०१ प्रकार के तालों का वर्णन किया गया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त—(१) रागमंजरी, (२) सद्राग-चन्द्रोदय, (३) राग-विबोध, (४) संगीत-दर्पण, (५) संगीत-पारिजात, (६) स्वरमेल-कलानिधि, (७) हृदय-प्रकाश और (८) हृदय-कौतुक—संगीत-शास्त्र के सात उपादेय ग्रन्थ हैं। संगीत-शास्त्र बड़ा ही विशाल है। परन्तु दुःख की बात है कि वह अभी तक हस्त-लिखित (अप्रकाशित) ही है।

संगीत-शास्त्र के चार आचार्य प्रसिद्ध हैं—(१) सोमेश्वर, (२) भरत, (३) हनुमान और कल्लिनाथ। आजकल हनुमान का मत प्रचलित है। हनुमत्-संगीतशास्त्र में सात अध्याय हैं—(१) स्वराध्याय, (२) रागाध्याय, (३) तालाध्याय, (४) नृत्याध्याय, (५) भावाध्याय, (६) कोकाध्याय, और (७) हस्ताध्याय। गन्धर्ववेद, और वेदों की तरह, सर्वथा व्यवहारात्मक है। इसलिए आधुनिक काल में इसके अंश प्रचलित हैं। किन्तु सामवेद का आरण्य-गान और ग्रामगेय-गान आजकल प्रचार से उठ गया है। इसलिए साम-गान की वास्तविक विधि का लोप होता जा रहा है। साथ ही,

प्राचीन विधियों का स्थान बड़े वेग से आधुनिक गान की विधियाँ लेती जा रही हैं। संगीत-शास्त्र ऐसे लोगों के हाथ में पड़ता जा रहा है जो वैदिक संस्कार और आचार की दृष्टि से उसके अधिकारी नहीं हैं।

आयुर्वेद—जैसा हम ऊपर कह आये हैं, अधिकांश सम्मति से, यह अथर्ववेद का उपवेद है। आयुर्वेद का अर्थ वह ज्ञान है जिससे जीवन की रक्षा हो सके। इसके आठ अंग हैं—(१) शल्य-चिकित्सा, (२) शालाक्य—श्रवण, नयन, वदन, घ्राण आदि गले के ऊपर के भाग में होनेवाले रोगों की चिकित्सा, (३) काय-चिकित्सा, (४) भूत-विद्या—भूत-प्रेत से उत्पन्न होनेवाले रोगों का शमन, (५) कौमार-भृत्य—बालकों के रोगों की चिकित्सा, (६) अगद-तन्त्र—विष-चिकित्सा, (७) रसायनतन्त्र—आयुर्व्यवस्थापन, मेधा तथा बल की वृद्धि करनेवाली ओषधियों का प्रयोग, (८) वाजीकरण-तन्त्र—हीनवीर्य पुरुषों में शक्ति तथा प्रहर्ष उत्पन्न करनेवाली ओषधियों का प्रयोग।

इस विद्या के मुख्य उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं। इनके अतिरिक्त आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश तथा भेड नामक मुनियों को भी हम आयुर्वेद के तत्त्वों का उपदेष्टा मानते हैं। इनमें सिर्फ अग्निवेश और भेड की संहिताएँ उपलब्ध हैं। अग्निवेश की परम्परा में महर्षि चरक हैं। भेड की संहिता कलकत्ता-विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। इन आचार्यों के ग्रन्थों से पूर्व-वैदिक-संहिताओं—विशेष कर अथर्ववेद—में आयुर्वेद के अनेक बहुमूल्य सिद्धान्तों के वर्णन हैं।

आजकल वैद्यकशास्त्र के तीन प्रामाणिक तथा लोकप्रिय ग्रन्थ हैं—(१) चरक-संहिता, (२) सुश्रुत-संहिता, और (३) वाग्भट-संहिता। ये ग्रन्थ-रत्न वैद्यकशास्त्र में "बृहत्-त्रयी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों का अभ्यास प्रत्येक वैद्य के लिए अनिवार्य माना जाता है। अतएव कहावत है कि—

सुश्रुते सुश्रुतो नैव, वाग्भटे नैव वाग्भटः।
चरके चतुरो नैव, स वैद्यः किं करिष्यति॥

अर्थात् जिस वैद्य ने सुश्रुत को अच्छी तरह से नहीं सुना है, जो वाग्भट में पटु नहीं है तथा चरक के अध्ययन में चतुर नहीं है, वह क्या खाक वैद्यक का कार्य करेगा।

(१) **चरक-संहिता**—इसके रचयिता का नाम महर्षि चरक है। चीनी बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि चरक महाराज कनिष्क के प्रधान वैद्य थे। इस ग्रन्थ में आठ विभाग-स्थान हैं—(१) सूत्र-स्थान, (२) निदान-स्थान, (३) विमान-स्थान, (४) शरीर-स्थान, (५) इन्द्रिय-स्थान, (६) चिकित्सा-स्थान, (७) कल्प-स्थान और (८) सिद्धि-स्थान। चिकित्सा-पद्धति का प्रतिपादन चरक की प्रधान विशेषता है। चरक ने इसमें रोगों की चिकित्सा और उनका निदान ही नहीं लिखा है, वैद्यकशास्त्र के दार्शनिक पहलू पर भी सम्यक् रीति से विचार किया है।

(२) **सुश्रुत-संहिता**—चरक के समान सुश्रुत की भी प्रसिद्धि भारत के बाहर भी है। इस ग्रन्थ में छः भाग हैं—(१) सूत्र-स्थान, (२) निदान-स्थान, (३) शरीर-

स्थान, (४) चिकित्सा-स्थान, (५) कल्प-स्थान तथा (६) उत्तर-तन्त्र। इनमें सुश्रुत की सबसे अधिक प्रसिद्धि शारीरकस्थान—शरीर-विज्ञान—में है। सुश्रुत के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शल्य (चीर-फाड़) की चिकित्सा भी, अन्य विज्ञानों की भाँति, उन्नति की चोटी पर पहुँची हुई थी।

(३) **वाग्भट**—इनका समय सुश्रुत के अनन्तर है। इस नाम के दो ग्रन्थकार थे। पहले ग्रन्थकार का रचित ग्रन्थ "अष्टांग-संग्रह" है तथा दूसरे का "अष्टांग-हृदय-संहिता"। द्वितीय वाग्भट प्रथम वाग्भट के वंशज प्रतीत होते हैं।

वैद्यकशास्त्र के इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त (१) माधव-निदान और (२) शार्ङ्गधर-संहिता भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

'रसशास्त्र' भी वैद्यकशास्त्र का ही महत्त्वपूर्ण अंग है। इससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ग्रन्थ हैं जिनमें भस्म बनाने की प्रक्रिया बताई गई है। इस प्रक्रिया के देखने से पता लगता है कि प्राचीनकाल के आचार्य रसायन-विद्या से पूर्णतया परिचित थे।

सुतरां, प्राचीन-काल में आयुर्वेद-शास्त्र अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। अष्टांग-आयुर्वेद के अन्तर्गत रसायन-विद्या भी सम्मिलित थी। इसके सिवा सदृश-चिकित्सा (होम्योपैथी), विरोध-चिकित्सा (एलोपैथी), जल-चिकित्सा (हैड्रोपैथी) आदि आजकल की अभिनव चिकित्सा-प्रणालियों के मौलिक सिद्धान्तों का भी निर्देश तथा सूत्र प्राचीन वैद्यक-ग्रन्थों में हमें उपलब्ध होता है।

दूसरा परिच्छेद

आजीवक-सम्प्रदाय

भारत में सिर्फ आजकल ही इतने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय दृष्टिगोचर नहीं होते, बल्कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भी ऐसे सम्प्रदायों के जाल इस देश में बिछे थे। जब बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक गौतमबुद्ध का जन्म भी नहीं हुआ था, जब आचार्य महावीर ने अपनी अहिंसा-प्रचारिणी शिक्षा से बिहार की पुण्यभूमि में करुणा की सरिता नहीं बहाई थी, तब से पहले भी भारत ने कई धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति देखी थी। पाणिनि के समय के एक धार्मिक संप्रदाय का संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जाता है।

पाणिनि के समय में 'मस्करी' नामक एक संप्रदाय परिव्राजकों का था। यह बात पाणिनि के सूत्रों में आई है। अब हमें विचार करना है कि क्या हम इस मस्करी-सम्प्रदाय की, इतिहास-प्रसिद्ध किसी अन्य धार्मिक संप्रदाय के साथ अभिन्नता सिद्ध कर सकते हैं या नहीं? ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय का आजीवक-नामक प्रसिद्ध धार्मिक सम्प्रदाय तथा मस्करी-सम्प्रदाय—दोनों एक ही थे। बौद्ध-साहित्य में आजीवक लोगों के जो मूल सिद्धान्त वर्णित हैं वे मस्करी लोगों के उपदेशों से भिन्न नहीं हैं।

बौद्धग्रन्थों के देखने से पता लगता है कि मस्करी लोग बड़े भारी तपस्वी थे। वे हठयोग की कठिन-से-कठिन प्रक्रिया द्वारा अपनी देह को सुखा देते थे, पञ्चाग्नि तपते थे, तथा अपने शरीर पर धूलि अथवा भस्म लगाया करते थे। 'जानकी-हरण' में सीता को हरने के लिए रावण 'मस्करी' के वेष में ही आया था। कहा भी है[1]—

दम्भाजीवकमुत्तुङ्ग - जटामण्डितमस्तकम्।
कञ्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥

इस श्लोक से यह ज्ञात होता है कि 'मस्करी' साधु के सिर पर बड़ी-बड़ी जटाएँ होती थीं। इस सम्प्रदाय का उस समय बड़ा बोलबाला था। उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि मस्करी ही आजीवक भी कहलाते थे। उदापी कुण्डियानन इस मत का संस्थापक तथा आदि आचार्य माना जाता है।

---

१ श्रीबलदेव उपाध्याय—'धर्म और दर्शन', पृष्ठ ७४

आजीवक का अर्थ है जीविका के लिए फिरनेवाला। इस सम्प्रदाय के साधु लोग जीविका के लिए निमित्त-विद्या अर्थात् ज्योतिष का आश्रय लेते थे। वे लोगों को आने-जाने का शुभ मुहूर्त्त बतलाते थे, उनके भविष्य की बातें गिनकर बतलाया करते थे, जो सच्ची निकलती थीं। इस प्रकार ये जनता के आदर-सत्कार के भाजन होते थे। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का पता ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों से भली-भाँति मिलता है।

भगवान् बुद्ध ने अपने समय के जिन सुप्रसिद्ध प्रभावशाली छः तीर्थङ्करों का अनेक बार उल्लेख किया है उनमें 'मंक्खलि-गोसाल' भी हैं। 'मंक्खलि' भी 'मस्करी' का ही पाली-रूप है। 'गोसाल' की ख्याति जैनधर्म के ग्रन्थों में विशेष रूप से उपलब्ध होती है। अशोक के शिलालेखों में आजीवकों का उल्लेख है। सातवें स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मणों और निर्ग्रन्थों (जैनियों) के साथ-साथ आजीवक लोग भी आदरणीय धार्मिक सम्प्रदाय के माने जाते थे। विक्रम के अष्टम शतक में ये अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय खो बैठे और धीरे-धीरे शैवों तथा वैष्णवों के सम्प्रदायों में घुल-मिल गये। यह प्रतीत होता है कि आजकल के 'नागा' लोगों की जमात में इनका अन्तर्भाव हो गया। इस प्रकार, यद्यपि आजीवक-सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये न रख सका, तथापि उसका व्यापक प्रभाव आज भी देखा जाता है। नियतिवाद आजीवकों का प्रधान सिद्धान्त है और वह बहुत दिनों से इस देश के जन-साधारण का मान्य सिद्धान्त बन चुका है। 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्'—आदि वाक्य आजीवकों के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनिमात्र हैं।

आजीवकों का कोई निजी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः इन्हें समझने के लिए जैन और बौद्ध ग्रन्थ ही प्रधान अवलम्ब हैं। इस सम्प्रदाय के दो प्रकार के अनुयायी थे—(१) भिक्षु, (२) गृहस्थ। भिक्षु लोग बिल्कुल नंगे रहते थे। वे बड़ी कठिन तपस्या किया करते थे। वे क्रम से दूसरे, तीसरे और सातवें घर में भिक्षा माँगते थे तथा न मिलने पर उपवास कर जाते थे। भोजन-छाजन में वे कड़े नियम का पालन करते थे। देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ तथा चूल्हे पर पका हुआ आहार ग्रहण नहीं करते थे। वे मद्य-मांस आदि के भोजन से सर्वथा दूर रहते थे।

आजीवक गृहस्थों के आचार भी बहुत अच्छे थे। माता-पिता की सेवा प्रधान कर्त्तव्य था। भोजन में गूलर, बड़, बेर, शहतूत तथा पीपल के फलों का परित्याग करते थे। प्याज, लहसुन तथा कन्द-मूल भी कभी नहीं खाते थे। बिना दागे और बिना नाथे हुए बैलों से जीविका चलाते थे तथा त्रस (चलते-फिरते) जीवों को बचाकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। प्राणिहिंसा से बचना इनका प्रधान ध्येय था। जैनियों और इनके आचार में विशेष विभेद नहीं था।

आजीवक लोग आत्मवादी, पुनर्जन्म तथा मोक्ष को माननेवाले दार्शनिक थे। इनका सबसे प्रधान मत था नियतिवाद। इनके मत से जगत की कोई भी घटना पुरुष-प्रयत्न के द्वारा सिद्ध नहीं होती; प्रत्युत वह नियति के वश में होकर कार्य करती है।

दीघनिकाय के शब्दों में मंखलि का संक्षिप्त मत है—"सत्त्वों (जीवों) के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु और प्रत्यय नहीं है। वे अपने-आप कुछ नहीं कर सकते हैं, पराये भी कुछ नहीं कर सकते हैं, कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता है; क्योंकि बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वश में नहीं हैं—निर्बल और निर्वीर्य हैं। भाग्य और संयोग के फेर से वे सुख-दुख भोगते हैं।"

यह है कट्टर दैववाद। जगत् में उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के विषय में भी इनके अनेक विचित्र मत थे, जिनका उल्लेख दीघनिकाय में किया गया है।

कतिपय विद्वान् आजीवकों को दिगम्बर जैनियों से भिन्न नहीं मानते हैं; क्योंकि बाह्य-आचारों के विषय में उनकी समता स्पष्ट है, परन्तु साम्य प्रतिपादक प्रमाणों की छानबीन करनेवाले मुनि कल्याणविजयजी का यह निर्णय यथार्थ प्रतीत होता है कि दोनों भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के थे।

जैन तथा बौद्ध मतों से भी प्राचीन आजीवक-मत का यह संक्षिप्त परिचय है। उस समय इसकी गणना महान् धर्म के रूप में की जाती थी। परन्तु कालक्रम से, प्रभावशाली नायक के अभाव में, यह मत जनता का समादर न पा सका और शनैः-शनैः अन्य सम्प्रदायों में निविष्ट हो गया।

तीसरा परिच्छेद
जैन तथा बौद्धधर्म से पूर्व का भारत

बौद्धधर्म और जैनधर्म के प्रवर्तक क्रमशः गौतम और महावीर समकालीन थे। इन दो महानुभावों के समय भारतवर्ष में जीवन के सारे अंग विच्छिन्न हो रहे थे। देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। षड्दर्शनों का विकास नहीं हो पाया था, यद्यपि उनके आविष्कार की योजना हो रही थी। भारतवर्ष की उर्वरा भूमि में अनेक विचार-स्रोत प्रवाहित हो रहे थे। दार्शनिक क्षेत्रों में हलचल मची हुई थी। जितने ही विचारक थे, उतने ही मत। लोगों के मस्तिष्क में संदेह के कीटाणु घर कर चुके थे। आत्मा-परमात्मा के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ की जाती थीं, अनुमान किये जाते थे, जिनसे साधारण जनता को कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता था। विचारकों में पूरी अराजकता थी।

इस समय मीमांसकों का बोलबाला था। ऋग्वेद का घृत-दुग्ध-प्रधान यज्ञ बलि-प्रधान हो गया था, जिसकी पराकाष्ठा पशुबलि के रूप में हुई थी। परिणामस्वरूप यज्ञ की विशालता बलि-पशुओं की संख्या पर निर्भर होने लगी। मीमांसक पुरोहितों का अत्याचार और पाखण्ड चरमसीमा पर पहुँच गया था। राजा और सामन्त, पुरोहितों के हाथ की कठपुतली बन गये थे। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मच गई थी। ज्ञान और उपासना के रूप गौण हो चले थे। कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। भगवद्गीता और उपनिषदों के नैष्कर्म्य के आदर्श को माननेवाले पुरुष लगभग नहीं थे। देवताओं को प्रसन्न करने के अभिप्राय से पशुओं का बलिदान किया जाता था। यज्ञ की हिंसा हिंसा नहीं समझी जाती थी। वाममार्गियों का प्रभाव विशेष रूप से समाज पर पड़ रहा था। हिंसा भी ईश्वर-भक्ति का एक अंग हो गई थी। आचारशास्त्र के नियमों से लोगों की आस्था उठ गई थी। वैदिक वर्ण-व्यवस्था बिगड़कर वंश-परम्परागत जातिभेद में परिवर्तित हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों ने केवल जन्म से अपने को बड़ा मानकर वेदाध्ययन तथा उन सद्गुणों का त्याग कर दिया था, जिनके कारण उनके पूर्वजों को समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त थी। सन्यासी लोग भी धार्मिक ज्ञान, आन्तरिक पवित्रता, मधुर प्रकृति आदि गुणों को छोड़कर तपस्या का केवल बाहरी आडम्बर दिखलाने में रत रहने लगे। प्राचीन आर्यों के सात्विक भोजन के स्थान को आमिषाहार ने छीन लिया। मांसाहार को शास्त्रोक्त सिद्ध करने के लिए यज्ञों में प्रचुर संख्या में पशुओं का वध किया जाता था और उनका मांस प्रसादरूप में वितरित होता था। तार्किक वाद-विवाद में फँसकर लोग जीवन के कर्त्तव्यों को भूल गये थे।

बुद्ध के हृदय में बाल की खाल निकालनेवाले अकर्मण्य दार्शनिकों के प्रति विद्रोह का भाव जाग्रत् हो गया। उन्होंने सोचा और समझाया कि जीवन के परे आत्मा-परमात्मा-जैसी वस्तुओं के विषय में व्यर्थ की बहस करना जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ नष्ट करना है। जो हमारे वश की बात है—अर्थात् अपने आचरण को शुद्ध बनाना—उसे न करके यदि हम व्यर्थ के वाद-विवाद में फँस जायँ तो हमें शान्ति कैसे मिल सकती है, कर्मफल का निर्णय करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है—उसके लिए कर्म-सिद्धान्त ही काफी है।

धर्म के नाम पर उस समय जैसा अकाण्ड-ताण्डव हो रहा था, निरपराध प्राणियों की जैसी हत्या हो रही थी, परलोक—आत्मा-परमात्मा आदि के विषय में जैसी कल्पनाएँ उड़ान लिया करती थीं, समन्वय न होने से पारस्परिक विरोध जैसा भयङ्कर रूप धारण कर रहा था, स्त्रियों और शूद्रों का जैसा अपमान तथा दमन हो रहा था, संयम की जैसी उपेक्षा हो रही थी, लोग चरित्रबल से जैसे शून्य हो रहे थे,—वैसी अनीति और अव्यवस्था देखकर श्रीमहावीर स्वामी का मन बहुत चिन्तित हुआ। महात्मा लोग जिन-जिन घटनाओं से शिक्षा लेकर नियम-निर्माण करते हैं उन सबका पता इतिहास में तो क्या, उन महात्माओं के जीवन-काल में भी प्रायः नहीं मिलता। यही बात महात्मा महावीर के विषय में थी। किन-किन घटनाओं ने उन्हें नया धर्म प्रचारित करने के लिए प्रेरित किया, उसका पता आज नहीं लगता; किन्तु उसका आभास हमें उनके द्वारा प्रवर्त्तित मत से मिलता है।

इस प्रकार, परलोक और धर्म के नाम पर होनेवाले अन्यायों, अत्याचारों और दम्भों ने बौद्ध और जैनधर्म के प्रचार में बहुत सहायता की। अतएव बुद्ध और महावीर ने उन बुराइयों के सुधार का गुरुतर कार्यभार अपने सिर उठाया था, जो हिन्दूधर्म में—और विशेष कर तत्कालीन पुरोहितों के आचरण में—घुस पड़ी थी। उन लोगों ने धर्म के स्वरूप में एकान्त परिवर्त्तन करने का विचार नहीं किया।

अपने सुधार-क्षेत्र के बाहर बुद्ध और महावीर ने हिन्दू-धर्म की प्रायः सारी बातें स्थिर रखीं। उन लोगों ने वेद के उसी अंश का विरोध किया, जिसके द्वारा पशुवध का समर्थन होता था और जो कर्मकाण्ड के आधिक्य तथा ऊपरी दिखावे का हेतुभूत था। मीमांसकों के वैदिक कर्मकाण्ड में ईश्वर का कोई स्थान न था और मीमांसकों की प्रधानता के कारण समाज इसी भाव से ओतप्रोत था। अतएव बुद्ध ने भी ईश्वर-सम्बन्धी जटिल प्रश्न को उठाना निरर्थक समझा। वे ईश्वर और आत्मा की, प्रकृति और संसार की अनित्यता आदि विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों पर वाद-विवाद करने के अभिलाषी नहीं थे; क्योंकि ऐसे वाद-विवाद से वे कोई लाभ नहीं समझते थे।

महावीर का जैनधर्म विशेषतया हिन्दूधर्म की हिंसा की धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध क्रान्ति था। जैनमत जल, वायु आदि सबमें जीव मानता है और जीव-रक्षा का महत्त्व ही इस धर्म में सर्वोपरि है। इस धर्म में मनसा-वाचा-कर्मणा जीववध का निषेध किया गया है।

अतएव बुद्ध और महावीर के विषय में यह कहना अनुचित होगा कि उन लोगों ने नये धर्म की स्थापना की थी। वास्तव में वे दोनों महानुभाव हिन्दूधर्म के तेजस्वी सुधारक थे।

चौथा परिच्छेद

जैनधर्म

जैनधर्म की स्थापना जन-साधारण के कल्याण और हिन्दू-धर्म की कुरीतियों को हटाने के उद्देश्य से हुई। महात्मा महावीर ने प्राचीन हिन्दू-धर्म की बहुत-सी बातें लेकर तथा अपने अनुभव से कुछ नये नियमों को बनाकर, एक नये धर्म की रचना की। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक लोग जैन-धर्म का संस्थापक मानते हैं और अन्तिम—चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर को संशोधक। पार्श्वनाथ, महावीर के दो सौ वर्ष पूर्व हुए थे। महावीर गौतम बुद्ध के सम-सामयिक थे; परन्तु बुद्ध के निर्वाण के पहले ही उनका अवसान हो गया था। उन्होंने भारतवर्ष का बहुत कल्याण किया और तत्कालीन हिन्दू-धर्म पर ऐसी छाप मारी कि पुराने विकारों को हटाकर उसको नवीन रूप धारण करना पड़ा।

महावीर स्वामी

महावीर एक असाधारण महापुरुष थे। उनके त्याग और सेवा की महिमा बहुत बड़ी है। उनके कथनानुसार जगत् में कोई ईश्वर नहीं है। स्वयं वे भी एक दिन बहुत साधारण प्राणी थे; पर अनेक जन्मों में विकास करते-करते वे महावीर हो गये। जन्म से वे राजकुमार थे। ४२ वर्ष के त्याग और तप ने उन्हें एक महान तीर्थङ्कर बना दिया। उनका महत्त्व त्याग और तप में है, बाहरी वैभव में नहीं।

जैनधर्म के अनुसार, किसी के बाहरी वैभव से उसका महत्त्व नहीं ज्ञात होता। धर्म के अन्य प्रवर्त्तकों की तरह महावीर के चरित्र-चित्रण में भी निरर्थक अतिशयोक्तियों की भरमार है। अगर हम इन अप्रामाणिक और अनावश्यक घटनाओं को अलग करके महावीर के पवित्र चरित्र पर विचार करें, तो हमें अपूर्व सात्त्विक आनन्द मिलेगा।

महावीर का जन्म, सिद्धार्थ नरेश के गृह में सन् ६०० ई० पूर्व में हुआ था। सिद्धार्थ बिहारप्रान्त में कुण्डलपुर के शासक और गणराज्य के नेता थे। उस समय के राजघरानों से इनका वैवाहिक सम्बन्ध था। महावीर का जन्मोत्सव धूमधाम के साथ मनाया गया था। बाल्यावस्था से ही महावीर बलवान, निर्भय, साहसी और बुद्धिमान थे। उनकी इस असाधारणता को भावुक भक्तों ने अलौकिक और अविश्वसनीय रूप में प्रकट किया है।

यद्यपि महात्मा पार्श्वनाथ का धर्म चल रहा था तथापि उसमें बहुत शिथिलता आ चुकी थी और बहुत-सी त्रुटियाँ भी थीं। इन सबका सुधार करके युगान्तर उपस्थित करने

का विचार महावीर के मन में सदा आया करता था। परन्तु माता-पिता आदि के आग्रह के कारण वे शीघ्र ही प्रव्रज्या (संन्यास) न ले सके। जब वे २८ वर्ष के हुए, उनके माता-पिता स्वर्गवासी हो गये। कुछ लोगों ने उनसे समाज की दुर्दशा की बात कही और अनुरोध किया कि किसी ऐसे धर्म की स्थापना कीजिए जिससे अत्याचारों का अन्त हो तथा समाज की काया पलट जाय। उन लोगों की प्रार्थना को मानकर तीस वर्ष की आयु में महावीर ने गृहत्याग किया।

दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करने से पहले यह जानना जरूरी है कि दुःख दूर करने का उपाय क्या है—वह उपाय व्यवहार में लाया जा सकता है या नहीं। फिर उस उपाय को स्वयं व्यवहार में लाना, लोगों की सब शंकाओं का समाधान करना, लोगों को अच्छी तरह सुमार्ग पर चलाने के लिए नियम बनाना तथा उन नियमों को सबसे पहले अपने जीवन या आचरण में उतारना—अनुभव करना और पीछे दूसरों से उनका अनुसरण करने के लिए कहना, यही पद्धति महावीर ने निश्चित की। बारह वर्ष की तपस्या के समय उन्होंने अनुभवपूर्वक जिस बात का निर्णय किया, वह निर्णय पूर्णता को प्राप्त होने पर "केवलज्ञान" कहलाया। पीछे उन्होंने यह ज्ञान अपने शिष्यों को भी प्रदान किया। किन्तु शिष्यों का यह ज्ञान 'श्रुतज्ञान' कहलाया। उनका अपना ज्ञान अनुभव-मूलक होने के कारण 'प्रत्यक्ष' और शिष्यों का सुना-सुनाया होने के कारण 'परोक्ष' कहलाया। उन्होंने अपने को पवित्र और केवल-ज्ञानी बना लेने के पूर्व किसी को कुछ उपदेश नहीं दिया।

सत्य उपदेश देने के लिए दो बातों की आवश्यकता है—एक तो वीतराग होने की, दूसरे सत्य-ज्ञान की। जैनधर्म का सिद्धान्त है कि जबतक आत्मा में कषाय (मलिनता) रहती है, तबतक सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बिना वीत-रागता के हम अपने अनुभवों से वास्तविक सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सकते। अतः सत्यज्ञान प्राप्त करने के लिए वीतरागता अत्यन्त आवश्यक है। वीतरागता जितनी अधिक होगी, ज्ञान उतना ही अधिक पूर्ण और सत्य होगा।

यों तो उन्होंने जब से घर छोड़ा तभी से वीतराग थे। परन्तु वह वैराग्य सच्चा और स्थिर है कि नहीं—इस बात की जाँच तभी हो सकती थी जब कठोर परीक्षा होने पर भी वह टिका रहता। इस प्रकार वैराग्य की कसौटी पर खरा उतरने के लिए उन्होंने कठोर-से-कठोर तपस्या की। इन तपस्याओं से उन्होंने यह भी जान लिया कि मनुष्य की पूर्ण विरक्ति का पता किन लक्षणों से लग सकता है। उन्होंने १२ वर्ष के तपोमय जीवन में निजी अनुभव के बल पर इस बात का भी निर्णय किया था कि सच्ची और पूर्ण वीतरागता तथा पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य का जीवन कैसा हो जाता है।

१२ वर्ष तक घोर तपस्या और गहन मनन-चिन्तन करने के बाद वे पूर्ण समदर्शी और मर्मज्ञ हो गये। अब संसार की कोई वस्तु उन्हें विचलित नहीं कर सकती थी। जिस अज्ञान के कारण प्राणी दुःखी होता है, वह उनका नष्ट हो गया। आत्मा को स्वतंत्र और सुखी बनाने का जो सच्चा मार्ग है वह उन्हें प्रत्यक्ष झलकने लगा था। उनका कोई स्वार्थ बाकी नहीं रह गया था। फिर भी उन्होंने विचार किया कि प्रत्येक मनुष्य को किसी-न-किसी तरह लोक-सेवा अवश्य करनी चाहिए, इसलिए, जबतक यह जीवन है तबतक कुछ-

न-कुछ काम तो करना ही है; तब फिर विश्व-कल्याण का काम ही क्यों न किया जाय। इसलिए, जिस अवस्था को वे स्वयं प्राप्त हुए थे, दूसरों को भी वही अवस्था प्राप्त कराने के लिए उन्होंने संघ-रचना का विचार किया और इसके लिए वे धर्म-प्रचारक बने।

निष्पक्ष विद्वानों के लिए परलोक के स्वरूप की समस्या जैसी आज जटिल है वैसी ही उस समय भी थी। यज्ञों में देवता आते थे—ऐसा विश्वास जनता का था। देवगति तो परलोक की जीती-जागती मूर्ति है। पर उस समय भी परलोक न माननेवाले, आत्मा न माननेवाले दर्शन प्रचलित थे। स्वयं बुद्ध ने परलोक के विषय में एक प्रकार से अपने को मौन रखा था। आस्तिक शास्त्रों में परलोक सिद्ध करने के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक किया जाता था। महावीर ने देवता एवं परलोक को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया।

संघ-व्यवस्था

महावीर की संघ-व्यवस्था अद्भुत थी। उन्होंने प्रारम्भ से ही चार संघ बनाये थे—(१) मुनि (साधु), (२) आर्यिका (साध्वी), (३) श्रावक, (४) श्राविका। चारों संघों का स्वतन्त्र और दृढ़ संगठन था। उनके नेता भी भिन्न-भिन्न थे। इस संघ-व्यवस्था ने ही आज जैनधर्म को भारत में जीता-जागता रखा है। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान-काल के झकोरे में बौद्ध-धर्म भारत में विलुप्त हो गया; किन्तु जैनधर्म भारत में आज भी जीता-जागता है। महावीर ने प्रारम्भ से ही स्त्रियों और पुरुषों का समान सम्मान किया है। यद्यपि वैदिक काल में स्त्रियाँ मंत्रद्रष्टा तक हो गई हैं तथापि उस जमाने में स्त्रियों को शास्त्र पढ़ने का भी अधिकार नहीं था। ऐसे समय में महावीर ने पुरुषों के समान ही महिलाओं को शास्त्र पढ़ने का पूर्ण अधिकार दिया। उन्होंने जब संघ स्थापित किया तब प्रमुखपद एक महिला 'चन्दना' को ही दिया। इसी कारण, जैनधर्म में स्त्री-पुरुष को सब जगह समान अधिकार प्राप्त है।

श्रावक-संघ और श्राविका-संघ की रचना करके उन्होंने स्त्री-पुरुष की समानता का समर्थन करने के साथ-साथ श्रावकों की देखरेख का भार मुनियों के ऊपर रखा। इससे मुनि लोग स्वच्छन्द न होने पाये और श्रावकों को संघ में उचित स्थान भी मिला। श्रावकों पर भी साधुओं की देख-रेख का भार रखा। फल यह हुआ कि अनेक आक्रमणों के बावजूद साधु (मुनि) अटल रह गये। कहा जाता है कि महावीर के समय में १४००० मुनि थे, ३६००० आर्यिकाएँ थीं, १६६००० श्रावक थे और ३१८००० श्राविकाएँ थीं।

जब किसी श्रावक में महावीर कोई अच्छी बात देखते तब संघ के सामने उसकी प्रशंसा करते और मुनियों से भी उस श्रावक का अनुकरण करने की बात कहते। इस प्रकार उन्होंने श्रावक-संघ को महत्त्व दिया और सुव्यवस्थित बनाया। परिणाम यह हुआ कि श्रावकों ने साधुओं (मुनियों) को भी चरित्रहीन होने पर पदभ्रष्ट किया—आचार्यों को उनके उच्च पद से उतारा और दुराचारियों का वेश तक छीन लिया। महावीर इस बात पर भी दृष्टि रखते थे कि कोई किसी पर अत्याचार न करने पावे। अत्याचार के विरोध में वे निरन्तर तत्पर रहे।

चतुर्विध संघ की स्थापना होने पर महावीर ने अपने मुख्य शिष्यों को त्रिपदी सुनाई—अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश किया। वस्तु सदा पैदा होती है, नष्ट होती

है और स्थिर भी रहती है। इसमें नित्यवाद, क्षणिकवाद आदि का समन्वय किया। उनका उपदेश कुछ एक बात पर ही नहीं होता था। वे व्याख्यान में कथा-कहानी भी कहते थे, अन्य प्रकार के दृष्टान्त से भी समझाते थे। उन्होंने भाषा के रूप में कुछ ऐसा परिवर्तन किया था जिसे सब लोग समझ सकें। जिस युग में प्राकृत भाषा स्त्रियों तथा अपढ़ों की भाषा कहलाती थी, पढ़े-लिखे आदमी प्राकृत में बात करने में अपमान समझते थे, सारा काम संस्कृत से होता था; उस युग में उनके सरीखे असाधारण व्यक्ति का प्राकृत भाषा में व्याख्यान देना सर्वसाधारण के हृदय पर विशेष प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

कैवल्य प्राप्त करने के बाद करीब बीस वर्ष तक वे जीवित रहे। उन्होंने प्राणियों की नैतिक उन्नति के लिए बहुत काम किया। ईसवी सन् के ४७४ वर्ष पूर्व पावापुर में उनका निर्वाण हुआ। राजाओं और श्रावक-श्राविकाओं ने मिलकर उनका दाह-संस्कार किया। मुनि लोग भी इसमें सम्मिलित हुए थे। उनकी अस्थियों को राजाओं ने बाँट लिया।

जैन-सम्प्रदाय

जैनधर्म में सम्प्रदाय अनेक हुए हैं। परन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। ये दोनों सम्प्रदाय कब और कैसे हुए—इसका प्रामाणिक इतिहास लुप्त है। किन्तु यह प्रायः निर्विवाद है कि ये दोनों किसी एक घटना के परिणाम नहीं, बहुत दिनों के मतभेद के परिणाम हैं। यह बात तो निश्चित है कि महावीर दिगम्बर-वेश में रहते थे—थोड़े-बहुत वस्त्र भी धारण करते थे। आर्यिकाएँ एवं श्राविकाएँ तो अवश्य वस्त्र धारण करती थीं। मोक्ष का मार्ग तो दोनों के लिए समान रूप से खुला था। इसलिए वस्त्र-त्याग पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया जा सका। एक दल दिगम्बर को अच्छा समझकर भी उसपर जोर देना उचित नहीं समझता था। दूसरा दल महावीर के वाह्य तप का भी पूरा अनुसरण करना चाहता था। तीसरा उसको उचित समझकर भी अनिवार्य नहीं मानता था, वह दोनों को समान समझता था।

महावीर के ६८ वर्ष बाद तक यह मतभेद रुचिभेद के रूप में ही रहा। जम्बू स्वामी के बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर की आचार्य-परम्परा भिन्न पड़ गई। कालान्तर में नरम और गरम—दो दल हो गये।

गरम दलवाले सोचते थे कि जब हम वाह्य नियमों का कठोरता से पालन करेंगे तब थोड़ी-बहुत आत्मशुद्धि रह जायगी; पर अगर हम बाहर से बिलकुल ढीले हो गये तो भीतर से कुछ भी नहीं रहेंगे।

इसके विपरीत, नरम दलवाले यह सोचते थे कि बाहरी बातों पर अधिक जोर देने से भीतरी बातों को लोग भूलने लगते हैं, वे लोग सेवा के काम के नहीं रहते; साथ ही, ज्ञानोपार्जन की भी उपेक्षा करने लगते हैं, उग्र नीति से धर्म-प्रचार में बाधा आती है, नग्न रहकर हम राज-सभाओं में कैसे जा सकते हैं। जनता का सम्पर्क भी हमें पर्याप्त रूप में सुलभ नहीं हो सकता; उस अवस्था में तो हमें बिलकुल वनवासी रहना पड़ेगा, इसलिए हम जनसेवा बहुत कम कर सकेंगे।

यह भी सम्भव है कि बौद्ध साधुओं के धर्म-प्रचार का भी असर पड़ा हो और मुनियों को यह सूझ पड़ा हो कि जंगल में पड़े रहने से अपनी उन्नति और लोक-कल्याण न होगा। अतएव, यह निश्चित है कि ये दोनों सम्प्रदाय दृष्टि-बिन्दु के अन्तर के ही परिणाम थे। गरम दलवाले (दिगम्बर) दक्षिण चले गये और नरम दलवाले उत्तर रह गये।

इन विचारों का फल यह हुआ कि उत्तर-प्रान्त में जो दिगम्बर रहते थे, वे भी नरम नीति के पोषक हो गये। धीरे-धीरे दोनों मत के विशाल धर्मग्रन्थ बन गये। फलतः दोनों दलों में विभिन्नता बढ़ती गई। आज गृहस्थ जैन की वेश-भूषा को देखकर यह कहना कठिन है कि वह दिगम्बर है अथवा श्वेताम्बर।

श्वेताम्बर लोग स्त्री तथा शूद्र को भी मोक्ष के अधिकारी मानते हैं; किन्तु दिगम्बर लोग नहीं। दिगम्बर साधु कमण्डलु और मोर-पंखों को अपने साथ रखते हैं, और कोई दूसरा सामान नहीं। वे केशों को मुँड़वाते नहीं, हाथ से उखाड़ देते हैं! आहार के समय वे, पात्र के स्थान पर हाथ से काम लेते हैं और खड़े-खड़े खाते हैं। आचार-पालन में वे अत्यन्त कठोर होते हैं और तीव्र कष्टों को सहन करते हैं। श्वेताम्बर साधु लँगोटी और चादर रखते हैं।

सिद्धान्त

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है—श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। इनको जैन-शास्त्रों में **सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान** और **सम्यक् चरित्र** कहते हैं।

(१) **सम्यक् दर्शन** एक ऐसी दृष्टि है, जो बाह्य दृष्टि से असत्यरूप ज्ञान का भी उपयोग, वास्तविक सत्य के या कल्याणपथ के निर्णय करने में, कराती है और ज्ञान को सार्थक कर देती है। श्रद्धा के बिना ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं है। श्रद्धा में विवेक है, अन्ध-विश्वास में विवेक-शून्यता है। सद्विचार की स्थिरता या दृढ़ता का नाम श्रद्धा है। सद्विचार का किसी विज्ञान या विवेक से विरोध नहीं हो सकता। अंध-विश्वासी लोग दुनिया के लिए भयंकर जीव हैं, पर श्रद्धालु तो जगत् का हितैषी मित्र है।

सम्यग्दृष्टिवाले जीव की भावना नाटक के पात्र के समान होती है। हर प्रकार के सुख-दुख में वह अपने को सुखी-दुखी नहीं समझता। जीवन के विषय में उसकी भावना इतनी उच्च हो जाती है कि वह सुखी रहने की कला में पूर्ण निष्णात हो जाता है। सम्यग्दृष्टिवाला जीव प्रेम-त्यागी नहीं होता, बल्कि विश्वप्रेमी होता है। जो जीव पर-सुख में निज-सुख का अनुभव करता है उसे प्रेमहीन नहीं कह सकते। वह सिर्फ मोह-रहित होता है। वह जगत् के सभी जीवों से मैत्री-भाव रखता है; किन्तु जो जीव उसके निकट-सम्पर्क में आ जाता है उसके साथ विशिष्ट शिष्टाचार करता है। व्यवहार में जिन्हें कुटुम्ब, सम्बन्धी आदि कहते हैं वे निकट-संसर्ग में आये हुए मित्र हैं। यदि उनके स्थान पर कोई दूसरा जीव हो तो वह उनसे भी स्नेह करेगा। वह व्यवहार को छोड़ नहीं देता; किन्तु व्यवहार को व्यवहार समझकर करता है। मिथ्या-दृष्टि जिस कार्य को मोह के वश में होकर करता है, सम्यग्दृष्टि उसको कर्त्तव्य समझकर करता है। जो कायरता से उत्तरदायित्व छोड़कर मुनि होते हैं वे न तो मुनि हैं, न

सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव उत्तरदायित्व का त्याग नहीं करता; वह स्वदेश और परदेश, स्वजाति और विजाति, स्वधर्मी वा विधर्मी की भावना से काम नहीं लेता, बल्कि अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध खड़ा होता है; वह समधर्म तथा समभावी होता है। अतएव, जिस दिन संसार में देशभक्ति और जाति-भक्ति का स्थान न्याय-भक्ति ले लेगी उसी दिन संसार चैन की नींद सो सकेगा।

सम्यग्दृष्टिवाले मनुष्य को सात प्रकार का भय नहीं होता—(१) इहलोकभय, (२) परलोकभय, (३) वेदनाभय (रोगादिभय), (४) मरण-भय, (५) आदान-भय (चोरादि का भय), (६) अश्लोकभय (पूजा-प्रतिष्ठा, मानापमान, सत्कार, वाहवाही आदि), (७) आकस्मिक भय।

सम्यक्त्व को प्राप्त होने पर मनुष्य कल्याण के मार्ग पर दृढ़ विश्वास रखने लगता है। इन्द्रिय-सुख को वह इतना महत्त्व नहीं देता कि उसके लिए उसे अन्याय या अत्याचार करने पड़ें। सब काम वह सद्विचारपूर्वक करता है और सन्मार्ग को कलंकित नहीं होने देता। कल्याण-मार्ग में स्थित पुरुष की वह प्रशंसा करता है और उस मार्ग से गिरते हुए मनुष्य को स्थिर करने का प्रयत्न करता है तथा उस मार्ग में स्थित प्राणियों से कुटुम्बी सरीखा प्रेम करता है—उसी मार्ग का जगत् में प्रचार करता एवं उसका महत्त्व बढ़ाता है।

जो वस्तु जैसी है उसे उसी प्रकार जानना **सम्यक्ज्ञान है**। वही ज्ञान सच्चा ज्ञान कहलायेगा जो हमारे कल्याण के लिए उपयोगी हो—जिससे आत्मा सुखी हो—अर्थात् जो सुख के मार्ग बतलानेवाला है। वही सत्यज्ञान है, जो आत्मोपयोगी है; वही पारमार्थिक है, सत्य है, उसी की परम-प्रकर्षता है।

ज्ञान के दो भेद हैं—सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। सम्यक्ज्ञान के भी दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। सब ज्ञानों का मूल मतिज्ञान है। इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष मानसिक विचार, स्मरण, तुलनात्मक ज्ञान, तर्क-वितर्क, अनुमान, अनेक प्रकार की बुद्धि आदि सभी का मतिज्ञान में अन्तर्भाव होता है। इसीलिए साधारणतः मतिज्ञान का यही लक्षण किया जाता है कि 'इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान पैदा होता है वह मतिज्ञान है'।

शुद्ध आत्मज्ञान की पराकाष्ठा **'केवलज्ञान'** है। जीवन्मुक्त अवस्था में जो आत्मानुभव होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञानी के लिए फिर कुछ जानने योग्य नहीं रह जाता। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सारे जिन-शासनों को जान लिया। इसलिए केवली को सर्वज्ञ कहते हैं।

सम्यक्ज्ञान वास्तविक रूप और अवस्था को दर्शाता है। इसके अन्तर्गत—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, और (४) द्रव्यानुयोग है। प्रथमानुयोग द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन होता है। करणानुयोग द्वारा समय का परिवर्त्तन, स्थानों का विभाग और जीवन की चार अवस्थाओं का, दर्पण में देखने के सदृश, ज्ञान होता है। चरणानुयोग से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान होता है। द्रव्यानुयोग द्वारा तत्त्वों का—अर्थात् पुण्य, पाप, बन्धन, जीव, अजीव आदि का—ज्ञान होता है तथा अध्ययन एवं मनन द्वारा ज्ञान में यह सहायक होता है।

(ग) **सम्यक्-चरित्र**—सम्यग्दृष्टि द्वारा जब सम्यक् ज्ञान हो जाता है तब सम्यक् कार्य द्वारा वह आकांक्षा की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। और, पाँच प्रकार के पाप—हिंसा, असत्य, चोरी, दुश्चरित्रता और सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति—से परे हो जाता है।

सम्यक्-चरित्र दो प्रकार का है—शाकल, जिसका व्यवहार सिर्फ मुनि करते हैं; विकल, जिसका गृहस्थ पालन करते हैं। गृहस्थ पाप न करने का संकल्प करता है; किन्तु मुनि उसके अनुसार आचरण करता है।

जैनधर्म का व्यवहार-पक्ष

जैनधर्म का मुख्य सिद्धान्त—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, और (५) अपरिग्रह अर्थात् निर्लोभ है। पतंजलि के राजयोग के भी तो ये ही स्तम्भ हैं। जैनधर्म भ्रातृभाव और सब जीवों में समानता की शिक्षा देता है और अपने समस्त अनुयायियों को अपने-आप पर कठोर आत्म-शासन का आदेश भी।

पञ्चमहाव्रत—जैनधर्म के पञ्चमहाव्रत हैं—(१) सब जीवों की रक्षा, (२) असत्य न बोलना, (३) जो तुम्हें नहीं दी गई हो उसको न लेना, (४) मैथुन से परहेज, और (५) संसार की किसी वस्तु में ममता न रखना। इस धर्म का सार 'अहिंसा परमो धर्मः'—किसी भी जीव को दुःख न पहुँचाना—सर्वोच्च तत्त्व है। अहिंसा ही जैनधर्म की नींव है। अतएव, समस्त जैनी निरामिष-भोजी हैं। जो बहुत कट्टर हैं वे पीने के पहले जल को छान लेते हैं; चलने के पहले कपड़े से भूमि साफ कर देते हैं; अँधेरे में—इस भय से कि कहीं जीव हिंसा न हो जाय—न जल पीते हैं और न कुछ ग्रहण करते हैं। पतले मलमल का वस्त्र-खण्ड मुख पर बराबर इस अभिप्राय से रखते हैं कि कहीं कोई छोटा जीव मुख में साँस के साथ न चला जाय।

इसके अतिरिक्त सम्यक्-चरित्र दया पर निर्भर है। दया के चार रूप हैं—(१) बदला पाने की आशा किये बिना दूसरे की भलाई करना, (२) दूसरे के उत्कर्ष पर प्रसन्न होना, (३) पीड़ितों के प्रति सहानुभूति और उनके दुख को दूर करने का प्रयत्न करना, (४) पापियों के प्रति करुणा।

दैनिक नियम—बहुत सबेरे उठकर मनुष्य को सर्वप्रथम धीरे-धीरे मंत्र-जप करना पड़ता है। तत्पश्चात् उसे यह विचारना है कि वह कौन है, उसका इष्टदेव और गुरुदेव कौन है, धर्म और कर्त्तव्याकर्त्तव्य क्या है। बाद, तीर्थकरों का ध्यान करना पड़ता है। अन्त में छोटी या बड़ी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। इन दैनिक प्रतिज्ञाओं का परिणाम होता है कि खराब आदतों को छोड़ने का अभ्यास होता है।

यतियों का कर्त्तव्य—यतियों के लिए, उन वस्तुओं को छोड़कर, जिनसे अपनी उन्नति में सहायता मिलती है, अन्य वस्तुओं का परित्याग करना अनिवार्य है। गुरु, सूत्र का पठन, शरीर-रक्षा और शासन-क्रम को छोड़कर इतर कोई ऐसी वस्तु नहीं होनी चाहिए, जिसको वह कह सके कि यह मेरी है। बिना पूछे बोलना नहीं चाहिए। पूछने पर भी झूठ न बोले, क्रोध न करे, सुख-दुख को समानभाव से ग्रहण करे।

स्त्री-यति सिर्फ श्वेताम्बरों में होती हैं। स्त्री-यति का कर्त्तव्य है कि गृहस्थ जैनों के घर जाय और चेष्टा करे कि जैन-स्त्री—वधू और कन्या—को उचित शिक्षा तथा उपदेश

मिले। कन्या-शिक्षा के लिए ये बहुत प्रयत्नशील रहती हैं। जैन-स्त्री-यतियों का यह कार्य सब धर्मावलम्बियों के लिए अनुकरणीय है।

जैन-मंत्र

"नमो अरहिंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झाणं नमो लोए सव्वसाहूणं"।

यह मंत्र जैनधर्म में बहुत प्रसिद्ध है।

हिन्दू-धर्म पर इस धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जैनों के चौबीस तीर्थङ्करों की भाँति विष्णु के चौबीस अवतार निश्चित कर मूर्तिपूजा प्रचलित करनी पड़ी। जैनों के सात तीर्थों की भाँति हिन्दुओं ने भी सात पुरियों की महत्ता कायम की। जैनधर्म के महावाक्य—'*अहिंसा परमो धर्मः*'—को स्वीकार कर इसे वैष्णव-धर्म का मूलमंत्र बनाया।

कर्म और पुनर्जन्म

कर्म के सिद्धान्त का जैन-धर्म में विशिष्ट स्थान है। अच्छे कर्म का परिणाम पुण्य और बुरे कर्म का पाप है। यदि पुण्य की अधिकता होती है तो मनुष्य के आनन्द की वृद्धि होती है और पाप के संचय से दुःख बढ़ता है। जो सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-आचरण द्वारा सम्पूर्ण कर्म को दग्ध कर देता है उसके लिए पाप-पुण्य कुछ नहीं रह जाता—वह देव हो जाता है और 'जिन' कहा जाता है। ऐसे जिन, जो नियम का प्रचार कर धर्म की स्थापना करते हैं, तीर्थङ्कर कहे जाते हैं।

पुनर्जन्म में जैन विश्वास करते हैं। जैनधर्म का सिद्धान्त है कि अच्छे कर्म के फलस्वरूप अच्छे वंश में जन्म होता है और सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। उसी प्रकार ससार में नीच योनियों में जन्म और कष्ट-भोग बुरे कर्मो के परिणाम हैं। अनेक जन्मों और असंख्य अनुभवों के बाद जीव कर्म के बन्धन से छूटने का प्रयत्न करने लगता है—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चरित्र द्वारा वीतराग होकर, समस्त काम को नष्ट कर, मोक्ष को प्राप्त करता है।

जैनधर्म और ईश्वर

जैनधर्म में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। जैनी लोग सिद्ध पुरुषों की पूजा करते हैं। इन्हीं जीवन्मुक्त को तीर्थङ्कर कहते हैं। मुक्तजीव ही परमात्मा कहलाता है। वह तपाये हुए सोने की भाँति विशुद्ध दिव्य छवि धारण करता है। तीर्थङ्कर अवगुणों से परे वास्तविक ईश्वर समझे जाते हैं।

जैनधर्म में ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। तीर्थङ्करों का पुनर्जन्म नहीं होता, वे दैवी आत्मा हो जाते हैं। इस प्रकार, महावीर जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे; किन्तु जैनधर्म के वर्तमान रूप के संस्थापक एवं प्रवर्तक थे। भिन्न-भिन्न तीर्थस्थानों में इन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ हैं, जिनकी पूजा दिगम्बर और श्वेताम्बर अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार करते हैं। राजगृह (बिहार) के जैन-मन्दिरों में दोनों दलों को अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार पूजा करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त है। जो पहले पहुँचता है, अपनी पद्धति के अनुसार पूजा करता है।

जैन-तीर्थ

जैनियों के सात तीर्थस्थान हैं—(१) गिरनार, (२) राजगृह, (३) पावापुर, (४) चम्पापुर (५) पालिताना, (६) आबू और (७) सम्मेद-शिखर।

जैन विशेषतः बम्बई, गुजरात, काठियावाड़, सिन्ध, राजपूताना, पंजाब, मध्य-भारत, बंगाल, बिहार और युक्तप्रान्त में पाये जाते हैं। इनकी संख्या प्रायः पन्द्रह-सोलह लाख है। यह धन-सम्पन्न जाति है। जैन-मन्दिर इस धर्म के अनुयायियों की समृद्धि के द्योतक हैं। जैनी केसर या चन्दन की बिन्दी भी लगाते हैं।

जैन-साहित्य

महावीर के व्याख्यान मौखिक ही होते थे, जिन्हें विशेष विद्वानों ने अपनी विलक्षण स्मृति में निहित रखा। महावीर-निर्वाण की नवीं शताब्दी में, आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में, मथुरा में, एक सभा हुई। उसमें बचे अंगों की व्यवस्था की गई। इसके अनन्तर वल्लभी (काठियावाड़) में, देवर्धिगणि-क्षमाश्रमण के सभापतित्व में, लगभग सप्तम विक्रमी शती में, एक बड़ी सभा हुई। उसमें फिर से ११ अंगों का संकलन हुआ। उसे इसी समय पुस्तकारूढ़ किया गया। यह श्वेताम्बरों का आगम है, जो छः भागों में विभक्त है—(१) ग्यारह अंग, (२) बारह उपांग, (३) दस प्रकीर्णक, (४) छः छेदसूत्र, (५) दो सूत्र, (६) चार मूलसूत्र। ये ४५ ग्रन्थ आगम कहे जाते हैं। इनकी भाषा प्राकृत कहलाती है। दिगम्बरों का आगम इससे भिन्न है।[1] दिगम्बरों के धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त दर्शन, पुराण और इतिहास भी हैं। प्रसिद्ध अमरकोष जैन-विद्वान अमरसिंह-कृत समझा जाता है। इनके अलावा जैन-साहित्य तामील, कन्नड़ आदि भाषाओं में भी बिखरा पड़ा है।

जैन-प्रार्थना

अरहितं नमो भगवन्त नमो परमेश्वर जिनराज नमो।
प्रथम जिनेश्वर प्रेम पेखत सिद्धं सजलां 'काज नमो।
प्रभु पारंगत परम महोदय अविनाशी अकलंक नमो।
अजर अमर अद्भुत अतिशय निधि-प्रवचन जलधिमयंक नमो।
सिद्ध बुद्ध तू जगजन सज्जन नयनानंदन देव नमो।
तू तीर्थंकर सुखकर साहिब तू निःकारण बंधु नमो।
शरणागत भविनेहित वत्सल तु ही कृपारस सिंधु नमो।
"केवलज्ञाना" दर्शे दर्शित लोकालोक स्वभाव नमो।
नाशित सकल कलंक कलुषगणदुरित उपद्रव भाव नमो।
जगच्चिन्तामणि जगगुरु जगहितकारक जगजन नाथ नमो।
घोर अपार भवोदधि तारण तूं शिवपुणो साथ नमो।
अशरण शरण निराग निरंजन निरुपाधिक जगदीश नमो।
बोधि दीनु अनुपम दानेसन ज्ञानविमल सूरीश नमो।

---

१. द्रष्टव्य—श्रीकैलाशचन्द्र शास्त्री कृत जैन-धर्म, पृष्ठ २५६-६५

पाँचवाँ परिच्छेद
बौद्धधर्म

भारतवर्ष में २६०० वर्ष पूर्व मगध-साम्राज्य का बड़ा प्रचण्ड प्रताप था। यह राज्य आजकल के दक्षिण बिहार में गंगा के दक्षिण शोण-महानद तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी राजगृह-नगरी थी। गंगा के उत्तर में प्रबल लिच्छवियों का गणतन्त्र राज्य था, जिसकी राजधानी वैशाली थी। आज जिसे पूर्व-बिहार कहते हैं, वह अंग नाम से विख्यात था। गंगा के उत्तर-पश्चिम कोसल-राज्य था, जिसकी प्राचीन राजधानी अयोध्या उजड़ चुकी थी और नवीन राजधानी श्रावस्ती खूब हरी-भरी थी। कोसल-राज्य के पूर्व की ओर, रोहिणी नदी के दोनों किनारों पर, आमने-सामने, दो स्वतन्त्र जातियाँ शासन कर रही थीं—शाक्य और कोली। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में थी। शाक्यों और कोली लोगों का परस्पर घना सम्बन्ध था। शाक्यों का राजा शुद्धोदन ने कोली महाराज की दो कन्याओं से विवाह किया था।

-बुद्ध-जीवन-चरित्र

विवाह के बहुत समय बाद इन दोनों में से बड़ी रानी गर्भवती हुई। प्रसव के कुछ समय पूर्व, रानी पिता के घर प्रसव करने को भेज दी गई और वहीं प्रसव के बाद मर गई। फलतः छोटी बहन ने उस बच्चे को पाला। वही बच्चा बौद्धधर्म का स्थापक महान् बुद्ध हुआ। इसका राशि-नाम गौतम था। इसलिए वह गौतम बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गौतम महापुरुषों के सब शुभ चिह्नों से सुशोभित थे। वे संसार में आकर महान कार्य करेंगे—ऐसी भविष्यवाणी आचार्यों और पण्डितों ने जन्मकाल के समय ही कर दी। गौतम ने यथाविधि गुरु-गृह में रहकर विद्या प्राप्त की एवं अल्प काल में ही अपनी प्रखर-प्रतिभा के कारण सब शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

राजकुमार की संसार से विरक्ति तथा ध्यान में मग्न रहने की बात महाराज शुद्धोदन से छिपी न रही। अतएव अपने पुत्र की प्रवृत्ति सांसारिक विषयों की ओर बढ़ाने के उद्देश्य से पिता ने, उनकी १८ वर्ष की अवस्था में ही, उनके विवाह का आयोजन किया। गौतम ने अपनी माता के घराने की कन्या यशोधरा का स्वयंवर-रीति से वरण किया। विवाह

तो हो गया; किन्तु यह गौतम की वैराग्य-वृत्ति को बदल न सका। महाराज ने अनेकानेक प्रकार की विलास-सामग्री एकत्र की। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में रहने के अनुकूल राजकुमार के लिए प्रासाद एवं उद्यान बनवा दिये। दस वर्ष तक वे सब प्रकार का लौकिक सुख भोगते रहे; किन्तु चित्त से उदासीन रहे और संन्यास की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई। जब उन्होंने अपने भ्रमण-समय में एक जर्जर वृद्ध, रोगी, शव तथा संन्यासी को देखा तब उनके मन में संसार की क्षणभंगुरता और भी खटकने लगी। वह सोचने लगे—जब सबको इस अवस्था में पहुँचना ही है तब भोग-विलास क्या? संसार को जरा-मरण से मुक्त होना चाहिए। सारे संसार से उनकी विरक्ति हो गई। उनके हृदय में मनुष्य-मात्र के दुःख दूर करने की अभिलाषा हुई। अधिकार और धन से अलग रहकर वे कुछ ऐसी वस्तु की खोज में थे, जो न धन से, न अधिकार से मिल सकती थी। इसी समय उनके पुत्र हुआ। पुत्र होने का समाचार जब उन्हें मिला, वे नदी तट पर वाटिका में बैठे थे। सुनते ही उन्होंने कहा—यह एक नया और मजबूत बन्धन और तैयार हुआ, जिसको अब तोड़ना पड़ेगा। सारे राज्य में हर्षोत्सव की धारा बह रही थी; किन्तु गौतम का हृदय संसार के दुख से दुखित था। उन्हें रात्रि में निद्रा नहीं आई। वे अपनी सुप्त पत्नी तथा नवजात शिशु के दर्शन करने के लिए भीतर राज्य-भवन में गये। क्षणभर में संसार के अन्तिम बंधन पर विजय लाभ कर वे घर से बाहर आये। अपने अश्व को सजाकर, अपने सारथि छन्दक के साथ, आधी रात की निस्तब्धता में, गौतम ने गृह-त्याग किया। कपिलवस्तु से छः योजन (२४ कोस) पर अनोमा नदी के तट पर पहुंचकर कुमार घोड़े से उतर पड़े और अपने वस्त्र-आभूषण छन्दक को सौंपकर उसे कपिलवस्तु लौटने की आज्ञा दी। उन्होंने पितृचरण में यह संदेश भेजा कि आप मेरे लिए चिन्ता न करेंगे। मैं बुद्धत्व प्राप्त कर शांत-चित्त से लौटूँगा।

छन्दक के चले जाने पर गौतम ने ब्रह्मचारी का वेश धारण किया और कुछ दिनों तक वैशाली में रहे। वहाँ से गौतम राजगृह गये और कुछ काल तक महापंडित रुद्र के साथ रहे और बाद में एक अन्य आचार्य **अलार कलभ** के यहाँ रहे। यहाँ भी उनको सन्तोष न हुआ और ज्ञान प्राप्त करने के लिए आगे चल दिये। बाद में उद्रक संन्यासी के पास रहकर उन्होंने हिन्दू-दर्शन-शास्त्र सीखा; लेकिन इससे भी उन्हें सन्तोष न हुआ।

गौतम यह जानना चाहते थे कि क्या तपस्या करने से दैवी शक्ति और ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं? इस उद्देश्य से उर्वला के जंगल में जो आधुनिक बोधगया के निकट था, गये और पाँच साथियों के साथ छः वर्ष तक कठोर तपस्या की और बड़े कष्ट सहे। एक दिन अत्यन्त दुर्बलता के कारण वे गिर गये। उन्होंने निश्चय किया कि तपस्या व्यर्थ है और उसे छोड़ दिया। पाँच साथियों ने जो उनकी प्रतिभा के कारण गुरु के सदृश उनका आदर करते थे, उनपर घृणा प्रकट की और इसे हृदय-दौर्बल्य समझकर वे काशी चले गये। अन्त में गौतम बोधिवृक्ष के नीचे समाधि लगाकर बैठ गये। वहाँ बहुत समय तक विचार करते रहे। उनके अतीत जीवन के दृश्य सामने आते रहे। इन्द्रियों की वासना आदि ने उन्हें ललचाया। जो विद्या उन्होंने अबतक प्राप्त की थी

वह उन्हें व्यर्थ-सी मालूम हुई और जो तपस्या की थी, वह भी निष्फल ज्ञात हुई। अन्त में उनका सारा सन्देह दूर हो गया और सत्य का प्रकाश आँखों के सामने चमकने लगा। वैशाखी पूर्णिमा को उन्होंने अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के बाद बुद्धत्व प्राप्त किया। संसार के समस्त रहस्य का पता लग गया। उन्हें सारा संसार दुःखमय प्रतीत होने लगा। दुःख का कारण और उसके निरोध का उपाय भी उन्हें ज्ञात हो गया। गौतम ने समझ लिया कि **पवित्र जीवन, प्रेम और दया का भाव ही सबसे उत्तम मार्ग है। यह नई बात गौतम ने मालूम की और अपने-आपको बुद्ध के नाम से प्रकट किया।**

अपने पाँच शिष्यों को उपर्युक्त सत्य बताने के लिए वे काशी गये। मार्ग में उन्हें उपक नामक मनुष्य मिला जो जीवन भर योगियों के साथ रहा था। उसने गौतम को गम्भीर और शांत देखकर पूछा—"कहो, तुमने किस विचार से संसार त्यागा है? तुम्हारे विचार क्या हैं? तुम्हारे गुरु कौन हैं?" गौतम ने कहा—"मेरा कोई गुरु नहीं। मैंने सब कामनाओं का दमन किया, मैंने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की। मुझे महान् ज्ञान हुआ, मैंने निर्वाण प्राप्त किया। मैं संसार में अमरत्व का ढिंढोरा पीटने काशी जा रहा हूँ।"

सारनाथ (काशी के पास) पहुँचकर बुद्ध पाँचों साथियों से मिले और उन्हें अपना नया सिद्धान्त बतलाया। बुद्ध ने कहा—"हे शिष्यो! जिन्होंने संसार त्याग दिया है, उन्हें ये दो बातें कभी नहीं करनी चाहिए—(१) जिन बातों से मनोविकार उत्पन्न होते हों, (२) तपस्याएँ जो केवल दुःख देनेवाली हैं और जिनसे कोई लाभ नहीं। इन दोनों बातों को छोड़कर बीच का मार्ग ग्रहण करो। इससे मन को शान्ति और पूर्ण आनन्द प्राप्त होगा।" तत्पश्चात् उन्होंने दुःख, दुःख के कारण और दुःखों के नाश करने के सम्बन्ध की बातें बताईं और अपनी प्रसिद्ध आठ शिक्षाएँ दीं।

काशी में पाँच महीने के अन्दर बुद्ध ने ६० शिष्य बनाये और उन्हें मनुष्यमात्र को मुक्ति-मार्ग बताने के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेज दिया। बाद, बुद्ध गया गये और वहाँ चार पुरुषों को अपना शिष्य बनाया। इनमें एक काश्यप था। वह वैदिक धर्म का बड़ा भारी अनुयायी एवं दार्शनिक था। उसको शिष्य बनाने के कारण बुद्ध की बड़ी ख्याति हुई, गया में हलचल मच गई और शीघ्र ही उनके १००० शिष्य हो गये। बाद, शिष्यों के साथ राजगृह आये। राजा बिम्बसार बुद्ध के उपदेश पर अपने सेवकों के साथ उनका शिष्य हो गया। बुद्ध कुछ समय तक वहाँ रहे और दो प्रसिद्ध पुरुषों को, जो सारिपुत्र और मौद्गलायन के नाम से प्रसिद्ध हुए, अपना शिष्य बनाया।

बुद्ध और उनके शिष्य भोर में उठकर नित्य कर्म से निवृत्त होकर आध्यात्मिक वार्तालाप करते। बाद, शिष्यों के साथ भिक्षा-पात्र लेकर नगर में जाते और द्वार-द्वार बिना कुछ माँगे, चुपचाप खड़े हो जाते। लोग भोजन का एक ग्रास भिक्षा-पात्र में डालते। ग्यारह दरवाजे पर ग्यारह ग्रास लेकर वे उसी प्रकार नीची दृष्टि किये हुए अपने स्थान पर लौट आते।

बुद्ध स्त्री-पुरुष को समानभाव से उपदेश देते थे, किन्तु उन्होंने स्त्रियों को बहुत काल तक भिक्षुणी नहीं बनाया।

जब उनकी ख्याति फैली तब उनके वृद्ध पिता ने उन्हें देखने की इच्छा प्रकट की। बुद्ध ने घर-द्वार छोड़ने पर छन्दक द्वारा सन्देश भेजा था कि बुद्धत्व प्राप्त कर मैं लौटूँगा। अतएव पिता का निमंत्रण पाकर वे कपिलवस्तु गये। उन्हें भिक्षा-पात्र लेकर अपने नगर में, जहाँ के वे राजकुमार थे, द्वार-द्वार घूमते देखकर लोगों को सिर्फ कौतूहल ही नहीं हुआ; बल्कि नगर में हाहाकार मच गया।

बुद्ध ने सारी रात महल में उपदेश दिया और भोर में समस्त श्रोता बुद्ध के अनुयायी हो गये।

आरनाल्ड साहब ने अपनी पुस्तक "लाइट ऑफ एशिया" (Light of Asia)[१] में बड़ी सुन्दर और रोचक कविता में इस घटना का वर्णन किया है। उनका पुत्र राहुल भी बुद्ध-धर्म का अनुयायी होकर भिक्षु हुआ। इससे उनके वृद्ध पिता को बहुत दुःख हुआ और उनकी शिकायत पर बुद्ध ने यह नियम बनाया कि भविष्य में कोई भी बालक अपने माता-पिता की आज्ञा के बिना भिक्षु नहीं बनाया जायगा।

शिष्यवर्ग

शाक्य-वंशीय छः राजकुमार और उपालि नाम के नापित ने बुद्धदेव से शिक्षा ग्रहण की, तथा ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गये। इन शिष्यों में आनन्द, देवव्रत, उपालि और अनिरुद्ध प्रसिद्ध हुए। आनन्द, बुद्धदेव के शिष्यों में सर्वप्रथम एवं कृपा-पात्र था। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उसने राजगृह में ५०० भिक्षुओं की एक बड़ी सभा की जिसमें बुद्ध के समस्त सिद्धान्तों एवं प्रवचनों को फिर से दोहराया और एकत्र किया गया। अनिरुद्ध बौद्ध धर्म के बड़े अच्छे व्याख्याता हुए। कहा जाता है कि इनको दिव्य-चक्षु प्राप्त हो गई थी। उपालि जाति का नापित था, किन्तु अपने धार्मिक भाव और मानसिक शक्तियों के कारण संघ का बड़ा भारी नेता बन गया। वह विनयपिटक का और आनन्द सूत्रपिटक का संग्रहकर्त्ता हुआ। देवदत्त बुद्ध के स्वजनों और कृपापात्रों में था। किन्तु वह बुद्ध की महत्ता से ईर्ष्या रखता था और चाहता था कि येन केन प्रकारेण स्वयं भी उनकी-सी ख्याति प्राप्त कर ले। देवदत्त ने संघ के नियमों में दोष देखना आरम्भ किया और अपने को बुद्ध से बड़ा सिद्ध करने के हेतु नियमों को बहुत नरम बतलाया तथा उन्हें कठोर बनाने का प्रयत्न किया। देवदत्त राजगृह चला गया और वहाँ राजा बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु से मिलकर बुद्ध के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। जब भगवान स्वयं राजगृह पहुँचे तो देवदत्त उनसे मिलने गया और अपने बनाये हुए कठिनतर नियमों के लिए उनसे अनुमति माँगी। बुद्ध ने अनुमति न देकर कहा—"यद्यपि शरीर पापमय है तथापि इसको नष्ट करने का उद्योग करना श्रेयस्कर नहीं है। यह सुकार्यों का भी साधन है। जिस दीपक में तेल-बत्ती न रहेगी वह शीघ्र बुझ जायगा। न तो सुखभोग में पड़ा रहना चाहिए और न शरीर को कष्ट देना ही परम लक्ष्य मानकर अन्य सब अच्छी बातों को भूल जाना चाहिए। यदि किसी को कठोर व्रत धारण करने की इच्छा हो तो वह धारण कर सकता है, किन्तु यह सर्वसाधारण के लिए लागू नहीं हो सकता।

---

१ इस पुस्तक का हिन्दी-पद्यानुवाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध-चरित' नाम से किया है।

यह कथन देवदत्त को बहुत बुरा लगा और उसने अजातशत्रु के साथ षड्यन्त्र कर बुद्धदेव की हत्या करने के विविध उपाय किये, किन्तु निष्फल रहा। पीछे देवदत्त रोगग्रस्त हो गया और अपने कृत्य पर लज्जित हुआ। वह बुद्धदेव की शरण में जाने के लिए पालकी पर चढ़कर चला; किन्तु मार्ग में ही बुद्ध को स्मरण करते हुए उसने शरीर त्याग दिया। इस विरोध की कथा बुद्ध-संघ में बड़े महत्त्व की है।

इस घटना के बाद बुद्धदेव राजगृह से श्रावस्ती आ गये और पैंतालिसवाँ चतुर्मास्य समाप्त कर वहाँ से राजगृह वापस आये। गृद्ध-कूट नामक पर्वत पर ठहरे। अजातशत्रु वैशाली पर आक्रमण करना चाहता था और आक्रमण करने के पूर्व उसने उनकी सम्मति ली। बुद्ध ने जो उत्तर दिया, वह बड़े महत्त्व का है, और उसपर किसी राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है। भगवान ने कहा—"जबतक वृज्जि (लिच्छवि) जाति में एकता है, जबतक वे मिलकर कार्य करते रहेंगे, जबतक गुरुजनों की सेवा में रत रहेंगे और कुल-स्त्रियों तथा कुल कुमारियों का समुचित आदर करते रहेंगे तबतक उस जाति के अधःपतन की सम्भावना नहीं है; वरन् उसकी उत्तोरत्तर वृद्धि ही होती रहेगी।"

बुद्ध अपने पिता की मृत्यु के समय कपिलवस्तु गये, और उनकी सेवा की। इस समय बुद्ध की अवस्था ६७ वर्ष की थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विमाता तथा पत्नी यशोधरा स्वतन्त्र हो गईं और उनलोगों ने स्वतन्त्र रूप से बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। यद्यपि बुद्ध स्त्रियों को भिक्षुणी नहीं बनाना चाहते थे तथापि विमाता और पत्नी के आग्रह पर तथा आनन्द के अनुरोध पर बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की आज्ञा दी, किन्तु ऐसा नियम बनाया कि वे भिक्षुओं के अधीन रहें। बुद्ध की विमाता और पत्नी प्रथम भिक्षुणी हुईं।

अन्तिम समय

बुद्ध ने ८० वर्ष की अवस्था में अपना शरीर छोड़ा; पर इसके पूर्व ही उनके धर्म ने संसार में बड़ी प्रबलता और दृढ़ता स्थापित कर ली। बुद्ध ने अन्त में एक बार शिष्यों को पुनः उपदेश दिया और धर्म का तत्त्व समझाया तथा दृढ़ रहने की आज्ञा दी। बुद्ध ने कहा—"यदि मनुष्य मन में निश्चय कर ले कि उसे बुद्ध में, संघ में, और धर्म में विश्वास है तो उसकी मुक्ति हो गई। "बुद्धं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, धर्मं सरणं गच्छामि।"—यह इस धर्म का मूलमंत्र हुआ। आनन्द से भगवान ने कहा—"हे आनन्द! तुम स्वयं अपने लिए प्रकाश हो। मेरे बाद तुम किसी दूसरे बाहरी रक्षक की शरण न लेना, रक्षक की भाँति सत्य में दृढ़ रहना।" जब बुद्ध के निर्वाण का समय निकट जानकर आनन्द विहार में खूँटी पकड़कर रोने तथा पश्चात्ताप करने लगे तब बुद्ध ने उन्हें अपने पास बुलाया और कहा—"आनन्द! बस अब दुःख मत करो। क्या मैंने तुमसे नहीं कहा कि यह बात स्वाभाविक है कि प्रियजन पृथक् हो जाते हैं। जो वस्तु उत्पन्न हुई उसमें नाश लगा हुआ है। यह कैसे सम्भव है कि नाश न हो? तुमने मेरे प्रति प्रेम-व्यवहार रखा। तुम्हारा प्रेम कभी घटा नहीं। तुम अपने उद्योग में लगे रहो। तुम भी बुराई से शून्य हो जाओगे तथा निर्वाण को प्राप्त होगे। संसार में मैं पहला बुद्ध

नहीं हूँ और न मैं अन्तिम बुद्ध ही होऊँगा। जबतक मेरे शिष्यगण पवित्रता के साथ धर्म का पालन करेंगे तबतक धर्मोन्नति होती रहेगी। जब सत्य की ज्योति मिथ्या तत्त्व के मेघों में छिप जायगी तब एक दूसरे बुद्ध का आविर्भाव होगा, जो मेरे बतलाये हुए धर्म का दोबारा प्रचार करेंगे। उनका नाम मैत्रेय होगा। हमारे चले जाने पर तुम लोगों में से कोई यह न सोचे कि अब हमारा कोई गुरु नहीं है। संघ के नियम तथा संघ के सिद्धान्त ही तुम्हारे गुरु होंगे।"

तदनन्तर बुद्धदेव ने उपस्थित लोगों से पूछा कि जिसको जो पूछना हो, पूछ ले, जिससे बाद में किसी को यह दुःख न रहे कि बुद्धदेव के होते हुए अमुक बात नहीं पूछ सका। तीन बार पूछने पर भी जब किसी ने कोई शंका उपस्थित न की तब बुद्ध ने कहा— "भाइयो! देखो, मैं तुमसे आग्रहपूर्वक जो बातें कहता हूँ—ध्यान देकर सुनो। सब पदार्थों में नाश लगा हुआ है। अपनी मुक्ति के लिए पूर्ण परिश्रम के साथ यत्न करते रहना।" यही बुद्ध का अन्तिम उपदेश था। इसके बाद वे क्रमशः समाधि की अवस्था में प्रवेश करते हुए निर्वाण को प्राप्त हो गये।

भगवान् के शरीर को ढँककर सुगन्धित काष्ठों की चिता बनाकर शव को चिता पर रखा। काश्यप और ५०० भिक्षुओं की वन्दना कर लेते ही भगवान् की चिता जल उठी। भगवान् के शरीर की जो झिल्ली, चर्म, मांस, नस या चर्बी थी, उनकी न राख जान पड़ी न कोयला। सिर्फ अस्थियाँ ही बाकी रह गईं। भगवान् के शव के दग्ध हो जाने पर मेघ ने आकाश से वृष्टि करके चिता ठंढी की।

राजा अजातशत्रु ने राजगृह में भगवान् की अस्थियों पर स्तूप बनवाया और पूजा की। वैशाली के लिच्छवियों ने, रामग्राम के कोलियों ने, अल्लकाप के बुल्लियो ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, वठे-द्वीप के ब्राह्मणों ने और पावा के मल्लों ने भी अस्थि पाने के लिए आग्रह किया। अस्थि आठ भागों में वितरित कर दी गई—(१) मगध के राजा अजातशत्रु, (२) वैशाली के लिच्छवी, (३) कपिलवस्तु के शाक्य, (४) अल्लकाप के बुल्लि, (५) रामग्राम के कोलिय, (६) वठे-द्वीप के ब्राह्मण, (७) पावा के मल्ल, और (८) कुशीनगर के मल्ल।

आठ स्तूप इन अस्थियों पर बनवाये गये। एक स्तूप उस पात्र पर बनाया गया जिसमें अस्थियाँ रखी गई थीं। पिप्पली-वन के मौर्यों ने सिर्फ वहाँ के कोयला और भस्म से ही संतोष किया।

बुद्ध के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त

संसार में भगवान् बुद्ध का जन्म इस हेतु हुआ था कि वे संसार को वास्तविक दुःख-रूप बतलावें और उसके शमन का उपाय भी। इस धर्म का सारांश आत्मोन्नति और आत्मनिरोध है। इस मत के सिद्धान्त और विश्वास गौण हैं।

आर्य सत्य चार प्रकार के हैं—

(१) दुःख, (२) दुःख का हेतु, (३) दुःख का निरोध और (४) दुःख-निरोध का उपाय। क्षोभ और कामनाओं से रहित होकर पवित्र जीवन-निर्वाह करने से मनुष्यों के दुःख

दूर होने की सम्भावना है। यह दुःखवाद ही बौद्ध-सिद्धान्त है। कपिल के सांख्य का भी मूल दुःख ही है। किस तरह दुःख की निवृत्ति होगी—सांख्य यही बतलाता है। बौद्ध-धर्म और सांख्य—दोनों निरीश्वरवादी हैं।

बुद्ध ने कहा है—दुःख का अनुभव सब करते हैं, किन्तु दुःख को जाननेवाले थोड़े ही हैं। दुःख के अनुभव से दुःख की निवृत्ति नहीं होती, वरन् दुःख के कारण के ज्ञान से निवृत्ति होती है। बुद्ध ने बतलाया कि जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त संसार दुःख-रूप है। संसार में सुख-स्थापन करने की चाहे जितनी भी चेष्टा की जाय, आनन्द एवं विलास की सामग्री चाहे जितनी इकट्ठी की जाय, किन्तु दुःख से निवृत्ति नहीं हो सकती। संसार के सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं और दुःख इसी का फल है। अभिलाषाओं की पूर्ति भी दुःखमय है, क्योंकि एक कामना की पूर्त्ति होने पर भी दूसरी कामना लगी हुई है। तृष्णा ही हमारे मन में राग उत्पन्न करती है और जबतक किसी वस्तु के लिए राग लगा हुआ है तबतक हम उसकी प्राप्ति के हेतु यत्नवान रहेंगे। इस प्रकार तृष्णा ही दुःख का हेतु है। बुद्ध का सिद्धान्त है कि तृष्णा का सर्वतोभाव से परित्याग करने से दुःख का निरोध होता है। और इस तृष्णा-नाश का ही नाम निर्वाण है। अन्त में दुःख-नाश के आठ मार्ग वे बताते हैं जो अष्टांगिक मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं–(१) सम्मा दिट्ठि अर्थात् सम्यक् दृष्टि। (२) सम्मा संकल्प अर्थात् सम्यक् संकल्प। (३) सम्मा वाचा अर्थात् सम्यक् वाक्य। (४) सम्मा कम्मान्त अर्थात् सम्यक् कर्मान्त। (५) सम्मा जीव अर्थात् सम्यक् जीविका। (६) सम्मा वायाम अर्थात् सम्यक व्यायाम। (७) सम्मा सति अर्थात् सम्यक् स्मृति। (८) सम्मा समाधि अर्थात् सम्यक् समाधि।

(१) सम्मा दिट्ठि—दुःख-समुदाय का और दुःख-निरोध का ज्ञान ही सम्यक्-दृष्टि है। जबतक हम संसार को दुःख-रूप न मानेंगे तबतक हमारे कर्त्तव्य का लक्ष्य उससे भागने की ओर न होगा। सच्चे ज्ञान के बाद ही सच्चा संकल्प आता है।

(२) सम्मा संकल्प—दुःख-समुदाय के ज्ञान से निश्चय हो जाता है कि तृष्णा-त्याग के बिना दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता। जब हमारा सबके साथ अद्वेष, अहिंसा और मैत्री का भाव होगा तभी हमारी तृष्णा का क्षय हो सकेगा। अतएव हमें ऐसा भाव बना लेना चाहिए, जिससे किसी के प्रति हिंसा और द्वेष का व्यवहार न हो। यही विचार सम्यक् संकल्प है।

(३) सम्मा वाचा—सब प्रकार के झूठ, दूसरों की निन्दा, अपमान, चुगली, झूठी गवाही आदि से विमुख रहना चाहिए। निरर्थक वार्तालाप भी दूषित समझा जाता है। सम्यक् वार्तालाप मनुष्यों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करने में सहायक होता है। ऐसी कोई बात न कहनी चाहिए जिससे दूसरे का जी दुखे। यहाँ तक कि अपराधी को दण्ड देते समय भी आदर का व्यवहार होना चाहिए और उसमें व्यक्तिगत वैर-भाव अथवा रोष की गन्ध न आनी चाहिए।

(४) सम्मा कम्मान्त—बौद्धधर्म में हिन्दू-धर्म की भाँति ही आवागमन माना गया है। लोग अपने कर्मों के अनुकूल बुरा या भला जन्म लेते हैं। बौद्ध-धर्म आत्मा को नहीं मानता, किन्तु एक प्रकार से कर्म का सिद्धान्त मानता है। प्राणी का पुनर्जन्म नहीं होता,

किन्तु उसका संस्कार और अन्तिम विचार एक नया रूप धारण कर लेता है। स्वयं बुद्ध ने, जातक-कथाओं के अनुसार, अनेकों बार जन्म लिया था।

कर्मों में पञ्चशील मुख्य हैं। सर्वतः पाप-निवृत्ति को शील करते हैं। ये पञ्चशील अर्थात् पाँच आज्ञाएँ सब बौद्ध गृहस्थों और भिक्षुओं के लिए हैं। ये संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) कोई किसी को न मारे, (२) चोरी न करे अर्थात् जो वस्तु न दी गई हो, उसे न ले, (३) झूठ न बोले, (४) नशीली चीजों का सेवन न करे, (५) व्यभिचार न करे।

भिक्षुओं के लिए पाँच और नियम हैं जो इस प्रकार हैं—(१) रात्रि में देर से भोजन न करना। (२) माला न पहनना और सुगन्धित द्रव्य न लगाना। (३) भूमि पर सोना। (४) नाच-गान-बाजे में आसक्त न होना। (५) सोना-चाँदी को व्यवहार में न लाना।

ये दसों आज्ञाएँ (दशशील) भिक्षुओं के लिए अनिवार्य हैं और प्रथम पञ्चशील गृहस्थों के लिए।

अपने माता-पिता का सत्कार करना यद्यपि इन दशशीलों में नहीं है, तथापि सूत्र में सब गृहस्थों को उसका पालन करने के लिए कहा गया है।

(५) **सम्मा जीव**—ऐसी जीविका न करनी चाहिए जो बौद्धधर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो अर्थात् ऐसी आजीविका नहीं करनी चाहिए जिसमें हिंसा, चोरी और व्यभिचार करना पड़े तथा झूठ बोलना पड़े। सारांश, मनुष्यों की आजीविका शुद्ध होनी चाहिए।

(६) **सम्मा वायाम**—व्यायाम से यहाँ पर कसरत का अभिप्राय नहीं, नाना प्रकार के योग-आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना नहीं, परन्तु इसका अर्थ है शुभोद्योग। सच्चे उद्योग में चार बातें आती हैं—(१) अवगुणों के नाश का उद्योग करना। (२) नये अवगुणों से बचना। (३) गुणों को प्राप्त करना। (४) गुणों की वृद्धि (आचार-विचार द्वारा) करना।

(७) **सम्मा सति**—स्मृति से स्मरण और बराबर विचार करने का अर्थ लिया गया है। मन सदा शुद्ध होना चाहिए। जब मन शुद्ध होगा तभी कर्म निर्दोष होगा। कर्म से कायिक, वाचिक, मानसिक—तीनों प्रकार के कर्म लिये जाते हैं।

(८) **सम्मा समाधि**—समाधि कर्तव्य-पथ में अन्तिम बात है। शील के अनुशीलन से हमारी मानसिक क्रियाएँ नियमित हो जाती हैं। शील समाधि की सीढ़ी है। सत्कर्म के लिए जो चित्त की एकाग्रता संपादित की जाती है वह समाधि है। समाधि की इच्छा रखनेवाले को भोजनादि में आसक्ति का वर्जन कर उसके प्रति वैराग्य रखने का उद्योग करना पड़ता है। भोजन में स्वाद लेने की जरा-सी भी रुचि न रहनी चाहिए। दुःख का नाश करने के उद्देश्य से शरीर धारण रखने के निमित्त ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार भोजन से विराग उत्पन्न कर लेने पर निर्वाण-पथ के पथिक को शरीर की अनित्यता पर विचार करना चाहिए। निर्वाण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को अपना भाव ऐसा बना लेना चाहिए कि वह समस्त संसार का मित्र है।

बुद्ध के उदान

भावातिरेक से कभी-कभी जो सन्तों के मुँह से वाक्य निकला करता है उसे उदान कहते हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप ने बुद्ध के उदान का अनुवाद ललित हिन्दी में किया है। यहाँ उनमें से कुछ मुख्य उदान दिये जाते हैं—

(१) मनुष्य अपने वंश अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं हो जाता, परन्तु जिसमें सत्य और पुण्य है वही ब्राह्मण है और वही धन्य है। जिसने पाप को मन से बाहर कर दिया है, रागादि से रहित और संयमशील है, जो निर्वाण-पद जानता है, सफल ब्रह्मचर्यवाला है—वही अपने को ब्राह्मण कह सकता है। पापकर्म को हृदय से बाहर कर सदा स्मृतिमान रहता है, सभी बन्धनों के कट जाने से जो बुद्ध हो गया है—संसार में वही ब्राह्मण कहा जाता है।

स्नान तो सभी लोग करते हैं परन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।

(२) जो प्रपंच-पंक को पार कर चुका, काम के काँटों को तोड़ चुका, मोह का क्षय कर चुका और सुख-दुख से लिप्त नहीं होता, वही सच्चा भिक्षु है।

जिसने कामरूपी कण्टक को मसल डाला है, क्रोध और हिंसा को जीत लिया है, वह पर्वत के ऐसा अचल रहता है। उस भिक्षु को सुख-दुख नहीं सताते। जिसमें न माया (छल) है, न अभिमान, जो निर्लोभ है और स्वार्थ तथा तृष्णा से रहित है, जो क्रोध से रहित होकर शान्त हो गया है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण और वही भिक्षु है।

(३) जितनी हानि शत्रु शत्रु की और वैरी वैरी की करता है, झूठ के मार्ग पर लगा चित्त उससे अधिक बुराई करता है।

(४) जिसका चित्त शिला के ऐसा अचल रहता है—राग उत्पन्न करनेवाले विषयों में अनुरक्त नहीं होता है और क्रोध करनेवाले विषयों में क्रोध नहीं करता, जो ध्यान लगाना जान चुका है—उसे क्यों कर दुःख हो सकता है।

(५) स्थिर शरीर और स्थिर चित्त से खड़ी, बैठी या सोई अवस्था में जो भिक्षु अपनी स्मृति को बनाये रखता है, वह ऊँची-से-ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है। ऊँची-से ऊँची अवस्था को प्राप्त कर वह मृत्यु की दृष्टि में नहीं आता।

(६) जिसने अपने वितर्कों को भस्म कर दिया है और अपने को पूरा-पूरा पहचान लिया है, वह अरूपसंज्ञी योगी सांसारिक आसक्ति को छोड़ चारो योगों (कामयोग, भवयोग, दृष्टियोग और अविद्यायोग) के परे हो जाता है। उसका फिर संसार में जन्म नहीं होता।

(७) कामों में आसक्त, कामों के पङ्क में पड़े, दस बन्धनों के दोष को नहीं देखनेवाला, बल्कि उन बन्धनों में और भी संलग्न रहनेवाला इस अपार भवसागर को पार नहीं कर सकता।

(८) मोह के बन्धन में पड़ा हुआ संसार, ऊपर से देखने में बड़ा अच्छा मालूम होता है। संसारी मूर्ख-जन उपाधि के बन्धन में बँधे हुए हैं और अंधकार से सभी ओर घिरे पड़े हैं। समझते हैं—"यह सदा ही रहनेवाला है।" ज्ञानी पुरुष के लिए रागादि कुछ नहीं है।

(६) दान देने से पुण्य बढ़ता है। संयम करने से वैर बढ़ने नहीं पाता। पुण्यवान पाप को छोड़ देता है। राग-द्वेष और मोह के क्षय होने से परिनिर्वाण पाता है।

(१०) शोक करना, रोना-पीटना तथा और भी संसार में होनेवाले अनेक प्रकार के दुःख प्रेम करने से ही होते हैं। जो प्रेम नहीं करता, उसे कोई दुःख नहीं होता। संसार में जिनके मन में कभी प्रेम की भावना नहीं उठी है वे ही सुखी और शोक-रहित होते हैं। इसलिए संसार में प्रेम (मोह-माया) न बढ़ाते हुए विरक्त रहने का यत्न करना चाहिए।

बुद्ध का धम्मपद

जिस प्रकार महाभारत में गीता एक छोटी, किन्तु अमूल्य कृति है उसी प्रकार समस्त बौद्ध-साहित्य में "धम्मपद" एक छोटा, किन्तु मूल्यवान रत्न है। धम्मपद में २६ अध्याय हैं और कुल ४२३ श्लोक अथवा कथन हैं। भगवद्गीता की विशेषता है—कई दार्शनिक विचारों के समन्वय का प्रयत्न; इसलिए गीता के टीकाकारों में आपस में मतभेद है, लेकिन धम्मपद में एक ही मार्ग है, एक ही शिक्षा है। उस पथ के पथिक का आदर्श निश्चित है। भगवद्गीता की तरह धम्मपद का बड़ा प्रचार है। प्राचीनकाल में चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। अब तो संसार की सभी सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। भारत की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी एक से अधिक अनुवाद हैं जिनमें सर्वाङ्ग सुन्दर भदन्त आनन्द कौशल्यायन का है। इसी अनुवाद से यहाँ कुछ चुने हुए वाक्य श्लोक-संख्या के साथ दिये जाते हैं—

(१) वैर वैर से कभी शान्त नहीं होता। अवैर से ही वैर शान्त होता है। यही इसका स्वभाव है। (५)

(२) धर्मग्रन्थों का कितना ही पाठ करें, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार आचरण नहीं करता तो दूसरे की गौएँ गिननेवाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता। (१९)

(३) न दूसरों के दोष, न दूसरों के कृत-अकृत को देखे। आदमी को चाहिए कि अपने ही कृत-अकृत को देखे। (५०)

(४) चन्दन, कमल या जूही की सुगन्ध से सदाचार की सुगन्ध बढ़कर है। (५५)

(५) यदि मूर्ख आदमी अपने को मूर्ख समझे तो उतने अंश में तो वह बुद्धिमान है। असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए अपने को बुद्धिमान समझता है। (६३)

(६) जबतक पाप कर्मफल नहीं देता, मनुष्य उसे मधु के सदृश समझता है। जब पाप कर्मफल देता है तब उसे दुःख होता है। (६९)

(७) जो आदमी अपना दोष दिखानेवाले को भूमि में धन दिखानेवाले की तरह समझे, जो संयम में समर्थ कवि-पंडित की संगति करे, उस आदमी का कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं। (७६)

(८) अधर्म से न अपने लिए पुत्र, धन या राष्ट्र की इच्छा करता है, न दूसरे के लिए। जो अधर्म से अपनी उन्नति नहीं चाहता वही सदाचारी है। प्रज्ञावान ही धार्मिक है। (८४)

(९) दूसरों को जीतने की अपेक्षा अपने को ही जीतना श्रेष्ठ है। (१०५)

(१०) शुभ-कर्म करने में जल्दी करे। पापों से मन को हटावे। शुभ-कर्म करने में ढील करने पर मन पाप में रत होने लगता है। (११६)

(११) न नंगे रहने से, न जटा बढ़ाने से, न भस्म लेपने से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न उकड़ू बैठने से ही उस आदमी की शुद्धि होती है जिसकी आकांक्षाएँ निर्मूल नहीं हुई हैं। (१४१)

(१२) मनुष्य पहले स्वयं वैसा करे जैसा वह औरों को उपदेश देता है। अपने को दमन करनेवाला दूसरों का भी दमन कर सकता है। वस्तुतः अपने को दमन करना ही कठिन है। (१५९)

(१३) अपना किया पाप अपने को मलिन करता है। अपना न किया पाप अपने को शुद्ध करता है। प्रत्येक आदमी की शुद्धि-अशुद्धि अलग-अलग है। एक आदमी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता। (१६५)

(१४) नीरोग रहना परम लाभ है। सन्तुष्ट रहना परम धर्म है। विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है। निर्वाण सबसे बड़ा सुख है। (२०४)

(१५) क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कंजूसपन को दान से और झूठ को सच से जीते। (२२३)

(१६) सत्य बोले, क्रोध न करे, माँगने पर थोड़ा रहते भी कुछ दे, इन तीन बातों के करने से आदमी देवताओं के पास जाता है। (२२४)

(१७) राग के समान आग नहीं, द्वेष के समान ग्रह नहीं, मोह के समान जाल नहीं और तृष्णा के समान अगम नदी नहीं। (२५१)

(१८) दूसरों के दोष का देखना आसान है। अपने दोष का देखना कठिन है। दूसरों के दोषों को तो भुस की भाँति उड़ाता है; किन्तु अपने दोषों को ढँकता है जैसे बेईमान जुआड़ी पासे को। (२५२)

(१९) जिस प्रकार कुश यदि ठीक से ग्रहण न किया जाय तो हाथ को छेद देता है उसी प्रकार संन्यास का यदि ठीक से पालन न किया जाय तो नरक में ले जाता है। (३११)

(२०) धर्म का दान सब दानों से बढ़कर है। धर्मरस सब रसों से बढ़कर है। धर्मरति सब रतियों से बढ़कर है। तृष्णा का क्षय सब दुखों के क्षय से बढ़कर है। (३४५)

(२१) मैं ब्राह्मणी माता से पैदा होने के कारण किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। जिसके पास कुछ नहीं है और जो कुछ नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(२२) जो बिना चित्त को दूषित किये गाली, वध और बन्धन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसकी सेना का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। (३९९)

बौद्धसंघ

बुद्ध ने जब अपने धर्म का स्वरूप ठीक-ठीक संगठित देखा तब उन्होंने अपने धर्म के प्रचार के लिए एक बौद्ध-संघ स्थापित किया। आजतक संसार में इसके बराबर का संघ नहीं हुआ। अधिकांश साधु, ऋषि, मुनि अपनी आत्मा की उन्नति में ही तत्पर रहते थे,

पर बौद्ध-संघ में कुछ ऐसी विशेषता थी कि आज उसने अपने आदर्शों की छाप विश्व-भर के धार्मिक संघों पर डाल रखी है। अपनी आत्मा के कल्याण के साथ ही संसार के कीचड़ में फँसे हुए व्यक्तियों को भी सदुपदेश सुनाकर अपने पथ पर लाना उसका उद्देश्य था।

बुद्ध स्त्री-पुरुष को, जिनको संसार से विरक्ति हो गई हो, बिना किसी जाति-भेद-भाव के अपने संघ में सम्मिलित कर लेते थे। बुद्ध के पूर्व शूद्र संन्यासी अथवा वानप्रस्थी नहीं हो सकते थे; लेकिन बुद्ध ने जाति-पाँति के भेद-भाव को बिलकुल उठा दिया था।

गृहस्थ बौद्ध-भिक्षुओं को वस्त्र बाँटना एक बड़ा पुण्य का काम समझते थे। हर शरद्-ऋतु में बौद्ध-भिक्षुओं को वस्त्र बाँटे जाते थे। भिक्षु तीन वस्त्रों के अतिरिक्त एक भिक्षा-पात्र, एक अँगोछा, एक करधनी और एक उस्तरा रखते थे। हर पन्द्रहवें दिन भिक्षु लोग परस्पर एक दूसरे का मुण्डन कर देते थे। वर्षा-ऋतु उन्हें एक ही जगह व्यतीत करनी पड़ती थी। उसे चतुर्मास कहते थे, जो आषाढ़ की पूर्णिमा से कार्तिक की पूर्णिमा तक माना जाता था। भिक्षु अपनी आजीविका स्वयं उपार्जन करते थे। उनकी आजीविका भिक्षा थी। किन्तु भिक्षा के समय वे मौन रहते थे। बुद्ध के जीवनकाल में ही संघ के नियम बन गये थे। मरते समय बुद्ध ने कहा—"संघ के लिए हमने जो नियम बना दिये हैं वे ही तुम्हारे लिए गुरु और आचार्य का काम करेंगे।"

भिक्षुओं के लिए भी एक ही नियम था, किन्तु उनका सारा काम बिलकुल पृथक् था। बौद्धसंघ की स्थापना में तीन महत्त्वपूर्ण बातें थीं—(१) सहयोग-भावना और सार्वजनिक बुद्धि से काम लेना। (२) संगठन और व्यवस्था बनाये रखना। (३) धर्म के प्रचार और विस्तार के लिए नया-नया आयोजन करना।

निर्वाण

बौद्धधर्म आत्मा को नहीं मानता। वह सब वस्तुओं को अनित्य और दुःखमय मानता है। सबको अनात्म मानता है। उसका सिद्धान्त है कि वासना के क्षय हो जाने से नाम-रूप इन्द्रधनुष के चित्र-विचित्र रंग की भाँति विलीन हो जाते हैं। निर्वाण निःशेषता का ही नाम है। निर्वाण दीपक के बुझने को कहते हैं। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से निर्वाण के विषय में पूछा तो उन्होंने उसको बताने में असमर्थता प्रकट की। क्योंकि दुनिया में कोई चीज निर्वाण के समान नहीं है। वास्तव में निर्वाण का अर्थ है उन गुणों और बन्धनों का नाश हो जाना, जो मनुष्य को भेद-भाव से अनुप्राणित कर स्वार्थ की ओर प्रवृत्त करता है। निर्वाण की अवस्था में मनुष्य की सारी वासनाएँ और आकांक्षाएँ नष्ट हो जाती हैं। जो अवस्था जीवन्मुक्त की होती है वही निर्वाण-प्राप्त मनुष्य की पाई जाती है। अतएव निर्वाण का अर्थ विनाश नहीं; किन्तु पूर्णता है।

आत्मा और पुनर्जन्म

बौद्धधर्म को छोड़कर भारतवर्ष के अन्य धर्म आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। बौद्ध-धर्म कहता है कि कोई स्थिर आत्मतत्त्व नहीं है। ऐसी अवस्था में अच्छे-बुरे कर्मों के लिए उत्तरदायी कौन है? पाप-पुण्य का फल कौन भोगता है? पुनर्जन्म किसका होता है? आत्मा के न मानने पर पुनर्जन्म की व्याख्या नहीं हो सकती। मरने के पहले और मरने के बाद किसी समय भी बौद्ध आत्मा का होना स्वीकार नहीं करते। यदि कोई भी क्रिया बिना स्थिर कर्त्ता के ही हो सकती है तो स्थिर तत्त्व को माने बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है। बौद्ध-दर्शन में आत्मा को बराबर दीपक की शिखा से उपमा दी जाती है। जबतक दीपक जलता रहता है तबतक उसकी शिखा या लौ एक मालूम पड़ती है। लेकिन वास्तव में वह शिखा नये ईंधन के संयोग से प्रतिक्षण बदलती रहती है। दीपक की शिखा एक ईंधन-संघात से दूसरे ईंधन-संघात में संक्रान्त हो जाती है। उसी प्रकार एक जीवन के मृत्युक्षण और दूसरे जीवन के जन्मक्षण में, किन्हीं दो क्षणों की अपेक्षा अधिक अन्तर नहीं है।

बौद्धधर्म और ईश्वर

बुद्ध ने किसी ईश्वर की पूजा करने की शिक्षा न दी थी। इस विषय की चर्चा ही नहीं की। उन्होंने ईश्वर का प्रश्न उठाया ही नहीं। पूछने पर बात टाल दी। केवल यही बतलाया कि वह एक अज्ञात पदार्थ है। इसलिए कहा जाता है कि बौद्धधर्म उपनिषदों का ब्राह्मण-व्यतिरिक्त दर्शनवाद है। अपना ही आश्रय लो। किसी अन्य का आश्रय मत ढूँढ़ो—यही बुद्ध की शिक्षा थी।

बौद्ध-सम्प्रदाय

बुद्ध के संघ के नियम बड़े दृढ़ और कठोर थे। जैसे-जैसे बौद्धमत का प्रचार होता गया वैसे-वैसे लोग अपने सुभीते की गुंजाइश खोजने लगे। अन्त में दो मुख्य संप्रदाय हो गये—'हीनयान' और 'महायान'।

हीनयान के मत से बुद्ध साधारण मनुष्य थे और उन्होंने अपने कर्त्तव्यपालन द्वारा बुद्धत्व प्राप्त किया। किन्तु महायान ने आदि बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व को माना है और उनको ईश्वर बना दिया है। "बोधिसत्त्व की कल्पना महायान सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है। यह कल्पना इतनी उदात्त तथा इतनी मनोरम है कि केवल इसी कल्पना के आधार पर यह धर्म संसार के प्रमुख धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। बोधिसत्त्व का शाब्दिक अर्थ है बोधि अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति। अर्हत् तथा प्रत्येक बुद्ध का लक्षण नितान्त सीमित रहता है। अपना अभ्युदय तथा व्यक्तिगत कल्याण-साधन करना ही दोनों के अनुष्ठान का अन्तिम उद्देश्य रहता है। पर बोधिसत्त्व संसार के समस्त प्राणियों के समग्र दुःखों का नाश कर उन्हें निर्वाण-प्राप्ति करा देना अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। संसार का एक-एक प्राणी जबतक मुक्त नहीं हो जाता तबतक वह स्वयं निर्वाण-सुख को भोगने के लिए उद्यत नहीं होता।

उसके जीवन का ध्येय स्वार्थ-सिद्धि न होकर परोपकार रहता है। वह जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही स्वरूप समझता है।" [१]

महायान का मत है कि "परम-सत्य-स्वरूप बुद्ध मानव-समाज के कल्याण-साधन के निमित्त अनेक रूप धारण किया करते हैं। बुद्धदेव भी उन्हीं के एक अवतारमात्र हैं। उनकी भक्तिपूर्वक उपासना करने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। महायान-ग्रन्थ 'सद्धर्म-पुण्डरीक' का कहना है कि सच्चे प्रेम से भगवान बुद्ध की, एक पुष्प के अर्पण द्वारा, पूजा करने से साधक को अनन्त सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार महायान-धर्म ने निरीश्वरवादी शुष्क निवृत्ति-प्रधान हीनयान को कायापलट कर उसे ईश्वरवादी तथा प्रवृत्ति-प्रधान मनोरम रूप में उपस्थित किया।" [२] कालान्तर में महायान-मत की पूजोपचारविधि बहुत विस्तृत और तारतम्य-युक्त हो गई। उनमें प्रायः सभी हिन्दू देवी-देवताओं के समान पद्मपाणि, अवलोकितेश्वर, अमिताभ आदि देवता की कल्पना कर अर्चना की जाने लगी। इस प्रकार इस मत में शरणागति-द्वारा मोक्ष या निर्वाण का विचार आ गया।

कुछ लोग महायान की कल्पना के मूल में गीता का भक्ति-समन्वित कर्मयोग मानते हैं। इस महायान का विकास चलता ही गया और तन्त्र-मन्त्र की ओर भी अभिरुचि बढ़ी। इस मत के आचार्य नागार्जुन एक प्रकाण्ड तान्त्रिक तथा सिद्ध पुरुष माने जाते हैं। इन गुह्य शिक्षाओं ने महायान का स्वरूप बदलने में विशेष सहायता दी। यह विचार-धारा इतनी प्रबल हुई कि मंत्र-यंत्रों की विपुलता ने प्राचीन बुद्धत्व के आदर्श को ढँक दिया। आगे चलकर महायान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिसमें मद्य, मांस, हठयोग तथा मैथुन की शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान तान्त्रिक बौद्ध-धर्म का विकसित रूप है। इसकी दार्शनिक दृष्टि यद्यपि शून्यवाद ही है तथापि आचार में तान्त्रिक क्रिया-कलाप की बहुलता है। यह तिब्बत, चीन आदि में विशेष रूप से फूला-फला।

हीनयान में अपने सिवा और कोई सहायक नहीं माना गया है। हीनयान अपने उच्च आदर्श और कठिन व्रत के कारण छोटा यान (मार्ग) है। उसपर सब चढ़ नहीं सकते हैं।

तीर्थस्थान और मूर्तिपूजा

कपिलवस्तु (भगवान बुद्ध का जन्मस्थान); बोधगया (बुद्धत्व प्राप्ति का स्थान); ऋषिपत्तन सारनाथ (सर्वप्रथम धर्मचक्र प्रवर्त्तन का स्थान जहाँ पर बुद्ध की जीवितावस्था में ही बिहार बना था); कुशीनगर (बुद्ध का निर्वाण-स्थान); राजगृह (बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व अलारक लाभ और आचार्य रुद्र-द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का स्थान); और वैशाली (बौद्धों का द्वितीय सभा-स्थल तथा बुद्ध का प्रिय निवासस्थान)—ये बौद्धों के मुख्य तीर्थ-स्थान हैं। इसके अलावा श्रावस्ती, कौशाम्बी, नालन्दा और पाटलिपुत्र (जो उस समय कुसुमपुर के नाम से विख्यात था) तीर्थस्थान हैं। किन्तु सबसे अधिक प्रतिष्ठा बोध-गया और बाद, कपिलवस्तु और कुशीनगर की है।

---

१. धर्म और दर्शन, पृष्ठ ११३—१४। २. धर्म और दर्शन—११७

बुद्ध की मृत्यु के बाद चक्र, स्तूप, पाद-चिह्न, बोधिवृक्ष इत्यादि उपासना के साधन थे। इन्हीं वस्तुओं का आदर हुआ करता था।

ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ में महायानमत के प्रचार पर गौतम बुद्ध तथा अन्यान्य बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की उपासना आरम्भ हुई। कलकत्ता के अजायबघर में बुद्ध की सबसे पुरानी मूर्ति सुरक्षित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह मूर्ति ईसवी सन् १४२ की बनी हुई है।

ईसवी सन् की प्रथम दो या तीन शताब्दियों के अधिकांश इतिहास में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना है कि उसका थोड़ा बहुत विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। अशोक के बौद्ध मतानुयायी होने के कारण बौद्ध-धर्म का भाग्य खुला; किन्तु साथ-साथ भारत में इससे बौद्ध-धर्म की अवनति का भी बीज वपन हुआ। क्योंकि ज्योंही भारतीय बौद्ध-धर्म विदेश की ओर बढ़ा त्योंही उसमें परिवर्तन होना आरम्भ हो गया और बौद्ध-धर्म अपने प्राचीन भारतीय रूप से परिवर्तित हो गया। दार्शनिक मत एवं धर्म—दोनों रूपों में बौद्धधर्म ने विदेशी लोगों की इतनी तुष्टि की कि कालान्तर में वह भारत से उठ गया और विदेशों में उसने नवीन जीवन धारण कर लिया।

भारत के बौद्ध पूर्णतया अहिंसाव्रतधारी थे। बाहर के बौद्ध मूर्तियों को शूकर-मज्जा, गो-मांस आदि से बलि देने लगे। जिन्हें भारतीय बौद्ध गर्हित और अपने मन्दिरों को अपवित्र करनेवाले समझते। चुन्द लोहार के यहाँ शूकर-मार्दव खाने के बाद बुद्ध का निर्वाण हुआ था। वैदिक ग्रन्थ में गोबरछत्ते (कुकुरमुत्ता) को शूकर-मार्दव कहते हैं। गोबरछत्ता बरसात में पैदा होता है और खाने पर जल्दी पचता नहीं है। इसीके खाने का विषाक्त प्रभाव बुद्ध पर पड़ा। मांसाहारी बौद्ध मांसाहार की इच्छा की पुष्टि के अभिप्राय से, शूकर-मार्दव का अर्थ सूअर के मांस समझते हैं। किन्तु वे इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि बुद्ध ने आजीवन पशु-वध या मांस-भक्षण के विरुद्ध लोगों को शिक्षा दी थी। अतः उनका मांस खाना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। और विशेष कर उस अवस्था में, जब बुद्ध के जीवन-चरित्र में उनके अथवा उनके अनुनायायियों के मांस खाने का जिक्र कहीं नहीं आता।

बौद्ध-साहित्य

बुद्ध ने कोई पुस्तक न लिखी। उनके उपदेश मौखिक ही होते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके उपदेश लिपिबद्ध किये गये। उनकी शिक्षाएँ पाली-ग्रन्थों में संगृहीत हैं जिन्हें पिटक कहते हैं। पिटक का अर्थ है पिटारी। इसे ईसवी-पूर्व ३०० वर्ष का समझना चाहिए। (क) सुत्त, (ख) अभिधम्म, (ग) विनय—ये तीन पिटक हैं। सुत्तपिटक के पाँच निकाय हैं जिनमें चार निकायों के नाम—(१) दीघ, (२) मज्झिम, (३) संयुक्त और (४) अंगुत्तर हैं। खुद्दक-निकाय में छोटे-छोटे १५ ग्रन्थ हैं—(१) धम्मपद, (२) उदान, (३) थेरगाथा, (४) थेरीगाथा, (५) जातककथा, (६) विमानवत्थु, (७) प्रेतवत्थु, (८) खुद्दक-पाठ, (९) इतिवुत्तक, (१०) सुत्तनियात, (११) निद्देश्य, (१२) परिसम्पिदा, (१३)

अभिधान, (१४) बुद्ध-वंस और (१५) चरियापिटक । इनमें उदान, धम्मपद, जातककथा, थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्थु और प्रेतवत्थु तथा खुद्दकपाठ विशेष विख्यात हैं ।

अभिधम्मपिटक में बुद्ध के मनोविज्ञान-सम्बन्धी और दर्शन-शास्त्र-सम्बन्धी विचारों का संग्रह है ।

विनयपिटक में भिक्षुओं की जीवन-चर्चा आदि की शिक्षा है ।

बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थों में एक मिलिन्दपन्हो अर्थात् मिलिन्दप्रश्न है । इस ग्रन्थ में बौद्ध शिक्षक नागसेन और यूनानी राजा मिनेन्दर या मिलिन्द के संवाद का वर्णन है । यह ग्रंथ अत्यन्त सुन्दर भाषा में प्रश्नोत्तर के रूप में है । इससे बौद्ध-सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है ।[1]

जातककथा में बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाएँ हैं, जिन्हें बुद्ध ने प्रसंगवश अपने शिष्यों को सुनाया था ।

उदान—अद्भुत वस्तु अथवा दृश्य को देखकर बुद्ध के मुख से जो काव्यमय सरस शब्द निकल पड़े थे उनके ऐसे ८२ वचनों का, प्रसंग के साथ, संग्रह है ।

थेरगाथा तथा थेरीगाथा—बुद्ध भिक्षु और भिक्षुणी के काव्यों का संग्रह है जिसमें उनके जीवन की कथा की ओर संकेत है ।

विमानवत्थु तथा प्रेतवत्थु में स्वर्ग, नरक तथा प्रेत के सम्बन्ध की बातें हैं ।

पूर्वोक्त मुख्य-मुख्य ग्रन्थों के सिवा बौद्धों का विशाल साहित्य है जिसमें अनेक ग्रंथ अबतक अप्रकाशित हैं । बौद्ध-दर्शन-साहित्य भी बृहत्तर और गम्भीर है ।[2]

भारत से बौद्धधर्म के लुप्त होने का कारण

अपने जन्मस्थान भारत में बौद्धधर्म का लोप होना एक अद्भुत घटना है । किन्तु विचारपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि बौद्धधर्म भारतवर्ष से निर्वासित नहीं हुआ; किन्तु महान हिन्दू-धर्म से निकलकर अपनी सुगन्धि सुदूर देशों में फैलाकर पुनः इसी धर्म में विलीन हो गया । यह घटना रोचक एवं शिक्षाप्रद है ।

प्राचीनतम बौद्ध-सम्प्रदाय ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते । उनके मत से जड़ पदार्थ नित्य हैं और उन जड़ पदार्थों की शक्ति द्वारा ही समस्त संसार की सृष्टि हुई है । यदि बीच-बीच में प्रलय हो जाता है तो इन्हीं जड़ पदार्थों के अन्तर्भुक्त गुण के प्रभाव से फिर सृष्टि होती है । इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व पर इस धर्म ने कुछ भी विचार नहीं किया । बुद्ध की मृत्यु के अनेक शताब्दी बाद एक ओर बौद्धधर्म दूर देश में भी फैल गया, दूसरी ओर महायानसम्प्रदाय के कारण मूर्तिपूजा की प्रथा भी प्रचलित हो गई और प्राचीन बौद्धधर्म हीनयानसम्प्रदाय में ही सीमित रह गया । ऐसी परिस्थिति में हिन्दू-धर्म के उद्धारकों ने अपने धर्म और संस्कृति के पुनरुद्धार के अद्भुत मार्ग का अवलम्बन किया । उसके परिणामस्वरूप कालान्तर में बौद्धधर्म हिन्दू-धर्म में मिल गया और भारतवर्ष से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व जाता रहा ।

---

१. इसका हिन्दी अनुवाद भिक्षु जगदीश ने किया है ।

२. देखिए, राहुलसांकृत्यायन के पिटकों का अनुवाद ।

हिन्दू-पुराणकार ने बुद्ध को वर्त्तमान युग का केवल सर्वश्रेष्ठ पुरुष ही नहीं माना; किन्तु उन्हें कलियुग में ईश्वर का नवाँ अवतार स्वीकृत किया। मत्स्य, कल्कि, वायु, गरुड, ब्रह्म, लिङ्ग, नृसिंह, अग्नि एवं भविष्य आदि पुराणों ने घोषणा की कि बुद्ध नारायण अर्थात् परमात्मा के नवें अवतार थे और कलियुग के लिए उनका अवतार हुआ था। उनकी पूजा और अर्चा की विधि भी पुराणों ने बतलाई है। भविष्यपुराण ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भगवान् बुद्ध की स्वर्णप्रतिमा स्थापित करके ब्राह्मण को दी जाय (२।७२-७३)। इन पुराणों के आदेशानुसार कट्टर हिन्दू भी बुद्ध-मूर्ति की पूजा करने लगे। जब विदेशी बौद्धों ने उन मूर्तियों की पूजा शूकर और गौ के मांस से करना आरम्भ किया तब बुद्धभक्त हिन्दुओं ने पवित्रता को कायम रखने के उद्देश्य से कुछ मूर्तियों के विष्णु, शिव आदि नाम रख दिये। जगन्नाथपुरी के मन्दिर में जो जगन्नाथजी की मूर्ति है वह परम्परा से बुद्धावतार की मूर्ति मानी जाती है। वस्तुतः तुलसीदास अपने छप्पयरामायण में जगन्नाथजी को नवाँ अवतार बताते हैं जिससे श्रीजगन्नाथ और बुद्ध एक ही जान पड़ते हैं। अतएव हिन्दुओं ने नये रूप में बुद्ध की पूजा जारी रखी। बुद्ध की पूजा का परित्याग उन्होंने अपनी ओर से नहीं किया। हिन्दू बुद्ध-मूर्ति की पूजा हिन्दू-देवता के नाम से करने लगे। इस प्रकार हिन्दुओं ने बुद्ध का नहीं, किन्तु बौद्धों का बहिष्कार किया। आर्येतर बौद्ध आज भी बोधगया के मन्दिर में शूकर-मज्जा-मिश्रित मोमबत्तियाँ और मेष-मज्जा-मिश्रित चावल चढ़ाते हैं। इसी कारण हिन्दू बुद्ध-मन्दिर के भीतर पूजा करने से हिचकते हैं। हिन्दू वैष्णव विष्णुपूजा एवं दशावतार-पूजा के साथ-साथ बुद्ध की भी पूजा करते हैं; क्योंकि भगवान का यह नवाँ अवतार है। इसलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिन्दू-धर्म ने बौद्धधर्म को अपने में पचा डाला है। आज भी नेपाल में हिन्दू-धर्म एवं बौद्धधर्म में इतना निकट-सम्बन्ध है कि नेपाल-माहात्म्य के अनुसार शिव की पूजा करना बुद्ध की पूजा करना है। नेपाल में महाकाल के मन्दिर में इस बात का एक सुन्दर उदाहरण पाया जाता है। महाकाल को, जिन्हें बौद्ध वज्रपाणि का रूप मानते हैं, हिन्दू लोग शिव का अवतार मानकर पूजते हैं। तिब्बती बौद्धों का एक सम्प्रदाय अवलोकितेश्वर को हिन्दू-देवता शिव से और उनकी सहवासिनी को हिन्दू देवी तारा से मिलता-जुलता पाता है। जावा के "बराबुदुर" नामक स्थान में बौद्ध-मूर्तियों के साथ हिन्दू-देवताओं की मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। पेकिंग (चीन) के बौद्ध-मन्दिरों की दीवारों पर संस्कृत के लेख में भारतीय पुराणों की कितनी बातें खुदी हुई हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि बुद्ध की सभी मूर्तियों की आकृति और मुद्रा हिन्दू-प्रतिमा-प्रतिष्ठा की पद्धति से मिलती है। इन मूर्तियों में से अधिकांश के मस्तक पर तिलक का चिह्न पाया जाता है और कुछ मूर्तियों के वक्षःस्थल पर यज्ञोपवीत भी देखा जाता है।

इस प्रकार काल-क्रम से बुद्ध के हिन्दू-उपासक विदेशियों के प्रविष्ट होने के कारण बौद्धधर्म को भ्रष्ट एवं धर्म-विरुद्ध मानने लगे। जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य ने साम्प्रदायिक उपाधि त्यागकर पुनः पुरातन वैदिक धर्म में लौट आने के लिए प्रेरित किया और विहारों को मठों के रूप में परिवर्तित कर डाला। इस प्रकार मूल बौद्धधर्म की मुख्य बातें

तो हिन्दू-धर्म में खप गई और नाममात्र का बौद्ध-सम्प्रदाय भारत से एकदम लुप्त हो गया। मूल बौद्धधर्म की अनेक रीतियाँ हिन्दू-वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों में अब भी पाई जाती हैं। ये लोग विष्णु और अन्य अवतारों की पूजा के साथ-ही-साथ बुद्ध की भी पूजा करते हैं। इस प्रकार यद्यपि बौद्धधर्म अपनी भ्रष्टावस्था को प्राप्त कर हिन्दुओं द्वारा वहिष्कृत हो गया तथापि बुद्ध उस औसत से कभी भी च्युत नहीं किये गये जो उन्होंने हिन्दुओं के हृदय में पाया था। जो बौद्ध अपने वास्तविक रूप में बच गये थे, वे मुसलमानों के आगमन और नालन्दा-विश्वविद्यालय के विध्वंस के बाद लुप्तप्राय हो गये। इस प्रकार एक ओर बौद्धधर्म घुल-मिलकर प्रशस्त हिन्दू-धर्म में विलीन हो गया और दूसरी ओर हिन्दुओं ने बुद्ध का नहीं, बौद्धों का बहिष्कार किया।

बौद्ध-प्रार्थना

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासमबुद्धस्स।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासमबुद्धस्स।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासमबुद्धस्स।
बुद्धं सरणं गच्छामि।
धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।
दुतियमपि बुद्धं सरणं गच्छामि।
दुतियमपि धम्मं सरणं गच्छामि।
दुतियमपि संघं सरणं गच्छामि।
ततियमपि बुद्धं सरणं गच्छामि।
ततियमपि धम्मं सरणं गच्छामि।
ततियमपि संघं सरणं गच्छामि।
पाणातिपाता वेरमणि सिक्खापदम् समादियामि।
आदिन्नादाना वेरमणि सिक्खापदम् समादियामि।
कामेसु मिच्छाचारा वेरमणि सिक्खापदम् समादियामि।
मुसावादा वेरमणि सिक्खापदम् समादियामि।
सुरा-मेरय-मज्ज-पमा-दत्थाना वेरमणि सिक्खापदम् समादियामि।

छठा परिच्छेद

दर्शन

मनुष्य संसार का ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार जीवन-यापन करना चाहता है। वह केवल अपने वर्तमान ज्ञान के सम्बन्ध में ही नहीं सोचता, भावी परिणामों के विषय में भी सोचता है। बुद्धि की सहायता से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही 'दर्शन' कहते हैं। अंग्रेजी में इसे फिलॉसफी (Philosophy) कहते हैं।

फिलॉसफी शब्द का अर्थ ज्ञान प्रेम है। मनुष्य क्या है? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? यह संसार क्या है? इसका कोई स्रष्टा भी है? मनुष्य को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए?—ऐसे अनेक प्रश्न हैं; जिन्हें प्रायः सभी देशों के मनुष्य, सभ्यता के आरम्भ से ही, सुलझाने की चेष्टा करते आ रहे हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार हमें तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है, अतः भारतवर्ष में फिलॉसफी को दर्शन कहते हैं।

प्राच्य तथा पश्चात्य दर्शनों की मौलिक समस्याएँ प्रायः समान हैं। दोनों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में बड़ी समानता है। किन्तु उनकी विचार-पद्धतियों में बहुत अन्तर है। भारतीय दर्शन में तत्त्व-विज्ञान, नीति-विज्ञान, तर्क-विज्ञान, मनो-विज्ञान तथा प्रमाण-विज्ञान की समस्याओं पर प्रायः एक साथ ही विचार किया गया है। आचार्य ब्रजेन्द्रनाथ शील तथा अन्यान्य विद्वान इसे भारतीय दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि (Synthetic out-look) कहते हैं।

भारतीय दर्शन की दृष्टि अत्यधिक व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनमें मतभेद भी है, फिर भी वे एक दूसरी की उपेक्षा नहीं करती हैं। सभी शाखाएँ एक दूसरी के विचारों को समझने का प्रयत्न करती हैं। वे युक्तिपूर्वक विचारो की समीक्षा करती हैं और तभी किसी सिद्धान्त पर पहुँचती हैं। इसी उदार मनोवृत्ति का फल है कि भारतीय दर्शन में विचार-विमर्श के लिए एक विशेष प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इस प्रणाली के अनुसार पहले पूर्वपक्ष होता है; तब खण्डन होता है, तथा अन्त में उत्तरपक्ष या सिद्धान्त होता है।

दर्शन ही किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति को गौरवान्वित करता है। दर्शन की उत्पत्ति स्थान-विशेष के प्रचलित विचारों से होती है। अतः दर्शन में सामाजिक विचारों की छाप अवश्य पाई जाती है। भारतीय दर्शनों में मतभेद तो अवश्य है, किन्तु भारतीय संस्कृति की छाप रहने के कारण उनमें साम्य भी पाया जाता है। इस साम्य को हम भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य कह सकते हैं।

भारतीय दर्शनों का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा मूल-भूत साम्य यह है कि वे सभी पुरुषार्थ-साधन के लिए हैं। भारत के सभी दर्शन मानते हैं कि दर्शन जीवन के लिए बहुत उपयोगी होता है। अतः जीवन के लक्ष्य को समझने के लिए दर्शन का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। दर्शन का उद्देश्य केवल मानसिक कुतूहल की निवृत्ति नहीं है, बल्कि इसकी शिक्षा देना है कि मनुष्य किस प्रकार दूर-दृष्टि, भविष्य-दृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि के साथ जीवन-यापना कर सकता है।

भारतीय दर्शनों के व्यावहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण यह है कि संसार में अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वथा अंधकारमय बना रहता है, दुःखों के कारण मन में सर्वथा अशान्ति बनी रहती है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है—इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह नाश हो—इसके लिए सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्त्वों का अनुसंधान करते हैं।

हम अज्ञानवश जिन दुःखों का भोग करते हैं उनका विषय-वर्णन भारतीय दर्शनो में अवश्य किया गया है। किन्तु, साथ-साथ उनसे आशा का संदेश भी मिलता है। इन विचारों का सारांश महात्मा बुद्ध के चार आर्य-सत्यों में पाया जाता है। जैसा हम पहले देख आये हैं--महात्मा बुद्ध के समस्त ज्ञान का निचोड़ उनके आर्य-सत्यों में ही मिलता है। भिन्न-भिन्न दर्शन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से इनपर प्रकाश डालता है।

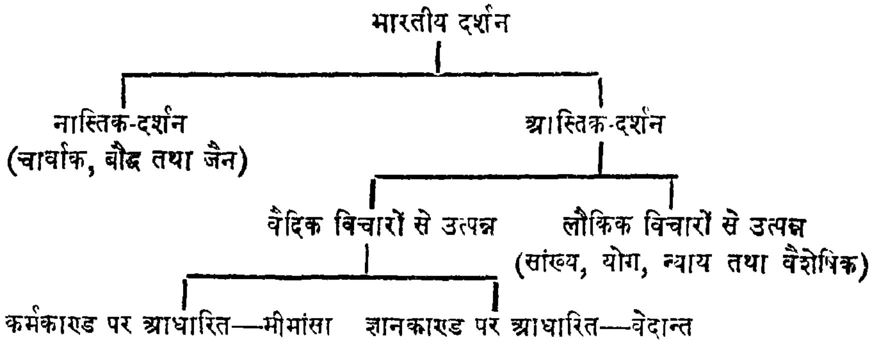
प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन दो भागों में बाँटे गये हैं--आस्तिक तथा नास्तिक। वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक-दर्शन कहे जाते हैं। इन्हें षड्-दर्शन कहा जाता है। यहाँ आस्तिक-दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी दर्शन नहीं है। इन्हें आस्तिक इसलिए कहा जाता है कि ये सभी वेद को मानते हैं। मीमांसा और सांख्य ईश्वर को नहीं मानते, फिर भी वे आस्तिक कहे जाते हैं। इन छः आस्तिक-दर्शनों के अतिरिक्त और भी कई आस्तिक-दर्शन हैं। यथा—पाणिनीय-दर्शन (वैयाकरण-दर्शन), रसेश्वर-दर्शन (आयुर्वेद) इत्यादि। इन दर्शनों का उल्लेख मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में किया है।

नास्तिक-दर्शन तीन हैं—(१) चार्वाक, (२) बौद्ध तथा (३) अर्हत् (जैन)। ये नास्तिक इसलिए कहे जाते हैं कि वेदों को ये नहीं मानते। बौद्ध-दर्शन की चार शाखाएँ हैं। उपर्युक्त आस्तिक षड्दर्शनों के समान बहुतों की राय में चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक तथा अर्हत्—छः नास्तिक-दर्शन भी हैं।

सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक-दर्शनों की उत्पत्ति वैदिक विचारों से नहीं, लौकिक विचारों से हुई है। किन्तु इनके सिद्धान्तों में तथा वैदिक विचारों में पारस्परिक विरोध नहीं है। मीमांसा और वेदान्त की उत्पत्ति वैदिक विचारों से हुई और वे क्रमशः कर्मकांड

तथा ज्ञान पर आधारित हैं। वैदिक संस्कृति के विरुद्ध जो प्रतिक्रियाएँ हुई थीं उनसे चार्वाक, बौद्ध तथा जैन-दर्शनों की उत्पत्ति हुई। ये वेद को प्रमाण नहीं मानते।

अतएव दर्शनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है —



१. द्रष्टव्य—चटर्जी तथा दत्त—भारतीय दर्शन (हिन्दी सं०)
वि० द०—२०

सातवाँ परिच्छेद

नास्तिक-दर्शन

चार्वाक-दर्शन पहला नास्तिक-दर्शन है। यह दर्शन प्रत्यक्षवादी है। इसके मत से पृथ्वी, जल, तेजस्, और वायु—ये ही चार तत्त्व हैं जिनसे सब-कुछ बनता है। इन्हीं चार तत्त्वों के मेल से बनी यह देह है। चारों तत्त्वों के पृथक् स्थापन में चैतन्य नहीं मालूम होता; किन्तु इनके एक जगह मिल जाने से शरीर में चेतन्य उत्पन्न होकर इन्हीं भूतों में नष्ट हो जाता है। नष्ट होने पर उसका नामोनिशान भी नहीं रहता। अतः चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। शरीर से अतिरिक्त आत्मा होने का कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म अथवा मृत्यु के बाद आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। ईश्वर की सत्ता को भी एक कपोल-कल्पना मानता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाण तो चार्वाक के सम्प्रदाय में मान्य नहीं हैं। उनके मत में स्त्री, पुत्र आदि के आलिङ्गन से तथा धनोपभोग से उत्पन्न सुख पुरुषार्थ है और परलोक, स्वर्ग आदि सुख खयाली पुलाव मात्र हैं; क्योंकि परलोक आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनका कहना है कि दुःख के भय से सुख त्याज्य नहीं है। दुःख दूर करके सुख भोग्य है। जानवरों के भय से कोई खेती करना नहीं छोड़ता और भिक्षुओं से सताये जाने के डर से कोई भोजन बनाना नहीं छोड़ता। प्राप्त सुखों को त्यागनेवाला भीरु मूर्ख है और पशु से भी गया-गुजरा है। जो लोग स्वर्ग-सुख की आशा रखते हैं वे हवा में महल बनाते हैं; क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं उसका सुख कैसा? शरीर का नाश ही मोक्ष है।

यज्ञों की निन्दा करते हुए कहा है कि यज्ञ में यदि मरा हुआ पशु स्वर्ग जायगा, तो यजमान को उचित है कि अपने पिता का ही बलिदान क्यों न करे जिसमें बगैर कठिनता के उन्हें स्वर्ग प्राप्त हो।

श्राद्ध-कर्म की निन्दा करते हुए चार्वाक ने कहा है कि यदि मरे हुए प्राणियों की तृप्ति का साधन श्राद्ध होता है तो विदेश जानेवाले पुरुष राह-खर्च के लिए सामान ढोने के बजाय किसी ब्राह्मण को भोजन करा देते या दान दे देते और जहाँ रास्ते में आवश्यकता होती वहीं वह वस्तु तत्काल उन्हें मिल जाती। श्राद्धादि का विधान ब्राह्मणों

का रचा हुआ है—उनकी अपनी जीविका का उपाय है और इसी एक उद्देश्य से उन्होंने मृत जीवों के लिए प्रेतकर्म का विधान किया है। यदि आत्मा शरीर से पृथक् होती तो स्वजनों के प्रेम से व्याकुल हो पुनः अवश्य लौट आती।

चार्वाक् के अनुयायी बृहस्पति ने भी इसी तरह कहा है—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥१॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदंडं भस्मगुण्ठनम्।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥२॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्था पाथेय-कल्पना ॥४॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥५॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥६॥

सुतरां, जगत् में मनुष्य प्रायः स्वभाव से ही इष्टफल के अनुरागी हैं। नीति-शास्त्र और काम-शास्त्र के अनुसार मनुष्य अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ मानता है, पारलौकिक सुख को प्रायः नहीं मानता। किसने परलोक को या वहाँ के सुख को देखा है? यह सब मन-गढ़न्त बातें हैं—सत्य नहीं हैं; अतएव—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

महाराज दशरथ के मंत्री जावालि भी चार्वाक्-मतावलम्बी थे। चित्रकूट में राम को समझाते हुए आपने इस मत पर सम्यक् प्रकाश डाला है। *

यद्यपि चार्वाक् का नाम प्रसिद्ध नहीं है तथापि उनका मत और उनका तर्क आधुनिक संसार में बहुत फैला हुआ है। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के तर्क माननेवाले बहुत हैं। कुछ भेद के साथ अनेक हिन्दू, इसाई तथा कतिपय मुसलमान भी किसी-न-किसी रूप में यह विचार मानते हैं।

आर्हत् (जैन) दर्शन

जैनियों का दार्शनिक साहित्य बहुत विस्तृत है। जैन-दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों की भाषा (संस्कृत), हिन्दू-दर्शन के विद्यार्थियों को कुछ विचित्र मालूम पड़ती है। ऐसा मालूम होता है कि जैन-विद्वान्, दार्शनिक की अपेक्षा, वैज्ञानिक अधिक थे। उमास्वाति (उमा स्वामी) का 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' प्रथम प्रामाण्य ग्रन्थ है जिसे श्वेताम्बर और

* वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०८

दिगम्बर दोनों मानते हैं। अकलंक का 'राजवार्तिक', स्वामी विद्यानन्द का 'श्लोकवार्तिक' और समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' दिगम्बर-साहित्य में प्रसिद्ध है। हरिभद्रसूरि के 'षड्-दर्शनसमुच्चय' में जैनेतर मतों का भी संग्रह है। इस ग्रंथ में ईश्वर का खण्डन विस्तार से किया गया है। मल्लिषेण की 'स्याद्वाद-मंजरी' जैन-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के निमित्त प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य का 'पंचास्तिकाय', नेमिचन्द्र का 'द्रव्य-संग्रह' और देवसूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' भी उल्लेखनीय हैं।

आत्मा की एकता

जैन-दर्शन बौद्धों के इस मत का विरोधी है कि सब क्षणिक हैं। वे तो जगत् को अनादि मानते हैं। यदि आत्मा स्थिर न मानी जाय तो जगत् में जितने कर्म, फलप्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, सब व्यर्थ हैं; क्योंकि जो करनेवाला है वह क्षणिक होने से नष्ट हो गया—वह तो रहा ही नहीं; फिर उसके कर्मफल को भोगेगा कौन? यदि यह माना जाय कि करनेवाले से भिन्न और कोई क्षणिक पदार्थ है, जो फल को भोगता है, तो यह उचित नहीं प्रतीत होता कि कर्म करनेवाला कोई और हो तथा फलभोक्ता उससे भिन्न कोई दूसरा हो। स्मृति और अनुभव एक ही आधार से होता है। देवदत्त कभी काशी का स्मरण करता है। अतः आत्मा तथा स्मरण में ऐक्य है और इसलिए स्थायी सिद्ध होता है।

यदि आत्मा को स्थायी न मानें, तो राजनीतिक दण्डादि-व्यवहार भी न हो सके। फिर जगत् में उपकार-प्रत्युपकार का व्यवहार क्या होगा? संसार में सम्पूर्ण व्यवहारों का लोप हो जायगा। इस प्रकार क्षणिकवाद में सब व्यवहारों का विलोप होगा। जो व्यवहार करता है, फल के उद्देश्य से ही करता है। परन्तु जब व्यवहार करनेवाली आत्मा क्षणिक है तो वह फल-भोगकाल में रहेगी ही नहीं। फिर फल के उद्देश्य से उसकी प्रवृत्ति क्योंकर होगी। इस कारण सब व्यवहारों का नाश हो जायगा। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा स्थिर है, क्षणिक नहीं।

सिद्धान्त

जैनमत में जीव और अजीव दो तत्त्व हैं। बोधवाले जीव और अबोधवाले अजीव हैं। परतत्त्व चित् और अचित् इस भेद से दो हैं। इन दोनों के विचार का नाम विवेक है। इन दोनों में जो लेने योग्य है उसको लेना चाहिए, जो हेय है उसको त्यागना योग्य है। मैंने इस काम को किया है और इसका फल मेरा है—इस प्रकार क्रिया और उसके फल की ममता में अज्ञानी पुरुष फँसे रहते हैं। इसे 'कर्तृरोग' कहते हैं। यह त्याज्य है। इस प्रकार काम, क्रोध, द्वेष और इनकी कार्य-रूप प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न संयोग-वियोगादि भी हेय हैं। चेतना का एक ही लक्षण (स्वरूप) अन्य वस्तुओं को अपने काम में लाना है।

जैन पाँच अस्तिकाय (तत्त्व) बताते हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल।

पहला अस्तिकाय **जीव** दो प्रकार का है—संसारी और मुक्त। एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त होनेवाला जीव संसारी है। वह भी दो प्रकार का है—एक मनवाला और दूसरा मन-रहित। जिसमें शिक्षा, क्रिया, आलाप आदि संज्ञा पाई जाती है वह मनवाला है। मन-रहित जीव भी त्रस तथा स्थावर भेद से दो प्रकार का है।

दूसरा अस्तिकाय **आकाश** है। इस आकाश से भिन्न एक अलोकाकाश है। उसमें बिना रुकावट प्रवेश होता है। अलोकाकाश में पहुँचकर जीव मुक्त हो जाता है। वहाँ जाकर जीव फिर लौटकर नहीं आता, सदा के लिए मुक्त हो गया; क्योंकि जब इस कार्य-बन्धन से विनिर्मुक्त हो जाता है तब असंग होकर ऊपर चला जाता है। कहा है—

गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते अलोकाकाशमागताः॥

तीसरा तत्त्व **धर्म** है। मुक्ति के प्रतिबन्धक, कर्म, अधर्म, रुकावट की स्थिति प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमेय है। चौथा तत्त्व **अधर्म** है। पाँचवाँ तत्त्व **पुद्गल** है। यह स्पर्श, रस और वर्ण वा रूपवाला है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु-भेद से पुद्गल चार रूप है।

जिस रूप से जीवादि तत्त्व व्यथित हैं उसका उसी स्वभाव से संशय तथा मोह से रहित ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। संसार-कर्म के नाश के लिए उद्यत, श्रद्धावाले ज्ञानी जीव की पाप-कर्म से निवृत्ति सम्यक् चरित्र है। ज्ञानादि इकट्ठे होकर मोक्ष के कारण हैं, प्रत्येक नहीं। उमा स्वामी ने मोक्ष का लक्षण कहा है :—

सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।

जैन-दर्शन के अनुसार जितने शरीर हैं उतनी आत्माएँ भी हैं। इन लोगों का मत है कि आत्मा केवल मनुष्य और जानवरों में ही नहीं है, बल्कि पौधों तथा रज के परमाणुओं में भी है। सब आत्माएँ समान रूप से चेतना-समन्वित नहीं होती हैं। पौधों में रहनेवाली आत्मा में केवल स्पर्शन चेतना रहती है। मनुष्य तथा अन्य उच्च कोटि के जानवरों में पाँचों प्रकार का इन्द्रियज्ञान पाया जाता है। लेकिन शरीर में रहनेवाली आत्मा का ज्ञान सदा सीमित रहता है। इसकी शक्ति भी सीमित ही होती है और सब प्रकार के दुःखों का अनुभव कर्ता को होता है। परन्तु आत्मा अनन्त चेतन-शक्ति तथा आनन्द को प्राप्त कर सकती है। कर्मों के द्वारा ही आत्मा बन्धन को प्राप्त होती है। अतः कर्मों के निराकरण से आत्मा स्वतंत्र होकर अपनी स्वाभाविक पूर्णता को पुनः प्राप्त कर लेती है।

सब जीवों के साथ सहानुभूति तथा दया रखना जैन-धर्म का प्रधान सिद्धान्त है। 'अहिंसा परमो धर्मः' ही जैन-दर्शन का मूलमंत्र है। जैन-दर्शन सब मतों के लिए आदर दिखलाता है, जैन-धर्म में अन्य धर्मों अथवा मतों के लिए सहिष्णुता पाई जाती है। जैन-दार्शनिकों का यह मत है कि प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने से अनन्त रूप हो सकता है। अतएव हमें अपने ज्ञान तथा विचार की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए किसी खास मत को ही बिल्कुल सच्चा या झूठा नहीं मान लेना चाहिए। इस प्रकार जैन-दर्शन के अनुसार सब धर्म किसी अंश में सत्य हैं।

संक्षेप में जैन-दर्शन यथार्थवादी है; क्योंकि वह वाह्य जगत् की यथार्थता को स्वीकार करता है। यह नानार्थवादी भी है; क्योंकि यह सब मतों की सत्यता को स्वीकार करता है तथा यह नास्तिकवादी भी है; क्योंकि यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।[1]

बौद्धदर्शन

बुद्ध ने मुक्ति के लिए यज्ञ, ज्ञान अथवा तपस्या को महत्त्व नहीं दिया—आत्मा और परमात्मा के चक्कर में पड़ना ठीक न समझा, अपितु सदाचार के द्वारा मुक्ति का मिलना संभव बताया है। बौद्धदर्शन में सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने का नाम निर्वाण है। निर्वाण पाने का मार्ग अष्टांगिक है, जिसका विवेचन हम कर चुके हैं। निर्वाण की प्राप्ति इसी जीवन में हो सकती है। अष्टांगिक मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य इसी जीवन में इच्छाओं से निवृत्त होकर नित्यता, आनन्द, पवित्रता और स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है।

बुद्ध ने परिवर्तन को वस्तु का स्वरूप बतलाया। बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने इस सिद्धांत—संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है—को अतिशयोक्ति तक पहुँचा दिया है। उनके मत मे जीव में भी परिवर्तन होता रहता है। एक योनि में स्थित शरीर में एक आत्मा लगातार नहीं रहती है; वरन् उसमें परिवर्तन होता रहता है। एक शरीर में जो आत्मा इस समय है, दूसरे समय में दूसरी ही आत्मा आ जाती है, पहली आत्मा उस शरीर से निकल जाती है। एक योनि से दूसरी योनि तक पहली आत्मा का अस्तित्व वास्तव में नहीं रहता है। ऐसी दशा में आवागमन के सम्बन्ध में बौद्ध आचार्यों ने एक अद्भुत ही सिद्धांत स्थिर किया है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसके चरित्र-सम्बन्धी संस्कारों का समूह उससे पृथक् हो जाता है और नवीन योनि में पहुँचकर पुद्गल के नये स्कंधों के साथ मिलकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। पिछले बौद्ध आचार्यों के अनुसार जीव पुद्गल-स्कंधों का एक पुंज है जो अपने पूर्व-चरित्र-सम्बन्धी संस्कारों से संयुक्त रहता है। इस चरित्र-सम्बन्धी संस्कार से मुक्त होना ही बौद्ध-धर्म का निर्वाण है।

आगे चलकर बौद्ध-दर्शन का विकास हुआ। अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रभाव से बौद्ध-दर्शन की रूप-रेखा इतनी परिवर्तित हो गई कि उसे प्रारंभिक बौद्ध-दर्शन से स्वतन्त्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। पुराने दर्शन के माननेवाले 'हीनयान' और नवीन दर्शन के अनुयायी 'महायान' मत के माननेवाले हुए।

दार्शनिक विकास के साथ-साथ चार शाखाएँ—(१) माध्यमिक (२) योगाचार (३) सौत्रांतिक (४) वैभाषिक—फूट पड़ीं। इनमें पहली दो महायान की और दूसरी दो हीनयान की हैं। इन दर्शनों के अपेक्षित काल का निर्णय कठिन है। दार्शनिक विकास की दृष्टि से माध्यमिकों का शून्यवाद योगाचारों के विज्ञानवाद से पहले का है।

(क) माध्यमिक मत का प्रमुख लेखक नागार्जुन है। उसने 'मूलमध्यमकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा है। भारतीय दर्शन-साहित्य में इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१ द्रष्टव्य—कैलासचन्द्र शास्त्री—जैनधर्म पृ० ५५—१५०

नागार्जुन के 'तर्क-प्रकार' की नकल भारतीय एवं विदेशी लेखकों ने खूब की है। नागार्जुन का समय ई० सन् का प्रथम शतक है। वह अश्वघोष का शिष्य माना जाता है। चार्वाक् ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त सब प्रमाणों का परित्याग कर दिया था; किन्तु बौद्ध-दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों को मानते हैं। कोई विश्वसनीय पुरुष कहता है कि मद्रास एवं त्रिवांकुर के मच्छीगृह में रंग-विरंग की एवं मखमली रंग की मछलियाँ हैं। ऐसा सुनकर वहाँ जाकर देखने की प्रवृत्ति श्रोता को होती है। ऐसी प्रवृत्ति का मूल अनुमान ही है, प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। हमने विष देखा है; किन्तु अनेक मनुष्यों को विष खाकर मरते हुए सुना है। अतएव केवल अनुमान के आधार पर हम विष को त्यागते हैं। अनुमान के प्रामाण्य में सन्देह करना जीवन के विरुद्ध है। वह स्वतः विरोधी भी है।

किसी वस्तु का क्रिया करने का स्वभाव ही सत्ता है। काम हो गया, सत्ता समाप्त हो गई। यह माध्यमिक सिद्धान्त है। भूतकाल में बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा, पौधे से शाखाएँ और फिर पत्तियाँ आदि बनीं। आज फूल विकसित है। उसी बीज से पुनः अंकुर होगा इत्यादि। इसी तरह अनुमान है कि तीनों काल में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। किसी क्षण में वह सत्ता नहीं रहती जो उसके पूर्वक्षण में भी थी। इसी प्रकार माध्यमिक लोग जगत् को 'क्षणिक' कहा करते हैं। इसी प्रकार सबको संसार के दुःख-रूपत्व की चिन्ता करनी चाहिए, नहीं तो संसार में निवृत्ति चाहनेवाले बुद्धिमान पुरुष भी उसके उपाय में प्रवृत्त नहीं होंगे—अर्थात् निवृत्ति के लिए यत्न न करेंगे। अतः सब दुःखमय ही हैं—यह भावना करनी चाहिए।

सब वस्तुओं के क्षणिक होने से समान लक्षण का अभाव है। सब वस्तु स्वलक्षण हैं। हम किसी एक वस्तु के समान किसी दूसरी वस्तु को नहीं कह सकते। अतः सब वस्तु स्वलक्षण हैं, यही भावना करनी चाहिए।

इसी प्रकार सब शून्य हैं। यह चौथी भावना भी करनी चाहिए। अतएव, सब क्षणिक हैं; सब दुःख हैं; स्वलक्षण हैं; शून्य हैं, इन चार प्रकार की भावनाओं से परम पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति मिलती है। पर यह निर्वाण अर्थात् मुक्ति भी शून्य है। इस शून्य में सब वस्तुओं का लय हो जाना ही निर्वाण है। सर्वशून्यतत्त्ववादी माध्यमिक मत का यही सिद्धान्त है।[1] इसका नाम माध्यमिक इसलिए पड़ा कि इसने बुद्ध के मध्य-मार्ग को अपनाया।

(ख) **योगाचार-दर्शन** को विज्ञानवाद और ज्ञानाद्वैतवाद भी कहते हैं। योगाचार-मत में अनेक शिक्षक हुए हैं। उनके सिद्धांतों में कहीं-कहीं भेद है। योगाचार नाम से प्रकट होता है कि इस मत के माननेवालों की, यौगिक क्रियाओं में, आस्था है और उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धांतों को योगाभ्यास-जनित अनुभव के बल पर प्रतिपादित किया है। योगाचार के प्रवर्तक हैं असंग और वसुबंधु। गुरु की कही हुई चार भावनाओं—(१) सब क्षणिक हैं, (२) सब दुःख हैं, (३) सब स्वलक्षण हैं, और (४) सब शून्य हैं— के साथ-साथ बाह्य अर्थ में शून्यत्व को भी अङ्गीकार किया और अन्तर में (बुद्धि में) जो अर्थ है उसको शून्य किस प्रकार कहा जा सकता है—ऐसी शङ्का भी उठाई है।

१. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय-कृत 'बौद्ध-दर्शन-मीमांसा' पृष्ठ [illegible]

बुद्धत्व ज्ञान-रूप वस्तु को तो मानना ही चाहिए, नहीं तो जगत् में अन्धेर हो जायगा। इसलिए यह सिद्धान्त हुआ कि ज्ञान से अलग कोई चीज नहीं है।

चित्त, मन, बुद्धि आदि आप-ही-आप प्रकाश को प्राप्त होते हैं। न कोई बुद्धि का प्रकाश करनेवाला है, न बुद्धि से कोई वस्तु प्रकाश्य ही है। यदि कहा जाय कि ग्राह्य, ग्राहक, ग्रहण—अर्थात् ज्ञेय, ज्ञापक और ज्ञान—इन तीन वस्तुओं का भेद स्पष्ट है, फिर कैसे कहा जाय कि भेद नहीं है, तो इसका उत्तर है कि भेद केवल भ्रम है—एक ही वस्तु को तीन रूप में समझना है, जैसे कभी नेत्र को दबाकर चन्द्रमा को देखें तो चन्द्रद्वय मालूम पड़ता है, पर दो चन्द्रमा का ज्ञान भ्रम है—वास्तव में एक का ज्ञान ही ज्ञान है।

जब क्षणिक, दुख, स्वलक्षण, शून्य—इन चार प्रकार की भावनाओं का हम अभ्यास करेंगे तब धीरे-धीरे मोक्ष के प्रतिबन्धक अनेक प्रकार के विषयों का स्वरूप नष्ट हो जायगा और विशुद्ध ज्ञान का उदय होगा—यही मोक्ष कहा जाता है। यह शुद्ध ज्ञान नित्य नहीं है, क्षणिक है। योगाचारवाले बौद्ध बुद्ध के उपदेश की चारों भावनाएँ मानते हैं, उनके शून्यवाद को भी मानते हैं; परन्तु स्वयं शंका उठाते हैं और अन्तःपदार्थ—ज्ञान—को शून्य नहीं मानते। माध्यमिक बौद्धों ने शून्य की प्राप्ति को मुक्ति माना है। योगाचारी बौद्धों ने शुद्ध विज्ञान के उदय को मुक्ति माना है। उन्होंने शङ्का भी उठाई और अपने गुरु के उपदेश को आचरण में भी ग्रहण किया, इसलिए वे योगाचारी कहे जाते हैं।[1]

(ग) **सौत्रांतिक दर्शन** के संस्थापक 'कुमारलात' थे जिनका समय ईसवी शती द्वितीय प्रतीत होता है। इस प्रकार ये नागार्जुन के समकालीन थे।

सौत्रांतिक के कथनानुसार योगाचार का यह कथन कि बाहर की वस्तुएँ सब-की-सब शून्य हैं, असङ्गत है; क्योंकि अन्तर्वस्तु ज्ञान माना गया है, उसका शुद्ध आकार 'अहम् अहम्' यह ज्ञान है। यह और मैं, इन दोनों ज्ञानों में भारी भेद है। 'यह' का ज्ञान पदार्थों में नहीं होता। सुषुप्ति में 'यह' का ज्ञान कभी नहीं होता। 'अहम्' का ज्ञान तो सब अवस्थाओं में है। सुषुप्ति में 'अहम्' ही ज्ञान होता है।

'इदम्' और 'अहम्' की एकता मानने में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। दोनों की एकता अप्रसिद्ध है। ज्ञान के आकार से ही हम ज्ञेय वस्तु का अनुमान करते हैं। पुष्टि से भोजन, भाषा से देश और गद्‌गद वाणी से स्नेह का अनुभव किया जाता है। इसी तरह, ज्ञान के आकार से बाहरी ज्ञेय वस्तुओं की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है, जो क्षणिक है और वृक्ष की तरह ऊपर-नीचे सम-विस्तार-वाला है। उस वृक्ष के पाँच स्कन्ध हैं। प्रत्येक स्कन्ध से शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी निकली हैं। **रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—ये ही पाँच स्कन्ध हैं।**

(क) जो निरूपित हो या जिसका निरूपण किया जाय, वह रूप है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध निरूपित हैं और ये श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण से निरूपित किये जाते हैं। इस प्रकार '**रूप-स्कन्ध**' में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके पाँचों विषय आ गये।

(ख) आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान दोनों मिलकर '**विज्ञान-स्कन्ध**' हुआ।

१. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा—पृष्ठ २५३—५८

(ग) रूप-स्कन्ध और विज्ञान से उत्पन्न सुख-दुःखादि-प्रत्यय के प्रवाह को **'वेदना-स्कन्ध'** कहते हैं।

(घ) वेदना-स्कन्ध और रूप-स्कन्ध से उपजे राग, द्वेष, काम आदि क्लेश, मद-मान इत्यादि उपक्लेश तथा धर्म और अधर्म **'संस्कार-स्कन्ध'** कहलाते हैं।

(च) नाम का प्रपञ्च (विस्तार) **'संज्ञा-स्कन्ध'** कहलाता है।

भीतर और बाहर फैली हुई इन शाखाओं से सुशोभित ज्ञान-रूप-वृक्ष आत्मा है। यही सम्पूर्ण दुःख का स्थान और दुःख का साधन है। इसी भावना को दृढ़ करके उसके निरोध का उपाय करे। यह उपाय तत्त्व-ज्ञान से ही साध्य है। तत्त्व-ज्ञान के चार उपाय—दुःख, आयतन, समुदाय और मार्ग—हैं। यह समुदाय दुःख का साधन है। सभी क्षणिक हैं। ऐसी स्थिर भावना मार्ग है। ऐसे उत्तम तत्त्वज्ञानी को मोक्ष होता है। यह तत्त्व-ज्ञान सब क्षणिक दुःख, स्वलक्षण और शून्य की भावनाओं के दृढ़ हो जाने से होता है। सुत्तपिटक के 'सूत्रान्त' ही, बुद्ध के वास्तविक उपदेश होने के कारण, पूर्णतया मान्य है। इसीलिए यह मत 'सौत्रान्तिक' के नाम से विख्यात है। यह बाह्य जगत् की सत्ता अनुमान के आधार पर मानता है।[1]

(छ) **विज्ञानवाद** मत के प्रतिपादन करनेवालों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति मुख्य हैं। दिङ्नाग ने 'प्रमाण-समुच्चय'-नामक ग्रन्थ लिखा और धर्मकीर्ति ने 'न्याय-बिन्दु' तथा 'प्रमाण-वार्तिक'।

माध्यमिक ने सब पदार्थों को सत्य तथा बाह्य पदार्थों को शून्य माना है।

सौत्रान्तिक ने बौद्ध तथा बाह्य—दोनों पदार्थों को सत्य माना है। बौद्ध पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाणों से प्रमाणित किया है। बाह्य पदार्थों की सत्ता को अनुमान-प्रमाण से सिद्ध किया है।

वैभाषिक ने बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध माना; क्योंकि बाह्य विषय जिनका इन्द्रिय और अर्थ-सम्बन्ध से ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ भी है—इन्द्रियजन्य प्रत्यभिमान। प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु में अनुमान की जरूरत नहीं है और प्रत्यक्ष को अनुमान्य कहना ही अनुभव के विपरीत है। इसलिए जहाँ इन्द्रिय और उसके विषय के सम्बन्ध में ज्ञान होता है, वहाँ बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष है।

कनिष्क के द्वारा प्रतिष्ठित चतुर्थ बौद्ध-संगीति ने आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में बौद्ध ग्रन्थों के ऊपर महान भाष्य ग्रन्थ तैयार किया, जिसे 'विभाषा' या विशाल 'भाष्य' कहते हैं और इसी की मान्यता स्वीकार करने के कारण वह मत 'वैभाषिक' कहलाता है। इसने जगत् के पदार्थों तथा धर्मों का विशिष्ट वर्गीकरण किया है, जो इसके गम्भीर मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का परिणत फल माना जाता है।[2]

---

[1] द्रष्टव्य—उपाध्याय—'बौद्ध-दर्शन-मीमांसा' (पृ० २५३-२५८)

[2] द्रष्टव्य—उपाध्याय—'बौद्ध-दर्शन-मीमांसा' (पृ० २१७-२४२)

आठवाँ परिच्छेद

आस्तिक-दर्शन

(१) **वैशेषिक-दर्शन**—इसके रचयिता कणाद ऋषि का यह मत है कि जबतक धर्म नहीं होगा तबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा। अशुद्ध अन्तःकरण में विद्या का प्रकाश नहीं होता। इसलिए अन्तःकरण का शुद्ध होना आवश्यक है। अन्तःकरण की शुद्धि धर्म से ही हो सकती है। अतः धार्मिक होना आवश्यक है।

चार्वाक से लेकर बौद्ध तक, संघात से अतिरिक्त आत्मा को नहीं माना है। जैन-दर्शन ने माना तो मध्यम परिणामवाला विकारी और अनित्य आत्मा को ही माना है—इसने केवल अर्हत् को नित्य मुक्त माना है—इसके सिवा शेष जीवों को बद्ध माना है। महर्षि कणाद ने जीवात्मा और ईश्वर दोनों को माना है और नित्य माना है।

वैशेषिक के मत में आत्मा से आत्मा और परमात्मा दोनो का बोध होता है। आत्मा या जीवात्मा व्यक्तिगत होता है। नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य सकल्पवाला, सर्व-सृष्टि को चलानेवाला, परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है—अर्थात् परमात्म-जीवात्म-भेद से आत्मा दो प्रकार की है। परमात्मा एक है और जीवात्मा अनेक।

परमाणुओ का संयोग सृष्टि के आदि में कैसे होता है? ईश्वर की इच्छा या प्रेरणा से परमाणुओं में गति का क्षोभ उत्पन्न होता है और वे परस्पर मिलकर सृष्टि की योजना करने लगते हैं। इस दर्शन में परमाणुओं का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। परमाणुवाद ही इस दर्शन का मुख्य विषय है। अन्य विषयों का वर्णन गौण है।

अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति संयोग है। संयोग एक के कर्म से या दो के कर्मों के संयोग से भी होता है। दो मल्ल दौड़कर लड़ने के लिए जहाँ आपस में मिलते हैं वहाँ दोनों का संयोग हुआ।

बुद्धि दो प्रकार की है—एक संशय और दूसरी निश्चय। अनिश्चयज्ञान का नाम संशय है। साधारण धर्म के देखने से और विशेष धर्म का ज्ञान न होने से संशय होता है।

वैशेषिक सिद्धान्त माननेवालों को चार प्रमाण मान्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्षज्ञान।

कणाद ने उद्देश्य-लक्षण, परीक्षा और उद्देश्य-विशेष-विभाग से पदार्थों का वर्णन करते हुए अधिकारियों के लिए आत्मा अनात्मा का विवेक अच्छी तरह से कराया है। इस दर्शन को अच्छी तरह जानने से इन्द्रिय, मन आदि अनात्म-वस्तुओं में आत्मा का भ्रम कभी नहीं होगा। 'तद्वचनादाम्नायस्य' ईश्वर के वचन से वेद में प्रामाण्य है। इस सूत्र की समाप्ति में कणाद ने इस बात के ऊपर अधिक जोर दिया है कि कर्म-फल देनेवाले परमात्मा को अवश्य मानना चाहिए। परमात्मा के बिना पृथ्वी आदि की सृष्टि नहीं हो सकती। इसका कर्त्ता अवश्य कोई है; क्योंकि कर्त्ता के विना कार्य नहीं देखा गया है। जो इसका कर्त्ता है वही ईश्वर है। इस अनुमान से ईश्वर भी सिद्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन में दस अध्याय हैं जिनमें से प्रत्येक में दो आह्निक हैं। अन्तिम तीन अध्यायों में, न्याय-दर्शन की भाँति, प्रमाण, कारणता आदि का विचार है। व्यवहार-शास्त्र के प्रश्नों का छठे अध्याय में विचार किया गया है। चौथे अध्याय में परमाणुवाद का वर्णन है। शेष अध्यायों में द्रव्यादि पदार्थों का विवेचन है। अन्यान्य दर्शनों की अपेक्षा कणाद की प्रवृत्ति जड़ पदार्थों के ज्ञानानुशीलन में ही विशेष दिखाई देती है।

यद्यपि वैशेषिक में सचेतन-अचेतन आदि नाना प्रकार के पदार्थों का ही विषय अधिक आया है तथापि धर्म निरूपण और मुक्ति-साधन का उपाय निर्धारित करना ही इस दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। इसके मत से शरीर और मन का विच्छेद ही मोक्ष है। कणाद ने कहा है—'आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः' अर्थात् आत्मकर्म समाप्त होने पर ही मुक्ति होती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम आदि संपन्न होने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। तब राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। धर्माधर्म की प्रवृत्तियाँ जब नष्ट हो जाती हैं तब पुनर्जन्म नहीं होता—कोई दुःख भी नहीं रहता। इस तरह आत्यन्तिक दुःख का विनाश ही मोक्ष है।

(२) न्यायदर्शन—इसके प्रवर्त्तक गौतम ऋषि मिथिला-निवासी कहे जाते हैं। इनके न्यायसूत्र अबतक प्रसिद्ध हैं। इनका न्याय केवल प्रमाण, तर्क आदि नियम निश्चित करनेवाला शास्त्र नहीं है, बल्कि आत्मा, इन्द्रिय, पुनर्जन्म, दुःख, अपवर्ग आदि विशिष्ट प्रमेयों का विचार करनेवाला भी है। इन्होंने सोलह पदार्थों का विचार किया है—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, और (१६) निग्रह-स्थान। इन विषयों पर विचार, किसी मध्यस्थ के सामने, वादि-प्रतिवादि-कथोपकथन के रूप में, कराया गया है। किसी विषय में विवाद उपस्थित होने पर पहले इसका निर्णय आवश्यक होता है कि वादियों के कौन प्रमाण माने जायँ। इसके उपरान्त विवाद का विषय अर्थात् प्रमेय का विचार होता है। विषय सूचित हो जाने पर मध्यस्थ के चित्त में सन्देह होता है कि उसका यथार्थ स्वरूप क्या है। सन्देह के उपरान्त मध्यस्थ के चित्त में यह विचार हो सकता है कि इस विषय के विचारों से क्या प्रयोजन है। वादी संदिग्ध विषय पर अपना दृष्टान्त दिखाकर बतलाता है, वही दृष्टान्त पदार्थ है। जिस पक्ष को वादी पुष्ट करके बतलाता है वह उसका सिद्धान्त हुआ। वादी का पक्ष सूचित होने पर साधना की जो-जो

युक्तियाँ कही गई हैं, प्रतिवादी उनके खण्डन में प्रवृत्त होता है। अपनी युक्तियों को खण्डित देख वादी फिर से और युक्तियाँ देता है, जिनसे प्रतिवादी की युक्तियों का उत्तर हो जाता है। यही तर्क कहा गया है। तर्क द्वारा वादी जो अपना पक्ष स्थिर करता है वही निर्णय है। प्रतिवादी के इतने से सन्तुष्ट न होने पर दोनों पक्ष द्वारा पंच-अवयव-युक्त युक्तियों का कथन 'वाद' कहा गया है। स्थिर सत्य-पक्ष को न मानकर यदि प्रतिवादी, जीत की इच्छा से, अपनी चतुराई के बल पर, व्यर्थ उत्तर-प्रत्युत्तर करता चला जाता है तो वह 'जल्प' कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिवादी कुछ काल तक तो कुछ अच्छी युक्तियाँ देता जायगा, फिर ऊटपटाँग बकने लगेगा—इसको 'वितण्डा' कहते हैं। इस वितण्डा में जितने हेतु दिये जायँगे वे ठीक न होंगे—'हेत्वाभास' मात्र होंगे। इन हेतुओं और युक्तियों के अतिरिक्त, जान-बूझकर वादी को घबराहट या चक्कर में डालने के लिए, उसके वाक्यों का ऊटपटाँग अर्थ करके, यदि वादी गड़बड़ करना चाहता है, तो वह 'छल' कहलाता है। यदि व्यक्ति निरपेक्ष-सा धर्म-वैधर्म आदि के सहारे अपना पक्ष स्थापित करने लगता है, तो वह 'जाति' में आ जाता है। इस प्रकार होते-होते जब शास्त्रार्थ में यह अवस्था आ जाती है कि अब प्रतिवादी को रोककर शास्त्रार्थ बन्द किया जाय, तब वह निग्रह-स्थान कहा जाता है।

प्रमाण-मीमांसा—न्याय का मुख्य विषय है प्रमाण। गौतम ने चार प्रमाण मानें हैं—(क) प्रत्यक्ष, (ख) अनुमान, (ग) उपमान, (घ) शब्द।

(क) आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग से जो ज्ञान का कारण वा प्रमाण है वही 'प्रत्यक्ष' है। प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का अर्थ या विषय से संयोग होता है। प्रत्यक्ष अनुभव इसी तरह होता है। जब हमारा मन कहीं दूसरी जगह होता है तब हम, आँखें खुली रहने पर भी, नहीं देखते और कान होते हुए भी नहीं सुनते। वास्तव में एक समय एक ही ज्ञान हो सकता है। हम एक ही पल में देखते, सुनते और अनेक कार्य करते हैं—यह प्रतीति मन की तेजी के कारण होती है।

(ख) वस्तु के साथ इन्द्रिय-संयोग होने से जो उसका ज्ञान होता है वह 'अनुभव है।' नैयायिकों का कार्य है दूसरे के मन में ज्ञान उत्पन्न करना। इसीसे अनुमान के पाँच खण्ड कहते हैं जो 'अवयव' कहे जाते हैं।

(१) **प्रतिज्ञा**—अनुमान मे जो बात सिद्ध होती है उसका वर्णन वाक्य द्वारा होता है। जैसे—'यहाँ पर आग है'।

(२) **हेतु**—जिस लक्षण से बात प्रमाणित हो जाय। जैसे आग है; क्योंकि धुँआ है।

(३) **उदाहरण**—सिद्ध की जानेवाली वस्तु, बतलाये हुए चिह्न के साथ, जहाँ देखी गई है उसे बतलानेवाला वाक्य। जैसे—'जहाँ-जहाँ धुँआ रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती है।'—जैसे, रसोईघर।

(४) **उपनय**—जो वाक्य बतलाते हुए चिह्न का होना प्रकट करे। जैसे—"य पर धुँआ है।"

(५) **निगमन**—सिद्ध की जाननेवाली बात सिद्ध हो गई। 'इसलिए यहाँ पर आग है।'

साधारणतः इन पाँच अवयवों से युक्त वाक्य को 'न्याय' कहते हैं।

(ग) तीसरा प्रमाण '**उपमान**' है—अर्थात् किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से न जानी हुई वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वही उपमान है। जैसे नीलगाय गाय के सदृश होती है, यह किसी के मुँह से सुनकर जब हम जंगल में नीलगाय देखते हैं, तो हमें ज्ञान होता है कि यह नीलगाय है।

(घ) चौथा प्रमाण है '**शब्द**'। सूत्र में लिखा है कि आप्त पुरुष का वाक्य—शब्द—प्रमाण है। भाष्यकार ने आप्त पुरुष का लक्षण यह बतलाया है कि जो साक्षात् कृत- धर्म हो अर्थात् जैसे देखा-सुना और अनुभव किया हो ठीक-ठीक वैसा ही कहनेवाला हो, वही 'आप्त' है। गौतम ने आप्तोपदेश के दो भेद किये हैं—दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। प्रत्यक्ष जानी हुई बातों को बतानेवाला दृष्टार्थ है और केवल अनुमान से जानी हुई बातों को बतलानेवाला अदृष्टार्थ कहलाता है।

गौतम ने अपने सूत्रों में उन्हीं बातों पर विचार किया है जिनके ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो।

शरीर, इन्द्रिय और मन से आत्मा के पृथक् होने के हेतु गौतम ने दिये हैं। वेदान्तियों के सदृश वे एक ही आत्मा नहीं मानते, अनेक मानते हैं। नैयायिक आत्मा, कर्त्ता, भोक्ता आदि मानते हैं। संसार को रचनेवाली आत्मा ही ईश्वर है। 'न्याय-मञ्जरी' के अनुसार दुःख, द्वेष तथा संस्कार को छोड़ और सब आत्मा के गुण ईश्वर में हैं।

वैशेषिक के समान न्याय भी परमाणुवादी है अर्थात् वह परमाणुओं के योग से सृष्टि मानता है। प्रमेयों के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक की बात प्रायः एक ही है। वात्स्यायन ने भी भाष्य में यहाँ तक कहा है कि जिन बातों को विस्तारभय से गौतम ने सूत्रो में नहीं कहा है उन्हें वैशेषिक से ग्रहण करना चाहिए। अतएव, दशवीं शताब्दी के बाद न्याय और वैशेषिक को एक साथ मिलाकर, ग्रंथ लिखे जाने लगे। इसी कारण वैशेषिक का उत्तर-कालीन साहित्य न्याय से भिन्न नहीं है। 'तर्क-संग्रह' को वैशेषिक और न्याय दोनों का ही ग्रन्थ कह सकते हैं।

न्याय-वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धान्त मनुष्यों की सामान्य बुद्धि के अनुकूल हैं। जड़ और चेतन का स्पष्ट भेद तात्त्विक मान लिया गया है। पदार्थों में जबरदस्ती एकता लाने की कोशिश नहीं की गई है। पृथ्वी, जल आदि भूतों को सर्वथा भिन्न मान लिया गया है। पचास वर्ष पहले यूरोप के वैज्ञानिक, तत्त्वों में, आन्तरिक भेद मानते थे। परन्तु अब सब तत्त्वों को विद्युत्परमाणुओं में विश्लेषणीय माना जाता है। आत्मा को शरीर, इन्द्रियों आदि से भिन्न सिद्ध करने के लिए न्याय ने प्रबल युक्तियाँ दी हैं। इन युक्तियों का प्रयोग सभी आस्तिक विचारकों ने किया है। परमात्मा को सिद्ध करने के लिए न्याय-दर्शन में अति सरल तर्क अपनाये गये हैं। ईश्वर की सिद्धि के लिए तो न्याय की युक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं। भारत में किसी दूसरे दार्शनिक मत ने ईश्वर को सिद्ध करने की इतनी कोशिश नहीं की।

न्याय वैशेषिक सब आत्माओं को विभु मानते हैं। यदि आत्मा विभु है, तो सबका सबके शरीरों, मनों से संसर्ग होता होगा, जिसका परिणाम, हरएक को सब मनुष्यों के हृदय या मस्तिष्क का ज्ञान होना चाहिए।

परन्तु न्याय-वैशेषिक की आत्मा चेतन नहीं है। चैतन्य आत्मा का गुण है जो आता-जाता रहता है। जब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब जीव में चैतन्य भी उत्पन्न हो जाता है। मोक्ष-दशा में जीव में इन्द्रियों के न होने से ज्ञान नहीं रहता, इसलिए चैतन्य भी नहीं होता। मुक्त जीव जड़ होते हैं। मोक्ष-दशा में जीव को सुख भी नहीं होता। सुख-दुःख के अत्यन्त अभाव का नाम ही मोक्ष है।

उपनिषदों में ब्रह्म और मुक्त पुरुष के आनन्दमय होने का स्पष्ट वर्णन है। ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला कभी भयभीत नहीं होता। उसी को पाकर आनन्द होता है। नैयायिकों की मुक्ति अभावात्मक होने से वेदान्तियों को मान्य नहीं है। भारतीय तर्क-शास्त्र को उन्होंने महत्त्वपूर्ण विचार और सिद्धान्त दिये हैं। तर्क-शास्त्र की उन्नति का श्रेय नैयायिकों को और जैन-बौद्ध आदि प्रचारकों को मिलना चाहिए।

गौतम का न्याय केवल विचार या तर्क के नियम निर्धारित करनेवाला शास्त्र नहीं है, बल्कि प्रमेयों का विचार करनेवाला भी है। पाश्चात्य 'लाजिक' या तर्क-शास्त्र से इसमें यही भेद है। 'लाजिक' दर्शन के अन्तर्गत नहीं लिया जाता, पर 'न्याय' दर्शन है।

नैयायिक किसी वस्तु को अज्ञेय या अप्रमेय नहीं मानते। इस सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मीमांसक ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं, क्योंकि उन्होंने तर्क की सहायता से ही यज्ञ-विषयक सिद्धान्तों की छानबीन की है। 'न्याय' शब्द का प्रथम प्रयोग मीमांसा के लिए किया जाता था।

(३) सांख्यदर्शन—प्रोफेसर मैक्समूलर वेदान्त के बाद सांख्य को ही भारतवर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन मानते हैं। अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य के सिद्धान्त भी अत्यन्त प्राचीन हैं। कठ, श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषद् में सांख्य के विचार पाये जाते हैं।

सांख्य-दर्शन को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय कपिल को दिया जाता है। श्वेताश्वतर में कपिल शब्द आता है। श्रीराधाकृष्णन् कपिल को बुद्ध से शताब्दी पहले का समझते हैं। सांख्य पर सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण-विरचित 'सांख्यकारिका' है। इस ग्रन्थ में सिर्फ ७२ छोटी-छोटी कारिकाओं में सांख्य-दर्शन का पूरा परिचय दे दिया गया है। यह तीसरी शताब्दी ईसवी की बतलाई जाती है। सांख्य सूत्रों पर श्रीविज्ञान-भिक्षु (सोलहवीं शताब्दी) ने 'सांख्यप्रवचन' भाष्य लिखा है।

सांख्य में प्रकृति-पुरुष-प्रभृति पच्चीस पदार्थ स्वीकार कर उनका नाम तत्त्व रखा है। वे पच्चीस तत्त्व हैं—(१) प्रकृति, (२) पुरुष, (३) महत्, (४) अहंकार, (५) मन, (६) पृथ्वी, (७) जल, (८) वायु, (९) अग्नि, (१०) आकाश, (११) आँख, (१२) कान, (१३) नाक, (१४) रसना, (१५) त्वक्, (१६) हाथ, (१७) पैर, (१८) मुख, (१९) वायु, (२०) उपस्थ, (२१) रूप, (२२) रस, (२३) गन्ध, (२४) स्पर्श, और (२५) शब्द।

सांख्य-सूत्र कहता है कि ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। प्रत्यक्ष और अनुमान ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते।

प्रकृति और पुरुष दोनों को सांख्य ने अनादि माना है। इस शास्त्र को कपिल ने छः अध्यायों में कहा है। कुल मिलाकर इसमें पाँच सौ चौबीस सूत्र हैं। पहले अध्याय में विषय का विवेचन है। दूसरे में यह वर्णन किया गया है कि प्रकृति अपना काम किस प्रकार करती है। तीसरे में विषय से वैराग्य और चौथे में विरक्त पुरुषों की वर्णित आख्यायिका है। पञ्चम में पर-पक्ष का विनिर्णय और छठे में सब अर्थों का संक्षेप में संग्रह दिखाया गया है। आत्मा के मनन के विषय में मन्द या कनिष्ठ अधिकारियों के लिए वैशेषिक और न्याय है। मध्यम अधिकारियों के लिए सांख्य और उत्तम अधिकारियों के लिए वेदान्त दर्शन है।

वैशेषिक और न्याय ने देहेन्द्रिय की सब अनात्म चीजों से आत्मभाव को हटाकर इससे भिन्न आत्मा में (जो नित्य एवं विभु है उसमें) जिज्ञासुओं की बुद्धि को स्थिर किया है। सांख्य ने निर्लेप पुरुष का उपदेश किया है।

बौद्ध कहते हैं कि असत् से सत् होता है। नैयायिक कहते हैं, सत् से असत् होता है। किन्तु सत् से सत् होता है, यह सांख्य कहता है। असत् से सत् की उत्पत्ति तो हो नहीं सकती, ऐसा सांख्य का विचार है।

सुख-दुःख-मोहमय संसार का कारण भी सुख-दुःख-मोहमय होना चाहिए। यह कार्य-रूप जगत् सुख-दुःख-मोहात्मक कारणवाला है। सोने का अलंकार सोने से युक्त है तो सोना उसका कारण है। इस अनुमान से भी त्रिगुणमयी 'प्रकृति' जगत् का कारण सिद्ध होती है।

पुरुष की बहुलता

अन्तःकरण-युक्त पुरुष एक नहीं; किन्तु अनेक हैं, नहीं तो एक के मरने से सब मर जाते—एक के पण्डित होने से सब पण्डित होते; किन्तु ऐसा होता नहीं। अतएव अन्तःकरण-विशिष्ट पुरुष नाना हैं। वह पुरुष निर्गुण होने के कारण संसार में है, तो भी जल में कमल-दल के समान निर्लिप्त है। संसार भोग्य है, पुरुष चेतन भोक्ता है। वही आत्मा है। प्रकृति कर्त्री है। प्रकृति और पुरुष का अन्ध-पंगु-न्याय से सम्बन्ध है। जैसे कोई अन्धा चलने में समर्थ होने पर भी मार्ग दिखलाने के लिए नेत्रवाले पंगु को कन्धे पर बैठा लेता है और पंगु देखने में समर्थ है, तो भी चलने में असमर्थ होकर किसी हृष्ट-पुष्ट पुरुष का आश्रय लेता है, वैसे ही अचेतन 'प्रकृति' 'पुरुष' को आश्रय बनाती है। उत्पत्ति-धर्म-रहित पुरुष अपने भोग के लिए प्रकृति का आश्रय लेता है।

दुखमय-संसार में निमग्न पुरुष संसार के सुख-दुःख को अपने में मानता हुआ कभी पुण्य-परिपाक से, सद्गुरु के उपदेश से—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि-भौतिक—तीन दुःखों के नाश की प्रार्थना करता है। उस प्रार्थना को निवृत्त होकर प्रकृति ही सफल करती है। जब पुरुष भोगना नहीं चाहता, प्रकृति आप निवृत्त हो जाती है और जिनकी वासनाएँ सर्वथा नष्ट हो गई हैं उनके प्रति प्रवृत्ति नहीं करती है।

जितनी प्रवृत्तियाँ होती हैं वह स्वार्थ के लिए (अपने लिए) होती हैं या परमार्थ के लिए (दूसरों के लिए)। प्रकृति तो जड़ है। उसको अपने प्रयोजन और दूसरों के प्रयोजन का कुछ पता नहीं। फिर उसकी प्रवृत्ति किस तरह होगी ? प्रकृति की प्रवृत्ति स्वार्थ या दया से नहीं होती, किन्तु परार्थ से होती है; क्योंकि अचेतन रथादि की प्रवृत्ति लोक में परार्थ ही देखी जाती है।

ईश्वर

ईश्वर नहीं है, ऐसा सिद्ध करने की कोशिश सांख्य ने कहीं नहीं की है। सृष्टि, प्रलय और कर्म-विपाक में ईश्वर की आवश्यकता नहीं, इन तर्कों को लेकर ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। सांख्य का केवल यही अनुरोध है। इसलिए वास्तव में सांख्य को न तो अनीश्वरवादी ही कह सकते हैं, न न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वरवादी।

सांख्य का स्थान

भारतीय दर्शनों में सांख्य का बहुत ऊँचा स्थान है। कणाद के परमाणुवाद ने जड तत्त्व के खण्ड-खण्ड कर दिये, जिनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध दिखलाई नहीं देता। सांख्य की प्रकृति विश्व की एकता की ज्यादा, किन्तु ठीक, व्याख्या कर सकती है। पाँच भिन्न-भिन्न तत्त्वों के बदले एक प्रकृति को मानकर सांख्य ने अपनी दार्शनिक क्रान्त-दर्शिता का परिचय दिया है। प्रकृति में उसने उतना ही आन्तरिक भेद माना है जितने से विविध सृष्टि सम्भव हो सके। चेतन तत्त्व को अलग मानना दार्शनिक और साधारण दोनों दृष्टियों से युक्ति-संगत है। सांख्य की पुरुष-विषयक धारणा, न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत है। न्याय-वैशेषिक ने आत्मा में सब तरह के गुण आरोपित कर डाले; परन्तु उसे चैतन्य के गुण से वंचित रखा। संसार के सुख-दुःख आदि को बुद्धि के गुण बतलाकर पुरुष की धारणा को सरल बना दिया। वास्तव में, न्याय-वैशेषिक की आत्मा या जीव की मुक्ति सम्भव मालूम नहीं होती। यदि सुख-दुःख जीव के ही गुण हैं, तो उनका छूटना असम्भव है। पुरुष को आनन्दमय न मानकर सांख्य ने यह सिद्ध कर दिया कि वह अपनी दार्शनिक व्याख्या से लोक-बुद्धि को खुश करने की जरा भी चेष्टा नहीं करता।

सांख्य ने मुक्ति दो प्रकार की मानी है—जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति। उसने अनन्त आत्माएँ इस जगत् में मानी हैं। ये आत्माएँ अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहती हैं। अपने पूर्व-कर्म-संस्कारों के कारण ये आत्माएँ जगत् की भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म धारण करती हुई भ्रमण करती रहती हैं। कर्मों का फल जीव को स्वयं मिलता है। कोई अन्य चेतन-शक्ति या ईश्वर प्राणियों को उनके कर्म का फल नहीं देता है।

उपनिषदों में सांख्य के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं—विशेषकर कठ, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा मैत्रेय में। यह दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादन करता है। प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं; जिनके परस्पर सम्बन्ध से इस जगत् का आविर्भाव होता है।

सांख्य की अनेक धाराएँ थीं। श्रीबलदेव उपाध्याय की सम्मति है कि 'प्राचीन सांख्य ईश्वरवादी था। वेदान्त से उसमें विशेष पार्थक्य न था; किन्तु नवीन सांख्य नितान्त निरीश्वरवादी है। प्रकृति-पुरुष की कल्पना से विश्व की पहेली समझाई जा सकती है। अतः अनावश्यक होने से ईश्वर की सत्ता सांख्य को मान्य नहीं है। बौद्धों के ऊपर सांख्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। गौतम बुद्ध के मौलिक सिद्धांत सांख्य से ही लिये गये हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। दुःख की सत्ता पर अनास्था तथा जगत् की परिणाम-शीलता (परिणाम-नित्यता) के सिद्धान्त को बुद्ध ने सांख्य-दर्शन से ग्रहण किया। सांख्यकों की सबसे विलक्षण बात यह है कि वे अहिंसावादी थे। जैन तथा बौद्ध लोगों ने यह सिद्धान्त सांख्यकों से ही सीखा तथा ग्रहण किया।'[1]

(४) **योगदर्शन**—योग की धारणा बहुत प्राचीन है। अथर्ववेद में इस बात का विश्वास प्रकट किया गया है कि योग-द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। कठ, तैत्तिरीय और मैत्रायणी उपनिषदों में 'योग' का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। पतञ्जलि के योगदर्शन में बिखरे हुए योग-सम्बन्धी विचारों का वैज्ञानिक ढंग से संग्रह कर दिया गया है। योगसूत्रों की शैली बड़ी गम्भीर है। शब्दों का चुनाव सुन्दर है।

पतञ्जलि ने इस दर्शन की रचना की, इसलिए इसका नाम पातञ्जलदर्शन पड़ा।

पतञ्जलि ने भी कपिल के समान ही पच्चीस मूल तत्त्व स्वीकार किये हैं। विशेषता यही है कि महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हुए मनुष्यों के परित्राण के लिए योगशास्त्र का प्रवर्तन किया है। इसलिए पातञ्जल-दर्शन ईश्वरवादी और कपिल-दर्शन निरीश्वरवादी कहलाता है। पतञ्जलि ने ईश्वर-समेत छब्बीस तत्त्व माने हैं। उनका कथन है कि ईश्वर अपनी इच्छा से शरीर-धारण और जगत्-निर्माण करता है। पतञ्जलि के मत से भी तत्त्वज्ञान द्वारा ही मुक्ति होती है। इसलिए उन्होंने अष्टांगयोग के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का मार्ग बतलाया है।

पतञ्जलि का योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य—इन चार पादों या भागों में विभक्त है।

१. **समाधिपाद** में योग का उद्देश्य और लक्षण बतलाया गया है।

२. **साधनपाद** में क्लेश, कर्म-विपाक और कर्म-फल आदि का विवेचन है।

३. **विभूतिपाद** में बतलाया गया है कि योग के अङ्ग क्या हैं। इसका परिणाम क्या होता है और उनके द्वारा किस प्रकार अणिमा-महिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

४. **कैवल्यपाद** में मोक्ष का विवेचन किया गया है।

संक्षेप में योगदर्शन का मत है कि मनुष्य को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकार के क्लेश सताते हैं। उसे कर्म के फलों के अनुसार जन्म लेकर आयु व्यतीत करनी पड़ती है तथा भोग भोगना पड़ता है। पतञ्जलि ने इनसे बचने और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय योग बतलाया है और कहा है कि क्रमशः योग के अङ्गों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। योगी संसार को दुःखमय और हेय मानते हैं।

---

१. बलदेव उपाध्याय—'भारतीय दर्शन' (चतुर्थ संस्करण) पृ० ३१२–३१३

योगसाधन का उपाय बतलाया गया है कि पहले किसी स्थूल विषय का आधार लेकर अपना चित्त स्थिर करना चाहिए। अनन्तर, सूक्ष्म विषय पर चित्त की वृत्तियों को रोकने के उपाय—अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान, प्राणायाम, समाधि, विषय-वासनाओं से विरक्ति आदि बतलाये गये हैं। यह भी कहा गया है कि जो योग का अभ्यास करते हैं उनमें अनेक प्रकार की विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। यह योगी अरविन्द को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता था कि योगाग्नि में तपाये हुए शरीर को न बीमारी सताती है, न बुढ़ापा और न मृत्यु। हलकापन, आरोग्य, स्वच्छता, स्वर-माधुर्य, पवित्र गन्ध, विकाराल्पता—ये सब योग की प्रथम प्रवृत्ति (समाचार) की सूचना देते हैं।[1]

जो योग-मार्ग में चलना चाहे उसे अत्यन्त विनम्र होना चाहिए। अहंकार का त्याग कर देना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठो योग के अङ्ग कहे गये हैं। योग-सिद्धि के लिए इन आठों अङ्गों का साधन आवश्यक और अनिवार्य कहा गया है। कहा गया है कि जो योग के आठों अङ्गों को सिद्ध कर लेता है वह हर प्रकार के क्लेशों से छूट जाता है। अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है और अन्त में मुक्ति का भागी होता है।

सृष्टि-तत्त्व आदि के सम्बन्ध में योग का भी प्रायः वही मत है जो सांख्य का है। इसमें सांख्य को ज्ञानयोग और योग को कर्मयोग कहते हैं।

प्रकृति और पुरुष सर्वथा विरुद्ध गुणवाले पदार्थ हैं। इसलिए वस्तुतः उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता। जो कुछ भी सम्बन्ध उनमें प्रतीत होता है, उसे अज्ञान का फल समझना चाहिए। योगदर्शन ने ईश्वर को ज्यादा महत्त्व का स्थान दिया है, परन्तु उसमें भी ईश्वर, प्रकृति और पुरुष का रचयिता या आधार नहीं है। तथापि योग का ईश्वर विश्व के सब पुरुषों के लिए एक त्रिकाल-सिद्ध आदर्श-सा है जिसकी समता तक मुक्त पुरुष कठिनता से पहुँच सकता है।

मोक्ष से पहले जीव तरह-तरह की योनियों में भ्रमण करता रहता है। भारत के अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य-योग भी इस सिद्धान्त को मानता है। किन्तु इसकी विशेषता यही है कि इसने पुनर्जन्म की प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा की है। पुनर्जन्म किसका होता है? सांख्य का उत्तर है—लिंग-शरीर का। लिंग-शरीर बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ—इन अठारह तत्त्वों से बना हुआ है। जो दिखलाई देता है और जला दिया जाता है वह स्थूल शरीर है। लिंग-शरीर एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाता रहता है। मुक्ति होने पर ही लिंग-शरीर का नाश होता है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, आसक्ति आदि भाव कहलाते हैं। इस प्रकार किसी जन्म में की हुई साधना व्यर्थ नहीं जाती, अच्छे-बुरे प्रयत्नों का सूक्ष्मरूप दूसरे जन्म में मनुष्य के साथ जाता है।

---

१. देखिए—योगोपनिषद्।

सांख्य और योग में आत्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए 'पुरुष' का प्रयोग होता है। आत्मा देहरूपी पुरी में रहने के कारण 'पुरुष' कहलाता है। परमात्मा विश्व-ब्रह्माण्ड-रूपी पुरी में रहने से 'पुरुष' कहलाता है। दोनों का साधर्म्य चेतना है।

ऋषियों की अन्तर्दृष्टि में योग ही प्रधान कारण माना जाता है। योग भारतीयों की विशिष्ट सम्पत्ति है जिसकी इन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन कर उन्नति की। मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में योगासन में अनेकों बैठी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं और इससे ज्ञात होता है कि योग की प्रक्रिया बहुत प्राचीन है।

योग के प्रकार भी अनेक हैं। तन्त्रयोग की पद्धति विलक्षण है। नाथपन्थी सिद्धों ने हठयोग का खूब अनुशीलन किया था। गोरखनाथ के नाथ-सम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि इस सम्प्रदाय को ही योग नाम से पुकारते हैं।[1]

(५) पूर्वमीमांसा-दर्शन—जहाँ अन्य दर्शन श्रुति से कुछ संकेत लेकर ही संतुष्ट हो गये, वहाँ पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के लेखकों ने अपने सम्पूर्ण सिद्धान्तों को श्रुति से लेने का प्रयत्न किया। न्याय-वैशेषिक के साहित्य में श्रुति के उदाहरण शायद ही मिले। सांख्य भी श्रुति की विशेष परवाह नहीं करता; परन्तु पूर्व और उत्तर-मीमांसा के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहाँ श्रुति से मतलब वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों के समुदाय से है। जहाँ वेदान्त अपनी पुष्टि के लिए उपनिषद् की शरण लेता है वहाँ पूर्वमीमांसा ब्राह्मण-ग्रन्थों पर निर्भर रहता है। ब्राह्मण (कर्म) उपनिषद् (ज्ञान) से पहले हुए, इसलिए इसका नाम पूर्वमीमांसा पड़ा। उपनिषदों का आश्रय लेने के कारण वेदान्त को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं।

पूर्वमीमांसा का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ 'जैमिनि-सूत्र' है। इसके सूत्रों में वैदिक यज्ञ-विधानों की प्रक्रिया और महत्त्व का वर्णन है। यज्ञ-प्रतिपादक वाक्यों की व्याख्या किस प्रकार करनी चाहिए—इसका निर्णय करना मीमांसा का काम है।

मीमांसा-शास्त्र के लगभग २५०० सूत्र हैं जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों में मीमांसा का आकार सबसे बड़ा है। मीमांसा पर 'प्रभाकर' और 'कुमारिल' के भाष्य प्रसिद्ध हैं। दोनों में मतभेद होने पर भी, कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर वे एकमत हैं।

मीमांसक वेदों को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। उनका कथन है कि वेद गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा अनादिकाल से चले आते हैं।

वेद का और विशेषकर यजुर्वेद का अधिकांश भाग कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड है। कर्मकाण्ड कनिष्ठ अधिकारी के लिए होता है, उपासना और कर्म मध्यम के लिए एवं कर्म, उपासना और ज्ञान,—तीनों उत्तम के लिए। उत्तम अधिकारी कर्म तथा उपासना—दोनों को निष्कामभाव से करता है। ये दोनों ज्ञानी के लिए आवश्यक नहीं हैं तथापि लोक-संग्रह के लिए ज्ञानी भी कर्म करते हैं।

पुरातनकाल में कर्म का अर्थ याज्ञिककर्म तक सीमित था। आज जो कर्म की परिभाषा है, वह भिन्न है। आधुनिक कर्म की परिभाषा लोक-सेवा-सूचक है।

---

१. योग-विषय पर विस्तृत विवेचन पंचम खण्ड में 'योगमत' के अन्तर्गत किया गया है।

मीमांसाशास्त्र में यज्ञों के विधि-विधानों का विस्तृत विवेचन है। इस शास्त्र का सिद्धान्त विलक्षण है। इसकी गणना अनीश्वरवादी दर्शनों में है। यह केवल वेदों या इसके शब्दों की नित्यता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार वेद-मंत्र ही देवता है। मीमांसकों का तर्क है कि सब कर्म फलों के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। फल की प्राप्ति कर्म द्वारा ही होती है।

मीमांसकों और नैयायिकों में बड़ा भेद यह है कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। मीमांसा वेद को स्वतःप्रमाण मानता है, किन्तु न्याय नहीं मानता। अतएव न्याय के इस मत को परतःप्रामाण्यवाद कहते हैं।

सांख्य और मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; पर वेद को प्रमाण दोनों मानते हैं। भेद इतना ही है कि सांख्य प्रत्येक कल्प में वेद का नवीन प्रादुर्भाव मानता है और मीमांसा-शास्त्र उसे नित्य मानता है।

कर्मों के विभाग—मनुष्य के सारे कर्मों को मीमांसा ने तीन श्रेणियों में बाँटा है—(१) काम्य (२) निषिद्ध और (३) नित्य। जो कर्म किसी इच्छा की पूर्ति के लिए, किसी मनःकामना की सिद्धि के लिए किये जाते हैं वे 'काम्यकर्म' कहलाते हैं। जिन कर्मों के करने में वेद रोकता है वे निषिद्ध कर्म कहलाते हैं। नित्यकर्म वे हैं जिनका करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रतिदिन आवश्यक है, चाहे उसमें कोई कामना या अभिप्राय हो या नहीं। नित्यकर्म मीमांसा के सार्वभौम महाव्रत हैं। त्रिकाल संध्या-वन्दन करना, वर्णाश्रमधर्म आदि नित्यकर्म में सम्मिलित हैं। नित्यकर्म का फल क्या मिलता है? इसका उत्तर यह है कि नित्यकर्म से अतीत और आगामी दोष नष्ट हो जाते हैं।

भारत के सब दर्शनों का सिद्धान्त है कि कर्म-फल की आसक्ति से छुटकारा पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। मीमांसा भी इस सिद्धान्त को मानता है। श्रीसुरेश्वराचार्य ने भी 'नैष्कर्म-सिद्धि' (१ । १० । ११) में कहा है कि काम्य और निषिद्ध कर्म का त्याग कर देने से मुक्ति लाभ होता है। काम्य कर्म का फल स्वर्गप्राप्ति आदि है जिससे मोक्षार्थी को बचना चाहिए। नित्य-नैमित्तिक कर्म का कोई खास फल नहीं है। चूँकि सिर्फ उससे दोष दूर होते हैं, इसलिए उसे करते रहना चाहिए। निषिद्ध कर्म से अधोगति मिलती है। इसलिए उसे तो छोड़ना ही चाहिए। इस प्रकार जीवित रहकर प्रारब्ध कर्म का, भोग से क्षय कर देने से, मोक्ष लाभ होता है। मुक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं। अतएव मुक्ति क्षण तक भी नित्यकर्म को नहीं त्यागना चाहिए। इसलिए मीमांसक संन्यास-मार्ग का समर्थन नहीं करते। ज्ञान-निरपेक्ष कर्म से भी मुक्ति मिल सकती है। यही नहीं, नित्यकर्म का त्यागना हर दशा में दोषों में फँसानेवाला है। यह मीमांसा का निश्चित विश्वास है।

आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं; परन्तु जैमिनि के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत् फलों की उपलब्धि होती है। पूर्वमीमांसा के अनुसार मनुष्य को अपने कर्म का फल स्वयं मिलता रहता है। कर्म का फल देनेवाला कोई ईश्वर नहीं है और न संसार का कोई व्यवस्थापक परमात्मा ही है।

विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए मीमांसा ने जिस पद्धति को खोज निकाला है वह बड़ी ही उपादेय है। जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से होता है तथा प्रमाण का ज्ञान न्याय से होता है उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा के ही सहारे होता है। मीमांसा के तात्पर्य-विषयक सिद्धान्तों का उपयोग धर्मशास्त्रों में अर्थ-निर्णय के लिए आज भी किया जाता है।

मीमांसा-दर्शन की साहित्य-सम्पत्ति बहुत विशाल है। प्रायः सत्रह सौ वर्ष पूर्व शबर-स्वामी ने 'द्वादश-लक्षणी' मीमांसा पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा था।

मीमांसा के तीन आचार्यों ने तीन सम्प्रदाय—(१) भाट्टमत (२) गुरुमत और (३) मुरारि मत चलाये। इन तीनों में भाट्टमत ही मीमांसा का प्रचलित मत है। इसीलिए इसकी ग्रन्थ-सम्पत्ति अन्य मतों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है।

(६) **वेदान्तदर्शन**—वेदान्त शब्द का वाच्यार्थ वेदों का अन्त अर्थात् वेदों का ज्ञानकाण्ड है। वेदान्त तथा उपनिषद् एकार्थक हैं।

वेद वा ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान ब्रह्मज्ञान में है। देव-देवी, मनुष्य, पशुपक्षी, स्थावर-जङ्गमात्मक सारा विश्व-प्रपञ्च और नाम-रूप-स्वरूप-जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह वेदान्त अर्थात् वेद-सिद्धान्त है। वेदान्त के अनुसार मूल में सारा जगत् एक है। जिसे इस एकत्व का दर्शन हो जाता है उसकी दृष्टि में स्वार्थ और परार्थ का भेद नहीं रह जाता। जो कुछ नाम-रूप से सम्बोधित होता है उसकी सत्ता ब्रह्म की सत्ता से भिन्न नहीं। ब्रह्म से रहित कोई वस्तु नहीं है, वही सत्य है और अन्य सब-कुछ मिथ्या है। वेदान्त के मत से ब्रह्म, निर्गुण, निराकार, निर्विकार और चिन्मय-स्वरूप है। जीव वास्तविक परब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है। उन दोनों अर्थात् आत्मा और परमात्मा के अभेदज्ञान की साधना का आनन्द प्राप्त करना ही इस दर्शन की रचना का उद्देश्य है। जीव और ब्रह्म का अभेद समझ लेना ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर फिर जीव और ब्रह्म में भेद नहीं रहता। 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ—यह दृढ़ निश्चय होने पर जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसी अवस्था के उपस्थित होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

उपनिषदों में केवल उन्हीं विषयों का प्रतिपादन नहीं है जिनका एकमात्र आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त, बहुतों की राय है कि उपनिषदों में परस्पर-विरोधी कथन पाये जाते हैं और सब उपनिषदें एक-सी शिक्षा नहीं देतीं। उनमें आन्तरिक मतभेद-सा प्रतीत होता है। इन सब अड़चनों को दूर करने के लिए, वेद-मूलक अर्थात् उपनिषद्-मूलक सिद्धान्तों का, नये सिरे से, युक्ति-तर्क-द्वारा, यथावत् प्रतिपादन करने के लिए वेदान्तदर्शन अर्थात् वेदान्तसूत्र की रचना, बादरायण ने की। बादरायण का कथन है कि सभी उपनिषदें एक ही दार्शनिक मत का प्रतिपादन करती हैं। उपनिषदों की विभिन्न उक्तियों में जो विरोध दीखता है वह वास्तविक नहीं है। वह उपनिषदों को ठीक-ठीक न समझने का परिणाम है। वेदान्त-सूत्र विशेषतया ब्रह्मपरक होने के कारण ब्रह्मसूत्र भी कहलाता है।

वेदान्तदर्शन में सिर्फ चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का नाम है—'समन्वय'। इसमें अनेक प्रकार की श्रुतियों के सिद्धांतों का समन्वय किया गया है। दूसरे अध्याय का नाम 'अविरोध' है। इस अध्याय में दूसरे दर्शनों का खण्डन करके सयुक्ति और सप्रमाण वेदान्त-मत का स्थापन किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम 'साधन' है। इसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का निर्देश करके मुक्ति के बहिरंग और अन्तरंग-साधनों का उपदेश दिया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम 'फल' है। इसमें जीवन्मुक्त जीव की उत्क्रान्ति और निर्गुण उपासना के फल के तारतम्य पर विचार किया गया है।

यह शास्त्र परा-विद्या के उत्तम अधिकारी के आत्म-मनन के लिए बना है। इसमें आरम्भ से लेकर अन्ततक आत्मविचार है। इस जन्म में या जन्मान्तर में कर्म और उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि होने पर जो परमार्थ का ज्ञान पुरुष में आता है उसका ही इसमें प्रधानतया वर्णन है। जिन विधियों से कर्म शिथिल हो और वासनाओं का नाश हो, वे सब विधियाँ उपनिषदों में विविध प्रकार से वर्णित हुई हैं। कर्मकाण्ड में बताये नित्य यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय आदि कर्मों से जिनका हृदय विशुद्ध हो गया है, जो योग-साधन-द्वारा जितेन्द्रिय हैं, नित्यानित्य वस्तु के विवेक से इहलोक और परलोक के विषयों से जिनको वैराग्य है—ऐसे मुमुक्षुओं के लिए अध्यात्मविद्या के उपदेश की इच्छा से इस शास्त्र का निर्माण हुआ है।

जगत्, जीव, ब्रह्म या परमात्मा—इन तीनों वस्तुओं के स्वरूप तथा पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय ही वेदान्तशास्त्र का विषय है। न्याय और वैशेषिक ने ईश्वर, जीव और जगत् को या जगत् के मूल द्रव्य परमाणु में, तीन तत्त्व मानकर ईश्वर को जगत् का कर्त्ता ठहराया है, जो सर्वसाधारण की स्थूल भावना के अनुकूल है। ईश्वर या परमात्मा का समावेश सांख्य या मीमांसा-पद्धति में नहीं है। वेदान्त ने बढ़कर प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों को एक ही परम-तत्त्व ब्रह्म में अविभक्त रूप से समाविष्ट करके जड़-चेतन-द्वैत के स्थान पर अद्वैत की स्थापना की है।

यद्यपि ब्रह्म का वास्तविक या पारमार्थिक रूप अव्यक्त, निर्गुण और निर्विशेष है तथापि व्यक्त और सगुण रूप भी उसके बाहर नहीं है।

मूल ब्रह्मसूत्रों में लगभग ५५० सूत्र हैं। सूत्र इतने छोटे हैं कि बिना किसी भाष्य के उनका अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल इन सूत्रों की विशद व्याख्याएँ लिखी हैं। इन भाष्यकारों में सबसे अधिक भेद का विषय है जीव और ईश्वर का सम्बन्ध। शङ्कराचार्य का भाष्य समुद्र की तरह गम्भीर और आकाश की तरह शान्त और शोभायमान है। शंकर ने ब्रह्म को स्वगत, सजातीय और विजातीय—तीनों भेदों से परे कहा है। ईश्वर, सगुण-ब्रह्म, अपर-ब्रह्म और कार्य-ब्रह्म शंकर के अद्वैत-वेदान्त के अनुसार पर्यायवाची शब्द हैं। माया की उपाधि से ब्रह्म ईश्वर बन जाता है और अविद्या से संसक्त होकर अविद्या की उपाधि से ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप जीव बन जाता है।

श्रीरामानुज के अद्वैतवाद को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इसमें जीव, जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध समझाने की तरह-तरह से चेष्टा की गई है। जहाँ शंकर के अद्वैतमत के अनुसार ज्ञानाग्नि में, जब कर्म-अकर्म के जल जाने पर, मुक्ति होती है तब जो जीव ब्रह्म में अभिन्न रूप से मिल जाता है वहाँ रामानुज के अनुसार मुक्ति होने पर भी जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है।[1] इस प्रकार वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य आदि विद्वानों ने ब्रह्म-सूत्र पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भाष्य लिखकर अपनी-अपनी विचार-धाराओं का प्रतिपादन किया है। इसलिए व्याख्या-भेद से सम्प्रदायों की संख्या बहुत बढ़ गई है; किन्तु यह निर्विवाद है कि भारत की पुण्यभूमि से निकले हुए जितने भी धर्म, मत या सम्प्रदाय संसार में फैले हुए हैं उन सबके मूल आधार ये दर्शन ही हैं।

वेदान्तसूत्र पर प्रसिद्ध विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं—

	आचार्य	समय	भाष्य	मत
(१)	शंकराचार्य	७०० ई०	शारीरकभाष्य	अद्वैत
(२)	भास्कराचार्य	१००० "	श्रीभास्करभाष्य	भेदाभेद
(३)	रामानुजाचार्य	११४० "	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
(४)	मध्वाचार्य	१२३८ "	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
(५)	निम्बार्काचार्य	१२५० "	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
(६)	श्रीकण्ठ	१२७० "	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
(७)	श्रीपति	१४०० "	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टद्वैत
(८)	वल्लभाचार्य	१५०० "	अणुभाष्य	शुद्ध द्वैत
(९)	विज्ञानभिक्षु	१६०० "	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
(१०)	बलदेव	१७२५ "	गोविन्दभाष्य	अचिंत्य-भेदाभेद

१. द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४००—४५०।

नवाँ परिच्छेद

कनफ्युसियस-धर्म

चीन में चार प्रधान धर्म प्रचलित हैं। बौद्ध-धर्म, इस्लाम-धर्म, कनफ्युसियस-धर्म और ता-ओ धर्म। यहाँ हम कनफ्युसियस-धर्म और ता-ओ-धर्म के संबंध में संक्षिप्त विवरण देंगे।

कनफ्युसियस चीन के एक विख्यात धर्म-प्रचारक सिद्ध पुरुष थे। चीनी लोग उन्हें कुङ्गफुतेज के नाम से पुकारते हैं। चीन देश की सभ्यता को प्रतिष्ठित करनेवाले लोगों में कुङ्गफुतेज का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इस धर्म में तथा बुद्ध की शिक्षाओं में विशेष पारस्परिक विभेद न होने के कारण, इन दोनों मतों का साथ-ही-साथ प्रसार हुआ। प्रत्येक चीनी सांसारिक जीवन के लिए कुङ्गफुतेज के सदुपदेशों में श्रद्धा रखता है, साथ-ही-साथ पारलौकिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए वह बौद्ध-धर्म का पक्षपाती है। इस प्रकार चीनी सभ्यता और संस्कृति का मूलाधार दोनों धर्म की सम्मिलित शिक्षा है। इन दोनों धर्मों की शिक्षा दूध-पानी की तरह मिलकर चीनवासियों के जीवन में इस प्रकार घुलमिल गई है कि इन दोनों के प्रभाव का पृथक् करना दुस्तर है।

जीवनी

कुङ्ग का जन्म ईसा-पूर्व ५५१ वर्ष में आधुनिक शंगटुङ्ग प्रान्त के 'यो' नामक स्थान पर हुआ था। कुङ्ग बुद्ध के समकालीन थे। १७ वर्ष की आयु तक पुरातत्त्व-विद्या, गान-विद्या आदि में दक्षता प्राप्त कर पठन-पाठन समाप्त किया। तत्कालीन राजा चाव आपसे अत्यन्त प्रभावान्वित हुए और भिन्न-भिन्न उत्तरदायी पदों को सुशोभित करने के बाद आप २५ वर्ष की आयु में प्रधान न्यायाधीश बनाये गये। ५० वर्ष की आयु में युङ्गटू जिला के गवर्नर और ५१ वर्ष की आयु में राज्य के प्रधान मंत्री हुए। आपने अपने सदुपदेशों को व्यवहार में लाकर लोगों को चकित कर दिया। देश से चोरी-डकैती

का नाम मिटने लगा। लोगों ने घरों में ताला लगाना बन्द कर दिया। सर्वत्र शान्ति विराजने लगी। राजा ने इस सुव्यवस्था को देखकर आपके नियमों को सम्पूर्ण राज्य में प्रचारित किया। किन्तु लोभी, अत्याचारी सामन्तों को यह पसन्द न आया और उनके षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप आप राज्य के इस उच्च पद से हटा दिये गये। इसके बाद आपने अपने नियमों का प्रचार करने के लिए बड़े-बड़े दरबारों को खाक छानी; पर किसी ने भी आपकी नीतिमय शिक्षा पर ध्यान न दिया। इसी बीच आपकी पत्नी तथा पुत्र की मृत्यु हो गई जिसके शोक को आपने धैर्य-पूर्वक सहन किया। ७३ वर्ष की आयु में, ई० पूर्व ४७८ में, आपकी मृत्यु हुई। आपके ५०० शिष्यों ने गुरु की समाधि पर तीन वर्ष तक शोक मनाया और आपके उपदेशों का खूब मनन किया तथा दूर-दूर देशों में आपकी नीतिमय शिक्षा का प्रचार किया। आपने अपनी शिक्षाओं को लिपिबद्ध भी किया था। आपके चार ग्रन्थ बड़े प्रसिद्ध हैं।[१] संसार की समस्त प्रतिष्ठित भाषाओं में इन ग्रन्थ-रत्नों के अनुवाद हुए हैं।

कुङ्ग के सिद्धान्त

कुङ्ग ने मनुष्य-जीवन की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने स्वर्ग, ईश्वर आदि की चर्चा ही न की। उनके एक शिष्य ची-लू ने पूछा—'भगवन, मैं ईश्वर की सेवा किस प्रकार कर सकता हूँ?' उत्तर में कुङ्ग ने कहा—'जब तुम्हें यह ज्ञान नहीं कि मनुष्य की सेवा किस प्रकार की जाय तब देवों की सेवा के सम्बन्ध में कैसे पूछ सकते हो?' पुनः शिष्य ने पूछा—'भगवन, मृत्यु के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से विचार प्रकट कीजिए।' उत्तर में कुङ्ग ने कहा—'प्रिय ची-लू, जब तुम्हें जीवन के विषय में पर्याप्त ज्ञान नहीं है तब तुम्हें मृत्यु के सम्बन्ध में ज्ञान कैसे हो सकता है?' किन्तु कुङ्ग ने ईश्वर अथवा स्वर्ग के अस्तित्व को कभी इनकार नहीं किया। आत्मा के पुनर्जन्म में उन्हें विश्वास था। फिर भी वे परलोक के सुधारने की उतनी चिन्ता नहीं करते जितनी इहलोक के सुधारने की। मनुष्य सामाजिक जीव है, वह समाज में रहता है, पनपता है तथा अन्त में नष्ट हो जाता है। उसका समाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है। अतः समाज की उन्नति से उसकी उन्नति होगी। वैयक्तिक उन्नति मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं। यह तो सामाजिक उन्नति का फल है।

कुङ्ग के मतानुसार मनुष्य स्वभावतया अच्छा होता है और अच्छाई की ओर उसकी प्रवृत्ति रहती है। अच्छाई की पराकाष्ठा सिर्फ सन्तों में हो सकती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को निष्कामभाव से तथा ईमानदारी और तत्परता के साथ कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। जो सच्चरित्र और दैवी गुणों से भूषित है वह मनुष्यों में 'चु-नट जू' अर्थात् श्रेष्ठ है।

---

१. डा० हरप्रसादशास्त्री ने इस ग्रन्थ का मूल चीनी से हिन्दी में अनुवाद किया है और बड़ौदा-राज्य के 'श्रीसयाजी-साहित्य-माला' के नाम से वह प्रकाशित हुआ है।

समाज के प्रत्येक प्राणी के साथ सद्व्यवहार करना हमारा परम धर्म है। माता-पिता के प्रति भक्ति, दीन जन तथा सेवक के प्रति दया, भाई-बन्धुओं के साथ सहानुभूति रखने की सुन्दर शिक्षा देकर कुङ्ग ने चीनी सभ्यता को बहुत ऊपर उठाया।

आपत्ति के समय पुरुष के गुणों की परख होती है। इस विषय में उनका एक उपदेश बड़ा ही हृदयग्राही है। वे कहते हैं—'जब शीतकाल आता है तब हम देखते हैं कि सब वृक्षों के बाद चीड़ और देवदार अपने पत्तों को त्यागते हैं। क्यों न हो, वे वृक्षों में श्रेष्ठ जो हैं।' पूर्णधर्म के विषय में पूछने पर उन्होंने बतलाया—'पूर्णधर्म वह है जब तुम बाहर निकलो तब प्रत्येक से यह समझकर मिलो; मानों वह तुम्हारा बड़ा अतिथि है। किसी के साथ ऐसा बरताव मत करो जो तुम उससे अपने लिए नहीं चाहते। देश में कोई दुःखित होकर तुम्हारी निन्दा न करे और घर में भी कोई तुम्हारे विरोध में न कुड़बुड़ावे।'

प्रजा के ऊपर पुत्र-सा प्रेम रखना। उनके कल्याण की सर्वदा कामना करना। राज्य की आय को अपने व्यक्तिगत भोग-विलास में न खर्च कर सार्वजनिक हित के कामों में लगाना, हितेच्छु न्याय-परायण पुरुष को अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित करना आदि उपदेश कुङ्ग ने दिये। पेटभर खाने को हो, सेना पर्याप्त हो और प्रजा का शासक में विश्वास हो तो वह राज्य समृद्ध होता है। पर यदि राजा में प्रजा का विश्वास न हो तो वह राज्य ठहर नहीं सकता। अतएव राजा को धर्मात्मा, न्यायी, ईमानदार और कर्त्तव्य-परायण होना चाहिए। जैसा राजा होगा वैसी प्रजा भी होगी।

कुङ्ग ने शिक्षा पर विशेष जोर दिया। उनके मत से मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य अपने को समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी बनाना है। कुङ्ग के एक शिष्य ने पूछा—'मान्यवर, सामाजिक गुण क्या है?' उन्होंने उत्तर दिया—'दूसरे से प्रेम करना।' दूसरे शिष्य ने पूछा—'भगवन्! क्या कोई ऐसा नियम है जिसका पालन जीवन-पर्यन्त करना चाहिए?" उन्होंने उत्तर दिया—'दूसरे के साथ ऐसा बर्ताव न करो जैसा तुम अपने प्रति दूसरों के द्वारा नहीं चाहते।' सुतराम्, कुङ्ग के उपदेश का सारांश आत्मविश्वास और पड़ोसियों के प्रति उदारता है।

कनफ्युसियस प्राणियों से पृथक् जीवात्मा का अस्तित्व मानते थे। उनका विश्वास था कि दिवंगत पुरुष की आत्मा बिना शरीर के ही रहती है। आत्मा न केवल मनुष्य में ही होती है; अपितु वायु, अग्नि, पहाड़, नदी आदि में भी होती है और सभी की पूजा होती है। सबका दर्जा स्वर्ग और मनुष्य के बीच का है। इन आत्माओं के साथ-साथ ही पिशाचों की भी सत्ता मानी गई है। कुङ्ग मृत पितरों और शरीर-रहित आत्माओं को इस प्रकार 'बलि' प्रदान करते थे मानों वे साक्षात् उनके सामने उपस्थित हों। इन आत्माओं का काम अपने उत्तराधिकारियों की रक्षा करना समझा जाता था।

कुङ्ग के कुछ उपदेश तथा कथन—

(१) धनवान के लिए निरभिमान होना सहज है, किन्तु निर्धन के लिए सन्तोष प्रकट करना कठिन है।

(२) सदाचार के प्रति अनुराग, सौन्दर्य के प्रति अनुराग की तरह, हृदय से होना चाहिए।

(३) अपनी तुलना में भी दूसरों को परखने का आत्मशासन रखो। इसी को मनुष्यता का सिद्धान्त कहते हैं।

(४) न्याय के प्रति प्रेम, विद्वत्ता के प्रति आदर तथा सदाचार मनुष्य को विशिष्ट पुरुष बनाने में समर्थ होता है।

(५) प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि अपनी वाणी पर संयम रखे और अपने आचरण के प्रति सजग रहे।

(६) संसार एक मुसाफिरखाना है।

(७) काम का आरम्भ करना मनुष्य पर निर्भर है और उसकी पूर्ति ईश्वर के हाथ है।

(८) क्षण भर अपने क्रोध को दबाकर तुम जीवन भर के पश्चात्ताप से बच सकते हो।

(९) जिस प्रकार तुम दूसरों में दोष दिखाते हो उसी उसी प्रकार अपने में भी देखो-दिखाओ। जिस प्रकार अपने-आपको क्षमा कर सकते हो, उसी प्रकार दूसरों को भी क्षमा करो।

(१०) आज्ञापालन सत्कार से कहीं उत्तम है।

(११) बीस वर्ष तक धार्मिक जीवन व्यतीत करना पर्याप्त नहीं है, किन्तु एक दिन भी बुराई करना बहुत बड़ा दोष है।

(१२) बुद्धिमान पुरुष वचन देने में विलम्ब करता है, किन्तु वचन देने पर उसका पालन अवश्य करता है।

(१३) आनन्द की तीन कुञ्जियाँ हैं—(१) दूसरों में दोष न देखना, (२) दूसरों की निन्दा न करना, न सुनना और (३) दूसरों की बुराई न करना।

(१४) मनुष्य का हृदय आईना के समान होना चाहिए जिसपर समस्त वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है; किन्तु उससे उसमें मैलापन नहीं आता।

(१५) कोलाहल न बाज़ार में है और न शान्ति जंगल में; सब मनुष्य के हृदय में है।

(१६) जब तुम जीवित प्राणी के प्रति अपना कर्त्तव्य करने में असमर्थ हो तो मृत व्यक्ति के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किस प्रकार कर सकोगे?

(१७) ज्ञानी पुरुष के लिए अपना चित्त स्वर्ग है; किन्तु अज्ञानी के लिए वह नरक है।

(१८) सच्चा सद्भाव अपने संगियों के प्रति प्रेम करना है और सच्चा ज्ञान अपने साथियों को पहचानना है।

(१९) जो ईश्वरीय नियम से अनभिज्ञ है वह श्रेष्ठ मनुष्य नहीं हो सकता।

(२०) ज्ञानी मनुष्य सन्देह से, धार्मिक मनुष्य चिन्ता से और वीर मनुष्य मद से मुक्त रहता है।

दशवाँ परिच्छेद

ता-ओ-धर्म

कुङ्ग का धर्म जन-साधारण के लिए और ता-ओ-धर्म विशिष्ट पुरुषों के लिए है। जो आत्म-विजय, वैराग्य, संयम तथा समाधि की ओर स्वभाव से ही आकृष्ट है वही विशिष्ट पुरुष है। कुङ्ग ने सदाचार की शिक्षा को प्रधानता दी है, उनका लक्ष्य उत्तम मानवता की प्राप्ति था। किन्तु ता-ओ-धर्म की शिक्षा अद्वैतवेदान्त की शिक्षा से विशेष मिलती-जुलती है, यह पक्का निवृत्ति-मार्ग है। इसके अनुयायियों को घर-बार छोड़कर पर्वतों में एकान्तवास करना पड़ता है। यह प्रवृत्ति-मार्ग को अज्ञान-मूलक समझता है, संसार के क्षणिक सुखों की प्राप्ति को घृणा की दृष्टि से देखता है। इस मत का ध्येय है पूर्ण वैराग्य।[1]

इस धर्म के प्रवर्तक 'ला-ओ-सी' का जन्म ईसवी सन से ६०४ वर्ष पूर्व हुआ था। आप 'चोरे'-राज्य के ग्रन्थागार के अध्यक्ष थे। राष्ट्रीय इतिहासवेत्ता भी थे।

ला-ओ का कथन है कि ता-ओ (ईश्वर) एक है। वह आरम्भ में था और आगे भी सब काल में वर्त्तमान रहेगा। वह निराकार, अनादि, सर्व-शक्तिमान और सर्वव्यापी है। वह बुद्धिगम्य नहीं है। उसका कोई नाम नहीं है। वह अवर्णनीय है। सब उसी पर निर्भर है। वह समस्त गोचर पदार्थ, आकाश और पृथ्वी का जनक है। वह देवताओं का सिरजनेवाला है, सृष्टि का निर्माता है। सारांश यह कि वह समस्त वस्तुओं का जनक है। इस प्रकार ला-ओ की शिक्षा में हम भारतीय वेदान्त की सुगन्ध पाते हैं।

ला-ओ के अनुसार ता-ओ (ईश्वर) को प्राप्त करने के लिए पवित्रता, विनय, संतोष, करुणा, प्राणिमात्र के प्रति दया, सच्चा ज्ञान और आत्मसंयम—मुख्य साधन हैं। ध्यान और प्राणायाम इसके सहायक हैं। चित्त को संसार के विषयों से हटाकर एक लक्ष्य पर टिकाने की नितान्त आवश्यकता है, तभी चित्त में शान्ति का उदय हो सकता है।

---

१. धर्म और दर्शन, पृ० १२५--२८।

ता-ओ के अनुसार वही सन्त है जिसके मन में किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं है; जिसके जीवन में पाश्चात्ताप का अवसर नहीं आता; जो अपने लिए कुछ सञ्चय नहीं करता; जो न अपना प्रदर्शन करता है और न अपनी करनी पर घमण्ड; जो मोटा वस्त्र पहनता है, किन्तु हृदय में सद्गुणों को मोती की माला के सदृश धारण किये रहता है; जो अपनी प्रतिभा को छिपाये रहता है; जो कभी स्वप्न नहीं देखता; जो कभी चिन्ताग्रस्त नहीं होता; जो सुस्वादु भोजन की आकांक्षा नहीं करता; जिसे न जीवन से प्रेम है, न मृत्यु से भय; और जो प्रेम, घृणा, हानि, लाभ, प्रतिष्ठा और अपमान से परे है। यह सब गीता में वर्णित जीवनन्मुक्त के गुणों से मिलता-जुलता है।

ता-ओ-धर्म में साधु और साध्वी के लिए स्थान है। ये पीली टोपी पहनते हैं। संसार से अलग—जंगल, गुफा अथवा एकान्त स्थान में रहते हैं। ता-ओ-धर्म सर्वोच्च नैतिकता, सात्विक जीवन, चित्त और शरीर के संयम की शिक्षा देता है। आत्म-विजय द्वारा ता-ओ (ईश्वर) की प्राप्ति से मुक्ति होती है।

इस धर्म में नरक में कष्ट भोगने का जिक्र है। यह पुनर्जन्म तथा आत्मा की अमरता में विश्वास करता है।

ता-ओ-धर्म का मूल-ग्रंथ बड़ा विचित्र है। इसमें शब्दों का प्रयोग नहीं है; प्रत्युत प्रतीकों या चिह्नों के द्वारा जगत् के समग्र पदार्थों के रूप तथा उनका परस्पर-सम्बन्ध बतलाया गया है। इस ग्रन्थ का नाम है 'योकिंग'। इसके रचयिता का नाम सम्राट् 'फो-हि' है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसका परिचय इस ग्रंथ से न प्राप्त हो। इसलिए इसके प्रतीकों द्वारा ज्योतिष, वैद्यक, गणित, संगीत, धर्म, न्याय, मोक्षशास्त्र आदि ऐहिक तथा पारलौकिक विद्याओं का ज्ञान योग्य व्यक्तियों को हो सकता है। इस मार्ग की साधना बड़ी कठिन है तथा सर्वसाधारण के उपयोगी न होने से वह गुप्त ही रखी जाती है। पर इस धर्म के साधुओं ने चीन देश की आध्यात्मिकता को आगे बढ़ाया। आजकल चीन में बौद्धधर्म का प्रचार है; फिर भी विद्वानों की दृष्टि में ता-ओ-धर्म तथा उसके ग्रन्थों का विशेष आदर है।

ला-ओ की शिक्षाएँ और उपदेश एक पुस्तक में संग्रहीत हैं। यह स्वयं ला-ओ की लिखी हुई है। बादशाह चींग ने राज्य भर में आज्ञा प्रचारित की कि ला-ओ की पुस्तक की प्रतिष्ठा राज्य-नियम की तरह की जाय।

ला-ओ के कुछ उपदेश

(१) अच्छों के प्रति मैं अच्छा रहूँगा। बुरों के प्रति भी अच्छा रहूँगा जिससे उन्हें भी अच्छा बना सकूँ।

(२) जो जानते हैं वे बोलते नहीं और जो बोलते हैं वे जानते नहीं।

(३) मेरे पास तीन वस्तुएँ हैं जिन्हें मैं दृढ़ता-पूर्वक जुगोता रहता हूँ—(क) सौम्यता (दयालुता), (ख) कमखर्ची (मितव्ययिता) और (ग) नम्रता।

(४) विनीत बनो, तभी तुम निर्भीक हो सकोगे। अपने-आपको दूसरे के सम्मुख प्रदर्शित करने का प्रयत्न न करो तभी तुम मनुष्यों के नेता हो सकोगे।

(५) लालसा का शिकार होने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। असंतोष से बढ़कर दुःख नहीं है। चाह से बढ़कर कोई विपत्ति नहीं है।

(६) अपने को विनम्र प्रदर्शित करो, पवित्र रहो, अपनी जरूरतों को कम करो और इच्छाओं को संयत रखो।

(७) विद्वत्ता का अभिमान न करो। तुम्हें सन्ताप नहीं होगा।

(८) जहाँ आसक्ति है वहीं बन्धन है। जहाँ बन्धन नहीं है वहाँ आनन्द है। जीवन की उन्नति का यही तत्त्व है।

(९) निष्कपट वचन मधुर नहीं होता और मधुर वचन यथार्थ नहीं होता।

(१०) स्वयं उन्नत हो, ताकि तुम दूसरों का सुधार कर सको।

(११) जन्म न आरम्भ है और न मृत्यु अन्त। अनादिकाल तक आत्मा अमर है।

(१२) वह मनुष्य धन्य है जो साधु वचन बोलता है, साधु बातें सोचता है और साधु बातें मनन करता है।

ला-ओ के लेख और उपदेश बहुत ही सूक्ष्म तथा गूढ़ हैं। उनके लेख पहेलियों के रूप में हैं। उनकी मृत्यु के बाद उनके उपदेशों को लोगों ने मनगढ़ंत कथाओं से मिलाकर भ्रष्ट कर दिया और उनपर मिथ्या धार्मिक विश्वासों की कलई चढ़ा दी। परन्तु कनफ्युसियस की शिक्षा पर ऐसी कलई नहीं चढ़ सकी; क्योंकि वह सरल, स्पष्ट और थोड़ी थी। और वह इस प्रकार की न थी कि उसका रूप बिगाड़ा जा सके।

चीन का उत्तरी भाग जहाँ ह्वां-हो नदी बहती है, भावों में कनफ्युसियस का अनुगामी हो गया और दक्षिणी भाग जहाँ यांग-त्सि-क्यांग नदी बहती है, ता-ओ-धर्म को मानने लगा।

चौथा खण्ड

प्रथम परिच्छेद

पुराण-काल

पुराण—शतपथ-ब्राह्मण (१४।६।१०।६) और बृहदारण्यक-उपनिषद् (२।४।१०) में लिखा है कि जैसे जलती हुई गीली लकड़ी में से धुँआ निकलता रहता है वैसे ही महाभूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान आदि उत्पन्न होते हैं—ये सब उसीके निःश्वास हैं। किन्तु वैदिक साहित्य में पुराणों के उल्लेख से यह नहीं समझना चाहिए कि इनका अभिप्राय आजकल के १८ पुराणों से है। जिस पुराण का जिक्र वैदिक साहित्य में आया है वह पुराण आजकल उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक के भाष्य में लिखा है कि 'उर्वशी-पुरूरवा-संवादादि' को इतिहास एवं 'आरम्भ में असत् ही था' इत्यादि सृष्टि-प्रकरण को पुराण कहते हैं।[1]

इन बातों से स्पष्ट है कि सर्गादि का वर्णन पुराण कहलाता था और कथाएँ इतिहास। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में लिखा है कि इतिहास-पुराण पाँचवाँ वेद है। दयानन्द स्वामी का मत है कि इस स्थल पर इतिहास-पुराण से तात्पर्य ब्राह्मणभाग में उल्लिखित कथाओं से है। प्राचीन पुराण में केवल सृष्टि की बात ही रही हो—यह भी ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि महाभारत के आदिपर्व में शौनक ऋषि कहते हैं कि पुराण में दिव्य कथाएँ हैं और आदिवंश के वृत्तान्त हैं।

पुराणों के पाँच लक्षण भिन्न-भिन्न पुराणों में इस प्रकार दिये गये हैं[2]—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात्—(१) सर्ग वा सृष्टि-विज्ञान ; (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि ; (३) सृष्टि की आदि वंशावली ; (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का समय कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी ; (५) वंशानुचरित—

---

१. बृहदारण्यक, शांकरभाष्य (२।४।१०)

२. हिन्दुत्व—पृष्ठ १६२

प्रसिद्ध वंशों का—सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी आदि राजाओं का—वर्णन। पुराणों के ये ही पाँच विषय हैं। इन पाँच विषयों के अलावा भी अनेक बातों का वर्णन पुराणों में है।

आज यह पता नहीं है कि प्राचीन पुराणों का रचयिता कौन था? मनुसंहिता, आश्वलायन-गृह्यसूत्र और महाभारत से ज्ञात होता है कि पुराणों के कई ग्रन्थ थे। सबके संग्रह अर्थात् संहिता का नाम पुराण था।

पुराणों में सबसे प्राचीन 'ब्रह्म-पुराण' माना जाता है। विष्णु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड आदि पुराणों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन सब पुराणों में एक ही है। यहाँतक कि इस प्रसंग का एक-एक श्लोक मिल जाता है। किसी पुराण में दो-चार श्लोक अधिक और किसी में कम। बस इतना ही अन्तर है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सबका मूल एक ही है। अनुमान होता है कि पुराण-संहिता के १८ भाग रहे हों जिनके आधार पर व्यास की शिष्य-परम्परा ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार समय-समय पर १८ पुराणों की रचना कर डाली और भिन्न-भिन्न संग्रहकारों ने प्रसंगवश अपने-अपने इष्टदेव की प्रतिष्ठा और मर्यादा का खयाल रखते हुए, प्रसंग की पूर्ति और संग्रह को रोचक बनाने के लिए, अपने रचे श्लोकों की संख्या बढ़ा दी। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि संहिता के १८ वें भाग में पुराण का होना कारण-विशेष को सूचित करता है। सम्भवतः १८ की परम्परा उस समय चल निकली थी। महाभारत १८ पर्व में है। युद्ध १८ दिन हुआ, फौज १८ अक्षौहिणी थी, महाभारत के अन्तर्गत गीता भी १८ अध्याय में है। मूलधर्मशास्त्र भी १८ माने गये हैं। इन अठारह पुराणों में सबके बाद का पद्मपुराण ज्ञात होता है, क्योंकि इसमें सिर्फ बुद्धावतार और जैनधर्म का ही उल्लेख नहीं है; बल्कि शंकराचार्य-सम्बन्धी भी बहुत-सी बातें कही गई हैं। यह भी सम्भव है कि वर्तमान पद्म-पुराण प्राचीन पुराण का परिवर्द्धित रूप हो और शंकराचार्य के बाद के नये संस्करण में शंकराचार्य-सम्बन्धी बातें बढ़ा दी गई हो।

पुराणों की रचना

प्रत्येक पुराण के अलग-अलग अनुशीलन से पता चलता है कि हरएक का उद्देश्य साधन-विशेष है। भिन्न-भिन्न पुराणों पर भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा हुआ स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह बात कहना कठिन है कि इन पुराणों से ही सम्प्रदाय चल पड़े अथवा सम्प्रदाय पहले से थे और पीछे से भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी पण्डितों ने व्यासजी की शिष्य-परम्परा से निर्मित कराकर अपने सम्प्रदाय के अनुकूल कुछ परिवर्तन और परिवर्धन करा लिया। यह तो निस्सन्देह है कि पौराणिक-साहित्य जैन और बौद्धधर्म के फैलने से बहुत पहले से मौजूद था; क्योंकि बौद्ध और जैन-ग्रन्थों में पौराणिक कथाओं और नामों के तथा शिव आदि देवताओं के उल्लेख हैं। इतिहासज्ञों का तो यह भी मत है कि बौद्धधर्म के प्रभाव से वैदिकधर्म को बहुत धक्का लगा और लोग अपने धर्म की रक्षा के लिए सावधान हो गये तथा धार्मिक स्थिति के अनुकूल स्वधर्म की रक्षा के लिए ही इन भक्ति-प्रधान पुराणों की रचना हुई। अनुमान होता है कि बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ बनने

के पूर्व ही कुछ पुराण तैयार हो चुके थे और आवश्यकतानुसार गुप्त-सम्राटों के युगतक बनते रहे। इस परम विवादग्रस्त विषय में समय नष्ट न कर यह कहना उचित होगा कि जैन और बौद्धधर्म के आक्रमणों से पुराणों ने वैदिकधर्म की खूब रक्षा की। पुराणों के द्वारा देश में शुष्क कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्तिरस का विलक्षण प्रभाव फैल गया और उसके परिणाम-स्वरूप भिन्न देवों की उपासना खूब बढ़ी और मूर्त्ति एवं मन्दिर के निर्माण की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ी। आज भी वर्तमान हिन्दूधर्म के मूलाधार पुराण-ग्रन्थ ही हैं।

अवतार-वाद

अवतारवाद पुराणों का एक प्रधान अंग है। प्रायः सभी पुराणों में अवतार का प्रसंग आया है। शैवमत-पोषक पुराणों में शंकर के नाना अवतारों की चर्चा है और वैष्णव-पुराणों में विष्णु के अनेक अवतरों की। बहुतों का कथन है कि वैदिक ग्रन्थों में देवत्व का जिस प्रकार आभास है वही पुराणों में विकसित होकर बड़े पैमाने पर दिखाई पड़ता है और पहले के देवताविशेष नये रूप में परिवर्धित हो गये हैं। उदाहरणार्थ, वेद में विष्णु सूर्यवाची हैं और पुराणों में सूर्य से बिल्कुल भिन्न सर्वशक्तिमान और सबसे महान् देवता के रूप में परिवर्धित हो गये हैं। वैदिक विष्णु के तीन पाद में सम्पूर्ण सृष्टि को आच्छादित करने के भाव को लेकर अवतारों की कथा का विकास किया गया है, जिसमें विष्णु के वामनावतार की, तीन पग में पृथ्वी को नापने की, कथा है। ऋग्वेद में रुद्र अग्नि के पर्यायवाची रूप में प्रसिद्ध हैं और बाद में यजुर्वेद के सम्पूर्ण अध्याय में रुद्र की स्तुति है। अथर्ववेद में (६।२।५) पशुपति नाम आया है। शतपथब्राह्मण में (६।१।३।७—१६) रुद्रदेव की उत्पत्ति का वर्णन है। इस प्रकार भक्तजनों ने शोभन-अलंकारों से अपने-अपने इष्टदेवता का मनमाना शृंगार किया।

वेद तथा पुराण में शैली-भेद

इस प्रकार हिन्दूधर्म वैदिककाल से पौराणिक कालतक क्रमशः परिवर्धित और विकसित हो गया है। वेद में जो बात बहुत संक्षेप में किसी विशेष उद्देश्य से, वर्णित थी; पुराण में वही विस्तृत आख्यायिका के रूप में वर्णित हुई है। पौराणिक कवियों के हाथों भिन्न भिन्न उद्देश्य से छोटा-सा विषय भी बहुत बड़ी आख्यायिका के रूप में परिणत हो गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुराणों की शैली जहाँ अतिशयोक्तिमयी है, वहाँ वेदों की रूपकमयी। वेद रूपक-द्वारा जिन तथ्यों का उद्घाटन करता है उन्हीं तथ्यों का पुराण अपनी अतिशयोक्तिमयी शैली में वर्णन करता है। शैली के तारतम्य से ही इतना भेद है। अन्यथा वेद तथा पुराण दोनों में एक ही विशुद्ध तत्त्व का विवेचन है। वेद उपाख्यान-मूलक ग्रन्थ नहीं है। वेद में स्थलविशेष पर उदाहरणरूप में कतिपय उपाख्यान भी जगह-जगह दिये गये हैं, और पुराणों में उन सब उपाख्यानों को एकत्र करने की चेष्टा की गई है। इसी कारण वेद का एक छोटा-सा प्रसंग भी पुराण में विपुलकाय हो जाता है।

पुराणों का प्रधान उद्देश्य यह मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश

और शक्ति की उपासना अथवा ब्रह्मा को छोड़ शेष पञ्चदेवताओं की उपासना का प्रचार हो। परमात्मा के ये पाँचों भिन्न-भिन्न सगुणरूप माने गये हैं। सृष्टि में इनका कार्य-विभाग अलग-अलग है। ब्रह्मा की उपासना आजकल प्रचलित नहीं है और पुष्कर (अजमेर) के सिवा भारतवर्ष में हमें और कहीं ब्रह्माजी का मन्दिर देखने को नहीं मिलता। ज्ञात होता है कि गणेशजी ने ब्रह्मा का स्थान ले लिया और पञ्चदेव में विष्णु, शिव, सूर्य और शक्ति के साथ सम्मिलित हो गये। ईश्वर-भक्ति के विविध रूपों में नाम-कीर्तन की महिमा सभी पुराणों में विशेषरूप से वर्णित है। भक्ति का प्रचार ही पुराणों का प्रधान अंग है। उपनिषदों के आदर्श को प्राप्त करने में इस काल के मनुष्यों ने अपनी असमर्थता का अनुभव किया और इसी कारण सगुण उपासना की प्रवृत्ति बढ़ी। तब से आजतक सगुण-भक्ति भारतीयों के जीवन का प्रधान अंग रही।

सगुण उपासना तथा नाम कीर्तन के साथ-साथ पौराणिक युग की सामाजिक पद्धति का मूलाधार वर्णाश्रम-धर्म ही था।

यह प्रसिद्ध है कि पुराण अठारह हैं। इनके नाम श्लोक-संख्या के साथ निम्नलिखित हैं:—१. ब्रह्मपुराण—१००००, २. पद्मपुराण—५५०००, ३. विष्णुपुराण—२३०००, ४. शिवपुराण—२४०००, ५. श्रीमद्भागवतपुराण-१८०००, ६. नारदपुराण—२५०००, ७. मार्कण्डेयपुराण—९०००, ८. अग्निपुराण—१०५००, ९. भविष्यपुराण—१४५००, १०. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण—१८०००, ११. लिंगपुराण—११०००, १२. वराह-पुराण—२४०००, १३. स्कन्दपुराण—८१०००, १४. वामनपुराण—१००००, १५. कूर्मपुराण—१७०००, १६. मत्स्यपुराण—१४०००, १७. गरुडपुराण—१९०००, १८. ब्रह्माण्ड-पुराण—१२०००, टोटल ३९५००० हैं।

उक्त अठारह पुराणों के अतिरिक्त २९ उप-पुराण इस प्रकार हैं—(१) वायुपुराण, (२) देवीभागवत, (३) सनत्कुमार, (४) नरसिंह, (५) शिवधर्म, (६) बृहन्नारदीय, (७) दुर्वासस, (८) कापिल, (९) मानव, (१०) औशनस, (११) वारुण, (१२) कालिका, (१३) साम्ब, (१४) नन्दिकेश्वर, (१५) सौर, (१६) पाराशर, (१७) आदित्य, (१८) ब्रह्माण्ड, (१९) माहेश्वर, (२०) भागवत, (२१) वाशिष्ठ, (२२) कौर्म, (२३) भार्गव, (२४) आदि, (२५) मुद्गल, (२६) कल्कि, (२७) महाभागवत, (२८) बृहद्धर्म, (२९) परानन्द।

इनके अतिरिक्त महाभारत के खिल हरिवंशपर्व की भी गणना उप-पुराणों में है। इसमें चार पर्व—(१) हरिवंश (२) विष्णु (३) उत्तरार्द्ध और (४) भविष्य हैं।

देवीभागवत और वायु को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। कोई देवीभागवत और वायु को पुराण मानते हैं और कोई शिवपुराण और श्रीमद्भागवतपुराण को। किन्तु पुराणों में श्रीमद्भागवत ने वैष्णव जनता के हृदय पर विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। वही अवस्था शाक्तों के लिए देवीभागवत की है। नारद आदि पुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण की गणना पुराणों में की गई है। पद्मपुराण में श्रीमद्भागवत को सब पुराणों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत की प्रतिष्ठा भारत की जनता में बहुत है। वल्लभाचार्यजी का तो प्रमाणत्रयी के साथ-साथ वह एक मान्य ग्रन्थ है। इसका दशम स्कन्ध—जिसमें कृष्ण की बाललीला वर्णित है, सबसे अधिक लोकप्रिय है।

वैष्णव पुराणों में विष्णु को सबसे महान और शिव तथा ब्रह्मा का स्रष्टा कहा है। इसी प्रकार शैव पुराण में शिव को ब्रह्मा और विष्णु का कर्त्ता कहा है। सौर-सम्प्रदाय-वाले सूर्य को सर्वोपरि मानते हैं। अतएव अनेक स्थलों में, पुराणों में एक से दूसरे का विरोध है और इसका एकमात्र कारण साम्प्रदायिक भेद ही जान पड़ता है।

महापण्डित डाक्टर हरप्रसादशास्त्री का विचार है कि सिवा विष्णु और वामन-पुराण के, समस्त पुराणों के कई बार नूतन संस्करण हुए, जिसके परिणामस्वरूप उनके कलेवर बदल गये हैं। आप पुराणों को छः समूहों में निम्नलिखित रीति से बाँटते हैं—

१. विश्वकोषात्मक पुराण

इस समूह में गरुड़, अग्नि और नारदपुराण आते हैं।

(क) गरुडपुराण—इसमें २८७ अध्याय हैं। यह दो खण्डों में है। पूर्वखण्ड में नाना विद्याओं का विस्तृत वर्णन है। इसमें नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा-विधि बताई गई है। राजनीति का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का वर्णन २६ अध्यायों में है। बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए औषधि की व्यवस्था है। नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के लिए औषधियों की व्यवस्था की गई है। पशु-चिकित्सा का भी वर्णन है। छः अध्यायों में छन्दःशास्त्र का अनुशीलन किया गया है। इस पुराण का उत्तरखण्ड 'प्रेतकल्प' कहलाता है। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है और वह किस योनि में कैसे उत्पन्न होता है तथा कौन-कौन-सा भोग भोगता है—उसका वर्णन विस्तार से दिया गया है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है।

(ख) अग्निपुराण—"इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोष कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था। इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के ३८३ अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का संक्षेप में वर्णन कर रामायण-महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई है। मन्दिर-निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप में सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिष, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्दःशास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया है। अलंकारशास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग का है। व्याकरण की छानबीन कितने ही अध्यायों में की गई है। कोष के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये हैं, जिनके अनुशीलन से पाठकों के शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठों अंगों का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर है। अन्त में अद्वैतवेदान्त के सार का संकलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश संकलित किया गया है। काव्य का भी अच्छा वर्णन आया है। कौमार-व्याकरण के

नाम से एक छोटा-सा उपयोगी व्याकरण, एकाक्षरकोश-नामक लिंगानुशासन भी दिया हुआ है। यह अंश विद्यार्थियों के लिए बड़ा उपयोगी है। इस पुराण में पञ्चलक्षणत्व के अतिरिक्त हिन्दू-साहित्य और संस्कृति के सम्पूर्ण विषयों का समावेश है। अतः यह एक प्रकार का हिन्दू-सांस्कृतिक विश्वकोष है और इसके अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसलिए इस पुराण का यह दावा सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि—'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः (३८३।५२)।"[1]

(ग) नारदपुराण—इसमें २०७ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में वर्ण और आश्रम के आचार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग-अलग एक-एक अध्याय में विवेचन है। विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रों का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्त को ही मुक्ति का परम साधक सिद्ध किया गया है। अठारहों पुराणों के विषयों की विस्तृत अनुक्रमणिका दी गई है। यह अनुक्रमणिका सभी पुराणों क विषयों को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

नारदपुराण वैष्णवपुराण है। इसमें प्रायः सभी पुराणों की संक्षिप्त विषय-सूची श्लोकवद्ध दी गई है। इससे जान पड़ता है कि इस महापुराण में कम-से-कम इतना अंश अवश्य ही उन सब पुराणों से पीछे का है। इस पुराण की यही विशेषता है कि इसमें पुराणों के प्राचीन संस्करणों का ठीक-ठीक पता लगता है। नारदपुराण में दी हुई विषय-सूची के बाद की जो रचनाएँ हैं उनका सहज में पता लग जाता है तथा पुराण और उपपुराण का अन्तर भी मालूम हो जाता है।

अग्निपुराण तथा नारदपुराण की विशेषता

डाक्टर शास्त्री के विचार से इन पुराणों की यह खूबी है कि इन पुराणों में विवरण संक्षिप्त, साफ, सीधा और स्पष्ट भाषा में दिया गया है। उदाहरणार्थ, गया-माहात्म्य वायुपुराण के आठवें परिच्छेद में है। वह बगैर किसी आवश्यक बात को छोड़े अग्नि-पुराण में सिर्फ तीन परिच्छेद में है। गरुडपुराण में वायुपुराण के ५६ श्लोकों का सारांश सिर्फ २३ श्लोकों में है। अग्निपुराण में मत्स्य, कच्छप, वराह, नरसिंह और वामन-अवतार की कथा सिर्फ तीन परिच्छेदों में हैं। रामायण के सात काण्डों की कथा अग्नि-पुराण के सात परिच्छेदों में है और गरुडपुराण में सिर्फ एक परिच्छेद में है। महाभारत की कथा अग्निपुराण में तीन परिच्छेदों के ७० श्लोकों में है; किन्तु गरुडपुराण में एक ही परिच्छेद के सिर्फ ४२ श्लोकों में। सम्पूर्ण हरिवंशपुराण ५५ श्लोकों के अन्तर्गत है।

वैद्यक-पुस्तकों का विषय गरुड में ५७ और अग्नि में २० परिच्छेदों में दिया गया है। गरुड में रोगनिदान और दवा में भेद किया गया है, किन्तु अग्नि में नहीं।

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय—आर्य-संस्कृति के मूलाधार

अग्नि एवं गरुड दोनों में आचार्य कार्तिकेय से लेकर आचार्य कात्यायन तक के व्याकरण की बातें आ गई हैं। पाणिनि का जिक्र नहीं है। सम्भवतः पुराणकाल में पाणिनीय व्याकरण का प्रचार नहीं था। गरुडपुराण में सर्ववर्मा के सूत्र आये हैं। सर्ववर्मा पहली शताब्दी में थे।

अग्निपुराण में शिक्षा-सम्बन्धी बातें आई हैं; किन्तु गरुड और नारद में इसका उल्लेख नहीं है। अग्निपुराण में भरत के नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का सारांश दिया गया है और आनन्दवर्धन-द्वारा ध्वनि के आविष्कार के विकास का वर्णन है।

२. तीर्थ-व्रत-विषयक पुराण

पद्म, स्कन्द और भविष्य-पुराण में तीर्थों और व्रतों का विशेष वर्णन है। तीनों पुराण इतनी बार संशोधित और परिवर्धित हुए हैं कि उनकी काया ही पलट गई है। उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराण में 'स्कन्द' (सुर-सेनानी कार्तिकेय) के सम्बन्ध की बातें नहीं के बराबर हैं, तथापि यह स्कन्द-पुराण के नाम से प्रसिद्ध है।

(क) पद्मपुराण—इसकी प्रतिष्ठा वैष्णवों में बहुत है। इसमें पाँच खण्ड हैं—सृष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, स्वर्गखण्ड, पातालखण्ड और उत्तरखण्ड। सृष्टिखण्ड में संसार की उत्पत्ति का सविस्तर वर्णन है। भूमिखण्ड में सप्त-द्वीप, सप्त-सागर और पर्वत, नदी आदि का विवरण है। स्वर्गखण्ड में वैकुण्ठलोक-वर्णन, परलोक-साधन, परलोक-वर्णन, प्रलय-लक्षण आदि हैं। पातालखण्ड में रामचरित और कृष्ण-लीला का वर्णन, शिव-लिङ्गार्चन-विधि, वैष्णवों की तिलक-विधि और उनके विविध नियमों के निरूपण आदि हैं। उत्तरखण्ड में अपवर्ग-साधन, मोक्ष-शास्त्र का परिचय आदि हैं। इस खण्ड में अनेक व्रतों और तीर्थों की महिमा भी कही गई है; गृहस्थाश्रम-धर्म का भी विवेचन है; नौ तरह की सृष्टियों का भी वर्णन है। तामस-शास्त्रों के पढ़ने से महापातक होता है, इसका प्रतिपादन करते हुए शैव, पाशुपत, बौद्ध, जैन और प्रच्छन्न बौद्ध-शास्त्रों को तामस ठहराया है; चार्वाकादि नास्तिकों की निन्दा की है; मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द और अग्नि-पुराण को तामस कहा है; ब्रह्माण्ड, ब्रह्म-वैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य तथा वामनपुराण को राजस कहा है; विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, वराह और पद्मपुराण को सात्त्विक कहा है। नारदपुराण में पद्मपुराण की जो विषय-सूची दी हुई है उसमें साम्प्रदायिकतावाले अंश नहीं पाये जाते। अतएव स्पष्टतया यह अंश बाद का है।

(ख) स्कन्दपुराण—इस समय इसके दो संस्करण पाये जाते हैं। एक में महेश्वर, वैष्णव, ब्रह्म, काशी, अवन्त्य, नागर और प्रभास काण्ड हैं। दूसरे में छः विभाग हैं—सनत्कुमार, सूत, शंकर, वैष्णव, ब्रह्म और सौरि, जिनके अन्तर्गत ५० काण्ड हैं।

इन विभागों में सूत-संहिता शिवोपासनाविषयक एक अनुपम खण्ड है। यह संहिता, वैदिक तथा तान्त्रिक, उभय प्रकार की पूजाओं का विस्तार के साथ वर्णन करती

है। इसके यज्ञ-वैभव-खण्ड के पूर्वभाग में अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का, शैव भक्ति के साथ सम्पुटित कर, बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड बड़ा ही उपादेय तथा मीमांसा करने योग्य है। इसके उत्तर-भाग में ब्रह्म-गीता और सूत-गीता हैं—इनका भी विषय आध्यात्मिक ही है। आत्म-स्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बड़ी सुगमता के साथ बतलाये गये हैं।

स्कन्द-पुराण में मुख्यतया तीर्थों का उपाख्यान एवं उनकी पूजन-विधि है। वैष्णवखंड में उत्कलान्तर्गत पुरी-धाम के जगन्नाथ-मन्दिर के पूजाविधान, प्रतिष्ठा तथा तत्संबन्धी अनेक उपाख्यानों का वर्णन है। काशीखण्ड में काशी के समस्त देवताओं, शिवलिंगों के आविर्भाव तथा उनके माहात्म्य का वर्णन है। काशी का प्राचीन भूगोल जानने के लिए यह खण्ड अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रेवाखण्ड में सत्यनारायणव्रत की सुप्रसिद्ध कथा है। आवन्त्य-खण्ड में उज्जयिनी के भिन्न-भिन्न शिव-लिंगो की उत्पत्ति तथा उनके माहात्म्य का वर्णन है—महाकालेश्वर का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। तापी-खण्ड भारत की सामाजिक अवस्था जानने के लिए बहुत उपयोगी है। तीर्थों के बहाने सारे प्राचीन भारतवर्ष का बहुत उत्तम भौगोलिक वर्णन है। यह पुराण सब पुराणों में विशालकाय है। अनेक कथाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में कई बार पाई जाती हैं, जिससे अनुमान होता है कि पुनरुक्तियाँ यदि हटा दी जायँ तो श्लोक-संख्या घट जायगी तथा अनावश्यक विस्तार न रहेगा।

(ग) भविष्यपुराण—इसमें शकद्वीपीय मग ब्राह्मणों के शकद्वीप से लाया जाना वर्णित है। उनकी चाल-ढाल, रस्म-रवाज आदि का विस्तार से वर्णन है। यह वर्णन बड़े महत्त्व का है। इनको लानेवाले कृष्णपुत्र साम्ब हैं। पारसियों की रीति-रस्में मगों से कुछ मिलती-जुलती हैं। आज भी पारसी-साहित्य के अनेक स्थलों में मगों के आचार्यों के नाम 'पीरे-मुगाँ' पाये जाते हैं। ये लोग यज्ञ-विहित सुरापान करते थे।

इस पुराण में सृष्टि की उत्पत्ति और भूगोल का भी वर्णन मिलता है। भगवान सूर्य का परब्रह्म-रूप में वर्णन है। अनेक प्रकार के पुष्प चढ़ाने का पृथक् - पृथक् फल, उपवासविधि, व्रत के दिन, त्याज्य पदार्थों के रहस्य, वेद पढ़ने की विधि, गायत्री का माहात्म्य, सन्ध्या-वंदन का समय, चारों वर्णों के विवाह की व्यवस्था, काले साँप द्वारा डँसे हुए पुरुष के लक्षण, विष के फैलने का वर्णन, सर्प का विष हरनेवाली मृतसंजीवनी गोली आदि का वर्णन भी है। इसमें कलियुग के राजाओं की वंशावली तो है; किन्तु पाण्डवों से लेकर गुप्त-वंशी राजाओं तक का उल्लेख नहीं है।

इस पुराण में सबसे अधिक गड़बड़ी यह हुई है कि इसमें विद्वानों ने समय-समय पर होनेवाली घटनाओं को जोड़ दिया है। यहाँ तक कि इसमें अंग्रेजों के आने का भी वर्णन मिलता है।

प्रसिद्ध पुराणवेत्ता पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की चार विभिन्न हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थीं, जो आपस में, विषय की दृष्टि से, नितान्त भिन्न थीं—उनका कथन है कि जो भविष्य-पुराण उपलब्ध है वह चारों प्रतियों का मिश्रण है।[1]

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय का मत।

(३) संशोधित तथा परिवर्धित पुराण

डाक्टर शास्त्री ब्रह्म, भागवत और ब्रह्मवैवर्त-पुराण को एक श्रेणी में रखते हैं। उनका विचार है कि इन पुराणों में दो बार का संशोधन और परिवर्धन स्पष्ट दीख पड़ता है।

(क) ब्रह्म पुराण—पहले यह पुराण ब्रह्म-माहात्म्य-सूचक बताया गया। परन्तु इसके अन्तिम २४५ वें अध्याय में लिखा है कि यह वैष्णव-पुराण है। इस पुराण में विष्णु-अवतारों की कथा की विशेषता है। उत्कल-प्रान्त में स्थित जगन्नाथजी के माहात्म्य का विशेष वर्णन इस बात को पुष्ट करता है।

उड़ीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्सम्बन्धी सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छः अध्यायों में वर्णित है। मरने के बाद की अवस्था का वर्णन भी है। इसमें सांख्य-योग की समीक्षा बड़े विस्तार के साथ की गई है। किन्तु यह पौराणिक सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है, इसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के शान्तिपर्व के अध्यायों से अक्षरशः मिलते हैं।

(ख) श्रीमद्भागवत—यह महापुराण संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। यह भक्ति-शास्त्र-सर्वस्व है। इसका प्रभाव निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य-सम्प्रदायों पर बहुत अधिक पड़ा है। यह द्वैततत्त्व का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। भगवान ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्माजी को इस प्रकार उपदेश दिया है—

> अहमेवाऽसमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्
> पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्
>
> —(२।९।३२)

अर्थात् सृष्टि के पूर्व में ही था, मैं ही केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था। असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव भी न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के विलीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।

इससे स्पष्ट है कि निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत्—सब कुछ वही है। अद्वैततत्त्व सत्य है। उसी एक अद्वितीय परमार्थ को ज्ञानी तथा योगी-जन 'परमात्मा' और भक्तजन 'भगवान' के नाम से पुकारते हैं (१।२।११)। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से निरवच्छिन्न होकर अव्यक्त, निराकाररूप से रहता है तब निर्गुण कहलाता है और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर सगुण कहलाता है। परमार्थ-भूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है। वही 'भगवान' तथा 'वासुदेव' शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण-ब्रह्म—विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष—चार प्रकार के सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध-सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को विष्णु, रजोमिश्रित-सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को ब्रह्मा, तमोमिश्रित-सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को रुद्र तथा तुल्यबलरजस्तमोमिश्रित-सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को पुरुष

कहते हैं। जगत् में सृष्टि, स्थिति तथा संहार के व्यापार में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र निमित्त-कारण हैं, और पुरुष उपादान-कारण। ये चारों ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान-कारण है।[1]

भगवान अरूपी होकर भी रूपवान हैं। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। उनकी शक्ति का नाम 'माया' है। ऐसे ही भगवान की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का निरूपण ही है। भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति-प्रगति का प्रधान साधन है। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जबतक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय तबतक वर्णाश्रम-विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है (११ । २० । ६)। कर्म-फलों को भी भगवान को समर्पित कर देना उनके विषदन्त को तोड़ना है।

श्रीमद्‌भागवत के दशमस्कन्ध में श्रीकृष्णचरित है, जिसका हिन्दी-रूपान्तर जनलोक में 'सुखसागर' और 'शुकोक्तिसुधासागर' के नाम से विख्यात है।

श्रीमद्भागवत का प्रतिस्पर्धी देवीभागवत-पुराण है। शाक्त लोग देवीभागवत और वैष्णव लोग श्रीमद्‌भागवत को महापुराण मानते हैं। दोनों के नाम में 'श्रीमान्' और 'देवी' का अन्तर है। 'श्रीमान्' भगवान् विष्णु का नाम है, इसलिए श्रीमद्भागवत का अर्थ है वैष्णव-भागवत। नारदपुराण, पद्मपुराण और मत्स्यपुराण के अनुसार भी श्रीमद्‌भागवत ही महापुराण सिद्ध होता है। किन्तु शिवपुराण के एक श्लोक से पता चलता है कि जिस पुराण में भगवती दुर्गा के चरित्र का वर्णन है, वही भागवत है।

(ग) **ब्रह्मवैवर्त-पुराण**—कृष्ण-चरित्र का विस्तृत वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। श्रीमद्‌भागवत के दशमस्कन्ध के सिवा श्रीकृष्ण की लीला का इतना अधिक विस्तार और कहीं नहीं मिलता। इस पुराण के प्रकृति-खण्ड में प्रकृति का वर्णन है, जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा के रूप में अपने को समय-समय पर परिणत किया करती है। इस खंड में सावित्री तथा तुलसी की कथा बड़े विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। गणेश-खण्ड में गणपति, कृष्ण के अवतार के रूप में, दिखलाये गये हैं।

मत्स्यपुराण, शिवपुराण और नारदपुराण में इस पुराण के सम्बन्ध में जो लक्षण और कथाएँ दी हुई हैं, उनमें पारस्परिक एकता नहीं है। ब्रह्म-वराह का वृत्तान्त, सवर्णि-नारद-संवाद या ब्रह्मा का विवर्त्त-प्रसंग आदि कोई प्रचलित कथा इस पुराण में नहीं पाई जाती। तो भी प्रकृति का माहात्म्य और पूजादि विस्तार से वर्णित है। स्कन्द-पुराण के अनुसार यह पुराण भगवान सूर्य की महिमा का प्रतिपादन करता है। मत्स्यपुराण के अनुसार इस पुराण में ब्रह्मा की मुख्यता है; परन्तु ब्रह्मवैवर्त्त स्वयं केवल विष्णु की ही महत्ता प्रतिपादित करता है।

---

१ 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार' (पं० बलदेव उपाध्याय)—पृष्ठ १८६—६०

(४) ऐतिहासिक पुराण

इस वर्ग के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, वायु और विष्णुपुराण हैं।

(क) **ब्रह्माण्ड-पुराण**—इसमें पूरे विश्व का सांगोपांग वर्णन है। इसके प्रथम खण्ड में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बूद्वीप तथा उसके पर्वतों और नदियों का वर्णन अनेक अध्यायों में है। भिन्न-भिन्न द्वीपों का बड़ा ही व्यापक तथा आकर्षक वर्णन है। नक्षत्रों तथा युगों का भी विशेष विवरण इसमें मिलता है। इसमें प्रसिद्ध क्षत्रियवंशों का वर्णन, इतिहास की दृष्टि से, अत्यन्त उपादेय है।

विश्वकोष में लिखा है कि इसी पुराण से रामायणी कथा, 'अध्यात्म-रामायण' के नाम से, अलग कर ली गई है। रामायण की कथा अन्य पुराणों में भी दी हुई है; परन्तु 'अध्यात्म-रामायण' की अपनी विशेषता है; उसमें श्रीरामचन्द्र का चरित्र अध्यात्मज्ञान के आधार पर वर्णित है। राम पुरुष हैं, सीता प्रकृति; राम परब्रह्म हैं और सीता उनकी अनिर्वचनीया माया। उन्हीं की लीला का विकास यह सम्पूर्ण विश्व है। ब्रह्म और माया ने ही, देवताओं के द्वारा भू-भार-भंजन की प्रार्थना किये जाने पर, इस संसार में आकर अपनी लीला का विस्तार दिखलाया है। सम्पूर्ण अध्यात्मरामायण में ब्रह्म-माया की अनोखी चरित्रावली का ही पावन चित्रण है।

किन्तु जो ब्रह्माण्ड-पुराण प्राप्य है, उसमें 'अध्यात्म-रामायण' नहीं है, और नारद-पुराण की सूची में रामायण की चर्चा है।

(ख) **वायु-पुराण**—इसका अधिकांश अप्राप्य है। १८ वें अध्याय में १८ पुराणों की श्लोक-संख्या दी गई है। वहाँ वायुपुराण में २३००० श्लोक बताये गये हैं। परन्तु प्राप्य ग्रन्थ में नव कम ग्यारह हजार (१००९१) श्लोकमात्र हैं; १२ हजार श्लोकों का पता नहीं है। बंगाल-एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में प्राप्य अंश की प्रति मौजूद है।

यह पुराण भौगोलिक वर्णन के लिए विशेषरूप से पठनीय है। यह प्रजापति-वंश, ऋषि-वंश तथा ब्राह्मण-वंश का इतिहास जानने के लिए बड़ा उपयोगी है। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायों में है। अन्तिम आठ अध्याय गया-माहात्म्य-परक हैं। इसमें संगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। प्राचीन राजाओं के विस्तृत वर्णन के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से यह विशेष महत्त्व रखता है। खगोल का भी वर्णन इस ग्रन्थ में विस्तार से मिलता है। अनेक अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ आदि का वर्णन आया है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव के चरित्र का विशद चित्रण है जो साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का भी वर्णन इसके अनेक अध्यायों में मिलता है। पशुपति की पूजा से सम्बद्ध 'पाशुपतयोग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है; क्योंकि 'पाशुपतयोग' का वर्णन अन्य पुराणों में नहीं मिलता; परन्तु इसमें उसकी पूरी प्रक्रिया बड़े विस्तार के साथ दी गई है। यह अंश, प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप को जानने के लिए, अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय ३० में दक्ष-प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बड़ी सुन्दर है। ये स्तुतियाँ वैदिक रुद्राध्याय के पौराणिक रूप हैं—[१]

---

१ 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार' पृष्ठ १८७-८८

नमः पुराण-प्रभवे, युगस्य प्रभवे नमः।
चतुर्विधस्य सर्गस्य, प्रभवेऽनन्तचक्षुषे ॥
विद्यानां प्रभवे चैव, विद्यानां पतये नमः।
नमो व्रतानां पतये, मन्त्राणां पतये नमः ॥

शिव-पुराण और वायु-पुराण के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मत है। कोई वायुपुराण की गणना १८ पुराणों में करता है, कोई शिवपुराण की। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय की राय है कि वायुपुराण का दूसरा नाम शिवपुराण है। बँगला-विश्वकोषकार के मत से भी वायुपुराण और शिवपुराण प्रायः एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं; दोनों में एक ही विषय है; दोनों का आरम्भ ज्ञान-संहिता से होता है। किन्तु प्रोफेसर रामदास गौड़ का कथन है कि आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावली के ४९वें ग्रन्थ 'वायुपुराण' की विषय-सूची, शिवपुराण की दी हुई सूची से, सर्वथा भिन्न है; वायु-पुराण स्वतन्त्र ही पुराण जान पड़ता है।[1]

(ग) **विष्णुपुराण**—इसमें भूगोल का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। इसमें चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का विशेष निर्देश है। सोमवंश के अन्तर्गत ययाति के चरित्र का तथा वेद की शाखाओं का विशिष्ट वर्णन है। भागवत के दशमस्कन्ध के सदृश कृष्णचरित्र भी पूर्णतया वर्णित है। यह वैष्णवधर्म का मूलाधार ग्रन्थ है। रामानुजस्वामी ने अपने श्रीभाष्य में इसके प्रमाण एवं उदाहरण दिये हैं। ज्ञान के साथ भक्ति का सामञ्जस्य इसमें बड़ी सुन्दरता से किया गया है। इसमें प्रधानरूप से विष्णु की उपासना का संकेत होने पर भी संकीर्णता का लेश नहीं है। नाना प्रकार की धर्मकथा, व्रतनियम, वेदान्त, ज्योतिष, वंशाख्यान आदि के वर्णन से यह भरपूर है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु—इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय-वंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा ही रमणीय, सरस तथा मनोरम है। सुन्दर भाषण के लाभ का कितना अच्छा वर्णन है—

हितं मितं प्रियं काले वश्यात्मा योऽभिभाषते।
स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान् ॥

भगवान कृष्ण ने स्वयं महादेव के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए बहुत सुन्दर और ललित शब्दों में कहा है—

योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम्।
मत्तो नान्यदशेषं यत् तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि ॥
अविद्या-मोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर ॥—५।३३।४८-४९

---

१ 'हिन्दुत्व'—पृष्ठ २४०-४१ और २५७

(५) साम्प्रदायिक पुराण

इसमें लिंग, वामन और मार्कण्डेय हैं।

(क) लिंगपुराण—इसमें शिव-लिंग की पूजा का विवेचन है। सृष्टि का आविर्भाव भगवान् शंकर के द्वारा बतलाया गया है। इसमें शंकर के २८ अवतारों का तथा शैव-परक होने के कारण शैव-व्रतों एवं शैव-तीर्थों का विशेष वर्णन है। इसमें पशु, पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या की गई है वह शैव-तन्त्रों के अनुकूल है। इसमें लिंगोपासना की उत्पत्ति भी दिखलाई गई है। यह पुराण शिव-तत्त्व की मीमांसा के लिए बड़ा ही उपादेय तथा प्रामाणिक है।

(ख) वामनपुराण—इसमें ९५ अध्याय हैं। इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों की कथाएँ हैं, परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेषरूप से है। इसके सिवा शिव, शिव का माहात्म्य, शैव-तीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्त्तिकेय-चरित आदि विषयों का भी वर्णन है। अनेक तीर्थों और वनों का माहात्म्य भी वर्णित है। सृष्टि-वर्णन और धर्म-निरूपण भी है।

(ग) मार्कण्डेयपुराण—इसमें मरणोत्तर-जीवन की कथा है। ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र को, शैशव में ही, ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया, जिसके कारण राजा होने पर उसने ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामञ्जस्य कर दिखाया। 'दुर्गासप्तशती' इसी पुराण का एक विशिष्ट अंग है। इसमें सर्वस्वरूपा दुर्गा का पवित्र चरित्र बड़े विस्तार से अङ्कित है। श्राद्धकर्म का वर्णन और योग के विघ्न, उनसे बचने के उपाय, प्रणव की महिमा आदि बातें भी हैं।

(६) आमूल परिवर्तित पुराण

डाक्टर शास्त्री की राय में कूर्म, वराह और मत्स्य का ऐसा संशोधन हुआ है कि उनका कलेवर ही बदल गया है।

(क) कूर्मपुराण—इसमें सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप में वर्णित हैं। यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है—ये एक ही ब्रह्म की पृथक-पृथक् तीन शक्तियाँ या मूर्तियाँ हैं। इस ग्रन्थ में शक्तिपूजा पर भी बड़ा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम दिये गये हैं। शिव, देवाधिदेव के रूप में, इतने महत्त्वपूर्ण रूप से वर्णित हैं कि उन्हीं के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति में समर्थ हुए।

इस पुराण के दो भाग हैं। पूर्वभाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर पार्वती की तपश्चर्या तथा उनके सहस्रनाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य है। उत्तरभाग में ईश्वरी-गीता तथा व्यास-गीता है। ईश्वरी-गीता में भगवद्-गीता के ढंग पर ध्यानयोग के द्वारा शिव के साक्षात्कार का वर्णन है। व्यास-गीता में चारों आश्रमों के कर्त्तव्य कर्म वर्णित हैं।

(ख) वराहपुराण—इसमें २१८ अध्याय और २४००० श्लोक हैं। किन्तु एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल १०७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग अबतक प्राप्त नहीं हुआ। इसमें विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है।

इसके दो अंश विशेष महत्त्व के हैं—(१) मथुरा-माहात्म्य, जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन है; (२) नाचिकेतोपाख्यान, जिसमें यम और नचिकेता की विस्तृत कथा है। इस कथा में स्वर्ग तथा नरक का विशेष वर्णन मिलता है। कथा कठोपनिषद् की है, किन्तु उसकी आध्यात्मिक दृष्टि इसमें नहीं है।

(ग) मत्स्यपुराण—यह भी पर्याप्तरूप से विस्तृत है। श्राद्ध-कल्प का विवेचन सात अध्यायों में है। व्रतों का वर्णन इसकी महती विशेषता है। प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा उसका महिमा-कथन भी है। भगवान् शंकर का, त्रिपुरासुर के साथ जो संग्राम हुआ था, उसका वर्णन बड़े विस्तार से है। तारकवध-कथा का भी बड़ा विस्तार है। काशी का माहात्म्य अनेक अध्यायों में वर्णित है।

इसकी चार बातें विशेष महत्त्व की हैं—

(१) समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी ५३ वें अध्याय में दी गई है;

(२) प्रवर ऋषियों के वंश का वर्णन है;

(३) राजधर्म का विशिष्ट वर्णन है;

(४) भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिमा का मापपूर्वक निर्माण-विधि है। इससे स्पष्ट है कि हमारा स्थापत्य-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित था और देवप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होता था।

पुराणों का आरम्भ ब्रह्म से और अन्त ब्रह्माण्ड से होता है तथा मध्य में दसवें पुराण 'ब्रह्मवैवर्त' में ब्रह्म की स्मृति करा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि पुराण सृष्टि-विद्या का प्रतिपादन करता है, जो ब्रह्म से आरम्भ कर ब्रह्माण्ड तक ज्ञान को पहुँचाती है। वह आदि, मध्य और अन्त में ब्रह्म का कीर्तन करती हुई ब्रह्म पर हमारे ध्यान को स्थिर कर देती है। इसलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—

आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते।[1]

भागवत-पुराण

देवी-भागवत तथा श्रीमद्भागवत-पुराण में कौन-सा महापुराण समझा जाय, इस बात का निर्णय विद्वानों की रुचि, बुद्धि और सम्मति पर अवलम्बित है।

देवी-भागवत में परमात्मा की पराशक्ति का उत्कर्ष दिखाया गया है। देवी को विष्णु, ब्रह्मा आदि का स्रष्टा कहा है। श्रीमद्भागवत की तरह यह भी बारह स्कन्धों में विभक्त है। शुकदेव मुनि का वैराग्यवर्णन, उनका विदेह-जनक की मिथिलापुरी में परीक्षा के निमित्त जाना तथा राजा जनक के उपदेश आदि का वर्णन है। देवी-भागवत-

१. पं० बलदेव उपाध्याय

माहात्म्य तथा देवी-यज्ञ-विधि विस्तार-पूर्वक वर्णित है। प्रह्लाद और नारायण के युद्ध की अद्भुत कथा भी है। महिषासुर और शुम्भासुर के वध की रोमांचकारी कथा तथा स्त्रीभाव-प्राप्त नारदजी के पुनः पुरुष होने की मनोरंजक कथा के अतिरिक्त स्वायम्भुव-मनु का उपाख्यान तथा भगवती का विन्ध्य-पर्वत पर जाना भी वर्णित है। भस्म-धारण, त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि की महिमा विस्तार से कथित है। सन्ध्योपासन का भी वर्णन आया है। अन्त में गायत्री-हृदय, गायत्री-स्तोत्र तथा गायत्री-सहस्रनाम है। केनोपनिषद् की भी कथा है।

इस प्रकार, महत्त्व की दृष्टि से, देवीभागवत तथा श्रीमद्भागवत प्रायः बराबर-से दीखते हैं। एक आदिपुरुष विष्णु की उपासना का महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है, दूसरा आदि-शक्ति भगवती की उपासना का।

अधिकांश शिक्षित जन पुराणों में लिखी बातों को असम्भव कहकर उन्हें कपोल-कल्पित मानते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन सर्वथा विचारणीय है—'सब पुराणों के सभी वाक्यों को प्रमाणभूत मान लेना भी बड़ी जटिल समस्या का हेतु बन जाता है; क्योंकि असम्भव और अस्वाभाविक प्रतीत होनेवाले पौराणिक रहस्य, अत्यन्त मनोयोग से अनुसंधान करने पर भी, कुछ समझ में नहीं आते, और पुराणों के विद्वानों को भी भ्रम में डाल देते हैं। तालपत्र के युग में मुद्रण का प्रचार नहीं था। प्रक्षेपण या प्रतिसंस्करण का काम नैसर्गिक और अनिवार्य था। तालपत्र के किसी भी ग्रन्थ में प्रक्षिप्त वाक्यों के कुछ नये पन्ने मिला देना और प्रतिलिपियों द्वारा देशान्तर में उसका धीरे-धीरे मूलग्रन्थ के रूप में प्रचार करना कठिन न था।'[१]

---

१ श्री इन्दिरारमण शास्त्री, मानवधर्मशास्त्र—पृष्ठ ७३

दूसरा परिच्छेद

जैन-पुराण

हिन्दुओं की पुराण-कल्पना से जैनियों की पुराण-कल्पना नितान्त भिन्न है। जैनधर्मानुसार वे ही ग्रन्थ 'पुराण' कहलाते हैं जिनमें पुराण पुरुषों के पुण्य-चरित्र का कीर्त्तन किया गया है। ऐसे पुण्य-पुरुष ६३ हैं। इनमें २४ तीर्थङ्कर हैं, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, तथा ९ प्रतिवासुदेव।

हिन्दू-पुराण की तरह जैन-पुराण भी बहुत विशाल हैं। इनमें चार मुख्य हैं—रविसेन का पद्मपुराण, जिनसेन का अरिष्टनेमिपुराण (जिसे हरिवंश भी कहते हैं), तथा आदिपुराण और गुणभद्र का उत्तरपुराण। इन्हें पढ़ लेने से जैन-सम्प्रदाय का पौराणिक तत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

(१) **आदिपुराण**—इसमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की कथा है। इसमें जम्बूद्वीप और तदन्तर्गत सभी पर्वतों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत मे भगवान् विष्णु के जिन चौबीस अवतारों की कथाएँ हैं उनमें से आठवाँ अवतार इन्हीं ऋषभदेव का है। जिस प्रकार विष्णु के दशावतारों में 'बुद्ध' नवें अवतार हैं, उसी प्रकार चौबीस अवतारों में ऋषभदेवजी आठवें अवतार हैं। श्रीमद्भागवतपुराण से (५।५।२८) ज्ञात होता है कि ऋषभदेव एक अवधूत योगी थे। उन्होंने परमहंसधर्म का प्रचार किया था। वे पागल की तरह नग्न रहते थे। उनकी लम्बी जटाएँ थीं। वे एक ही जगह पड़े-पड़े खाते-पीते तथा शौचादि कर लेते थे। उनका शरीर मलिन रहता था। उन्होंने दक्षिण-कर्णाटक में जाकर, अग्नि-प्रवेश करके, प्राणत्याग किया। (भागवत ५।५।२९-३४, ५।६।८)। श्रीशंकराचार्य ने शारीरक-भाष्य के दूसरे अध्याय के पहले पाद में अद्वैतब्रह्म का, जगत्-सृष्टि के सम्बन्ध में, जो विचार किया है, जिनसेन ने आदिपुराण के चौथे पर्व में सुन्दर ढंग से उसका खण्डन किया है और कहा है कि सृष्टि अनादि-निधन है—अर्थात् न कोई उसका बनानेवाला है, न संहार करनेवाला। अतएव यह स्पष्ट है कि यह पुराण शंकराचार्य के बाद का है।

(२) **पद्मपुराण**—जिस प्रकार जैनियों ने ऋषभदेव को अपनाया है उसी प्रकार राम को भी। इस पुराण में 'राम' का नाम 'पद्म' दिया हुआ है; किन्तु कथा वही है जो रामायण में। इस पुराण को हम जैन-रंग में रँगे हुए रामोपाख्यान कह सकते

है। प्राचीन महापुरुष को नये ढाँचे में ढालकर अपना लेने का सदा प्रयत्न होता आया है। वाल्मीकीय रामायण एवं हिन्दू पुराणों के अनुसार, राम हिन्दू थे, किन्तु जैन-पुराण के अनुसार जैन, और बौद्ध-जातक-कथा के अनुसार बौद्ध !

इस पुराण की रचना महावीर-निर्वाण के १२०० वर्ष बाद हुई—अर्थात् विक्रमी शताब्दी ६३४ के आसपास। विमलसूरि ने रामकथा का वर्णन अपने 'पउमचरित्र' नामक प्राकृत-काव्य में किया, जो पद्मचरित्र से प्राचीन ही नहीं है, प्रत्युत उसका आदर्श उपजीव्य ग्रन्थ है। इस 'पउमचरित्र' की रचना वीर-निर्वाण-संवत् ५३० या विक्रम-संवत् ६० के आसपास हुई। इस हिसाब से 'पउमचरित्र' पद्मपुराण से ४७० वर्ष पहले की रचना है।[1]

(३) अरिष्टनेमि (हरिवंश) पुराण। महाभारत के खिल हरिवंशपुराण ने जिस तरह कृष्ण के उत्कर्ष का बखान किया है, ठीक उसी तरह इस पुराण में भी कृष्ण की कथा दी गई है। कृष्ण-द्वारा जरासन्ध-वध; जरासन्ध के नाश के लिए द्रोण, दुर्योधन, दुःशासन आदि का कृष्ण के प्रति निवेदन; विदुर के समीप कौरव-पाण्डव के दीक्षा-ग्रहण करने की कथा भी है। यादवों का 'आनन्दपुर' नामक स्थान में जिन-मन्दिर-स्थापन भी वर्णित है। काशी, काञ्ची, द्राविड़, महाराष्ट्र, गान्धारादि सभी देशों में जैन-धर्म-प्रचार की कथा इसमें है। नरकादि का भी विशद वर्णन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, निर्मूर्च्छा आदि जो साधुओं के महाव्रत हैं उनका विवेचन किया गया है। महाभारत की अनेक कथाएँ जैनरूप में वर्णित हैं।

हिन्दू-पुराण और जैन-पुराण की कथा कितनी भिन्न है और किस प्रकार इन कथाओं को नये ढाँचे में ढालकर अपनाया गया है, यह बात जैनियों के पद्म और हरिवंश-पुराण से स्पष्ट है।

इस प्रकार, अरिष्टनेमिपुराण में कौरवों तथा पाण्डवों का वर्णन है तथा पद्मपुराण में श्रीराम का। अतएव, दोनों ग्रन्थ क्रमशः जैन-महाभारत और जैन-रामायण कहे जा सकते हैं।

(४) उत्तर-पुराण—आदिपुराण को अधूरा ही छोड़कर जिनसेन का निर्वाण हुआ। उसको उनके शिष्यों ने पूरा किया और उत्तरपुराण में दूसरे तीर्थङ्करों का जीवन-चरित्र लिखा गया। एक-एक तीर्थङ्कर के नाम पर इस पुराण के भीतर एक-एक पुराण बना। इस प्रकार, इस पुराण में, दूसरे तीर्थङ्कर 'अजितनाथ' से लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर 'महावीर' तक (२३ तीर्थङ्करों) के जीवनचरित्र, २३ पुराणों के रूप में संगृहीत हैं।

इसमें श्रीकृष्ण त्रिखण्डाधिपति और तीर्थङ्कर 'नेमिनाथ' के शिष्य माने गये हैं। बीसवें पुराण 'मुनि-सुव्रत' में जैनमन्दिर में राम के पूजा करने की चर्चा है। अतएव, जैन-पुराणों की यही विशेषता है कि सर्वत्र जैनधर्म की शिक्षा की चर्चा है।

उपर्युक्त चार महापुराणों के आधार पर अनेक जैनपुराण रचे गये, जिनमें पाण्डवपुराण भी है। दक्षिण के जैन-समाज में, कर्णाटकी भाषा में भी, अनेक पुराण पाये जाते हैं।

---

१. श्रीनाथूराम प्रेमी—जैन-साहित्य और इतिहास—पृ० २७५-८५

तीसरा परिच्छेद

बौद्ध-पुराण

प्राचीन बौद्धग्रन्थों में पुराणों का उल्लेख नहीं है, सिर्फ जातक-कथाएँ हैं। इनमें बुद्ध-द्वारा कहे हुए उनके पूर्व-जन्म वृत्तान्त हैं। इनमें राम-जीवन-सम्बन्धी 'दशरथ-जातक' एवं कृष्ण-जीवन-सम्बन्धी जातक-कथा भी हैं।

किन्तु नेपाली बौद्ध-समाज में स्वतन्त्र बौद्ध-पुराणों का आजकल प्रचार है। नेपाली बौद्ध लोग नौ पुराण मानते हैं जिन्हें 'नव-धर्म' भी कहते हैं। इन पुराणों में आख्यान, इतिहास, बौद्धों के वृत्तादि तथा प्रधान तथागतों की जीवनियाँ हैं—जप-द्वारा समाधि की विधि-व्यवस्था वर्णित है; भगवान् बुद्ध का चरित्र-चित्रण विस्तार से है। सरस्वती, लक्ष्मी और पृथ्वी की भी कथा है, और उनके द्वारा बुद्ध-पूजा का वर्णन है। मलय-गिरि पर शाक्यसिंह से रावण-द्वारा बुद्धचरित्र सुने जाने और बोधिज्ञान-लाभ करने की बातें भी दी गई हैं।

वे नौ पुराण ये हैं—(१) प्रज्ञापारमिता, (२) गण्डव्यूह, (३) समाधिराज, (४) लंकावतार, (५) तथागतगुह्यक, (६) सद्धर्मपुण्डरीक, (७) बुद्ध वा ललितविस्तार, (८) सुवर्णप्रभा और (९) दशभूमीश्वर।

इन नौ पुराणों के सिवा नेपाली बौद्धों में 'बृहत्' और 'मध्यम' नामक दो स्वयंभुव-पुराण भी पाये जाते हैं। नेपाल में स्वयंभुव-क्षेत्र और स्वयंभुव-चैत्य प्रसिद्ध तीर्थ हैं। इन ग्रन्थों में उनका माहात्म्य विस्तार से कहा गया है।

बृहत्-स्वयंभुव-पुराण के अन्त में जो कुछ लिखा है उससे जान पड़ता है कि इस पुराण की रचना नेपाल में, शैवधर्म की प्रबलता के बाद, विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में, हुई होगी। यह भी ज्ञात होता है कि शैव से ही आधुनिक बौद्धों का प्रभाव भग्न हुआ है—शैव-सम्प्रदाय ने ही बौद्ध-धर्म को अपना ग्रास बना डाला।[1]

---

१. श्रीरामदास गौड़—'हिन्दुत्व'—पृष्ठ ४४५—४६

चौथा परिच्छेद

शैवमत

वेद में रुद्र का नाम आया है। किन्तु इसे अनेक विद्वान शंकर-वाचक नहीं मानते। शंकर की भक्ति का उद्गम दशोपनिषद् में नहीं है, कदाचित् बाद का है। दशोपनिषद् के बाद के श्वेताश्वतरोपनिषद् में परब्रह्म से शंकर का तादात्म्य किया हुआ पाया जाता है। यह बात **'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे'** (३।२) और **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** (४।१०) से स्पष्ट है। गीता में भी **'रुद्राणां शंकरश्चास्मि'** (१०।२३) भगवद्वचन है। इसलिए यह निर्विवाद है कि दशोपनिषत्काल के अनंतर महाभारत-काल में शंकर की उपासना परमेश्वर के रूप में आरम्भ हुई और इस स्वरूप की एकता वैदिक देवता रुद्र के साथ हो गई।

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आरम्भ में 'वरुण' सबसे मुख्य देवता थे; किन्तु जब आर्यों को असुरों अर्थात् अनार्यों से युद्ध करने की जरूरत पड़ी, तब उन्हें वीर योद्धा के गुण से समन्वित देवता की आवश्यकता पड़ी। परिणाम यह हुआ कि 'वरुण' की महत्ता और प्रतिष्ठा घटने लगी तथा इन्द्र की बढ़ने लगी। कुछ लोग कहते हैं कि इसी प्रकार जब यजुर्वेदकाल में आर्य और अनार्य प्रायः घुल-मिल गये तथा संघर्ष समाप्त हो गया तब अपने राज्य एवं प्रतिष्ठा के विस्तार के लिए क्षत्रियों को अश्वमेधादि करने पड़े; इसलिए उन्हें युद्धादि क्रूरकर्म करने की जरूरत पड़ी और संभवतः उन्हें क्रूर देवता ही अधिक प्रिय हुए। आश्चर्य नहीं कि इसी कारण शंकर की भक्ति रूढ़ हो गई और महाभारत-काल में पाशुपतमत प्रचलित हो गया। महाभारत-युद्ध के समय शंकर से अर्जुन का पाशुपत-अस्त्र प्राप्त करना हम देखते हैं। अब महाभारत के आधार पर देखना है कि यह पाशुपत कैसा था। पाशुपतमत का सविस्तर वर्णन, महाभारत के शान्ति-पर्व के २८४ वें अध्याय में दक्ष-द्वारा की हुई शंकर की स्तुति में किया गया है। शंकर ने दक्ष को जो पाशुपतव्रत बतलाया है वह गूढ़ और अपूर्व है। यह सब वर्णों और आश्रमों के लिए है—यह मोक्षदाता है। इस मत से पशुपति सब देवों में मुख्य हैं—ये सारी सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इस मत में 'पशु' का अर्थ है सृष्टि। पाशुपतमत में तप का विशेष महत्त्व है।

पुराणों में लिंगपूजा

शंकर की उपासना का रूप लिंग-पूजा ही है। लिंगपुराण से पता चलता है कि शिव ने इच्छा की कि मैं सृष्टि करूँ और उनकी इच्छा-शक्ति से नारायण और ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। दोनों अपने आपको बड़ा समझने लगे और उनमें घोर विवाद हुआ। शंकर ने विचार किया कि जिनको मैंने सृष्टि करने के लिए भेजा था वे आपस में लड़-झगड़ रहे हैं। तब उन दोनों के बीच एक तेजोमय लिंग उत्पन्न हुआ और वह शीघ्र ही आकाश में चला गया। इसको देखकर दोनों आश्चर्य में आ गये, विचारा कि इसके आदि-अन्त का पता लेकर जो पहले आवे, वही श्रेष्ठ है। विष्णु कूर्म का स्वरूप धर नीचे की ओर चले और ब्रह्मा हंस का शरीर धारण कर ऊपर उड़े। दोनों मनोवेग से चले। दिव्य-सहस्रवर्ष-पर्यन्त दोनों चलते रहे, तो भी उसका आदि-अन्त न पाया। इसी बीच गाय और केतकी से ब्रह्मा की भेंट हुई। ब्रह्मा ने उनसे कहा कि तुम हमारे साथ चलो और साक्षी दो कि 'मैं (गाय) इस लिंग के मस्तक पर दूध की धारा बरसाती थी' तथा 'मैं (केतकी) इसपर फूल बरसाती थी'। किन्तु उन्होने कहा कि झूठ गवाही नहीं देंगे। इसपर ब्रह्मा ने कुपित होकर उन्हें भस्म करने की धमकी दी। विवश होकर वे राजी हो गये। विष्णु प्रथम ही आ गये थे, बाद ब्रह्मा भी पहुंचे। ब्रह्मा ने पूछा कि तुम थाह ले आये या नहीं? विष्णु ने कहा कि थाह नहीं मिली। ब्रह्मा ने कहा कि मैं थाह ले आया हूँ, और साक्षी के रूप में गाय तथा केतकी-वृक्ष को पेश किया। तब लिंग से शब्द निकला कि तुम तीनों झूठे हो। उसने केतकी को शाप दिया कि तुम्हारा फूल जगत् में किसी भी देवता पर नहीं चढ़ेगा और जो चढ़ावेगा उसका सर्वनाश हो जायगा तथा गाय को भी शाप दिया कि तेरा मुख अपवित्र हो जायगा, तेरे मुँह की पूजा कोई नहीं करेगा। फिर ब्रह्मा को शाप दिया कि तुमने मिथ्या-भाषण किया, इसलिए तुम्हारी पूजा संसार में नहीं होगी; विष्णु को वर दिया कि तुम सत्य बोले; इसलिए तुम्हारी पूजा सर्वत्र होगी।

यह हुई पुराणों की बात। किन्तु अनेक विद्वानों की राय है कि शंकर की उपासना अनार्यों से आरम्भ हुई। भारत में आर्यों के प्रसार के पूर्व से ही यहाँ के आदिवासियों में लिंग-पूजा की चाल थी। पुरातत्त्व के विद्वानो का यहाँ तक कहना है कि लिंग-पूजा किसी समय, विशेषतः ईसा के पूर्व, किसी-न-किसी रूप मे, सारे संसार में व्याप्त थी, और रूप तथा विधि के थोड़े-बहुत भेद के साथ, सारे संसार के मूर्तिपूजक लिंग की पूजा करते थे। सिन्धु-नद की घाटी में 'मोहेंजोदडो' स्थान पर मूर्ति मिली है, जो योग-मुद्रा में आसीन है और उसके पास नन्दी विद्यमान है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि यह शिव की मूर्ति है। किन्तु मेरे विचार से वैदिक आर्यों में मूर्तिपूजा नहीं थी, केवल अनार्य ही लिंग-पूजा करते थे। इसके अतिरिक्त इन खुदाइयों के बाद कहीं भी मूर्ति के साथ मन्दिर नहीं मिला। सम्भवतः ऐसी मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बनाई गई थीं और नन्दी के पास रहने के कारण ही लोगों की धारणा हो गई कि ये योगिरूप में शिव की मूर्तियाँ हैं।

बसाढ़ (वैशाली) में मिट्टी की एक मूर्ति मिली थी, जिसपर लिंग और योनि का चिह्न था। बाद १९०७ में पुरातत्त्ववेत्ताओं की रिपोर्ट से पता चला कि सारनाथ के निकट, 'धामेक'-स्तूप से, खुदाई के बाद, एक छोटा-सा लिंग निकला। यह प्रायः उसी काल का था जिस काल का उपर्युक्त बसाढ़वाला लिंग है। इन दोनों अन्वेषणों के बाद कुछ वर्षों तक पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा थी कि लिंगपूजा गुप्तवंशी राजाओं के समय में आरम्भ हुई; किन्तु वर्षों बाद भीटाग्राम में जो लिंग मिला था और उसपर जो लिपि अंकित थी, उसके आधार पर जब पुरातत्त्ववेत्ता राखालदास बनर्जी का लेख निकला, तब लोगों का खयाल हुआ कि ईसवी सदी के एक सौ वर्ष पूर्व लिंगपूजा आरम्भ हुई। कुछ वर्षों बाद, श्री टी० एस० राव ने, अपनी 'हिन्दू इन्कानग्रैफी' नामक पुस्तक के दूसरे भाग में, ६३ वें पृष्ठ पर, मद्रास के रानीगुटा स्टेशन से प्रायः ६ मील दूर के 'गुड्डीमालन' स्थान में पाये गये शिवलिंग का जिक्र किया है। भारतवर्ष में खुदाई करने से जितने लिंग अबतक मिले हैं उनमें यह बहुत महत्त्व का है। यह ठीक मनुष्य-लिंग के सदृश है। बहुत काल से परशुरामेश्वर के नाम से इसकी पूजा होती है। यह लगभग ५ फीट ऊँचा है और अच्छी अवस्था में है। श्री राव के मत से यह ईसवी सदी से २०० वर्ष पूर्व का है।

ऋग्वेद में आये हुए 'शिश्नदेव' शब्द के वास्तविक भाव को समझ लेने पर अनार्यों में लिंग-पूजा की चाल ऋग्वेद-काल की समझ पड़ेगी। यह शब्द अनार्यों के सम्बन्ध में दो जगहों पर (७।२१।५ तथा १०।९९।३) आया है। इन मंत्रों से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद-काल में बहुत-से ऐसे समृद्ध नगर थे जिनके निवासी अनार्य थे और वे 'शिश्न' अर्थात् लिंग की पूजा करते थे। लिंग-पूजा के कारण आर्य उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे!

इस सम्बन्ध में प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय का कथन है कि ऋग्वेद के इन मंत्रों (७।२१।५ तथा १०।९९।३) में 'शिश्नदेव' शब्द को देखकर अनेक विद्वान ऋग्वेदकाल में भी लिंग-पूजा की सत्ता स्वीकार करते हैं; परन्तु यह मत अप्रामाणिक है। यास्क के अनुसार इस शब्द का अर्थ है—'अब्रह्मचर्य में आसक्त'; यही परम्परा से अर्थ माना जाता है। अतः आर्यों में इस पूजा के लिए प्राचीन प्रमाण नहीं मिलते।

'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ चाहे 'लिंगपूजक' हो अथवा 'अब्रह्मचर्य में आसक्त', पर किसी भी अवस्था में यह आर्यों से सम्बन्ध नहीं रखता। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य किसी भी रूप में मूर्तिपूजक नहीं थे और उसी प्रकार मोहेंजोदड़ो की खुदाई के बाद यह प्रमाणित हो गया है कि सिन्धु-सभ्यता के समृद्धि-काल में लिंग-पूजा की चाल थी और वह लिंग-पूजा अनार्यों में ही सीमित थी।

अगर पुरातत्त्व-विभाग की खोज की ओर हम ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि ऐतिहासिक समय के बहुत पूर्व से भारतवासी अनार्यों में शिश्नदेव अर्थात् लिंग की पूजा प्रचलित थी। मद्रास के म्युजियम में मिट्टी का बना हुआ अतिप्राचीन लिंग का चिह्न सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त गुजरात में, बड़ौदा-राज्य के भीतर, जमीन से खुदाई के बाद, इस प्रकार की और मूर्तियाँ मिली हैं। इन सब प्रमाणों को देखने से यह पता चलता है कि लिंग-पूजा आर्यों ने अनार्यों से सीखी।

शिव का आर्य-देवत्व

एक के बाद दूसरे पुराणों में हम देखते हैं कि ऋषि-मुनि लोग शिव-पूजा और लिंग-पूजा को आर्य-धर्म से दूर रखने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे थे; किन्तु ऋषि-पत्नियाँ उनके विरुद्ध आचरण करके शिव-पूजा और लिंग-पूजा को भारतीय आर्य-समाज में चला देने में सफल हो गईं।

महादेव नग्न-वेश में नवीन तापस का रूप धारण करके मुनियों के तपोवन में आये (वामन-पुराण, अध्याय ४३, श्लोक ५१।६६)। मुनि-पत्नियों ने देखते ही उन्हें घेर लिया। मुनिजन अपने ही आश्रम में अपनी पत्नियों की ऐसी अभद्र कामातुरता देखकर 'मारो-मारो' कहते हुए काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े। उन्होंने शिव के भीषण ऊर्ध्व-लिंग को निपातित किया। बाद मुनियों के मन में भी भय का संचार हुआ। ब्रह्मा आदि ने भी उन्हें समझाया। अन्त में मुनि-पत्नियों की एकान्त अभिलषित शिव-पूजा प्रवर्तित हुई (वामन-पुराण, अध्याय ४३-४४)।

इसी प्रकार कूर्म-पुराण (उपरिभाग, अध्याय ३७) में कथा है कि पुरुष-वेश-धारी शिव नारी-वेशधारी विष्णु को लेकर सहस्र-मुनिगण-सेवित देवदारुवन में विचरण करने लगे। उन्हें देखकर मुनि-पत्नियाँ कामार्त्ता होकर निर्लज्ज-सी आचरण करने लगीं। मुनि-पुत्र भी नारी-रूपधारी विष्णु को देखकर मोहित हुए। मुनिजन मारे क्रोध के अतिशय निष्ठुर वाक्य से शिव की भर्त्सना करने और उन्हें अभिशाप देने लगे (कूर्म० ४७।२२)।

किन्तु अरुन्धती (वसिष्ठ-पत्नी) ने शिव की अर्चना की। शिव पर यष्टि-मुष्टि-प्रहार करते हुए ऋषि बोले—'तू यह लिंग-उत्पाटन कर।' शिव को यही करना पड़ा। पर बाद फिर देखते हैं कि इन्हीं मुनियों को इसी शिव-लिंग की पूजा स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा।

शिवपुराण के, धर्म-संहिता के, दसवें अध्याय में कहा है कि शिव ही आदि-देवता हैं। यहाँ पर भी मुनि-पत्नियों के काम-मोहित होने की कथा आई है। आगे चलकर कहा गया है कि भृगु के शाप से शिव का लिंग भूतल में पतित हुआ। भृगु धर्म और नीति की दुहाई देने लगे। किन्तु अन्त में शिव-लिंग की पूजा करने को मुनिजन बाध्य हुए (अध्याय १०, श्लोक १८७-२०७)।

यही कथा स्कन्द-पुराण (महेश्वरखण्ड, षष्ठाध्याय) में है। इसी प्रकार वायु-पुराण के ५५ वें अध्याय में भी शिव की कथा है। पद्मपुराण के नागरखण्ड के शुरू में भी यही कथा है। शंकर नग्नवेश में पहुँचे। मुनि-पत्नियों का आचरण शिष्टता की सीमा पार कर गया। मुनिजन यह देखकर क्रुद्ध होकर बोले—'रे पाप, तूने चूँकि हमारे आश्रम को विडम्बित किया है, इसलिए तेरा लिंग अभी भूपतित होवे।' किन्तु यहाँ भी मुनियों को झुकना पड़ा; जगत् में नाना उत्पात उपस्थित हुए, देवता बड़े भीत हुए और धीरे-धीरे शिव-पूजा स्वीकार कर ली गई।

आचार्य क्षितिमोहनसेन कहते हैं—'मुनि-पत्नियों का जो यह शिव-पूजा के प्रति उत्साह दिखाई पड़ता है, इसका कारण पुराणों में उनकी कामुकता बताई गई है। पर यही क्या वास्तविक व्याख्या है? सम्भवतः उन दिनों मुनिपत्नियाँ अधिकतर आर्येतर

शूद्र-कुलोत्पन्ना थीं। इसलिए वे अपने पितृकुल के देवता की पूजा करने को इतनी व्याकुल थीं। पतिकुल में आकर भी वे अपने पितृकुल के देवता को न भूल सकीं। यह व्याख्या ही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है। प्राचीनतर इतिहास की बात यदि कही जाती, तो मुनि-पत्नियों को व्यर्थ इतनी हीन-चरित्र चित्रित करने की जरूरत नहीं होती।'[1]

पुराणादि में ऐसे आख्यान और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। दक्ष-यज्ञ में शिव के साथ दक्ष का विरोध वस्तुतः आर्य-वेदाचार के साथ आर्येतर-शिवोपासना का विरोध ही है।

वैदिक युग में शिव-नामधारी एक जनपदवासी मनुष्य की स्थिति पाई जाती है (ऋग्वेद ७।१८।७)। पुराणों के शिव-देवता के साथ क्या इन लोगों का कोई योग था? अनेक अनार्य-देवताओं को आर्यलोग अस्वीकार नहीं कर सके। आसपास के चतुर्दिक् प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असम्भव था।

यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता (सोलहवें अध्याय) में इन्हीं कारणों से रुद्र और शिव को अपनाकर आराधना करने की चेष्टा देखी जाती है। अथर्ववेद में भी अनेक सूक्तों (४।२६, ७।४२, ७।६२ इत्यादि) में इस प्रकार के प्रयत्न मिलते हैं।

शिव के साथ सम्बन्ध-युक्त होकर भी शिव को न मानने के कारण दक्ष की दुर्गति हुई। दक्ष के यज्ञ में शिव नहीं बुलाये गये, और शिवहीन यज्ञ भूत-प्रेत-प्रमथादि द्वारा विध्वस्त हुआ। इसीसे जाना जाता है कि शिव उस समय तक आर्येतर-जातियों के ही देवता थे। किरातवेशी शिव, शबरी-मूर्त्ति शिवानी, शबर-पूजित थे—ये सब कथाएँ नाना पुराणों में नाना भाव से मिलती हैं।[2]

शिव आरम्भ में अनार्यों के देवता थे, यह इस बात से भी प्रमाणित होता है तथा भिन्न-भिन्न पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि राक्षसों के देवता शंकर ही थे। हिरण्यकशिपु, रावण, बाणासुर, भस्मासुर आदि जितने प्रतापशाली राक्षस (अनार्य) हुए, वे सब-के-सब शंकर के उपासक थे और प्रायः सभी शंकर के वरदान से बली और अजेय हुए। जब देवता (आर्य) वरदान-प्राप्त राक्षसों (अनार्यों) से पीड़ित हुए और धर्म की ग्लानि हुई तब आर्यों के देवता विष्णु को भिन्न-भिन्न रूप धरकर उनका वध करना पड़ा। ऐसा ज्ञात होता है कि अथर्ववेद के बनते-बनते आर्य और अनार्य केवल शान्तिपूर्वक साथ;साथ रहने ही नहीं लगे थे, किन्तु आपस में घुल-मिल भी गये थे, अथर्ववेद के मंत्र इसके अकाट्य प्रमाण हैं। यह प्रायः निर्विवाद है कि बहुत काल तक केवल तीन वेद थे। ऋग्वेद-मंत्रों में सिर्फ तीन वेदों का ही जिक्र है, अथर्ववेद को बहुत दिन बाद वेद की मर्यादा और प्रतिष्ठा मिली और यह आर्य तथा अनार्य के सम्मिश्रण का परिणाम था। इसी मिश्रण के कारण जब-जब लोक-कल्याण के लिए विष्णु को वरदान-प्राप्त शिव-भक्त का वध करने की आवश्यकता पड़ी, तब-तब उन्होंने वरदान की मर्यादा को कायम रखते हुए उसका वध किया। इस मिश्रण के कारण रहन-सहन, धार्मिक विचार

---

१ भारतवर्ष में जातिभेद—पृष्ठ ६७। २ भारतवर्ष में जातिभेद—पृष्ठ ६७

आदि का प्रभाव एक दूसरे पर पड़े विना न रह सका। अतएव दशोपनिषत्काल के बाद निराकार-निर्गुण ब्रह्म के स्थान में जब साकार ब्रह्म की उपासना चल पड़ी और श्वेताश्वतरोपनिषद् ने शंकर का तादात्म्य परब्रह्म से किया, तो स्वभावतः अनार्यों की लिंग-पूजा की चाल आर्यों में भी चल निकली। एक ओर जहाँ आर्यों ने शंकर की उपासना और लिंगपूजा आरम्भ की, वहाँ अनार्यों के परिवार में भी आर्य-देवता विष्णु की उपासना आरम्भ हुई। अनार्यों के परिवार में भी भिन्न-भिन्न सदस्यों द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा होने लगी। उदाहरणस्वरूप विष्णु-द्रोही और शिवभक्त रावण का छोटा भाई विभीषण विष्णुभक्त था और हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद भी विष्णु-भक्त हुआ।

शंकर मुख्यतः अनार्यों के देवता थे, यह इससे भी प्रमाणित होता है कि शंकर के गण राक्षस, भूत, प्रेत, वैताल हैं। उनके गले में साँप की माला और उनके द्वारा गजचर्म एवं बाघम्बर का व्यवहार भी अनार्य-देवता होने का द्योतक है। शंकर की पूजा भी जंगली फूल, धतूर, भंग, बिल्वपत्र आदि से होती है और उन्हें प्रसन्न करने के लिए गाल बजाने की प्रणाली मान्य है।

दक्ष-प्रजापति के यज्ञ में 'सती' के प्राण-त्याग की घटना की छानबीन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दक्ष ने यद्यपि अपनी कन्या 'सती' का विवाह गन्धर्वदेशवासी (कैलास-वासी) शंकर के साथ कर दिया था, तथापि अपने जन्मगत संस्कार के कारण वे शंकर की यथोचित प्रतिष्ठा करने के लिए सहमत न हुए। इस संघर्ष को सदा के लिए मिटाने के अभिप्राय से 'सती' ने अपना बलिदान किया, जिसके परिणामस्वरूप आर्य-अनार्य-संघर्ष एक बार पुन-प्रज्वलित हो उठा और उसके बाद आर्य-अनार्य स्थायी रूप से स्नेह-सूत्र में बँध गये।

श्रीबलदेव उपाध्याय का मत है कि 'आधुनिक विद्वानों की उपर्युक्त विचारधारा एकांगी है और प्रामाणिक नहीं है। सच बात तो यह है कि शंकर वैदिक देवता रुद्र ही हैं और अनादिकाल से आर्यों के देवता हैं—न कि अनार्यों के। शंकर तथा रुद्र वस्तुतः अग्निदेवता के ही रूप हैं।'[१]

जो भी हो, मूलतः लिंग-उपासना अनार्य-उपासना थी। अतः इसका शंकर की उपासना की एकमात्र प्रणाली होना एक अद्भुत घटना है। यह स्पष्टतया प्रमाणित करता है कि अनार्यों के 'शिश्नदेव' का सम्मिश्रण जब वैदिक देवता रुद्र से हो गया तब अनार्यपूजा का ढंग भी प्रचलित और सर्वमान्य हो गया।

इस प्रकार लिंग-पूजा, जो आरम्भ में अनार्यों की पूजा थी, आज सारे भारत में, रामेश्वर से अमरनाथ तक और सोमनाथ से तारकेश्वर तक, फैली हुई है। यों तो दक्षिण-भारत में विष्णु की, पश्चिम-भारत में कृष्ण की, मध्य-उत्तर-भारत में राम की और बंगाल में दुर्गा की विशेष रूप से उपासना होती है, पर शंकर की उपासना और लिंग-पूजा

प्रो० उपाध्याय—धर्म और दर्शन—पृष्ठ ११–२१

सर्वव्यापी है। ऐसी अवस्था में यह कहना अत्युक्ति नहीं कि भारतवर्ष के अधिकांश हिन्दुओं के उपास्यदेव शंकर हैं।

शिव-सम्बन्धी अनेक स्तोत्र हैं जिनमें 'महामृत्युञ्जय' मंत्र बहुत प्रसिद्ध और लाभप्रद है। इस मंत्र के जप से साँप, बिजली, दैवी दुर्घटना आदि आकस्मिक विपत्तियों से रक्षा होती है। कहा जाता है कि अनेक बार असाध्य रोग भी इसके जप से नष्ट हुए हैं। इस मंत्र में दीर्घजीवन, शान्ति, विद्या, समृद्धि, कल्याण आदि देने की शक्ति है। मंत्र इस प्रकार है—

ओं त्र्यम्बकं यजामहे
सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्
मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

पाँचवाँ परिच्छेद

तंत्रशास्त्र और शाक्तमत

तंत्र वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है और जो साधकों का त्राणकारक है। तंत्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञान-विषयक ग्रंथ आदि है। शङ्कराचार्य ने 'सांख्य' को 'तन्त्र' नाम से अभिहित किया है। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए 'तंत्र' के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। परन्तु यहाँ तन्त्र से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो यन्त्र-मन्त्रादि-समन्वित एक विशिष्ट साधनमार्ग का उपदेश देते हैं। तन्त्र का दूसरा नाम 'आगम' है। आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धिगम्य होते हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को 'निगम' (वेद) बतलाता है तथा इनके साधनभूत उपायों को 'आगम' सिखलाता है।

किन्तु निगम तथा आगम का पारस्परिक सम्बन्ध एक बड़े झमेले का विषय है। तन्त्रशास्त्र के कुछ ग्रन्थ निगम का अर्थ वेद नहीं मानते। उनके अनुसार शाक्ततन्त्र में आगम उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था और निगम वह है जिसे शिव को स्वयं देवी ने ही सुनाया था। इस प्रकार, यह सम्प्रदाय स्वयं भी वेदों को बहुत महत्त्व नहीं देता और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी उसे अवैदिक समझते हैं।[1] परन्तु अधिकांश आगम की मूलभित्ति निगम (वेद) ही है।

महा-निर्वाण-तन्त्र के अनुसार कलि में मेध्यामेध्य के विचार से हीन मानवों के कल्याणार्थ शङ्कर ने तन्त्र का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया है। अतः कलियुग में इस 'आगम' के अनुसार पूजाविधान से मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है।

तंत्रशास्त्र, जो शिव-प्रणीत कहा जाता है, तीन भागों में विभक्त है—(१) आगम, (२) यामल और (३) मुख्यतंत्र।

(१) जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा, सब कार्यों का साधन, पुरश्चरण, षट्कर्म-साधन और चार प्रकार के ध्यानयोग का वर्णन हो उसे 'आगम' कहा जाता है।

---

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ १४६

(२) जिसमें सृष्टि, तत्त्व, ज्योतिष, नित्यकृत्य-क्रमसूत्र, वर्णभेद और युगधर्म का वर्णन हो उसे 'यामल' कहते हैं।

(३) जिसमें सृष्टि, लय, मंत्र-निर्णय, देवताओं के संस्थान, यंत्र-निर्णय, तीर्थ, आश्रम-धर्म, कल्प, ज्योतिष-संस्थान, व्रतकथा, शौच और अशौच, स्त्री-पुरुष-लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन हो वह 'मुख्य तंत्र' कहलाता है।

इस मत का सिद्धान्त है कि कलियुग में वैदिक मंत्र, जप, यज्ञ आदि का कोई फल नहीं होता। इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिए तंत्रशात्र में वर्णित मंत्रों और उपायों से ही सहायता मिलती है। इस शास्त्र के सिद्धान्त बहुत गुप्त रखे जाते हैं। इसकी शिक्षा लेने के लिए तथा अनेक प्रकार की सिद्धियों आदि की साधना के लिए ही तंत्र, मंत्र और क्रियादि का प्रयोग किया जाता है। इस शास्त्र के मंत्र प्रायः अर्थहीन और एकाक्षरी हुआ करते हैं, जैसे ह्रीं, क्लीं आदि। तांत्रिकों का पञ्चमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—तथा चक्रपूजा प्रसिद्ध है। तान्त्रिक सब देवताओं का पूजन करते हैं; पर उनकी पूजा का विधान सबसे भिन्न और स्वतंत्र है। चक्रपूजा तथा अन्य अनेक पूजाओं में तांत्रिक लोग मद्य, मांस और मत्स्य का बहुत अधिक व्यवहार करते हैं। अथर्ववेद-संहिता में भी मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि का वर्णन और विधान है। परन्तु कहते हैं कि वैदिक क्रियाओं और अभिचारों को तथा यंत्र-मंत्रादि विधियों को महादेवजी ने कीलित कर दिया तथा भगवती उमा के आग्रह पर कलियुग के लिए तंत्र की रचना की। बौद्ध ग्रन्थों में भी तंत्र-ग्रन्थ हैं। उनका प्रचार चीन और तिब्बत में है।[1]

तंत्र में कठोर आचार का विधान है। तंत्र अतिगुह्य तत्त्व समझा जाता है। कुलार्णव-तंत्र में लिखा है कि धन देना, स्त्री देना, अपने प्राणतक देना; पर गुह्य-शास्त्र यथार्थ दीक्षित और अभिषिक्त व्यक्ति के सिवा अन्य किसी के सामने प्रकट न करना चाहिए।

वस्तुतः तंत्रशास्त्र सार्वजनिक और सार्वदेशिक शास्त्र है। इसमें शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न उपासना-विधियों का वर्णन है। बौद्धों ने भी विघ्न-विनाशिनी तारादेवी का अस्तित्व स्वीकार किया है। 'वाममार्ग' तंत्रशास्त्र का एक आधार और उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वह मार्ग इस शास्त्र में उपासना की सिद्धि का केन्द्र माना गया है।

बहुतों का विचार है कि तांत्रिक धर्म वैदिक कर्मकाण्ड का विकसित तथा समयोपयोगी रूप है। वैदिक कर्मकाण्ड में मद्य के स्थान पर सोमरस का उपयोग होता था। मांसाष्टक-श्राद्ध में मांस के अष्टक तथा प्रेत-श्राद्ध में मत्स्य का व्यवहार किया जाता था। सामवेद का कथन है कि ईश्वर को अकेला रहना अच्छा नहीं लगा, अतः उसे किसी दूसरे संगी की इच्छा हुई। इच्छा के साथ उसने अपने को दो भागों में विभक्त किया—स्त्री-तत्त्व और पुरुष-तत्त्व—'एक एव द्विधा जातः।' उन्हीं दो के संयोग से सृष्टि उत्पन्न

---

१ हिन्दुत्व—पृष्ठ ४८३

हुई। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में इस भाव का विस्तार किया गया है। ईश्वर ने जो स्त्री-तत्त्व उत्पन्न किया, वही 'प्रकृति' के नाम से सम्बोधित हुआ। उसे ही माया, महामाया अथवा शक्ति के नाम से पुकारते हैं। उसका और ब्रह्म का स्वभाव एक ही माना गया है। जैसे ब्रह्म अनादि और अनन्त है वैसे ही प्रकृति भी। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण वह ब्रह्म के सभी गुणों से युक्त है। उक्त पुराण का कथन है कि बाद में सृष्टि-विस्तार के लिए प्रकृति ने अनेक रूप धारण किये। सावित्री, लक्ष्मी और दुर्गा उसी के प्रधान रूप हैं। तात्पर्य यह कि संसार में जितने स्त्री-तत्त्व किंवा स्त्रियों के स्वरूप हैं, सब उसी अनादि प्रकृति के स्वरूप माने गये हैं। जिस सम्प्रदाय में इस स्त्री-तत्त्व की उपासना का विधान है उसे ही 'शाक्त' सम्प्रदाय कहते हैं।

समस्त-शाक्त शक्ति के एक ही रूप की उपासना नहीं करते। कोई काली, कोई तारा, कोई सिंहवाहिनी, कोई जगद्धात्री आदि स्वरूपों को अपना उपास्य और आराध्य मानता है। किन्तु समस्त शाक्त दसों महाविद्याओं की उपासना करते हैं। दस महाविद्याएँ ये हैं—(१) महाकाली, (२) उग्रतारा, (३) षोडशी, (४) भुवनेश्वरी, (५) छिन्नमस्ता, (६) भैरवी, (७) धूमावती, (८) वगलामुखी, (९) मातंगी, और (१०) कमला।

महाभारत-युद्ध के बाद से बौद्धधर्म के प्रारम्भ होने के समय तक—अर्थात् प्रायः दो हजार वर्ष तक—भारत में तंत्र-मंत्र का ही प्राबल्य रहा, ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है। ऋग्वेद में (६।६१) महाशक्ति सरस्वती का स्तवन है। पुनः वागदेवी कहती है कि 'मैं इन्द्र, अग्नि और अश्विनीद्वय का अवलम्बन करती हूँ। मेरा आश्रय-स्थान विशाल है। मैं सब प्राणियों में आविष्ट हूँ। जो मुझे नहीं मानते वे क्षीण हो जाते हैं। मैं जिसे चाहूँ उसे बली, स्त्रोता, ऋषि अथवा बुद्धिमान कर सकती हूँ। मैं पिता हूँ। मैंने आकाश को उत्पन्न किया है। मैं द्यावापृथिवी में व्याप्त हूँ। मैं ही भुवननिर्माण करते-करते वायु के समान बहती हूँ।' (१०।१२५) अथर्ववेद (काण्ड ४, सूक्त ३०) में भी भगवती महाशक्ति कहती है कि 'मैं समस्त देवताओं के साथ हूँ, सबमें व्याप्त हूँ।' केनोपनिषद् में 'बहुशोभनाशुभ-हैमवती' वाक्य से महाशक्ति का, प्रकट ब्रह्म का, निर्देश है।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ३ अध्याय ४,) में शिव और दक्ष के वैर की कथा लिखी है। उससे भी, उस प्राचीनतम काल में भी, इस धर्म के अस्तित्व का पता लगता है। शिव को शाप देते हुए भृगु ने जिस शिव-दीक्षा का उल्लेख किया है, वह तान्त्रिक वाम-मार्ग पर घटता है। भागवत के एकादशस्कन्ध में भी कहा गया है कि केशव की पूजा तांत्रिक विधि से करनी चाहिए। बृहत्हारीत-संहिता में तांत्रिक दीक्षा की विधि का वर्णन है। व्याससंहिता में लिखा है—'गुह्य-मंत्र का जप और स्फटिक-माला का उपयोग करना तथा गायत्री-सहित रुद्र की उपासना करनी चाहिए।'

इस प्रकार, धर्मशास्त्र में जिस प्रामाणिक रूप से तंत्रशास्त्र का महत्त्व स्वीकार किया गया है उससे यही जान पड़ता है कि धर्मशास्त्र भी तंत्रशास्त्र के पक्ष में है। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि आम के बाग में, भुवनेश्वर के मन्दिर में जाकर मनुष्य को वैदिक और तांत्रिक विधि से महादेव की पूजा करनी चाहिए। वराहपुराण में लिखा है कि

विद्वानों को जनार्दन की पूजा वेद या तंत्र की विधि से करनी चाहिए। इसी पुराण में यह भी लिखा है कि शंकर के उतने ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं जितनी महाशक्तियाँ हैं; जो महाशक्ति की उपासना करता है वह उसके पति शंकर की भी उपासना करता है। देवी-भागवत, देवी-पुराण और कालिकापुराण में तो शक्ति का माहात्म्य वर्णित है ही। अतएव, धर्मशास्त्र एवं पुराणों ने तंत्र का और तांत्रिक उपासना-विधि का महत्त्व स्वीकार किया है।

रामायण और महाभारत में भी तांत्रिक उपासना का उल्लेख मिलता है। रामायण में 'बला' और 'अतिबला' नामक विद्याओं का उल्लेख है जो तांत्रिक विद्याएँ प्रतीत होती हैं। 'अद्भुतरामायण' में अखिल विश्व की जननी सीता की, परमात्मा के रूप में, अतिसुन्दर स्तुति है। महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय २५६) में मोक्ष-धर्म की चर्चा करते हुए कहा गया है कि स्मृतियों का अध्ययन शूद्रों के लिए वर्जित है, अतः सर्वतोमुखी वेद तंत्र ही है; क्योंकि तंत्र में सब वर्णों को समानता का अधिकार दिया गया है।

जिन लोगों को तंत्रशास्त्र का महत्त्व स्वीकार नहीं है उनका कथन है कि तंत्र की रचना और उसका प्रचार बौद्धधर्म के बाद, बौद्धों की देखादेखी, हुआ। तंत्रशास्त्र के मर्मज्ञों का कथन है कि यह विचार प्रमाण-रहित है। तंत्र की जड़ वेदों तक पहुँचती है। उसका विकास बौद्धकाल से भी पहले हुआ। महायान-बौद्ध-सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति और तांत्रिक शैली में स्पष्ट समता है। बौद्ध-साहित्य के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बौद्धों ने हिन्दू-तंत्र को स्वीकार किया। बौद्धलोग तारा और हयग्रीव की पूजा तांत्रिक रीति से करते हैं। बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में लिखा है कि बुद्धदेव का जन्म होने पर उन्हें सप्तमातृकाओं, गौरी, गणेश, इन्द्रादि की मूर्त्तियाँ दिखाई गई थीं तथा उनको निगम, पुराण, इतिहास और वेदों का विशेष ज्ञान था। इसमें यह भी लिखा है कि कुछ लोग श्मशान तथा चौराहे पर तपस्या करते हैं—ऐसे साधकों को पाखण्डी कहते हुए बुद्ध कहते हैं कि ये लोग अपनी पूजा में मद्य और मांस का भी प्रयोग करते हैं। जैन-ग्रन्थों में भी तंत्र-मंत्र की रहस्यमयी पूजा का उल्लेख है—यह भी लिखा है कि बुद्ध-कीर्ति नामक एक मुनि हुआ है जो बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था ; किन्तु, मछलियों का आहार करने के कारण, ग्रहण की हुई जैन दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर धारण करके 'एकान्तमत' को स्वीकार किया।

तंत्र के सिद्धान्त

शाक्तधर्म का ध्येय परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेद-सिद्धि है। तांत्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्यदेव के साथ तादात्म्य स्थापित करे। शाक्तधर्म अद्वैतवाद का साधन-मार्ग है। शाक्तों की प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है—

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥[1]

अर्थात् मैं ही देवी हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ और मैं ही सच्चिदानन्दरूप हूँ।

---

१. 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार'—पृष्ठ ३०७–८

तांत्रिक आचार अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। गुरु के द्वारा दीक्षा-ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। तांत्रिकपूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है, अतः वह गुप्त रखी जाती है। गुप्त रखने के लिए कितने ही नवीन शब्द और कितने ही शब्दों के नवीन अर्थों की सृष्टि की गई है।

शाक्तमत में तीन भाव (पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव) और सात आचार बतलाये गये हैं। 'कुलार्णव' में सात आचारों के नाम श्रेणी के अनुसार दिये हुए हैं— (१) वेदाचार, (२) वैष्णवाचार, (३) शैवाचार, (४) दक्षिणाचार, (५) वामाचार, (६) सिद्धान्ताचार और (७) कौलाचार। एक मत के अनुसार इनके अतिरिक्त अघोराचार और योगाचार भी हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार वाह्य आचरण। जिसमें अविद्या के कारण अद्वैतज्ञान लेशमात्र भी नहीं है, उस भाव को 'पशु-भाव' कहते हैं; क्योंकि पशु के सदृश वे अज्ञान में पड़े हुए हैं। जो साधक अज्ञान-रज्जु के काटने में कुछ भी कृतकार्य हो चुके हैं उनका भाव 'वीरभाव' हो जाता है। 'वीरभाव' उद्योग का द्योतक है। किन्तु अद्वैतानन्द का आस्वादन करनेवालों का 'दिव्यभाव' हो जाता है। आचारों में प्रथम चार पशुभाव के साधक के लिए हैं। 'वाम' तथा 'सिद्धान्त' केवल वीरभाव के साधक के लिए हैं। सर्वश्रेष्ठ आचार 'कौलाचार' है जो पूर्ण अद्वैतभावना से भूषित दिव्य साधक के लिए है। प्रत्येक साधक को भिन्न-भिन्न श्रेणियों को पार कर अन्त में कौल की स्थिति प्राप्त करनी होती है।

(१) **वेदाचार** के सभी साधकों को वैदिक नित्यकर्म करने पड़ते हैं। इसके सिवा दूसरे सभी आचार सम्मिलित रहते हैं। धर्म की दृढ़ता के लिए इस आचार में वाह्य और कर्मपरक पूजा करनी पड़ती है। यह आचार कर्म-काण्ड-प्रधान है।

(२) **वैष्णवाचार** का साधक अन्ध-विश्वास से निकलकर ब्रह्म की इच्छाशक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है। यह भक्ति-प्रधान है।

(३) **शैवाचार** में धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के भाव से साधक प्रवेश करता है। इसमें भक्ति और अन्तर्लक्ष्य का मेल होता है। यह ज्ञान-प्रधान है।

(४) **दक्षिणाचार** में ब्रह्म की क्रिया, इच्छा और ज्ञान-शक्तियों की ध्यान-धारणा की जाती है। साधक गुणत्रय के सम्बन्ध का अनुभव करता और पूर्णाभिषेक की स्थिति प्राप्त करता है। इसी स्थिति में साधक दीक्षा ग्रहण कर वामाचार का अधिकारी होता है। उपर्युक्त चार आचारों को पार करने पर ही साधक इस स्थिति को प्राप्त करता है। ये चारों आचार दक्षिणाचार कहलाते हैं और जन्म से ही मनुष्य इनका अधिकारी है। यहाँ तक प्रवृत्तिमार्ग है।

(५) **वामाचार** में प्रवेश करने पर निवृत्ति-मार्ग ग्रहण होता है। इस मार्ग में प्रवृत्ति-की शक्ति का ऐसे ढंग से उपयोग किया जाता है कि वह अपने-आप विनष्ट हो जाय। इसमें केवल खाने-पीने और भोग की इच्छाओं का ही दमन नहीं किया जाता, साधक को आठ पाश भी तोड़ने पड़ते हैं। इस प्रकार वह शिवत्व को प्राप्त करता है।[1]

---

१. श्रीवंशीधरशुक्ल-कृत 'वाममार्ग'—पृष्ठ २२–२४

किन्तु, कहा है कि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक साधक वेदाचार से आरम्भ करे। यदि उसका जन्म वामाचारी वंश में हुआ है तो वह पूर्णरूप से वाममार्ग का अधिकारी है; क्योंकि वह अपने पहले के जन्मों में प्रारम्भिक आचारों को पूर्ण कर चुका होता है। परन्तु साधक को देवता की पूजा करने का तभी अधिकार प्राप्त होता है जब वह पञ्चशुद्धियाँ करता है—(१) आत्मशुद्धि, (२) स्थानशुद्धि, (३) मंत्रशुद्धि, (४) द्रव्यशुद्धि, और (५) देवताशुद्धि। स्नान, भूतशुद्धि, प्राणायाम, षडंगादि-न्यास आत्मशुद्धि है। पूजागृह को स्वच्छ रखना और उसे फूल-मालाओं से अलंकृत तथा सुवासित करना स्थान-शुद्धि है। मूलमंत्र को मिलाकर मातृकामंत्र का अनुलोम-विलोम जप करना मंत्रशुद्धि है। मूलमंत्र से अभिमंत्रित जल को पूजा-द्रव्यों पर छिड़ककर और उनको धेनु-मुद्रा दिखलाकर अमृतमय बनाना द्रव्यशुद्धि है। देवता को उपयुक्त पीठ (आसन) पर स्थापित कर, प्राणमंत्र से उसका आवाहन कर, उसे मूलमंत्र से तीन बार स्नान कराकर, वस्त्राभूषण पहनाकर, धूप-दीप-नैवेद्य अर्पित करके पूजन करना देवताशुद्धि है।

पञ्चमकार

पञ्चमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का उपयोग सिर्फ चक्रार्चन में ही विहित माना गया है, अन्यत्र नहीं। इसका अधिकारी पूर्णाभिषिक्त साधक ही होता है, दूसरा साधक नहीं। पञ्चमकार का उपयोग एकमात्र पूर्णज्ञान-प्राप्त साधकों के लिए ही विहित है। पञ्चमकार प्रलोभन की वस्तु है। यदि साधक इनके प्रलोभन में न पड़ा, तो उसका मार्ग स्पष्ट है; वह परमानन्द को प्राप्त होता है। किसी साधक के लिए यह हँसी-खेल का काम नहीं है कि उसके सम्मुख एक (नग्न) नवयौवना सुन्दरी बैठी हो और वह अचलभाव से भगवती के रूप में उसकी पूजा करता रहे। भगवती को अर्पित करने के लिए वह मद्यपान भी करता है; पर मदोन्मत्त होने के लिए नहीं, किन्तु एकाग्रचित्त होकर अपने इष्टदेव पर ध्यान जमाने के लिए। वह मांस, मत्स्य तथा अन्य सुस्वादु भोजन-सामग्री भी खाता है; पर इसलिए नहीं कि स्वादिष्ट पदार्थ हैं, बल्कि इसलिए कि धर्मकार्य में उसका शरीर पुष्ट बना रहे। पञ्चमकार के संग्रह का वस्तुतः यही उद्देश्य है। तांत्रिक साधक इन आनन्ददायक पदार्थों-द्वारा ईश्वर का सान्निध्य ही प्राप्त करने को यत्नवान होता है। ऐसी अवस्था में उसे अपने मनोविकारों को दबाना पड़ता है—भोगों को इष्टसिद्धि का साधन बनाना पड़ता है। कितना कठिन कार्य है! कितना विकट साधन है![1]

'कुलार्णव' के अनुसार व्यर्थ का मद्यपान वर्जित है। उसका विधान केवल चक्रार्चन में है, और वह भी पूर्ण अभिषिक्त साधकों के लिए ही।

तंत्र का महत्त्व उसकी साधना की विधि में है। वह विधि न तो केवल उपासना या पूजा है, न प्रार्थना या स्तवन, न इष्ट के आगे अपना दुखड़ा रोना, न अपने कर्मों का पश्चात्ताप करना। वह साधना पुरुष और प्रकृति को एक करने की क्रिया है।

---

१. वाममार्ग—पृष्ठ २६-२७

यह साधना शरीर के भीतर पुरुषतत्त्व तथा मातृतत्त्व का संयोग कराती है—सगुण को निर्गुण करने का प्रयत्न करती है। तांत्रिक साधना का उद्देश्य है अपने-आपको विराट् में मिलाना। तांत्रिक उपासना की चरमसीमा कौलाचार अवस्था है। इसमें कर्दम (कीच) और चन्दन, मित्र और शत्रु, श्मशान और गृह, स्वर्ण और तृण में भेद नहीं रह जाता। यह अवस्था प्राप्त करने पर ही साधक उस विराट् में मिलने में समर्थ होता है। भाव-चूड़ामणितंत्र में कहा है—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्ने पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथैव काञ्चने तृणे
न भेदो यस्य देवेशि स कौलः परिकीर्तितः।

इस प्रकार तंत्रशास्त्र का साधन तलवार की धार के सदृश है। तनिक फिसला कि अधोगति को प्राप्त हुआ।

पञ्चमकार तंत्रशास्त्र के प्राण हैं। परन्तु इनके यथार्थ सांकेतिक अर्थ के अज्ञान से तांत्रिकों के विषय में नितान्त भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनका रहस्य नितान्त गूढ़ है। जो इनसे बाह्य वस्तुओं का निर्देश समझते हैं वे वास्तविकता से बहुत दूर हैं। ये आभ्यन्तरिक अनुष्ठान के प्रतीक हैं।

मद्य बाहरी शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल-कमल से क्षरित होनेवाली सुधा है। इसीको पीनेवाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। इसी प्रकार, समस्त पाँचों मकारों का वास्तविक अर्थ दूसरा ही है।[1] परन्तु तामसिक वामाचारियों ने इन प्रतीकों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, प्रत्युत वे बाहरी भौतिक पदार्थों के सेवन को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। ऐसे ही लोगों ने चक्रपूजा को अनाचार का केन्द्र बना रखा है, जिसके कारण तंत्र के प्रति जनता में इतनी अनास्था, अश्रद्धा तथा घृणा के भाव भरे हुए हैं।

कौलों के आचार पर बाहरी अनार्यों—विशेषतः तिब्बती तांत्रिकों—का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है; क्योंकि शाक्तमत के प्रधानग्रन्थ 'कुलार्णव' में मद्य-मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी निन्दा की गई है। छद्म साधकों ने ही पञ्चमकार को इतनी विशेषता दी है, ऐसा जान पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि तंत्र के विषय में अनेक भ्रम फैल गये और आज तंत्र के नाम सुनते ही कितने लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। तंत्र के दार्शनिक विचार उदात्त तथा प्राञ्जल हैं जिन्हें छद्म साधकों ने अपने कलुषित व्यवहार से बदनाम कर दिया है।

तंत्र के तीन प्रधान विभाग हैं—(१) ब्राह्मणतंत्र, (२) बौद्धतंत्र और (३) जैनतंत्र।

ब्राह्मणतंत्र उपास्यदेव की भिन्नता के कारण अनेक प्रकार का है—(१) सौरतंत्र, (२) गाणपततंत्र, (३) वैष्णवतंत्र, (४) शैवतंत्र तथा (५) शाक्ततंत्र। इनमें प्रथम दो का प्रचार बहुत कम है, परन्तु अन्य तीनों की लोकप्रियता यथेष्ट मात्रा में है।

---

१. आर्य-संस्कृति के मूलाधार—पृष्ठ ३१५

वैष्णवतंत्र

आजकल पाञ्चरात्र ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है। पाञ्चरात्र-ग्रन्थों का स्पष्ट कथन है कि पाञ्चरात्र वेद का ही एक अंश है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से है। उत्पल (दशम शतादी) ने अपने 'स्पन्दकारिका' ग्रन्थ में पाञ्चरात्र-श्रुति तथा पाञ्चरात्र-उपनिषद् से अनेक उद्धरण दिये हैं। उत्पल कृत निर्देशों से पता चलता है कि दशम शताब्दी तक इस तंत्र के तीन भाग थे—पाञ्चरात्र-श्रुति, पाञ्चरात्र-उपनिषद तथा पाञ्चरात्र-संहिता।

भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय (प्राप्तिसाधन) हैं। बिना भगवान् के अनुग्रह के जीव भगवान् को नहीं पा सकता। भगवान् की शरणागति ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इस शरणागति-तत्त्व पर आग्रह दिखलाने के कारण इस तत्र का 'एकायन' नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है। पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम भागवतधर्म था। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य-योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पाञ्चरात्र हुई।

पाञ्चरात्र-तंत्रविषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन तथा विस्तृत है, परन्तु उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है। 'कपिञ्जल-संहिता' के अनुसार पाञ्चरात्र-संहिताओं की संख्या दो सौ पन्द्रह है, जिनमें १३ प्रकाशित हैं।

पाञ्चरात्र-संहिताओं के विषय चार हैं—(१) ज्ञानब्रह्म—जीवतत्त्व तथा जगत्-तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन और सृष्टितत्त्व का विशेष निरूपण; (२) योग—मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-सम्बद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन; (३) क्रिया—देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सागोपांग वर्णन; (४) चर्या—आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यंत्रों के पूजन का विस्तृत विवरण।[1]

शैवतंत्र

शैवतंत्र की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रंथों में बड़ा विवेचन है। कुछ विद्वान शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिक तंत्र वेदाधिकारियों के लिए तथा अवैदिक तंत्र वेदाधिकार-हीन व्यक्तियों के लिए माना गया है।

शैव-सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रचार दक्षिण देश के तामिल-प्रदेश में है। दक्षिण के शैव सन्तों में चार प्रमुख आचार्य हुए हैं—सन्त अय्यार, सन्त ज्ञानसम्बन्ध, सन्त सुन्दरमूर्ति तथा सन्त माणिक्कवाचक। ये तमिल-देश में शैव-धर्म के चार प्रमुख मार्गों के संस्थापक हैं—दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग और सन्मार्ग। इन भक्तों ने जिन शैवतंत्रों के तत्त्वों का प्रचार किया, वे शैव-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार अपरज्ञानरूप वेद केवल मुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञानरूप यही शिवशास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है। अवान्तरकाल में अनेक विद्वान शैवाचार्यों ने इन तंत्रों के सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया।

---

१. आर्य-संस्कृति के मूलाधार—पृष्ठ ३१८-२४

कश्मीर में प्रचलित शैव-आगम को प्रत्यभिज्ञास्पन्द या त्रिकदर्शन के नाम से पुकारते हैं। इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है।

इस प्रकार यद्यपि वैष्णव और शैवतंत्रों का भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रचार है; किन्तु केवल शाक्त-तांत्रिकों में ही पञ्चमकार की प्रधानता है। अतएव, साधारण बोलचाल में तांत्रिक से शाक्त-तांत्रिकों का ही बोध होता है।

शाक्तमत की व्यापकता भारतवर्ष में विशेष है। इसके पीठ भारत में अनेक हैं। उड्डीयान (उत्कल), जालन्धर, श्रीशैल, कामाख्या (आसाम) आदि शाक्तों के मान्य पीठ हैं। काठमाण्डू (नेपाल) में गुह्येश्वरी देवी का मन्दिर, जहाँ चरणामृत-प्रसाद में मद्य मिलता है, मुख्य स्थान है।

तंत्रों की उपादेयता

आज से कुछ दिन पहले तंत्र को बुरा-भला कहने की प्रथा-सी चल पड़ी थी। यह मान लिया गया था कि तंत्रों में पूजापाठ की आड़ में व्यभिचार को प्रोत्साहन दिया गया है और तांत्रिक क्रियाएँ उपासना के नाम पर मनुष्य की विषय-वासनाओं की तृप्ति के साधन हैं। रतिवासना की उच्छृङ्खल तुष्टि का बहाना तांत्रिक चक्रोपासना में मिलता है। अब धीरे-धीरे यह धारणा कम हो रही है। साधक के लिए तंत्राचार्यों ने जिन बातों की, विशेष परिस्थितियों में, अनुमति दे रखी थी उनका निस्सन्देह दुरुपयोग किया गया। परन्तु इससे तंत्रशास्त्र दूषित नहीं हो सकता। तंत्र-ग्रन्थों के अनुशीलन से कई आध्यात्मिक प्रश्नों के समझने में सहायता मिलती है। कठिनाई यह है कि तंत्रग्रन्थ जिस दुर्बोध-समाधि-भाषा में लिखे गये हैं, उसकी मीमांसा करना सुगम नहीं है। सच्चा साधक ही उसका ठीक-ठीक अर्थ लगा सकता है। किन्तु साधक प्रायः चुप रहना पसन्द करता है। इसके साथ यह भी निस्सन्देह सत्य है कि तांत्रिक उपासना की आड़ में मद्य-मैथुनादि के सेवन का अवसर मिलता है और बहुत लोग इसी लालच से इस ओर झुकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिक उपासना-पद्धति के विस्तार में ऐसे लोगों का हाथ रहा जो किसी भी दृष्टि से साधक नहीं कहे जा सकते।[1]

कुछ वर्ष हुए कलकत्ता-हाईकोर्ट के जज सर जान उडरफ ने आर्थर एवेलन के उपनाम से अंग्रेजी में अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा मूल तंत्र-ग्रन्थों का प्रकाशन भी। तब से अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ, और उनकी भावना अब बदल चली है। 'आगमानुसन्धान-समिति' (कलकत्ता) का कार्य इस दिशा में विशेष श्लाघनीय है।

---

१ श्रीसम्पूर्णानन्द-लिखित 'गणेश' पृष्ठ १६६

दुर्गासप्तशती में देवी की, परब्रह्म-परमात्मा के रूप में, स्तुति की गई है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥३॥

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च।
सा चण्डिकाखिलजगत्परिपालनाय
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥४॥

याः श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥५॥

हेतुः समस्त जगतां त्रिगुणापि दोषैर्न
ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥७॥

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥११॥

देवि प्रसीद परमा भवती भवाय
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि।
विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेत-
न्नीतं बलं सुविपुलं महिषासुरस्य ॥१४॥

ये सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः।
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥१५॥

धर्म्याणि देवि सकलानि सदैव कर्मा-
ण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादा-
ल्लोकत्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन ॥१६॥

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।
दारिद्र्य - दुःख-भय-हारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता ॥१७॥

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चण्डिके रक्ष दक्षिणे।
भ्रामणेनात्मशूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरी ॥२५॥

सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानि चात्यर्थघोराणि तैरक्षास्मांस्तथा भुवम् ॥२६॥

खड्गशूलगदादीनि यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके।
करपल्लवसङ्गीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः ॥२७॥

छठा परिच्छेद

सौरमत

ऋग्वेद में, सूर्य का, देवताओं में, महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिककाल में सूर्य की उपासना विशेषरूप से प्रचलित थी। प्रसिद्ध गायत्रीमंत्र सूर्य-परक है। अतएव, आज भी सनातनविधि से सन्ध्योपासना करनेवाले, चाहे वे किसी मत या सम्प्रदाय के क्यों न हों, सूर्य को अर्घ्य देते हैं, स्तुति एवं परिक्रमा करते हैं। ऋग्वेद में (७।६२।२), कौषीतकी ब्राह्मण-उपनिषद् में (२।७), आश्वलायनगृह्यसूत्र में और तैत्तिरीय-आरण्यक में सूर्योपासना के स्तोत्र, विधियाँ आदि दी हुई हैं। इनसे सूर्योपासना की व्यापकता सिद्ध होती है।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण सूर्य को परमात्मा का प्रतीक मानता हुआ अन्य देवों को सूर्य के अधीन मानता है। सूर्य को अपना इष्टदेव और सर्वोपरि देवता माननेवाले व्यक्ति 'सौर' कहलाते हैं। विशुद्ध सौर की संख्या आज भारत में बहुत कम है। वे लोग गले में स्फटिक-माला और ललाट में रक्तचन्दन का तिलक तथा लाल फूलों की माला धारण करते हैं। वे अष्टाक्षर मंत्र जपते हैं और रविवार तथा संक्रान्ति के दिन नमक नहीं खाते। सूर्य के दर्शन किये विना वे जलग्रहण करना भी पाप समझते हैं। अतएव, वर्षाकाल में उनलोगों को बड़ा कष्ट होता है। सम्भवतः इसी कारण इनकी संख्या नगण्य हो गई है। वेद में 'विष्णु'-शब्द सूर्य-पर्यायवाची है। अतः हम यह कह सकते हैं कि विष्णु-रूप में सूर्य की पूजा आज भी सर्व-व्यापी है। सौर-मतावलम्बी, सूर्य के मंत्र के जप आदि को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

शारीरिक व्याधियों और चर्मरोगों से त्राण पाने के लिए भी लोग सूर्य-व्रत और सूर्योपासना करते हैं। भविष्यपुराण में श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब की कथा है। उन्हें कुष्ठ हो गया था। उन्होंने सूर्य की विधिवत् उपासना करने और सूर्याराधन के अनुष्ठान के लिए शकद्वीप से 'मग' ब्राह्मणों को बुलवाया। आजकल के शाकद्वीपीय ब्राह्मण इन्हीं के वंशधर हैं। इन ब्राह्मणों ने मूलस्थान (मुलतान) में सूर्य-मन्दिर की स्थापना कराई।

भारत में पहले सूर्य की उपासना मंत्रों द्वारा होती थी। किन्तु जब मूर्ति-पूजा की चाल चली तब सूर्य की मूर्ति भी जहाँ-तहाँ स्थापित हुई। प्रसिद्ध चीनी यात्री 'हुएनसंग'

ने मुलतान में एक सूर्य-मन्दिर और सूर्य-प्रतिमा देखी थी, जो प्राचीनकाल में अपनी विशालता और महत्ता के लिए नितान्त प्रख्यात थी। महाराज हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन ने सूर्य-मंत्र ग्रहण किया था। शंकर-दिग्विजय में भी सौर-सम्प्रदाय का विवरण मिलता है।

भविष्यपुराण के अनुशीलन से, भारतवर्ष में सूर्यपूजा के प्रचारक मग-ब्राह्मणों का सम्बन्ध पारसी-धर्म से सिद्ध होता है। भविष्यपुराण (खण्ड १, अध्याय ४८) में लिखा है कि कृष्ण तथा जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने चन्द्रभागा नदी के तट पर सूर्य-मन्दिर की स्थापना की। परन्तु स्थानीय ब्राह्मण, पुजारी बनने के लिए, तैयार नहीं थे; अतः गरुड के द्वारा कृष्णचन्द्र ने शकद्वीप से मग-ब्राह्मणों को बुलाकर सूर्य-देवता का पुजारी बनाया।

एक प्राचीन वृत्त का भी यहाँ उल्लेख मिलता है। सुजिह्व नामक एक मिहिर-गोत्री ब्राह्मण की बेटी निक्षुभा पर भगवान् सूर्य मोहित हो गये। उससे जो उनका पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम 'जरशब्द' या 'जरशस्त्र' था। मग-ब्राह्मण उसी के वंशज हैं।

उत्कल-प्रदेश (उड़ीसा) में किसी समय सूर्योपासना का विशेषरूप से प्रचार था। कोणार्क की खुदाई में सूर्य-मन्दिर निकला है जिसको 'कोणादित्य' कहते हैं। ब्रह्मपुराण के अठाईसवें अध्याय में इस तीर्थ तथा तत्सम्बन्धी सूर्यपूजा का वर्णन है। कश्मीर में मार्तण्ड (सूर्य) की मूर्त्ति का भग्नावशेष मिला है। सुदूर जावाद्वीप में भी सूर्य की रथा-रूढ़ मूर्ति मिली है। ब्रह्मपुराण (३३।३४-४५) में सूर्य के १०८ नामों के साथ प्रार्थना की गई है।

इन बातों से ज्ञात होता है कि सौरमत का प्रचार कभी भारत में खूब था; किन्तु इस समय स्वतंत्र सूर्योपसकों का प्रायः अभाव है—यद्यपि हिन्दुओं में आज भी सूर्य की पूजा—प्रतिष्ठा काफी है। पञ्चदेवों और नवग्रहों में उनका प्रमुख स्थान है। सभी स्मार्त उनकी पूजा करते हैं। उत्तर-भारत में कार्तिक-शुक्ल-षष्ठी की संध्या और सप्तमी के प्रातःकाल में सूर्य की पूजा विशेष समारोह से होती है। प्रतीत होता है कि विष्णु की पूजा परमात्मा के रूप में प्रचलित हो जाने पर स्वतंत्ररूप से सूर्य की उपासना मन्द पड़ गई और अन्त में प्रायः नाम-शेष हो गई।

समस्त श्रुतियाँ, भविष्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्मपुराण, रामायण (आदित्य-हृदय), बृहत्संहिता, सूर्यशतक, सौर-संहिता, शाम्बपुराण, सूर्यपुराण आदि प्रसिद्ध सौर-साहित्य हैं। ब्रह्मपुराण के ३३ वें अध्याय में, निम्नलिखित श्लोकों में, सूर्य का, सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अनेक रूपों से तादात्म्य किया गया है।

आदिदेवोऽसि देवानामैश्वर्यश्च त्वमीश्वरः।
आदिकर्त्तासि भूतानां देवदेवो दिवाकरः॥
जीवनः सर्वभूतानां देव - गन्धर्व - रक्षसाम्।
मुनि - किन्नर - सिद्धानां तथैवोरग - पक्षिणाम्॥

त्वं ब्रह्मा त्वं महादेवस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः।
वायुरिन्द्रश्च सोमश्च विवस्वान् वरुणस्तथा॥
त्वं कालः सृष्टिकर्त्ता च हर्त्ता भर्त्ता तथा प्रभुः।
सरितः सागराः शैला विद्युदिन्द्रधनूंषि च॥
सहस्रांशुः सहस्रास्यः सहस्रचरणेक्षणः।
भूतादिर्भूर्भुवः स्वश्च महः सत्यं तपोजनः॥
नमोनमः कारणकारणाय नमोनमः पापविमोचनाय।
नमो नमस्ते दितिजार्दनाय नमो नमो रोगविमोचनाय॥
नमोनमः सर्ववरप्रदाय नमोनमः सर्वसुखप्रदाय।
नमोनमः सर्वधनप्रदाय नमोनमः सर्वमतिप्रदाय॥

३३।९-१२; ३३।१५; ३३।२२-२३

सातवाँ परिच्छेद

गाणपतमत

विद्वानों का मत है कि गणेशजी वैदिक देवता हैं; परन्तु इनका नाम वेदों में 'गणेश' न होकर 'ब्रह्मणस्पति' है। वेद में, ब्रह्मणस्पति के नाम से, अनेक सूक्तों में, जिनकी स्तुति है वे ही इतिहासयुग और पुराणकाल में 'गणेश' नाम से विख्यात हुए। ऋग्वेद-संहिता (२ । २३ । १) में सर्वप्रथम 'गणपति' का स्तवन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीदसादनम् ॥

अर्थात्—हे ब्रह्मणस्पति, तुम देवों में गणपति और कवियों में कवि हो। तुम्हारा अन्न सर्वोच्च और उपमानभूत है। तुम प्रशंसनीय लोगों में राजा, और मंत्रों के स्वामी हो। हम तुम्हें बुलाते हैं। तुम हमारी स्तुति सुनकर आश्रय प्रदान करने के लिए यज्ञगृह में बैठो।

यह स्तवन वाजसनेयि-संहिता (२३ । १९) में भी है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में 'ब्रह्मणस्पति' का अर्थ वाक्पति अर्थात् वाणी का स्वामी कहा है। 'गणपति' शब्द का अर्थ है—'गणों का पति'। इसी अर्थ में, गणों के ईश होने के कारण, उन्हें 'गणेश' कहते हैं। गणपति को महाहस्ती, एकदन्त, वक्रतुण्ड तथा दन्ती भी कहते हैं। इन नामों का आधार वेद का निम्नलिखित मंत्र है। (ऋग्वेद ८।८१।१ बालखिल्य के साथ अन्यथा ८।७०।१; तथा सामवेद, मंत्र १६७ और ७२८)—

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ।
एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ।[1]

शुक्लयजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पच्चीसवें मंत्र में भी 'गणपति' शब्द आता है। **'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः'**—अर्थात् गणों को और आप गणपतियों को प्रणाम है। पुनः गणपति का उल्लेख, शुक्लयजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के उन्नीसवें मंत्र में, इस प्रकार है—

---

१. श्रीबलदेव उपाध्याय—'धर्म और दर्शन'—पृष्ठ २३

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे
निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम।

अर्थात्—यजमान की पत्नी कहती है—मनुष्यादि के गण (समुदाय) में अधिष्ठाता रूप से विद्यमान तुम्हारा आह्वान करती हूँ। संसार के सकल प्रिय पदार्थों में सबसे अधिक प्रिय होने के कारण, तथा सर्वोपरि रक्षक होने के कारण, प्रिय पतिरूप आपका मैं आह्वान करती हूँ। विद्यादि पोषणकारक सुख-निधियों में पतिरूप से विद्यमान आपका मैं आह्वान करती हूँ। जिनमें सब प्राणी बसते हैं ऐसे 'वसु' नामक परमात्मन्, मेरे भी रक्षक होइए।

अतएव, अन्य पौराणिक देवता विष्णु, शंकर, दुर्गा, सूर्य आदि की तरह गणेश का भी मूलरूप वेद में मिलता है, जो धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होकर वर्त्तमान रूप में दृष्टिगोचर होता है। अग्निपुराण का ७१ और ३१३ अध्याय तथा गरुडपुराण का २४ वाँ अध्याय गणेश-परक है। गणेश का रूप विचित्र है; किन्तु इस रूप के लिए पुराण में समुचित कथानक वर्णित है। इस रूप के द्वारा जिस अव्यक्त भावना को व्यक्त रूप दिया गया है वह नितान्त मनोरम है। अन्तर्निहित गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व को जिस ढंग से इस रूप द्वारा सर्वजन-संवेद्य बनाने की कल्पना की गई है वह वास्तव में अत्यन्त सुन्दर है। गणपति के बाह्यरूप को समझना क्या है, उनके आभ्यन्तरिक गुह्य सत्यरूप की पहचान करना है। उनके रहस्य को जानने के लिए यह भी मूल्यवान कुंजी है।

श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने अपनी पुस्तक 'गणेश' में यह प्रमाणित किया है कि गणेश वैदिक देवता नहीं हैं; किन्तु मूलतः अनार्यों के देवता हैं और आर्य-अनार्य-मिश्रण के बाद कालान्तर में मुख्य आर्य-देवता हो गये। आपका विचार है कि ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचा में जो 'ब्रह्मणस्पति' शब्द आया है उसका अर्थ है बृहस्पति। सायण के अनुसार 'ब्रह्म' का अर्थ 'मंत्र' है। अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ 'मंत्रों का स्वामी' हुआ। यह उपाधि बृहस्पति को दी जाती है। ऐतरेयब्राह्मण (१।२१) स्वयं कहता है कि ब्रह्मणस्पति बृहस्पतिवाचक है।

शुक्ल-यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पचीसवें मंत्र में भी 'गणपति' शब्द आया है। 'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः'—अर्थात् गणों को और गणपतियों को प्रणाम। महीधर अपने भाष्य में लिखते हैं—देवों के अनुचर भूतविशेष गण होते हैं, उनके पालक गणपति कहलाते हैं।

यज्ञ-देवताओं में गणेश की कहीं गणना नहीं है। संहिताओं में गणेशजी के प्रचलित नामों में से एक 'गणपति' को छोड़कर दूसरा कोई नाम नहीं मिलता और यह 'गणपति' शब्द जहाँ-कहीं आया है वहाँ ऐसा प्रसंग है कि गणेशजी का अर्थ लग ही नहीं सकता। शुक्ल-यजुर्वेद के ग्यारहवें अध्याय के पन्द्रहवें मंत्र में अश्व का आवाहन करके उससे कहा है कि तुम यहाँ आओ, तुमको रुद्र का गणपतित्व प्राप्त होगा और दूसरी पंक्ति में गधे को आहूत किया गया है।

किन्हीं मुख्य उपनिषदों में गणेशजी का नाम नहीं मिलता; पर इस कमी की पूर्ति गणपत्युपनिषद्, जिसको गाणपत्यवशीर्षोपनिषद् भी कहते हैं, कर देता है। इस उपनिषद्

की गणना साम्प्रदायिक उपनिषदों में ही है, जो गणेश की प्रतिष्ठा होने के बहुत बाद की बनी हुई है।

गणेश और उनकी उपासना ने श्रौत-वाङ्मय में बहुत पीछे स्थान पाया। संहिताओं में उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। श्रुति में ३३ देवों की बारम्बार चर्चा होती है; किन्तु इनमें स्पष्टतया गणेश नहीं हैं। किसी भी वैदिक देव-सूची में गणेशजी का किसी भी नाम से अन्तर्भाव नहीं होता। जिन स्थलों में गणपति शब्द के आने से गणेश का बोध हो सकता था, वहाँ हम देखते हैं कि गणेश का अर्थ नहीं लिया जा सकता। प्रामाणिक ग्रन्थ भी यह बतलाते हैं कि वह मंत्र गणेश-विषयक नहीं है। ऐतरेय-ब्राह्मण, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है, गणपति नाम के विषय में कहता है (१।२१) कि वह ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति का वाचक है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक के पहले अनुवाक् में '**तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्**' वाक्य आया है। इसमें यह प्रार्थना की गई है कि 'दन्ती' हमको प्रेरित करे। 'दन्ती' का अर्थ हुआ दाँतवाला। उनका विशेषण है 'वक्रतुण्ड' (टेढ़े सूँड़वाला)। ऐसी दशा में स्वभावतः गणेशजी के 'एकदन्त, एकरद'-जैसे नामों की ओर ध्यान आता है और यह अनुमान होता है कि 'दन्ती' गणेशजी का ही नाम है। 'वक्रतुण्ड' शब्द इस अनुमान की पुष्टि करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि दन्ती को वक्रतुण्ड के साथ-साथ तत्पुरुष भी कहा गया है। रुद्र के पाँच मुख्य नाम हैं—(१) ईशान, (२) सद्योजात, (३) अघोर, (४) वामदेव, और (५) तत्पुरुष। दन्ती को तत्पुरुष कहने से यह ज्ञात होता है कि वह रुद्र से अभिन्न माना जाता था, और रुद्र के ही विग्रह-विशेष का नाम दन्ती था।

इस तरह वेदों में तो गणेशजी हमको नहीं मिलते; परन्तु पुराणों में सर्वत्र उनकी चर्चा है। तंत्र में तो उनके ऐसे-ऐसे विग्रह देखने को मिलते हैं, जिनके सामने चकित रह जाना पड़ता है। बुद्धदेव के समय देवसूची में थे या नहीं, यह कहना कठिन है। बुद्धदेव ने ब्रह्मा, इन्द्र तथा कुछ और देवों के नाम लिये हैं; परन्तु गणेश का नाम कहीं नहीं लिया है। महावीरस्वामी ने भी गणेश का नाम नहीं लिया है।

अब, प्रश्न यह है कि श्रुतिकाल के पीछे और पुराण-निर्माण-काल के पहले गणेशजी कहाँ से आकर देव-श्रेणी में सम्मिलित हो गये। वेदकाल से पुराणकाल तक आते-आते कुछ देवों का पद गिरा और कुछ का उठा है। इन्द्र, वरुण, अग्नि की प्रतिष्ठा विशेषरूप से घट गई। उधर विष्णु और रुद्र बहुत आगे बढ़ गये। परन्तु वैदिक वाङ्मय में अस्तित्व न रखते हुए भी देवों में अग्रगण्य बन जाना गणेशजी का ही काम था। पुराण-काल के पहले ही महायान-बौद्ध-सम्प्रदाय का विकास हो गया था। गणेशजी उसमें भी स्थान पा चुके थे।

आर्य और अनार्य घुल-मिल गये; आर्यों ने अपने विजित अनार्यों के कुछ उपास्य देवों को अपनाया; नाग, शीतला, भैरव आदि अनार्य देव हैं; प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी की पूजा हमने इन्हीं लोगों से पाई; गणेश भी हमको इसी प्रकार मिले।

गणेश के अनार्य-देवता से आर्य-देवता की कोटि में आने में सैकड़ों वर्ष का इतिहास छिपा है। मानवाकृति आर्य-देवों के बीच एक गजमुख देव आ बैठा। बहुत विरोध के बाद आर्य-बुद्धि ने देव के कन्धे पर पशु के सिर का होना स्वीकार किया। जब अस्वीकार करना शक्ति के बाहर हो गया तब मान लेना पड़ा। शरीर के साथ-साथ उनके स्वभाव का भी संस्कार हुआ। विघ्नकर्त्ता तो अब भी रह गये; परन्तु उनके चरित्र के इस पहलू की ओर से यथा-शक्ति दृष्टि फेर ली गई और वे अमंगलकर्ता ही नहीं, प्रत्युत मंगलकर्ता के रूप में प्रस्तुत किये गये। गणेशजी क्रूरकर्मा थे। उनकी पूजा डर से की जाती थी, प्रेम से नहीं। इसलिए उनको उग्र स्वभाववाले रुद्र के गणों में स्थान दिया गया और पुराणों में जाकर वे रुद्र के पुत्र हो गये। मंत्र के विना देव-पूजा होती कैसे? अतएव वेद के सब मन्त्र, जिनमें 'गणपति' शब्द आया है, गणेशजी के दिये गये—यद्यपि वेद ने कहीं ऐसा आदेश नहीं दिया है, और श्रौत-सूत्र-काल तक भी ऐसा नहीं माना जाता था।

श्रीबलदेव उपाध्याय की राय है कि—'उपर्युक्त विचारधारा उचित तर्क के ऊपर आश्रित नहीं है। गणेश का 'विनायक' नाम से उल्लेख सामवेद के 'सामविधान' नामक ब्राह्मण में किया गया है। दस मंत्रों की एक विशिष्ट संहिता 'वैनायकी संहिता' कहलाती है, जिसके प्रयोग से विनायक प्रसन्न होते हैं। ऋग्वेद के ब्रह्मणस्पति के सूक्तों में ऐसी कोई बात नहीं है जो गणपति पर नहीं घटती। गणपति के अनगढ़ रूप से उन्हें अनार्य-देवता मानना नितान्त अनुचित है। आर्य-देवता के दो रूप होते हैं—एक जिसमें दण्ड का विधान है (उग्रमूर्ति) और दूसरा जिसमें दया का (सौम्यमूर्ति)। 'रुद्र' उग्र-मूर्ति के प्रतीक हैं तो शिव सौम्यमूर्ति के। इसी प्रकार गणेश का भी रूप समझना चाहिए।'

अतः यह बहुत विवाद-ग्रस्त विषय है कि गणेश मूलतः वैदिक देवता हैं अथवा अनार्य-देवता। किन्तु इसमें सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है कि पौराणिक देवताओं में गणेश का अग्रगण्य स्थान है और पञ्चदेवों में भी इनकी गणना प्रमुख है।

गणेश का रूप

गणेश के सर्वाङ्ग एक प्रकार के नहीं हैं। मुख है गज का, कण्ठ के नीचे का भाग है मनुष्य का। उनकी देह में नर तथा गज का अनुपम सम्मिलन है। गज कहते हैं साक्षात् ब्रह्म को। समाधि के द्वारा योगिजन जिसके पास जाते हैं—जिसे प्राप्त करते हैं, वह हुआ 'ग' (**समाधिना योगिनो यत्र गच्छन्तीति गः**); तथा जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है वह 'ज' है (**यस्मात् बिम्ब-प्रतिबिम्बतया प्रणवात्मकं जगत् जायते इति जः**)। विश्वकारण होने से वह ब्रह्म गज कहलाता है। गणेश का उपरिभाग गजाकृति है अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म है। उपरिभाग श्रेष्ठ अंश होता है। मस्तक देह का राजा है। अतः गणपति का यह अंश भी श्रेष्ठ है; क्योंकि यह निरुपाधि—मायानवच्छिन्न ब्रह्म का संकेतक है। नर से अभिप्राय मनुष्य—जीव-सोपाधि ब्रह्म से है। अधोभाग उपरिभाग की अपेक्षा निकृष्ट होता है।

इस प्रकार गणपति के आध्यात्मिक रहस्य एवं भौतिक रूप का सुन्दर विवेचन श्रीबलदेव उपाध्याय ने किया है। आपने उनके भिन्न-भिन्न नामों का, उनके सूर्पकर्ण होने का, उनके मूषकवाहन होने का रहस्य मनोरम भाषा में स्पष्टतया व्यक्त किया है, जो पठनीय है।[१]

गणेश की मूर्ति साक्षात् ओंकार-सी प्रतीत होती है, परंतु मूर्ति पर दृष्टिपात करने से ही इसकी प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत शास्त्रों में भी गणेशजी ओंकारात्मक माने गये हैं। अतः ओंकारात्मक होने के कारण गणेश का सब देवताओं से पहले पूजा पाना उचित है।

गणपति के उपासकों का भाव है कि महागणपति (परमात्मा) ने अपनी इच्छा से अनन्त विश्व में अनन्त ब्रह्माण्ड रचे और हर ब्रह्माण्ड में अपने अंश से त्रिमूर्ति प्रकट की। इसी दृष्टि से, सभी सम्प्रदाय के हिन्दुओं में, सभी मंगलकार्यों के आरम्भ में, गौरी-गणेश की पूजा होती है; यात्रा के आरम्भ में गणेश का स्मरण किया जाता है; पुस्तक-पत्र, खाता-बही आदि के आरम्भ में 'श्रीगणेशाय नमः' लिखने की पुरानी प्रथा चली आती है; समस्त विघ्नों के नाश की शक्ति गणेश में विद्यमान है। इसीलिए गृह-प्रवेश-द्वार पर गणेश की मूर्ति स्थापित की जाती है।

गाणपत-सम्प्रदाय

प्राचीन काल में गणपति का उपासक एक विशिष्ट सम्प्रदाय था, जो गाणपत के नाम से पुकारा जाता था। पेशवालोग गणपति के उपासक थे। अतएव, आज भी बंगाल की दुर्गापूजा और सरस्वतीपूजा की तरह, महाराष्ट्र में, गणपति-पूजा, भाद्र-शुक्ल-चतुर्थी को बड़े समारोह के साथ की जाती है। गणेश-चतुर्थी-व्रत तो सारे देश में मान्य है।

गाणपत-सम्प्रदाय तांत्रिक भी था, जिसमें भिन्न-भिन्न गणपति की उपासना, फल की भिन्नता के कारण, भिन्न-भिन्न रूप से की जाती थी। गाणपतों में छः भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे, जिनकी उपासना-पद्धति में भिन्नता तथा विशेषता थी। इनमें उच्छिष्ट गणपति की पूजा शाक्तों के वामाचार के ढंग की होती थी।

गणपति-मन्दिर

गणपति का मन्दिर सारे भारतवर्ष में है। श्रीरंग में पहाड़ के ऊपर, जिसको 'गोल्डेन रॉक' (स्वर्ण-शिला) कहते हैं, सबसे बड़ा मन्दिर है।

सारांश, यद्यपि गणपति आदिदेव और अनादिदेव—दोनों माने जाते हैं और विघ्न-विनाशक होने के कारण गणपति की पूजा देशव्यापी है—तथापि त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—को उत्पन्न करनेवाले परमात्म-स्वरूप गणपति के उपासक शुद्ध गाणपत आज भारत में बहुत कम मिलेंगे।

बौद्ध-धर्म में गणपति का स्थान

बौद्ध-धर्म में भी गणपति की महिमा का बखान कम कुतूहल की बात नहीं है। महायान के तांत्रिक-सम्प्रदायों ने विनायक की कल्पना को ग्रहण कर उसे महत्त्वपूर्ण स्थान

१ 'धर्म और दर्शन'—पृष्ठ २४-२५

दिया है। नेपाल में बौद्ध-धर्म के साथ-साथ गणपति की पूजा होती है। खेतान और चीनी तुर्किस्तान में भी गणेश की उपासना प्रचलित है। तिब्बत के प्रत्येक मठ के अधिरक्षक देवता के रूप में गणपति की पूजा आज भी होती है। चीन में गणेश की मूर्ति दो नामों तथा रूपों से विख्यात है— (१) विनायक, (२) कांगीतेन। चीन में तांत्रिक बौद्धों ने अपने देवताओं में गणपति को ऊँचा स्थान दिया। सुदूर अमेरिका में भी गणेश की मूर्ति मिली है। इस प्रकार गणेश की पूजा चीन से लेकर बालीद्वीप तक तथा अमेरिका से लेकर भारत तक प्रचलित थी। गणपति की पूजा स्मार्त हिन्दू निम्नलिखित स्तोत्र से करते हैं। यह स्तोत्र वराहपुराण में मिलता है—

नमस्ते गजवक्त्राय नमस्ते गणनायक।
विनायक नमस्तेऽस्तु नमस्ते चण्डविक्रम॥
नमोऽस्तु ते विघ्नकर्त्रे नमस्ते सर्पमेखल।
नमस्ते रुद्रवक्त्रोत्थ प्रलम्बजठराश्रित॥
सर्वदेवनमस्काराद्विघ्नं कुरु सर्वदा।

इस पौराणिक स्तोत्र के सिवा निम्नांकित वैदिक मंत्र भी गणेश-पूजा के लिए प्रचलित है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमात्वमयासि गर्भधम्।

(शुक्ल-यजुर्वेद, अध्याय २३, मंत्र १६)

आठवाँ परिच्छेद
धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र वेदों का सार और सूत्र-रूप समझा जाता है। इसी पर समाज निर्भर है। भारतीय धार्मिक साहित्य में स्मृतियों का एक विशिष्ट स्थान है। धार्मिक बातों में स्मृतियों से अधिक मान्य कोई ग्रन्थ नहीं है। यद्यपि वेदों की मर्यादा और प्रतिष्ठा सर्वोपरि है तथापि स्मृतियों में धर्मशास्त्र अधिक विकसित रूप में है।

वेद में जो 'मनु' का नाम और चरित्र आया है, वह अतीत और अनागत सभी मनुओं का है, न कि 'मनु' नामक व्यक्ति-विशेष का। प्रत्येक मन्वन्तर में 'मनु' हुआ करते हैं—ऐसा बोध कराना ही उसका तात्पर्य है। विद्वानों की यह भी राय है कि जैसे पुराणवाचकों को 'व्यास' कहने की प्रथा लोक में आज भी प्रचलित है, वैसे ही 'मनु' शब्द भी पुरुष-विशेष का नाम नहीं है; किन्तु स्मृति के उद्धारक और प्रवर्तक पुरुषों की सामान्य उपाधि है।

पहले कहा गया है कि 'कल्प' नामक वेदांग के भीतर 'धर्मसूत्र' नामक अंश है। यही धर्मशास्त्र कहलाता है। इसे ही स्मृति भी कहते हैं। वेदों में धर्मशास्त्र के नियमों का उल्लेख आनुषंगिक रूप में ही प्राप्त होता है। श्रीबलदेव उपाध्याय की राय है कि संहिताओं के अनुशीलन से विवाह, उसके प्रकार, पुत्रों के विभिन्न भेद, दत्तकपुत्र के विधान, धनविभाग, दायभाग, श्राद्ध और स्त्रीधन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का परिचय हमें प्राप्त होता है। परन्तु यह सामग्री व्यवस्थितरूप से एक स्थान पर प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत भिन्न-भिन्न मंत्रों के अनुशीलन से हम इन विषयों का किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु धर्मशास्त्र में इन सिद्धान्तों का विशाल भण्डार स्मृति ही है।

इतिहास, पुराण और कतिपय धर्मशास्त्रों में बहुसंख्यक स्मृतियों तथा उप-स्मृति-ग्रन्थों का उल्लेख है। पर उनमें से अधिकतर अप्राप्य हैं। जो उपलब्ध हैं उनमें अधिकांश खण्डित मिलते हैं। कई स्मृतियों में प्रतिपाद्य विषय बिखरे हुए हैं। जो दस-बारह स्मृतियाँ पूर्णतया उपलब्ध हैं वे भी अनेक कारणों से विकृत हो गई हैं।

विशिष्ट अर्थ में 'स्मृति' शब्द से धर्मशास्त्र के उन्हीं ग्रन्थों का बोध होता है, जिनमें प्रजा के लिए उचित आचार-व्यवहार, व्यवस्था और समाज के शासन के निमित्त नीति-

सदाचार-सम्बन्धी नियम स्पष्टतया दिये रहते हैं। हिन्दुओं के षोडश संस्कारों (उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि) का विशिष्ट वर्णन इन स्मृतियों में पाया जाता है। भारतीय समाज की व्यवस्था जानने के लिए स्मृतियों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

मनु

मानव-धर्मशास्त्र के आदिकर्त्ता आदि प्रजापति स्वयं 'मनु' समझे जाते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में इन्हीं मनु के प्रसंग में मत्स्यावतार की कथा कही गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसा प्रसंग आया है कि मनु ने अपने पुत्रों में सम्पत्ति का विभाग किया। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ मानव-धर्मशास्त्र के अवतरण आये हैं वहाँ सूत्ररूप में हैं और प्रचलित मनुस्मृति के श्लोकों से नहीं मिलते। किन्तु आज मानवधर्मशास्त्र सूत्र-रूप में उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वर्तमान 'मनुस्मृति' सूत्र-मनुस्मृति के अभाव में, बाद रची गई और उसे प्रतिष्ठा देने तथा प्रामाणिक बनाने के खयाल से, मनु के नाम से, प्रचलित किया गया। परन्तु, यह ठीक नहीं। सूत्रात्मक मनुस्मृति का कहीं भी उल्लेख नहीं है। जो हो, यह निर्विवाद है कि मनुस्मृति सब स्मृतियों में प्रधान और सबसे पुरानी है और जो विषय उसमें दिये हुए हैं वे थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ दूसरे स्मृतियों में भी दिये हुए हैं।

वैदिक काल में, जब आर्य व्यवस्थितरूप से ग्राम में बस गये तब गणनायक (निर्वाचित सभापति) अथवा राजा की तथा नियमों की भी आवश्यकता हुई। दण्डनीतिशास्त्र बना, जिसमें चोरों का नाश और धन की रक्षा आदि की व्यवस्था की गई। प्राचीन वैदिक युग के धर्मशास्त्र की पूरी सूची महाभारत के शान्तिपर्व में दी हुई है। यह सूची ऐसी सर्वग्राही है कि उससे अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि कोई विद्या नहीं बचती। वह सर्वांगपूर्ण पुस्तक थी। दुर्भाग्यवश वह आज उपलब्ध नहीं है। उस सूची से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के अनुशासन-काल में व्यक्ति और समाज दोनों का विस्तार, अत्यन्त दृढ़ता और गम्भीरता से, चल रहा होगा—उस सर्वग्राही अनुशासन और संयम में कोई व्यक्ति उससे अछूता बचा नहीं होगा।

कहते हैं, भीष्म-पितामह के समय में बृहत् धर्मशास्त्रग्रन्थ था, जो बार्हस्पत्य-शास्त्र के नाम से विख्यात था। इसका उल्लेख शान्तिपर्व में हुआ है। शुक्र की औशनस नीति, जो एक हजार अध्याय की कही जाती है, आज उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः 'शुक्रनीति' उसी का सार है।

स्मृतियों का विषय

स्मृतियों के विषय प्रधानतया तीन हैं—(१) आचार, (२) व्यवहार और (३) प्रायश्चित्त।

(१) आचार के अन्तर्गत चारों वर्णों के कर्तव्य-कर्मों का विधान है। गृहस्थ का धर्म, उसका कर्तव्य, अन्य आश्रमों के प्रति उसका व्यवहार; वानप्रस्थ का जीवन, उसका कर्तव्य; सच्चे संन्यासी का लक्षण, उसका धर्म, उसका दैनिक आचार, उसकी वृत्ति; ऐसे अन्य

अनेक विषयों का रोचक वर्णन स्मृतियों में है। विद्यार्थी के रहन-सहन, कर्तव्य, व्यवहार आदि का वर्णन भी आचार के अन्तर्गत है। इन सामाजिक विषयों के अतिरिक्त राजा के कर्तव्य, प्रजा के प्रति उसके व्यवहार, उसके द्वारा दण्डविधान के पालन आदि का भी विस्तृत विवेचन है।

(२) स्मृतियों में वर्णित दूसरा विषय 'व्यवहार' है, जिसे आजकल की भाषा में 'कानून' कहते हैं। इसके अन्तर्गत आजकल के फौजदारी और दीवानी के सभी कानून आते हैं। फौजदारी कानून के अन्तर्गत दण्ड और उसके प्रकार, साक्षी और उसके प्रकार, शपथ, अग्निशुद्धि, व्यवहार की प्रक्रिया, न्यायकर्त्ता के गुण, न्याय—निर्णय का ढंग आदि वर्णित हैं। इसके सिवा सीमा का निर्णय, सम्पत्ति का विभाजन, दाय के अधिकारी, दाय का अंश, कर-ग्रहण (मालगुजारी की वसूली) की व्यवस्था आदि दीवानी और माल के कानून भी वर्णित हैं।[1]

(३) प्रायश्चित्त-खण्ड में धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों के न करने अथवा उनकी अवहेलना करने से जो पाप होते हैं उनके प्रायश्चित्त का विधान है।

धर्मशास्त्र के तीन प्रकार

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत सूत्रग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ एवं निबन्ध-ग्रन्थ हैं। सूत्रग्रन्थ अति प्राचीन हैं। उनका समय ईसवी पूर्व ६०० से १०० समझा जाता है। उनमें सूत्ररूप में चारों आश्रमों के रूप और कर्म तथा विवाह एवं आचार, स्नातक के लक्षण एवं कर्त्तव्य, राजधर्म, दण्डविधान, साक्ष्य के नियम, श्राद्ध-विधि, उपाकर्म, स्त्रीधर्म, नियोग-विधि आदि कथित हैं। पापनाशक जप-तप का विधान, दायभाग, दत्तक-विधान, सन्ध्या-मंत्र, महायज्ञ, वेदों की अध्ययन-प्रणाली तथा प्रायश्चित्तों के नाना प्रकारों का भी वर्णन है। सूत्र ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध और मान्य गौतम-धर्मसूत्र, बौधायन-धर्मसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र और वसिष्ठ-धर्मसूत्र हैं। इनके अतिरिक्त विष्णु, हारीत तथा वैखानस के धर्मसूत्र भी उपलब्ध हैं।

सूत्रग्रन्थों के बाद 'स्मृतियों' का नम्बर आता है। सामान्यरूप से इनका समय २०० ई० पू० से ८०० ई० तक समझा जाता है। इनका साहित्य बड़ा विशाल तथा विस्तृत है। इनमें विषय-बाहुल्य अथवा व्याख्या-विवेचन की दृष्टि से 'मनुस्मृति' तथा 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मनुस्मृति में आचार एवं याज्ञवल्क्य में व्यवहार (कानून) से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की प्रधानता है। इन दो के अतिरिक्त पन्द्रह स्मृतियाँ आज उपलब्ध हैं—(१) पराशर, (२) नारद, (३) बृहस्पति, (४) कात्यायन, (५) अंगिरा, (६) दक्ष, (७) पितामह, (८) पुलस्त्य, (९) प्रचेतस्, (१०) प्रजापति, (११) मरीचि, (१२) यम, (१३) विश्वामित्र, (१४) व्यास एवं (१५) हारीत।

मनुस्मृति

स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है। इसमें १२ अध्याय तथा २६९४ श्लोक हैं। इसकी शैली बड़ी रोचक तथा प्रभावोत्पादक है। महाभारत से इसका सम्बन्ध बड़ा

१—पं० बलदेव उपाध्याय

ही घनिष्ठ है। इसमें अनुक्रम तथा विस्तार से सभी विषय वर्णित हैं। पहले अध्याय में सृष्टि-विषयक अनेक ज्ञातव्य बातें हैं। दूसरे में धर्म के लक्षण, उसके निदान तथा ब्रह्मचर्य्य के नियम हैं। तीसरे-चौथे-पाँचवें में विवाह, उसके प्रकार, गृहस्थ-धर्म, श्राद्ध, विहित तथा निषिद्ध भोजन का सांगोपांग विवेचन है। छठे में परिव्राजक तथा संन्यासी के लिए नियम हैं। सातवें में राजधर्म और आठवें तथा नवें में कानून का विस्तृत विवरण है। दसवें में वर्णसंकर, म्लेच्छ, काम्बोज आदि जातियों के आचार वर्णित हैं। ग्यारहवें में प्रायश्चित्त तथा बारहवें में मोक्ष और उसके साधनों का विवेचन है।

इस प्रकार, मनुस्मृति में वेदोत्पत्ति-कथा के अतिरिक्त मनुष्य के गर्भाधान से देहावसान तक के कार्यों का यथार्थ स्वरूप बतलाया गया है। लिखा है कि धर्म-निर्णय में यदि कोई विवाद हो, तो वेद और धर्मशास्त्र जाननेवाले दस या तीन ब्राह्मणों को बुलाकर निर्णय करावे और तदनुसार काम करे। मनु ने कहा है कि प्रेत के निमित्त बनाया हुआ अन्न नहीं खाना चाहिए तथा सूतिका का अन्न दस दिन तक नहीं खाना चाहिए। प्रसूता गौ का दूध भी दस दिन तक न पीवे,—ऐसा वचन आया है। सूदखोर के अन्न को विष्ठा-सदृश और वेश्या के अन्न को वीर्य-सदृश कहा है। जो नर्त्तकी के द्वारा अपनी जीविका चलाता है, जिसे समाज ने दोषी ठहराया है, जिसने बड़े भाई के अविवाहित रहते अपना विवाह किया है और जो जुआड़ी है उसका अन्न खाने से निषेध किया है। बायें हाथ से लाये हुए, बासी, जूठे अथवा कुटुम्बियों से छिपाकर अपने लिए रखे हुए खाद्यपदार्थ का व्यवहार अमान्य ठहराया है। जो पदार्थ आटा, ईख के रस, शाक और दूध को बिगाड़कर बनाया गया है उसे भी खाने से मना किया है। कहा है कि धर्मात्मा पुरुष को चाहिए कि यश के लोभ से, भय के कारण अथवा प्रत्युपकारस्वरूप किसी को दान न दे। जिसने वेदाध्ययन नहीं किया है उस ब्राह्मण को भी दान देना उचित नहीं है; ऐसा करने से दान देनेवाले और लेनेवाले दोनों की हानि होती है—दोनों ही नरक में डूबते हैं; किन्तु जो ब्राह्मण वेद-हीन और अशास्त्रज्ञ होते हुए भी सन्तोषी तथा दूसरों के गुणों में दोष देखनेवाला नहीं है, उसे दान दिया जा सकता है—उसे दान देना शिष्टों का आचार है। किन्तु इस प्रकार के ब्राह्मण को दान देने से पुण्य होगा, ऐसा समझना भ्रम है; क्योंकि लकड़ी का हाथी जैसे नाममात्र का हाथी होता है वैसे ही वेद-शास्त्र-ज्ञानशून्य ब्राह्मण नाम का ही ब्राह्मण होता है। जिस प्रकार जलहीन कुँआ और बुझी राख में दिया हुआ हवन व्यर्थ होता है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण को दिया हुआ दान निष्फल होता है। सारांश यह कि सन्तोषी और गुणग्राही अपढ़ ब्राह्मण को दान देने से नरक तो नहीं होता; किन्तु दान निष्फल होता है।

मनुस्मृति के मुख्य प्राचीन टीकाकार मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभट्ट, नारायण-सर्वज्ञ, राघवानन्द, मणिराम दीक्षित तथा रामचन्द्र हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति

स्मृति-निर्माता याज्ञवल्क्य शुक्ल-यजुर्वेद के द्रष्टा अथवा बृहदारण्यक-उपनिषद् के ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य नहीं हैं, मूल याज्ञवल्क्य की शिष्य-परम्परा में कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं; क्योंकि वैदिक याज्ञवल्क्य और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य में हजारों वर्ष का अन्तर है।

याज्ञवल्क्यस्मृति तीन अध्यायों में विभक्त है—(१) आचाराध्याय, (२) व्यवहाराध्याय और (३) प्रायश्चित्ताध्याय। जिस प्रकार मनु का आचार-विधान सर्वोपरि मान्य है उसी प्रकार याज्ञवल्क्य का व्यवहार-विधान (कानून)। मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त बहुत अधिक विकसित हैं। उदाहरणार्थ—पुत्रहीन विधवा का अपने पति के धन पर अधिकार है या नहीं, इस विषय में मनु नितान्त मौन हैं; किन्तु याज्ञवल्क्य ने विधवा को उत्तराधिकारियों में मुख्य स्थान दिया है।

इस स्मृति का रचनाकाल १०० से ३०० ई० है। इसके अनेक टीकाकार हुए, जिनमें सर्वप्रधान हैं 'विज्ञानेश्वर'। इन्हीं की टीका का नाम 'मिताक्षरा' है जिसे आजकल की अदालतें सबसे अधिक महत्त्व देकर प्रामाणिक मानती हैं। इसीके आधार पर वर्त्तमान हिन्दू-कानून व्यवहृत होता है।

विज्ञानेश्वर ने अपने पूर्व के प्रतिभाशाली टीकाकार 'विश्वरूप' की 'बालक्रीड़ा' नामक टीका से सहायता ली है। अन्य टीकाकार हैं—अपरार्क, कुलमणि, देवबोध, धर्मेश्वर, रघुनाथभट्ट, शूलपाणि तथा मित्रमिश्र। इनमें अपरार्क विज्ञानेश्वर के समकालीन तथा बड़े प्रतिभाशाली टीकाकार थे, जिनका ग्रन्थ केवल व्याख्यात्मक न होकर एक स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थ है—यह 'मिताक्षरा' से बहुत बड़ा है—पुराणों के धर्म-सम्बन्धी अंशों का भी इसमें बहुत-कुछ उद्धरण है। बंगाल को छोड़कर समस्त भारत में मिताक्षरा की प्रामाणिकता सर्वोपरि है।

स्मृति-ग्रन्थों के बाद महत्त्वपूर्ण निबन्ध-ग्रन्थों और भाष्यों का स्थान है। समस्त निबंध-ग्रन्थ गद्य में हैं। भिन्न-भिन्न स्मृति-ग्रन्थ उनके आधार हैं। उनमें से कई तो वर्त्तमान व्यवहारशास्त्र (कानून) के भी आधार हैं। इसलिए उनका विशिष्ट स्थान है। उनका निर्माणकाल ८०० से १७०० ई० तक है। उनमें स्मृतियों की गद्यात्मक व्याख्या है। स्मृतियों के एक-एक विषय पर—जैसे विवाह, दायभाग, व्यवहार आदि पर—विस्तृत ग्रन्थ लिखे गये हैं और किसी विशिष्ट मत का प्रतिपादन, धर्मसूत्र तथा स्मृतियों के आधार पर, किया गया है। उनमें से कुछ तो किसी खास स्मृति-ग्रन्थ की व्याख्यामात्र हैं और कतिपय स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थ भी हैं। इन व्याख्याओं एवं निबन्धों में विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा', जीमूतवाहन का 'दायभाग', शूलपाणि का 'स्मृति-विवेक', रघुनन्दन का 'स्मृतितत्त्व', चण्डेश्वर का 'विवादरत्नाकर', वाचस्पति का 'विवाद-चिन्तामणि', देवनारायणभट्ट की 'स्मृति-चन्द्रिका', नन्द पण्डित की 'दत्तक-मीमांसा' और नीलकण्ठभट्ट का 'व्यवहार-मयूख' कानून-सम्बन्धी ग्रन्थों में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शूलपाणि का 'श्राद्ध-विवेक', रघुनन्दन का 'स्मृतितत्त्व', श्रीदत्त उपाध्याय का 'श्राद्ध-कल्प' और 'समयप्रदीप', चण्डेश्वर का 'राजनीति-रत्नाकर', हेमाद्रि का 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि', माधवाचार्य का 'पराशरमाधव' और 'कालमाधव', नारायणभट्ट का 'अन्त्येष्टि-पद्धति', 'त्रिस्थितिसेतु' और 'प्रयोगरत्न', नन्द पण्डित की 'शुद्धिचन्द्रिका', कमलाकरभट्ट का 'निर्णयसिन्धु', मित्रमिश्र का 'वीरमित्रोदय' और जगन्नाथ तर्कपञ्चानन का 'विवादार्णव' भारत के भिन्न-भिन्न भागों में विख्यात हैं। इनमें चण्डेश्वर का 'राजनीति-रत्नाकर'

मध्ययुग की राजनीति जानने के लिए परमावश्यक ग्रन्थ है। हेमाद्रि का 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' प्राचीन धार्मिक व्रतों, उपासनाओं तथा आचारों का विश्वकोष है।

'भारतीय साहित्य में धर्मशास्त्र का अपना मौलिक महत्त्व है। हिन्दू-समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने की उदात्त भावना से प्रेरित होकर स्मृति-ग्रन्थों की रचना की गई थी। तीन हजार वर्ष से आजतक हिन्दू-समाज को अक्षुण्ण बनाये रखने का श्रेय स्मृतियों को ही प्राप्त है। ये स्मृतिकार बड़े ही विचारशील पुरुष थे तथा समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इन्होंने अपने नियमों में सदा परिवर्तन किया।'[1]

किन्तु आज न स्मृतिकार हैं और न उनके भाष्यकार अथवा निबन्धकार। वर्तमान समाज मनु और याज्ञवल्क्य के समय के समाज से सर्वथा भिन्न है। आवश्यकतानुसार राजनियमों द्वारा व्यवहार (कानून) में समय-समय पर अनेक परिवर्तन हुए हैं। उच्च न्यायालयों ने भी अपने निर्णय द्वारा बहुलांश में भाष्यकार एवं निबन्धकार का कार्य किया है। किन्तु स्मृतियों के आचार-सम्बन्धी आदेश ज्यों-के-त्यों कायम हैं। वर्तमान परिस्थिति में न उनका पालन होता है और न वे सर्वमान्य समझे जाते हैं। अतएव आज आवश्यकता है कि हिन्दूधर्म के कर्णधार, स्मृतियों के आचार-व्यवहार-सम्बन्धी आदेश में, समुचित परिवर्तन करें जिससे देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सके। लकीर के फकीर बने रहने से न राष्ट्र का हित होगा और न हिन्दू-समाज का।

---

१ 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार'—पृष्ठ ३०-३२

नवाँ परिच्छेद

ईसाई-धर्म

एशिया के पश्चिमी भाग में फिलस्तीन नामक देश है। महात्मा ईसा का जन्म इसी देश के बेथलेहम ग्राम में, आज से १६५२ वर्ष पूर्व, हुआ था। ईसवी सन् का आरंभ उन्हीं के जन्म से माना जाता है और संसार के समस्त ईसाई राष्ट्रों में यही सन् प्रचलित है। किन्तु आज के विद्वान् अन्वेषकों की राय है कि यह जन्म-तिथि गलत है। ईसा का जन्म ईसवी सन् के आरंभ से कुछ पहले ही हुआ था। उनकी माता का नाम मरियम था और उनका विवाह जोसेफ नामक एक यहूदी बढ़ई के साथ हुआ था। परतु ईश्वर की कृपा से मरियम को क्वाँरपन में ही गर्भ रह गया। इस बात को जानकर जोसेफ के मन में शंका हुई और वे निर्णय न कर सके कि क्या किया जाय। इसी समय उन्हें स्वप्न में किसी देवदूत ने दर्शन दिये और कहा—'तुम मरियम के साथ विवाह करने में किसी प्रकार की शंका न करना। उसके गर्भ में भगवान् का पुत्र है।' जोसेफ ने भगवान् की आज्ञा समझकर मरियम से विवाह कर लिया (मैथ्यू १।२०)। ईसामसीह का जन्म घुड़साल (अस्तबल) में हुआ था।

ईसा का जीवन-चरित

ईसा के जन्मकाल में हिरोद वहाँ का राजा था। ईसा के जन्म के बाद फिलस्तीन देश से पूर्व के कतिपय बुद्धिमान ज्योतिषी, बालक के दर्शन के लिए, जेरुसेलम में आकर पूछने लगे—'यहूदियों का राजा, जिनका जन्म हुआ है, वे कहाँ हैं ? क्योंकि हमने पूर्व में उनका तारा देखा है और हम उनका अभिवादन करने आये हैं।' यह सुनकर हिरोद और उसके सारे साथी घबरा गये। हिरोद ने चुपके ज्योतिषियों को बुलाकर उनसे पूछा कि तारा ठीक किस समय दिखाई दिया। और, उन्हें यह कहकर बेथलेहम भेजा कि जाकर उस बालक के विषय में ठीक-ठीक पता लगाओ और जब उसे पाओ तब मुझे सूचित करो कि मैं भी जाकर उसकी अभ्यर्थना करूँ। वे चले और जिस तारा को उन्होंने पूर्व में देखा था, वह उनके आगे-आगे चला और जहाँ बालक था उस स्थान के ऊपर पहुँचकर

रुक गया। उन लोगों ने जोसेफ के घर जाकर उस बालक को माता मरियम के साथ देखा और उसे साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपना थैला खोलकर उसको सोना, लोहवान तथा सुगंधित वस्तुओं की भेंट चढ़ाई और स्वप्न में चेतावनी पाकर कि हिरोद (Herod) के पास पुनः न जाना, दूसरे मार्ग से अपने देश को लौट गये। उनके लौट जाने पर एक देवदूत ने जोसेफ से कहा कि बालक को माता के साथ लेकर मिस्रदेश को भाग जाओ और जबतक मैं न कहूँ, तबतक वहीं रहो। क्योंकि भय है कि कहीं हिरोद ढूँढ़कर बालक की हत्या न कर बैठे। इस आदेशानुसार वे अपने शिशु और पत्नी को लेकर रातोरात मिस्र चले गये और हिरोद के मृत्युपर्यन्त वहीं रहे। हिरोद यह समझकर कि ज्योतिषियों ने उससे मजाक किया है, क्रोध से भर गया। उसने अपने आदमियों को भेजकर ज्योतिषियों के बतलाये हुए समाचार के अनुसार बेथलेहम और उसके आसपास के सारे बच्चों को, जो दो वर्ष या उससे छोटे थे, मरवा डाला।*

ईसा के शब्दों में एक अलौकिक प्रतिभा थी। जब ईसा १२ वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता उन्हें जेरुसेलम ले गये। वहाँ से लौटते समय रास्ते में वे कहीं खो गये। पता लगाने पर लोगों ने उन्हें जेरुसेलम के बड़े मन्दिर में बड़े-बड़े विद्वानों से शास्त्रार्थ करते हुए पाया।

बड़े होने पर ईसा अपने पिता का व्यापार करने लगे। आरंभ से ही भगवान में उनकी भक्ति थी। उन्हें प्रकृति के प्रत्येक खेल में, जीवन के प्रत्येक कार्य में भगवान की वाणी स्पष्ट सुनाई देती थी। उन्हें जब अवकाश मिलता, भगवान के ध्यान में मग्न रहते। उन दिनों जॉन (John the Baptist) नामक एक प्रतिभाशाली साधु थे। उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि एक ऐसा महान पुरुष प्रकट होनेवाला है जो अग्नि के द्वारा तथा भगवान की दी हुई शक्ति से लोगों को शुद्ध करेगा। वह इतना महान् होगा कि उसके जूते के फीते को भी खोलने की मेरी क्षमता न होगी। वे प्रचार करने लगे कि चित्तवृत्ति का परिवर्तन करो; क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट है।

कुछ काल बाद ईसा उनसे दीक्षा लेने गये। उन्हें देखकर महात्मा ने कहा—'यह आप क्या उलटी गंगा बहाने जा रहे हैं? आपके द्वारा मेरा संस्कार होना चाहिए, नकि मेरे द्वारा आपका।' परन्तु ईसा के जोर देने पर उक्त महात्मा ने ईसा का संस्कार किया। बाद में राजा टेटार्च की आज्ञा से संत जॉन कैद कर लिये गये और वहीं उनकी हत्या कर दी गई।

शैलोपदेश

तीस वर्ष की आयु से मरणपर्यन्त ईसा ने धर्म-प्रचार किया। अनुयायियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। ईसा के प्रधान उपदेश संसार में शैलोपदेश (पहाड़ पर के उपदेश) के नाम से विख्यात हैं।

*संत मैथ्यू-रचित सुसमाचार का द्वितीय अध्याय।

इनके उपदेश के मुख्य अंश इस प्रकार हैं—

(१) जिनके अंदर दीन भाव उत्पन्न हो गया है वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान् का साम्राज्य उन्हीं को प्राप्त होगा।

(२) जो आर्तभाव से रोते हैं, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें भगवान की ओर से आश्वासन मिलेगा।

(३) विनयी पुरुष धन्य हैं, वे पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेंगे; क्योंकि उन्हें पूर्णता की प्राप्ति होती है।

(४) दयालु पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान् की दया प्राप्त कर सकेंगे।

(५) जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हीं को होगा।

(६) शांति के प्रचारक धन्य हैं; क्योंकि वे भगवान के पुत्र कहे जायँगे।

(७) धर्म पर दृढ़ रहने के कारण जिन्हें कष्ट मिलता है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान् का साम्राज्य उन्हीं को प्राप्त होता है।

(८) तुमने सुना होगा—कहा गया है कि व्यभिचार न करो, पर मैं तुमसे कहता हूँ कि जो कोई बुरे मन से किसी स्त्री को देखता है, वह अपने मन में उससे व्यभिचार कर चुका।

(९) यदि तुम्हारी दाईं आँख तुम्हें ठोकर दे तो उसे निकालकर फेंक दो; क्योंकि तुम्हारे लिए भला है कि एक अंग का नाश हो और सारा शरीर नरक से बचे। इसी प्रकार यदि तुम्हारा दायाँ पैर तुम्हें कुपथ पर ले जाय तो नरक से बचने के लिए उसे काटकर अलग कर देना उचित है।

(१०) मैं तुमसे कहता हूँ कि स्त्री के व्यभिचारिणी होने के सिवा अन्य किसी कारण से जो उसका त्याग करता है, वह तो उसे व्यभिचारिणी बनने को बाध्य करता है। और जो कोई उस परित्यक्ता से विवाह करता है, वह व्यभिचार करता है।*

(११) तुम सुन चुके हो—कहा गया है कि आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत तोड़ना नीति-संगत है। किन्तु मेरा कहना है कि बुरे का सामना न करो, अगर कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड़ मारे तो उसकी ओर बाँया गाल भी फेर दो और उसी तरह यदि कोई तुमपर मुकदमा दायर करके तुम्हारा कोट ले ले तो उसे तुम अपना लबादा भी दे दो।

(१२) तुम सुन चुके हो—कहा गया है कि अपने पड़ोसी से प्रेम रखो, पर मैं कहता हूँ कि अपने वैरियों से भी प्रेम रखो और अपने को कष्ट देनेवालों के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो।

(१३) ध्यान रखो कि लोगों को दिखलाने के लिए दान न दो, इस प्रकार के दान का कुछ भी फल नहीं मिलेगा। जब तुम दान करो तब इसकी घोषणा न करो। इस प्रकार दान दो कि तुम्हारे बाँयें हाथ को भी पता न लगे कि दायें हाथ ने दान दिया है।

---

* इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्त्री के व्यभिचारिणी होने के सिवा अन्य किसी कारण से उसका त्याग (Divorce) बाइबल की शिक्षा के अनुसार अनुचित एवं पाप है।—ले०

तुम्हारा दान गुप्तरूप से होना चाहिए। परमपिता परमेश्वर सब-कुछ देखता है, वह तुम्हें इसके लिए पारितोषिक देगा।

(१४) कपटियों की तरह सड़कों पर अथवा गलियों की मोड़ पर लोगों को दिखलाने के लिए प्रार्थना न करो; किन्तु अपनी कोठरी का द्वार बंद कर गुप्तरूप से प्रार्थना करो। भगवान तुमको उसका फल देगा।

(१५) प्रार्थना के समय तुम व्यर्थ बातों को बार-बार मत दुहराओ। तुम्हारा परम-पिता तुम्हारे माँगने के पहले ही तुम्हारी आवश्यकताओं को जानता है।

(१६) जब तुम उपवास करो तब तुम अपने सिर में तेल मल लो और मुँह धोकर साफ-सुथरा कर लो जिसमें लोगों को यह ज्ञान न हो कि तुमने उपवास किया है। तुम अन्य लोगों के बदले सिर्फ अदृश्य परमपिता को अपना उपवास करना दिखलाओ।

(१७) कोई एक साथ दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता। अतएव तुमसे कहता हूँ कि यह चिन्ता न करना कि हम क्या खायेंगे पीयेंगे अथवा पहनेंगे? क्या भोजन से बढ़कर प्राण और वस्त्र से बढ़कर शरीर नहीं है।

(१८) कल की चिन्ता मत करो; क्योंकि कल अपनी चिन्ता आप करेगा। आज का दुःख ही आज के लिए काफी है।

(१९) तुम अपने भाई की आँख के तिनके को क्यों देखते हो और अपनी आँख के लट्ठे को क्यों नहीं देखते? तुम अपने भाई को किस तरह कह सकते कि ठहर जाओ, मैं तुम्हारी आँख के तिनके को निकाल दूँ? रे कपटी! पहले अपनी आँख से लट्ठा निकालो तब अपने भाई की आँख के तिनके को भली-भाँति निकाल सकोगे।

(२०) पवित्र वस्तु कुत्ते को न दो और न मोती सूअर के आगे रखो। सम्भव है, वे उठाकर उसी से तुम पर चोट करें।*

इस प्रकार के अनेक उपदेशों का उल्लेख मैथ्यू के पाँचवें से सातवें अध्याय में है जो ईसाई धर्म का सार है। ईसा ने अनेक चमत्कार दिखलाये, पर वे उनकी आध्यात्मिक शक्ति के सामने कुछ नहीं थे। उन्होंने कई अंधों, लँगड़ों, बहरों, कोढ़ियों तथा लकवा से पीड़ित रोगियों का कष्ट दूर किया। कुछ ही पत्तों से हजारों मनुष्यों को भोजन कराया। उनके आज्ञा देते ही भयंकर तूफान शांत हो गया। गृहपति की मर्यादा और प्रतिष्ठा कायम रखने लिए उन्होंने पानी को द्राक्षारस (शराब) बना दिया।

ईसा की ख्याति चारों ओर बढ़ गई। इसलिए वहाँ के पुरोहित उनकी तथा उनके अनुयायियों की हत्या करने के लिए व्यग्र हो गये। ईसा को इसका आभास मिल गया। उन्होंने लोगों से कहा कि दो दिन बाद, पर्व के दिन, भोज होगा और अपने अनुयायियों में से एक के विश्वासघात के कारण वे सूली पर चढ़ाये जाने के लिए पकड़वाये जायँगे। संध्या-समय ईसा बारह साथियों के साथ भोजन करने बैठे। खाने के समय उन्होंने

* इसका तात्पर्य यह है कि अयोग्य व्यक्ति को नीति और उपदेश देना व्यर्थ होता है। कहा भी है—'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।' अर्थात् उपदेश, मूर्ख को शांत करने के बदले कुपित करता है।

कहा—'मैं तुमसे सच कहता हूँ कि तुममें से एक मुझे पकड़वायेगा।' इसपर हरएक साथी उनसे पूछने लगा—'हे गुरु, क्या वह मैं हूँ ?' ईसा ने उत्तर दिया—'जिसने मेरे साथ थाली में हाथ डाला है वही मुझे पकड़वायेगा।' जब सभी खा रहे थे, ईसा ने रोटी ली और तोड़कर चेलों को देकर कहा—'लो खाओ, यह मेरी देह है।' फिर उन्होंने कटोरा देकर कहा—'तुम सब इसे पीओ; क्योंकि यह मेरा रक्त है जो पापियों के क्षमा के निमित्त बहाया जाता है।' *

अंत में अपने साथी जूडा, (judas) के विश्वासघात से ईसा पकड़े गये। महापुरोहित और पुरोहित सभी ईसा को मारने के लिए इनके विरुद्ध झूठी गवाही खोजने में संलग्न थे। दो मनुष्यों ने आकर कहा—इस (ईसा) ने कहा है कि मैं परमेश्वर का मन्दिर ढा सकता हूँ और उसे तीन दिन में बना सकता हूँ। जब ईसा ने इसके प्रतिवाद में कुछ नहीं कहा तब महापुरोहितों ने कहा कि तुम्हें परमेश्वर की शपथ है, यदि तुम परमेश्वर के पुत्र मसीह हो तो हमसे कह दो। ईसा ने उनसे कहा—'तुम कह चुके; वरन् मैं तुमसे यह भी कहता हूँ कि अब से तुम मनुष्य के पुत्र को सर्वशक्तिमान की दाईं ओर बैठे आकाश के बादलों पर आते देखोगे।' तब महापुरोहित ने अपने वस्त्र फाड़कर कहा—'इसने परमेश्वर की निन्दा की है, अब हमें गवाहों से क्या प्रयोजन ?'''देखो, तुम लोगों ने अभी निन्दा सुनी है। तुम क्या समझते हो ?' उन लोगों ने उत्तर दिया कि यह वध्य है। तब उन्होंने ईसा के मुँह पर थूका और उन्हें घुस्से लगाये, औरों ने चपतें जमाईं। जब भोर हुआ तब सब पुरोहितों ने ईसा के मार डालने की सम्मति दी। निदान, उन्हें बाँधकर हाकिम को सौंप दिया गया। अब विश्वासघाती जूडा को पश्चात्ताप होने लगा। उसने आत्महत्या कर ली। हाकिम ने ईसा को कोड़े लगवाये और सूली पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी। जल्लादों ने ईसा के वस्त्र उतारकर उन्हें काँटों का मुकुट पहनाया और बाद में वे सूली पर चढ़ाये गये।

मरते समय ईसा ने क्षमा की जो अभय वाणी दी, वह विश्व-इतिहास में अपूर्व है। ईसा ने सूली पर चढ़ते समय शांतभाव से कहा—'भगवन्, इनपर क्षमा करना, ये बेचारे नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।' और अन्त में—'हे पिता, यह आत्मा तुम्हें अर्पित है।' यह कहकर प्राणत्याग किया।

ईसा के धार्मिक सिद्धान्त

इस धर्म की पुस्तक है बाइबल। इसके उत्तरार्ध में ईसा के जीवन की घटनाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन है। संक्षेपत: इस धर्म के सिद्धांत निम्नलिखित हैं—परमेश्वर एक है जो निरंजन, निराकार और ज्योतिस्वरूप है। ईसा को परमेश्वर का पुत्र मानकर उनके चमत्कारों को ठीक मानना चाहिए। ईश्वर की आराधना करना, बाइबल को सत्य मानना, सत्य वचन बोलना, चोरी आदि कुकर्मों से बचना चाहिए। ईसा मरकर भी अमर हुए हैं और उनका महिमामय पवित्र शरीर विद्यमान है। ईसा, उनके पिता अर्थात्

* सम्भवत: इसी घटना के कारण पाश्चात्य देशों में स्वास्थ्यपान (Drinking the health) की प्रथा चल पड़ी है।

परमेश्वर और उनकी पवित्र आत्मा—ये तीनों (God the Father, God the Son, and God the Holy Ghost) एक ही हैं।

इस मत ने पुनर्जन्म को नहीं माना है। ईश्वरपुत्र ईसा ने मनुष्यों के उद्धारार्थ अवतार लेकर धर्म का उपदेश दिया और लोककल्याण के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। अतः उनकी भक्ति ही सबको तारनेवाली है। इसी प्रकार लोककल्याण के लिए सबको आत्म-बलिदान की भावना और भ्रातृभाव रखना चाहिए। इससे ईश्वर का प्रसाद अथवा मुक्ति मिलती है। इस सिद्धान्त को मान लेने से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। फिर मनुष्य को और ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती। सारांश यह कि ईसाई-धर्म एकमात्र भक्ति और शरणागति का धर्म है।

ईसाई-धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—(१) बौद्ध और जेन-धर्मों की तरह इस धर्म में जीव-हिंसा का निषेध नहीं किया गया है; स्पष्टतया कहा गया है कि अन्य जीवों को भी ईश्वर ने मनुष्यों के उपकारार्थ ही बनाया है। अन्य जीव-जन्तुओं की आत्मा के सदृश मानवात्मा को नहीं माना है। (२) पुनर्जन्म की गुंजाइश इस धर्म में नहीं है। (३) हिन्दुओं की त्रिमूर्त्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—की तरह त्रिमूर्त्ति की कल्पना यहाँ भी है। (४) ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा की गई है और सिर्फ शरणागति-द्वारा ही मुक्ति का उपाय बताया गया है तथा जनहित के निमित्त आत्म-बलिदान पर जोर दिया गया है।

ईसा को ईश्वर की सत्ता के लिए किसी भौतिक अथवा दार्शनिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। वे भगवान् की सत्ता का आन्तरिक अनुभव करते थे। भगवान् उनके अंदर विराजते थे। वे अपने को सदा भगवान् के समीप देखते थे और भगवान् के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा करते थे, सब अपने हृदय के अनुभव से ही। जिस प्रकार बालक माता की गोद में रहता है, उसी प्रकार वे सदा-सर्वदा अपने को ईश्वर की गोद में समझते थे। उन्होंने कभी नहीं कहा कि 'मैं भगवान् हूँ।' सदा अपने को भगवान् का पुत्र समझा। भगवान् को पिता के रूप में देखना उनका लक्ष्य था।

आदर्श चरित्र

ईसा का चरित्र आदर्श था। उनकी आकृति पर किसी ने कभी बल पड़ते नहीं देखा। उन्होंने कभी किसी से घृणा नहीं प्रकट की। वे दूसरों का दुख नहीं देख सकते थे। दूसरों का हित करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। उन्हें दीन व्यक्ति अत्यन्त प्रिय थे। उनका स्पष्ट कथन था कि सूई के छेद से ऊँट भले ही निकल जाय, किन्तु धनी के लिए स्वर्ग पाना सम्भव नहीं। उनका जीवन त्यागमय था। वे आत्मा के सामने जगत् को तुच्छ समझते थे। वे अपने हृदय के भावों को प्रधानता देते थे। उनका कथन था कि ईश्वर सुदूर सातवें आकाश पर नहीं रहता; किन्तु हमारे समीप, हमारे हृदय में ही निवास करता है। वे मनुष्यों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न कर और ईश्वरेच्छा के अनुसार कर्त्तव्य का पालन कराकर संसार में 'स्वर्ग का राज्य' (kingdom of heaven) कायम करना चाहते थे।

बौद्ध धर्म ईसा के समय जेरुसेलम तक फैला था। अतएव स्वभावतः ईसा की शिक्षा में बौद्ध-शिक्षा की स्पष्ट छाप ज्ञात होती है। बहुतों का विश्वास है कि ईसा ने वर्षों तक भारत एवं तिब्बत में रहकर हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों का अध्ययन किया, जिसका प्रभाव स्पष्टतया बाइबल में दीख पड़ता है।

ईसा की मृत्यु के बाद उनका कार्यभार उनके शिष्यों और अनुयायियों ने, उनके आदेश के अनुसार, सम्भाला। ईसा के चार शिष्यों—मार्क, ल्यूक, मैथ्यू और जॉन—ने उनकी जीवनी और उपदेशों का संग्रह किया। यही संग्रह बाद में 'न्यू टेस्टामेंट' कहलाया। यहूदियों की बाइबल भी इस बाइबल में मिला दी गई और उसे 'ओल्ड टेस्टामेंट' कहा गया।

ईसाई-धर्म का विकास

ईसाई ३१२ ई० तक बड़े कष्ट और श्रम से धर्म-प्रचार करते रहे। शनैः-शनैः वहाँ के शासकों ने इस धर्म को स्वीकार किया। अतः इसकी जड़ मजबूत हो गई। ईसाई-धर्म में मूर्तिपूजा का पूर्ण निषेध रहने पर भी ईसा एवं मेरी की प्रतिमाओं का पूजन भक्तगण करते रहे। ७५४ ई० में अनेक पादरियों ने सभा करके मूर्तिपूजा को धर्म के विरुद्ध घोषित कर बन्द कराने का असफल प्रयत्न किया।

अबतक पोप की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। १५१७ में मार्टिन लूथर ने पोप के विरुद्ध प्रचार आरम्भ किया। उसने पोप के स्वार्थ-पूर्ण नियमों को एकत्र कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया और उनपर टिप्पणी करते हुए बतलाया कि ये प्रजा के लिए हानिकारक हैं। धीरे-धीरे इस मत का प्रचार होने लगा। इसके विरोध में एक सभा जर्मनी में हुई। लूथर और उनके अनुयायियों ने विरोध किया। अतएव वे प्रोटेस्टैंट अर्थात् विरोधी नाम से विख्यात हुए। लूथर ने अपना आन्दोलन जारी रखा। धर्म के नाम पर पोप ने अनेक अत्याचार किये। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए पोप ने इन्क्युजिशन (Inquesition) नामक न्यायालय की स्थापना की। इस न्यायालय के आज्ञानुसार १४२१-१७८१ के भीतर सिर्फ स्पेन देश में १०६५६ मनुष्य जिन्दा जला दिये गये और २६१४५० को सश्रम कारावास की सजा मिली। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सारे ईसाई-संसार में कितने व्यक्तियों को दंडित होना पड़ा होगा! लेकिन प्रोटेस्टैंट मत का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता गया। फलतः १७वीं सदी में पोप की शक्ति का ह्रास शुरू हो गया। आज ईसाई मत के तीन प्रधान भाग हैं—(१) प्रोटेस्टैंट, (२) कैथोलिक, (३) ग्रीक। ग्रीक-कैथोलिकों की संख्या प्रायः ७५ लाख है। कैथोलिक और ग्रीकचर्च में कुछ भिन्नता होने पर भी, बहुत अंशों में, समानता है। दोनों में मूर्ति और चित्र-पूजन की प्रथा है। इसके अतिरिक्त सिरियन और रसियन चर्च भी हैं।

सर्वप्रथम सेण्टटौमस ने दक्षिण भारत में आकर बहुत लोगों को ईसाई बनाया। बाद १५ वीं शताब्दी में ईसाई लोग भारत में आये। यहाँ उनकी संख्या इस समय प्रायः २६ लाख है। भारत में ईसाई-धर्म के उपदेशकों ने दूर-दूर जाकर, जंगली जातियों को ईसाई-धर्म में दीक्षित किया। उनकी भाषाओं में बाइबल का प्रकाशन कर उसका प्रचार

किया। ईसाई मिशनरियों ने अनेक स्कूल, कालेज, अस्पताल तथा अनाथालय खोले जिनके द्वारा गौण रूप से अपने मत का प्रचार किया। पोर्तुगीजों के सिवा अन्य किसी ईसाई प्रचारक ने जोर-जुल्म नहीं किया। ये उपदेशों के प्रभाव या जीविका के लोभ से लाखों को ईसाई बनाने में समर्थ हुए।

ईसाई-धर्म में भेद

प्रोटेस्टैंट और रोमन कैथोलिकों में—(१) पापनाश-संबंधी विचार, (२) पाप-क्षमा, (३) प्रधानता, (४) चट्टान, (५) उत्तराधिकारी, (६) कुञ्जी, (७) गिरजाघर, (८) मूर्ति, (९) पादरी और (१०) त्रिमूर्ति के सम्बन्ध में मुख्य भेद है।

(१) पापनाश-सम्बन्धी विचार—जब मनुष्य मरता है तब उसके शरीर में स्थित आत्मा की मृत्यु हो जाती है। ईश्वर का यही विधान है कि मिट्टी से मनुष्य बना है और मिट्टी में ही मिल जाता है (उत्पत्ति ३ । १७ ।)। इंजिल के पूर्वार्ध के १८ वें अध्याय के चौथे वाक्य में लिखा है कि जितने शरीरधारी जीवात्मा हैं वे मेरे ही हैं। जो प्राणी (आत्मा) पाप करेगा वह मर जायगा (इंजिल १८ । ४ ।)।

किन्तु कैथोलिकों का विश्वास है कि जब मनुष्य मरता है, तब वह वस्तुतः मरता नहीं; बल्कि सजा मिलने के अस्थायी स्थान में जिसे परगेटरी कहते हैं, सचेतावस्था में रहता है। मृत मनुष्य की सजा का काल जीवित मनुष्य की प्रार्थना और बलिदान द्वारा घट सकता है।

किन्तु प्रोटेस्टैंटों के विचार में मनुष्य की मृत्यु के बाद आत्मा की चेतना नहीं रहती। कहा है कि जो कुछ तुम्हें करना है वह इसी जीवन में कर लो; क्योंकि मृत्यु के बाद कोई कर्तव्य करने के लिए चेतना नहीं रह जाती (इक्लेसियासर ९ । ५ ।)। अतएव मृत पुरुष की आत्मा पापनाशक स्थान (परगेटरी) में नहीं रहती है। ईसा ने कहा है कि मृत पुरुष कब्र में पुनः उत्थान की प्रतीक्षा करता रहता है (जॉन ५ । २ ।)।

५९५ ई० से ६०४ ई० तक ग्रेगरी ने पोप के अधीन काम किया। पापनाशक स्थान का आविष्कार उसने ही किया और घोषित किया कि आत्मा अग्नि में जलती रहती है। इसके विरुद्ध पाल ने समस्त ईसाइयों को सचेत किया कि इन भ्रमात्मक बातों में न पड़कर, ईसा के बताये मार्ग पर ही चलें। अतः प्रोटेस्टैंट मत के अनुसार मृत्यु के उपरांत पुनरुत्थान के समय तक आत्मा अचेतनावस्था में रहती है।

(२) पाप-क्षमा—कैथोलिकों का सिद्धान्त है कि धार्मिक संस्था (गिरजाघर) देवदूतों का समूह है और देवदूतों के समूह के बाहर समस्त ईसाई इस धार्मिक संस्था के बच्चे हैं जिन्हें 'कैथोलिक-समुदाय' कहते हैं। अतएव धर्म-शासक पोप को क्षमा की क्षमता प्राप्त है।

प्रोटेस्टैंटों का कहना है कि यह सिद्धान्त बाइबल की शिक्षा के एकदम विरुद्ध है। सिर्फ ईश्वर ही पाप को क्षमा कर सकते हैं।

मैथ्यू (२६।२८) में कहा है—'मेरा वह लहू है जो बहुतों के लिए, उनके पापों के क्षमा के निमित्त, बहाया जाता है।' एक जगह पहला जॉन (२।१२) में कहा है—'हे मेरे बालको, मैं ये बातें इसलिए लिखता हूँ कि तुम कुछ पाप न करो और यदि कोई पाप करे तो उसे समझना चाहिए कि पिता के पास मेरा एक सहायक है अर्थात् धर्मपरायण ईसा। वही मेरे पापों का प्रायश्चित्त है। वह सिर्फ मेरा ही नहीं, किन्तु सारे जगत् के पापों का त्राता है।'

(३) प्रधानता—मैथ्यू (१६।१७।१६) में कहा है कि उस चट्टान पर मैं अपनी धार्मिक संस्था स्थापित करूँगा। इसी वाक्य के आधार पर कैथोलिकों का कथन है कि ईसा ने पीटर को धार्मिक प्रधानता दी और उसके बाद बराबर यह धार्मिक प्रधानता पोपों की रही। प्रोटेस्टैंटों का विचार है कि बाइबल में ऐसा कोई वाक्य नहीं है कि ईश्वर ने पीटर को धार्मिक प्रधानता दी।

(४) चट्टान—चट्टान (Rock) शब्द जो उपर्युक्त वाक्य में आया है वह लाक्षणिक है। क्योंकि वह अनादि है और अचल है (साम०। ६।२)। जोहवा के सम्बन्ध में बाइबल ने कहा है—'वह चट्टान है। उसका कार्य पूर्ण सत्य का रूप, न्यायशील और ठीक है' (डेउट्रोमी ३२।४)। सबने एक ही आत्मिक जल पिया है, वह जल एक चट्टान से निकलता है, जो स्वयं ईसामसीह ही है (कोरेन्थियन १०।४)।

(५) उत्तराधिकारी—पीटर के उत्तराधिकारी की हैसियत से रोम का पोप संसार में धर्माध्यक्ष है—यह कैथोलिकों का विचार है।

प्रोटेस्टैंटों का विचार है कि पीटर कभी पोप नहीं था—उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं हुआ। इसका भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि पीटर कभी रोम गया। किसी को धर्माध्यक्ष का पद स्वयं लेने का अधिकार नहीं है। मैथ्यू और जॉनपर्व जिनका हवाला कैथोलिकों ने दिया है, इसकी पुष्टि नहीं करता।

(६) कुञ्जी—ईश्वर ने पीटर से कहा—'मैं तुझे स्वर्गराज्य की कुञ्जियाँ दूँगा और जो कुछ तू पृथ्वी पर बाँधेगा वह स्वर्ग में बँधेगा और जो कुछ तू पृथ्वी पर खोलेगा वह स्वर्ग में खुलेगा' (मैथ्यू १६।१६)।

प्रोटेस्टैंटों का मत है कि बाइबल में कुञ्जी का अभिप्राय यह है कि स्वर्ग-राज्य का उद्घाटन सत्य से होता है और यही सत्य स्वर्ग-द्वार को खोलनेवाली कुंजी है। मैथ्यू के उपर्युक्त वाक्य से यह कदापि नहीं झलकता कि ईसा ने पीटर को स्वर्ग की कुञ्जी दे दी थी।

(७) गिरजाघर—कैथोलिकों का विश्वास है कि कैथोलिक गिरजाघर (चर्च) ही असली स्थान है जिसे पीटर ने निर्मित कराया और पीटर के उत्तराधिकारी की हैसियत से पोप ही धर्माध्यक्ष है। पोप अभ्रान्त (Infalliable) है और बाइबल का अर्थ लगाने का एकमात्र अधिकार उसे ही है।

प्रोटेस्टैंटों के मतानुसार बाइबल का कथन है कि चर्च के सदस्य होने का एक ही रास्ता है—ईश्वर और ईसा पर विश्वास और अपने को ईश्वर की इच्छा पर पूर्णतया छोड़कर, सचाई से ईसा-द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर आजीवन उनकी आज्ञा का

पालन करना। अनुयायियों द्वारा निर्वाचित होने पर यह सदस्यता का अधिकार किसी को प्राप्त नहीं होता, किन्तु समस्त ऐसे व्यक्तियों को, सदस्यता का अधिकार प्राप्त होता है जो पूर्णतया परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हैं (हेब्र्. ११।६, पहला पीटर २।२१, रोमन ८।२६, रिपीलेशन २।१०)।

(८) **मूर्त्ति**—रोमन कैथोलिक गिरजाघरों में मूर्त्ति एवं चित्र रखते हैं। उनका कथन है कि ईसाई धर्म ने ईश्वर के पुत्र (ईसा), माता मरियम, संतों और देवदूतों की मूर्त्तियों और चित्रों को रखने की अनुमति दी है। जैसे विभिन्न जातियाँ अपने झंडों की इज्जत करती हैं वैसे ही मूर्त्तियों एवं चित्रों द्वारा कैथोलिक ईश्वर-पुत्र ईसा एवं अन्य महान् आत्माओं का स्मरण और आदर करता है। कैथोलिकों का कथन है कि हम मूर्त्ति को नहीं पूजते; किन्तु जिसका वह प्रतीक है, उसको पूजते हैं। इस सम्बन्ध में प्रोटेस्टैंटों का मत है कि बाइबल में कहीं भी मूर्त्ति-पूजा की अनुमति नहीं दी गई है; बल्कि सब प्रकार की मूर्त्तियाँ ईश्वर की दृष्टि में घृणित समझी गई हैं। एकसोडस (२०।४-५ इव्वाकुक २।१८) में स्पष्ट शब्दों में स्वर्ग, संसार अथवा पाताल की किसी चीज का प्रतिरूप तैयार करना निषिद्ध ठहराया गया है। मैथ्यू (६।६-१५) में ईसा ने प्रार्थना करने की रीति बतलाई है। प्रत्येक ईसाई को अधिकार है कि बगैर मूर्त्ति, पुरोहित, पादरी अथवा किसी व्यक्ति की सहायता के ईसा के नाम से परमात्मा की उपासना करे। भगवान् ने जॉन (१४।१३) में कहा है कि जो कुछ तुम मेरे नाम से माँगोगे वही मैं दूँगा, जिससे पुत्र-द्वारा पिता की महिमा बढ़े।

(९) **पादरी**—रोमन कैथोलिकों के मत से समस्त पादरीवर्ग को 'फादर' कहते हैं और पोप को 'होली फादर' (धर्मपिता)।

प्रोटेस्टैंटों के मतानुसार ईसा ने कहा है कि संसार में किसी को पिता न कहो; क्योंकि तुम्हारा एक ही पिता है जो स्वर्ग में रहता है (मैथ्यू २३।७-११)। लम्बा लबादा आदि पहनना उचित नहीं। ईसा के अनुयायियों में विभेद करना उचित नहीं। ईसा की प्रार्थना थी कि सब समान हों। ईसा के लिए सब बराबर हैं। 'जैसे—तू, हे पिता, मुझमें है और मैं तुझमें हूँ वैसे ही वे भी हममें हों। इसलिए कि जगत् विश्वास करे कि तूने मुझे भेजा है।'

(१०) **त्रिमूर्त्ति**—त्रिमूर्त्ति अर्थात् (१) पिता, (२) पुत्र और (३) पवित्र आत्मा—तीनों ईश्वर हैं; पृथक् व्यक्ति नहीं। किन्तु एक के ही तीन रूप हैं—ऐसा कैथोलिकों का विचार है।

प्रोटेस्टैण्टों के कथनानुसार धर्मग्रन्थ का कोई वाक्य नहीं कहता कि तीनों एक ही हैं। ईसा ने कहा है—'मैं अपने पिता के यहाँ से आया हूँ' (जॉन ५।४३)। 'मैं स्वर्ग से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए नहीं आया; किन्तु उस परमात्मा की इच्छा की पूर्ति के लिए—जिसने हमें भेजा है' (जॉन ६।३८)। 'मेरे पिता मुझसे बड़े हैं' (जॉन १४।२८)। सूली पर चढ़ाये जाने के पूर्व ईसा ने प्रार्थना की—'हे पिता, वह घड़ी आ पहुँची है कि तू अपने पुत्र की महिमा बढ़ा ताकि पुत्र भी तेरी महिमा बढ़ाये।

क्योंकि तूने उसको सब प्राणियों पर अधिकार दिया है; जिन्हें तूने उसे दिया है उन सबको वह अनन्त जीवन दे' (जॉन १७।१२)। पवित्रात्मा (Holy ghost) शब्द किसी व्यक्ति को निर्दिष्ट नहीं करता, केवल जोहवा (परमात्मा) की उस शक्ति को निर्दिष्ट करता है जो मनुष्य की दृष्टि से परे है।

ईसाई-प्रार्थना

ईसाइयों की प्रार्थना बहुत सादी है। गिरजाघर में पादरी प्रार्थना पढ़ता है और उसी के अनुसार उपस्थित समुदाय भी पढ़ता है। गिरजा में प्रति रविवार को प्रार्थना होती है। इसके अलावा क्रिसमस आदि त्यौहारों के दिन भी गिरजा में सम्मिलित प्रार्थना होती है। ईसाई-प्रार्थना इस प्रकार है—परमात्मन्, मुझे अपनी राह दिखा। अपने सम्बन्ध में ज्ञान करा और सत्यमार्ग में मुझे चला। मेरी मुक्ति का ईश्वर तू ही है। मेरा ज्ञान-चक्षु खोल, जिससे मैं तेरी प्रेमपूर्ण आश्चर्यजनक चीजों को देख सकूँ।[१]

बाइबल के आद्योपान्त पढ़ने से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इसमें आत्मोत्सर्ग द्वारा मानवजाति के उद्धार का विस्तृत और सुन्दर विवेचन है। इसका पूरा विवरण 'नया सुसमाचार' (न्यू टेस्टामेंट) के विभिन्न ग्रन्थों में मिलेगा। विशेषतः मैथ्यू (२०।२८), जॉन (१०।१५) तथा पीटर (१।१८।१६) में।

ईसा की शिक्षाओं का वास्तविक रहस्य

ईसा की शिक्षाएँ अद्भुत थीं। 'पहाड़ पर के उपदेश' (Surmon on mountain) के पाँचवें, छठे और सातवें अध्याय जगत्-प्रसिद्ध हैं। ईसा की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की चरित्र-भ्रष्टता तथा समाज की कुरीतियों की लीपापोती आदि करना नहीं था; किन्तु मनुष्य-हृदय को परिवर्तित कर हृदय-मंदिर में आदर्श मनुष्यता को प्रतिष्ठित करना था और इसी पृथ्वी पर 'ईश्वर का राज्य' (Kingdom of Heaven) उतारना था, मनुष्य का पुनर्जन्म करना था।' नई किताब (जॉन ३।३-४) में ईसा ने स्पष्ट कहा है कि यदि किसी का मानवजन्म सुसंस्कृत न हो तो वह परमेश्वर का राज्य नहीं देख सकता। यदि कोई आत्मा से न जन्मे तो वह परमेश्वर के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि जो शरीर से जन्मा है, वह शरीर है और जो आत्मा से पैदा हुआ है, वह आत्मा है। इसका अभिप्राय यह है कि नैतिक शिक्षा ऊँची-से-ऊँची कोटि की क्यों न हो, वह मनुष्य के स्वभाव में आमूल परिवर्त्तन नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ—किसी डाकू से, अनेक वर्षों तक सुन्दर जीवन व्यतीत करने के लिए, दृढ़ संकल्प कराया जा सकता है तथापि उसका मूल स्वभाव ज्यों-का-त्यों ही बना रहेगा। किन्तु ईसा में भक्ति और दृढ़ विश्वास होते ही, एक घंटे के भीतर मनुष्यमात्र

---

१. 'शो मी दाई वेज़ ओ लौर्ड। टीच मी दाई पाथ; ऐण्ड लीड मी इन दाई ट्रुथ, दाउ आर्ट द गॉड अफ माई सालवेसन, ओपन दाउ माइन आइज़, दैट आइ मे बिहोल्ड वण्डरस थिंग आउट अफ दाई लव। क्वीकेन दाउ मी एकारडिंग टु दाइवर्ड। रिमूव फ्रॉम द वे अफ लिविंग।'

के प्रति हार्दिक प्रेम और सेवा का भाव जागरित हो उठता है। उसकी समस्त जीवन-धारा तथा विचारधारा आमूल परिवर्त्तित हो जाती है। इस प्रकार इस शरीर में ही उसका पुनर्जन्म हो जाता है।

ईसा की शिक्षा में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने मनुष्यों को धर्म-शिक्षा के अनुसरण करने की बराबर प्रेरणा दी। ईसा ने मनुष्यों में अपने प्रति भक्ति का भाव और यह विश्वास उत्पन्न किया—'मैं ही कर्त्ता हूँ—मैं ही प्रकाश हूँ—मैं ही मार्ग हूँ—मैं ही पुनरुत्थान हूँ।' ईसा ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'जीवन और सचाई का मार्ग मैं ही हूँ। विना मेरे द्वारा कोई भी पिता के पास नहीं पहुँच सकता' (जॉन १४।६)। ईसा ने अपने और ईश्वर में भिन्नता दिखाते हुए कहा है कि परमेश्वर ने जगत् के प्रति ऐसा प्रेम दिखलाया कि उसने जगत् को अपना एकलौता पुत्र भी दे दिया ताकि जो कोई उस पुत्र पर विश्वास करे, वह नष्ट न हो और अनन्त जीवन पावे। परमेश्वर ने अपने पुत्र को जगत् में इसलिए नहीं भेजा कि जगत् को दोषी ठहराया जाय, किन्तु इसलिए कि जगत् का उसके द्वारा उद्धार हो (जॉन ३।१६-१७)। इस प्रकार बाइबल के अनेक वाक्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ईसा पर किसी-न-किसी रूप में अद्वैतवेदान्त का प्रभाव पड़ा था और यह समझते हुए कि प्रत्येक जीव उसी एक ईश्वर का अंश है और वह (ईश्वर) अंशी है, अपने और जोहवा (ईश्वर) में उन्होंने अभेद संबंध माना।

'विना मेरे द्वारा कोई पिता के पास नहीं पहुँच सकता'—ईसा के इस कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के प्रतिनिधिरूप ईसा और परमात्मा में अभिन्नता का ज्ञान हुए विना मनुष्य का उद्धार संभव नहीं। इस कथन का यह भी अभिप्राय है कि ईसा ईश्वररूप थे और विना ईश्वररूप हुए मनुष्य के उद्धार की आशा नहीं। जो ईसा के इस कथन का मर्म नहीं समझते वे नाहक ईसा को आत्मश्लाघी और पाखंडी कहते हैं। यदि हम बाइबल और गीता का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हमें आश्चर्यजनक समानता दीख पड़ेगी। भगवान् ने गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। इसी प्रकार बाइबल में भी ईसा ने यही कहा है कि मेरे द्वारा तुम्हारा उद्धार निश्चित है—अन्य उपाय नहीं है।

बाइबल की भविष्यवाणी

बाइबल की प्राचीन पुस्तक (Old Testament) में ईश्वर-पुत्र ईसा के आगमन की, स्पष्ट शब्दों में, भविष्यवाणी की गई है। ईसाइयों का मत है कि वह भविष्यवाणी ईसा के सम्बन्ध में थी; किन्तु यहूदियों का विश्वास है कि अबतक वह भविष्यवाणी कार्य-रूप में परिणत नहीं हुई है। उस भविष्यवाणी के अनुसार अवतार अथवा पैगम्बर आगे आनेवाले हैं।

बाइबल की नई किताब में भी, जिसे यहूदी नहीं मानते, अनेक भविष्यवाणियाँ की गई हैं। यथा—ईसा के दूसरी बार संसार में आने का उल्लेख हमें मैथ्यू, डानेयल

तथा रीविलेशन (Mathew, Daneal and Revalation) में मिलता है। थिस्सलुनीकि (४।१३-१७) में चेतावनी दी गई है कि ईसा के पुनरागमन के विषय में ईसाई सचेत रहें और एक दूसरे को शांति दिया करें। लिखा है कि दूसरी बार पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर ईसा हजार वर्षों तक शासन करेंगे (रिविलेशन २०।४, ईसाइया ५, ६।६-७ आदि)। जब ईसा का राज्य होगा तब युद्ध बंद हो जायगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अथवा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से संघर्ष नहीं करेगा (ईसाइया २।४)। तब अंधों की आँखें खुल जायँगी और गूँगे अपनी जीभ से जयजयकार करेंगे। जंगल में जल के सोते फूट निकलेंगे और मरुभूमि में नदियाँ बहने लगेंगी। वहाँ एक सड़क होगी और उसका नाम 'पवित्र मार्ग' होगा। कोई अशुद्ध मनुष्य इस पथ से नहीं चल पायेगा। वह तो पुण्यात्माओं के लिए ही रहेगा। इस मार्ग पर जो चलेगा वह, चाहे मूर्ख भी हो तो भी, नहीं भटकेगा। (ईसाइया, ३५।५-१०)। मनुष्य की आयु बढ़ जायगी (ईसाइया ६५।२०)। मूर्त्तिपूजा कहीं न होगी (ईसाइया २।१८-२०)। हानिकारक जन्तु कहीं नहीं रहेंगे। जो जन्तु रहेंगे उनके स्वभाव में परिवर्त्तन हो जायगा (ईसाइया ११।६-६ एवं ६५।२५)। शैतान इन हजार वर्षों तक बंधन में रहेगा (रिविलेशन २०।२)। समस्त मृत व्यक्ति जी उठेंगे और उन्हें कर्मानुसार फल-प्राप्ति होगी। अविश्वासियों को नरक में डाल दिया जायगा। आकाश में आग जल उठेगी और अनेक तत्त्व तप्त होकर पिघल जायँगे (दूसरा पीटर ३।१३)। इस परिवर्त्तन के बाद जो नवीन संसार होगा उसके रूप का वर्णन बाइबल के रिविलेशन के दो अध्यायों में विस्तारपूर्वक दिया गया है।

बाइबल के वाक्यों में पूर्ण विश्वास, श्रद्धा और आस्था रखनेवाले ईसाइयों का मत है कि बाइबल की अनेक वाणियाँ अक्षरशः अबतक सत्य हुई हैं। और ईसा के पुनरागमन के पश्चात् स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर पूर्णरूप से कायम होगा तथा इस राज्य में पाप तथा तज्जनित क्लेशों का नाम-निशान भी नहीं रहेगा।

ईसाइयों में छोटे-मोटे बहुत-से भेद-भाव हैं जिनके कारण उनमें विशेष पार्थक्य है; परन्तु ईसा की एकता मानने में और उनकी शरणागति के विचार में ऐक्य है। आजकल दुनिया में ३५ प्रतिशत ईसाई हैं। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म-प्रचार में जितना अध्यवसाय दिखलाया है, वह धार्मिक इतिहास के लिए एक उल्लेखनीय घटना है।

पाँचवाँ खण्ड

पहला परिच्छेद
इस्लाम-धर्म

इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० में अरब के मक्का शहर में हुआ था। उन दिनों जदीम, समूद आदि प्राचीन जातियों के अतिरिक्त कहतान, इस्माइल और यहूदी वंश के लोग भी अरब में बसते थे।

अरबवासियों की अवस्था उन दिनों बहुत खराब थी। नर-बलि, व्यभिचार, द्यूत और मद्यपान आदि का उनमें बड़ा प्रचार था। पिता की अनगिनत स्त्रियाँ दायभाग के तौर पर पुत्रों में बाँट दी जाती थीं जिन्हें वे अपनी स्त्री बना लेते थे। युद्ध के कैदियों के साथ उनकी स्त्रियों और बच्चों का भी शिरश्छेदन उस काल की एक साधारण प्रथा थी। सोये हुओं पर आक्रमण कर लूटने और मारने में कुशल लोग 'फातक' और 'फत्ताक' शब्दों से पूजित होते थे। प्रज्वलित अग्नि में जीवित मनुष्य को डाल देना कोई अनुचित कार्य नहीं समझा जाता था। कोमल शिशुओं को लक्ष्य करके तीर मारना, असह्य पीड़ा देने के लिए एक-एक अंग को थोड़ा-थोड़ा करके काटना, शत्रु के मुर्दे के नाक-कान काट लेना, यहाँ तक कि उसके कलेजे को खा जाना इत्यादि अनेक क्रूर कुकर्म उनकी नृशंसता के परिचायक थे।

मुहम्मद की जन्म-कुण्डली देखकर उनके मामा ने, जो महान् ज्योतिषी थे, भविष्यवाणी की कि यह लड़का बड़ा शक्तिशाली होगा। इसके हाथ से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना होगी। मुहम्मद के जन्म के दो मास बाद उनके पिता की और छः वर्ष की अवस्था में उनकी माता की मृत्यु हो गई। माता की मृत्यु के बाद क्रमशः उनके दादा और फूफा ने उनका पालन किया। एक बार बारह वर्ष की आयु में उन्हें बाहर जाना पड़ा। वहाँ बुहैरा नामक एक ईसाई साधु से उनकी भेंट हुई। उसके उपदेश सुन मुहम्मद का मन मूर्तिपूजा से हट गया। यद्यपि मुहम्मद पढ़े-लिखे नहीं थे तथापि जो कुछ देखते-सुनते और जान लेते थे, उसे याद रखते थे। जब वे बड़े हुए तब सीरिया आदि देशों में जानेवाले काफलों के साथ एजेण्ट के रूप में जाने लगे और उनकी ईमानदारी तथा कार्य-कुशलता की चर्चा चारों ओर होने लगी।

इससे प्रभावित होकर कुरैस-वंश की एक समृद्धिशालिनी विधवा खदीजा ने अपना गुमास्ता बनाकर पचीस वर्ष की आयु में नवयुवक मुहम्मद को सीरिया भेजा। इस कार्य को मुहम्मद ने बड़ी ईमानदारी एवं योग्यता से संपन्न किया। कुछ दिनों बाद खदीजा ने उनके साथ निकाह की इच्छा प्रकट की। यद्यपि खदीजा की आयु ४० वर्ष की थी और उनके दो पतियों की मृत्यु पहले हो चुकी थी तथापि इनके अनेक सद्‌गुणों का खयाल करके मुहम्मद ने विवाह कर लिया। इस संबंध के बाद मुहम्मद साहब मक्का के बड़े रईसों में गिने जाने लगे। धनी होने के अतिरिक्त उनका आचरण इतना शुद्ध, व्यवहार इतना निष्कपट और चरित्र इतना निष्कलंक था कि लोग उन्हें 'अलआमीन' अर्थात् ईमानदार कहने लगे। उनका निर्णय भी इतना पक्षपात-रहित होता था कि लोग अपने घरेलू झगड़ों का निर्णय भी उन्हीं से कराते।

अरब की धार्मिक दशा

हुब्ल, लात्, मनात्, उज आदि विभिन्न देव-प्रतिमाओं की पूजा अरब-निवासी करते थे। कुछ काल पूर्व अमरु नामक काबा के प्रधान पुजारी ने सीरिया देश में सुना था कि मूर्तिपूजा करने से दुष्काल से रक्षा और शत्रु पर विजय प्राप्त होती है। उसीने प्रथमतः कुछ मूर्त्तियाँ काबा के मंदिर में स्थापित कीं। देखा-देखी इसका प्रचार इतना बढ़ा कि सारा देश मूर्ति-पूजा में निमग्न हो गया। केवल काबा के मंदिर में ३६० देव-मूर्तियाँ थीं, जिनमें हुब्ल की सर्वाधिक प्रतिष्ठा थी। 'जय हुब्ल' उनका जातीय नारा था। खदीजा मूर्तिपूजा-विरोधी धर्म की अनुयायिनी थी। मुहम्मद ईसाई पादरियों की तरह बहुधा 'हिरा' की गुफा में जाकर एकान्तवास और ईश्वर-आराधना किया करते थे। 'इक्रा बिइस्मि रब्बिक' (पढ़कर अपने प्रभु का नाम) के साथ कुरान का प्रथम वाक्य पहलेपहल यहीं पर देवदूत जिब्र इल द्वारा महात्मा मुहम्मद के हृदय में उतारा गया। उस समय हजरत की आयु चालीस वर्ष की थी। यहीं से उनकी पैगम्बरी आरम्भ होती है। ईश्वर के दिव्य आदेशों को पाकर उन्होंने मक्का के दम्भी पुजारियों एवं जनता को कुरान का उपदेश सुनाना शुरू किया। इससे कुरैसी लोग क्रुद्ध हो गये। वे इस नवीन धर्मानुयायी दास-दासियों को तप्त बालू पर लिटाने, कोड़ा मारने तथा अन्य यातनाएँ देने में भी न हिचके। इस अमानुषिक असह्य अत्याचार को बढ़ते देख मुहम्मद ने हब्स (अफ्रिका) के न्याय-परायण राजा के राज्य में बसने की अनुमति अपने अनुयायियों को दी। जैसे-जैसे मुसलमानों की संख्या बढ़ती जाती थी, कुरैसियों का विद्वेष भी बढ़ता जाता था। किन्तु मुहम्मद के चाचा अबूतालिब के जीवन-पर्यन्त खुले तौर पर उन्हें मुहम्मद का विरोध करने का साहस नहीं हुआ। जब मुहम्मद ५३ वर्ष के हुए तब अबूतालिब एवं खदीजा की मौत हो गई। इससे उत्साहित होकर एक दिन कुरैसियों ने उनकी हत्या के अभिप्राय से उनके घर को घेर लिया। किसी प्रकार निकलकर मुहम्मद मदीना भाग गये। मदीना में भी कुरैसी उन्हें कष्ट पहुँचाने लगे। अंत में आत्म-रक्षा का अन्य उपाय न देख कुरैसियों और यहूदियों के साथ उन्हें अनेक युद्ध करने पड़े जिनकी समाप्ति मक्का-विजय से हुई। विजय के बाद मक्का लौटकर मुहम्मद ने

३६० मूर्तियों को तोड़ा तथा मूर्तिपूजा को अरब से दूर किया। मक्का-विजय करने पर भी मदीना-निवासियों की सेवा एवं सहायता का खयाल कर अपना शेष जीवन मदीना में व्यतीत किया। उनके जीवनकाल में ही अरब-राष्ट्र एक धर्म-सूत्र में आबद्ध हो इस्लाम-धर्म में प्रविष्ट हो गया। अपने कार्य को समाप्त कर हजरत मुहम्मद ६३ वर्ष की आयु में मर गये। चालीसवें वर्ष की आयु में 'इक्रा बिइस्मि रब्बिक' से लेकर मरने के सत्रह दिनों पूर्व रब्बिकल् अकम् (प्रभु, तू अति महान् है) वाक्य के उतरने तक जो दिव्योपदेश तेईस वर्षों में मुहम्मद-द्वारा प्रचारित हुए, उन्हीं के संग्रह का नाम कुरान पड़ा और यही इस्लाम-धर्म का स्वतःप्रमाण ग्रन्थ है।

कुरान

तेईस वर्षों के अंदर कुरान के अंश अलग-अलग वाक्यों में प्रकट होते रहे। उन्हें लोग उसी समय मुहम्मद साहब की आज्ञा से अलग-अलग ताल-पत्रों, चमड़े के टुकडों, लकड़ियों या शिलाओं पर लिखते रहे। ये टुकड़े लकड़ी के एक बक्से के अंदर बिना किसी खास तरतीब के रख दिये जाते थे। कुछ हिस्से मुहम्मद साहब के जीवनकाल में ही उनकी आज्ञा से अलग-अलग सूरों अर्थात् अध्यायों में बाँट दिये गये। कुरान में इस बात का भी जिक्र है कि अल्लाह जिस आयत को चाहता है, रद्द कर देता है (२।१०६)। मुहम्मद मुख्तार पाशा अपनी अंग्रेजी पुस्तक विजडम आफ द कुरान (wisdom of the uran), पृष्ठ ४५ में लिखते हैं कि ६० आयतें मुहम्मद साहब के जीवनकाल में ही रद्द कर दी गईं। मुहम्मद साहब के बाद पहले खलीफा अबुबकर ने उन सब टुकड़ों को निकालकर, जो उस समय वर्तमान थे और कुछ अंश, जो लोगों के कंठस्थ थे, की मदद से, पहली बार ११४ सूरो में कुरान तैयार कराया और उसे मुहम्मद साहब की विधवा हफसा के पास सँभालकर रखवा दिया। पर इन अलग-अलग अंशों की प्रतिलिपियाँ दूसरे लोगों के पास भी मौजूद थीं। जिन लोगों के कंठस्थ थे, उन्होंने भी अपनी याद से वे हिस्से लिख रखे थे। नतीजा यह हुआ कि १०-१५ वर्षों के अंदर ही कई अलग-अलग कुरान मक्का, मदीना और ईराक में चल पड़े, जिनमें एक दूसरे से काफी भिन्न था। आखिर, तीसरे खलीफा उसमान ने उस प्रति को, जिसे पहले खलीफा ने सुरक्षित रखा था, प्रामाणिक घोषित किया और जितनी दूसरी प्रतियाँ इधर-उधर प्रचलित हो चुकी थीं उन सबको मँगवाकर जलवा दिया ताकि एक ही कुरान प्रामाणिक माना जाय।

आज साढ़े तेरह सौ वर्षों के बाद भी सात तरह के कुरान मिलते हैं; किन्तु उनमें फर्क सिर्फ पाठ-भेद का है। इन सबमें यद्यपि आयतों की संख्या में भेद है तथापि मजमून सबमें एक ही है और शब्दों की संख्या भी सबमें समान पाई जाती है।

कुरान के अतिरिक्त मुहम्मद साहब की बाकी सभी नसीहतें, कहावतें और उनकी समय-समय की सभी रिवायतें 'हदीस' कहलाती हैं और वे इलाही या ईश्वरीय नहीं मानी जातीं। जो स्थान वेदों की तुलना में ब्राह्मण-ग्रन्थों का है वही कुरान की तुलना में हदीस का है।

मदीना जाकर हजरत ने विचार किया कि सरलतापूर्वक धर्म-प्रचार करने से इस देश की जंगली और आवेशपूर्ण स्वभाववाली प्रजा नहीं मान सकती। इसलिए लोकरुचि के प्रतिकूल भी धर्मप्रचार करना चाहिए। अतएव उन्होंने कहा कि लोगों को बलात् इस्लाम में दीक्षित करने का ईश्वरीय आदेश हुआ है। अतः हमें इस धर्म के प्रचारार्थ बलप्रयोग भी करना चाहिए। ऐसा करने में जिनके प्राण जायँगे, खुदा उन्हें जन्नत (स्वर्ग) देगा। इसी विचारधारा के अनुकूल मुहम्मद ने कुरैसी व्यापारियों के दल को जो ऊँटों पर माल लादे जा रहे थे, लुटवा लिया। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए शायद ऐसा आदेश आवश्यक था; किन्तु इस आदेश ने मुहम्मद के अनुयायियों को ऐसे ढाँचे में ढाल दिया कि देश-देश में इस्लाम के अनुयायियों ने एक हाथ में तलवार और दूसरे में कुरान लेकर बलपूर्वक इस्लाम फैलाया। संसार में जहाँ वे गये, सफल रहे। किन्तु भारतवर्ष में हजार वर्षों के इस्लामी राज्य के बाद भी एक चौथाई जनता से अधिक को इस्लाम-धर्म में प्रविष्ट नहीं करा सके। हिन्दू-धर्म की उदारता और व्यापकता के कारण इस्लाम का प्रचार न हो सका।

ईश्वर की एकता—'लाइलाह इलिल्लाह' (एक ईश्वर के सिवा कोई देवता नहीं है) इस धर्म का मूल सिद्धान्त है जो भारतीय वेदान्त 'एकमेव परंब्रह्म द्वितीयं नेह किञ्चन' का प्रतिरूप है।

कुरान और यहूदियों के धर्म में बहुत समानता है और मूर्तिपूजकों के सिद्धान्त से घोर विरोध है। तो भी द्वेष के मारे यहूदी लोग मुसलमानों से मूर्तिपूजकों को अच्छा बतलाते थे। मुहम्मद यहूदियों को 'अस्सलामुलैकुम' (तुम्हारा मंगल हो) वाक्य कहकर प्रणाम करते थे। किन्तु यहूदी डाह के मारे उत्तर में 'अस्साम् अलैकुम' (तुम पर मृत्यु हो) कहा करते थे।

सिद्धान्त

संक्षेपतः इस्लामी सिद्धान्त के चार स्कन्ध हैं—(१) सोम (रमजान के मास में उपवास), (२) सलात (नमाज), (३) हज्ज (मक्का-मदीना की यात्रा), (४) जकात (दान)।

(१) **सोम (रोजा)**—'हे विश्वासियो! पूर्वजों के समान तुमलोगों के निमित्त कुछ दिनों के लिए उपवास करने का विधान बनाया गया है जिससे तुम संयमी बन सको। फिर भी यदि कोई तुममें से रोगी हो या यात्रा में हो तो उपवास करने के बदले वह एक गरीब को भोजन दे। यह उपवास तुम्हारे लिए शुभ है। रमजान का मास पवित्र है; क्योंकि इस मास में स्पष्ट मार्गप्रदर्शक, मानव-शिक्षक, सत्यासत्य-विभाजक कुरान उतारा गया। इसलिए जो कोई रमजान महीने में उपवास कर सकें, अवश्य करें' (२।२३।१-३)।

सलात (नमाज)—'सलात और मध्य सलात के लिए सावधान रहो। नम्रतापूर्वक परमेश्वर के लिए खड़े हो जाओ। यदि खतरे में हो तो पैदल या सवारी से यात्रा पूरी कर लो। पुनः जब शांत होओ तो प्रभु को स्मरण करो' (३।३०।३-४)।

'हे विश्वासियो ! जबतक तुम जो कहते हो उसे नहीं समझते या तुम नशा में हो अथवा यात्रा में न होने पर भी अशुद्ध हो तबतक बिना स्नान किये नमाज में न जाओ। यदि रोग या यात्रा की अवस्था में मलोत्सर्ग अथवा स्त्री-स्पर्श किया हो और जल न मिले तो शुद्ध मिट्टी ही हाथ-मुख पर फेर लो' (४।७।१)।

नमाज दो तरह की होती है—(१) फर्द (आवश्यक) और (२) सुन्नत (सामूहिक)। इमाम (नमाज पढ़ानेवाला अगुआ) के पीछे उसके पढ़ने के मुताबिक पढ़ने को सुन्नत कहते हैं और अकेले पढ़ने को फर्द कहते हैं।

यद्यपि कुरान में पाँच बार नमाज पढ़ने का वर्णन नहीं है तथापि पाँच बार की नमाज मान्य हो गई है और भोर में, एक बजे दिन में, चार बजे दिन में, संध्या तथा रात्रि में सामूहिक अथवा वैयक्तिक रूप से पढ़ी जाती है। शुक्रवार को चार बार सामूहिक नमाज के स्थान पर दो बार ही पढ़नी पड़ती है और शेष दो बार के स्थान पर इमाम का उपदेश होता है जिसे लोग सावधानी से सुनते हैं। यह उपदेश सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव-प्रचार का अवसर प्रदान करता है और साथ ही धार्मिक कृत्यों के अंतर्गत होने के कारण कानूनी दायरे के भीतर नहीं आता। ईद की नमाज में जो वर्ष में एक बार पढ़ी जाती है, दो रकात सामूहिक होती है। फिर उपदेश होता है।

नमाज के पूर्व एक आदमी जिसको 'मुअज्जिन' कहते हैं, काबे की ओर मुँह करके ऊँचे स्वर से कहता है—'परमेश्वर अति महान् है। मैं साक्षी देता हूँ कि परमेश्वर के सिवा कोई पूज्य नहीं। मैं साक्षी देता हूँ कि मुहम्मद ईश्वर का दूत है। नमाज में आओ। अल्लाह के सिवा दूसरा पूज्य या ईश्वर नहीं है।' नमाज में कुरान की भिन्न-भिन्न आयतों से प्रार्थना की जाती है।* इनमें एक यह है—'परमदयालु दयामय ईश्वर के नाम से आरम्भ करते हैं। प्रशंसा जगदीश्वर स्वामी के लिए है जो परम दयालु है, जो न्याय-दिवस (कयामत) का स्वामी है। प्रभो, तेरी ही हम सेवा करते हैं और तुझसे ही सहायता माँगते हैं। हमें सीधे मार्ग का आदेश कर। उनके मार्ग का आदेश कर जिनपर तूने कृपा की, उनके मार्ग का नहीं, जिनपर तूने कोप किया या जो कि पथभ्रष्ट हैं। एवमस्तु।'

सामूहिक नमाज़ का इस्लाम में बड़ा मान होता है। वस्तुतः वह संघशक्ति बढ़ानेवाली होती है। एशिया, यूरोप और अफ्रिका के निवासी मुसलमान एक स्वर से, एक ही भाषा और भाव से प्रेरित होकर, मक्का-मदीना में, ईश्वर के चरणारविन्द में अपने को अर्पित करने के लिए, ऊँच-नीच और अमीर-गरीब का भेद भाव छोड़कर, एक ही पंक्ति में खड़े होकर बता देते हैं कि ईश्वर के सम्मुख सभी समान हैं।

(३) हज्ज—काबा अरब का प्राचीन देवालय है, जो मक्का शहर में है। मुहम्मद के जन्म के पूर्व भी अनेक यात्री वहाँ दर्शनार्थ जाते थे। पुराणों में भी शिव के द्वादश

* 'बिसमिल्लाहिरहमानिर्रहीम्। अलहम्दु लिल्लाहि रब्बिलआलमीन, अर्रहमानिर्रहीम। मालिकियो मिद्दीन। इय्याक न अबदु व इय्यक नस्तईन् इहदिनस्सिरातल्मस्तकीम्। सिरातल्लजीन अनअम्त अलैहिम् गैरिल्मगजूबि अलैहिम व लज्ज वाल्लीन्। आमीन्।'

ज्योतिर्लिंगों में 'मक्केश्वर' का नाम आया है। कहा जाता है कि मुहम्मद ने समस्त मूर्त्तियों के साथ इसको भी तोड़ डाला। आज भी इस पत्थर का बोसा (चुम्बन) लेना हाजी (तीर्थयात्री) अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं। कहा गया है—'हम तुम्हारे मुख को (हे मुहम्मद) उठा देखते हैं। अवश्य तुम्हें उस किब्ला (देवालय) की ओर फेरेंगे जो तुम्हें अभीष्ट है। सो जहाँ तुम रहो वहाँ से अपने मुँह को काबा की ओर फेर लो' (२।१७।३)। 'मनुष्यों को हज के लिए तू बुला। ताकि तेरे पास दूर से पैदल और ऊँटों पर चले आवें' (२२।४।२)। 'आदेश दिया गया है कि भगवान के लिए हज करो और यदि किसी प्रकार रोके गये तो यथाशक्ति कुर्बानी (बलिदान) करो। जबतक बलि ठिकाने पर न पहुँच जाय सिर की हजामत न बनवाओ' (२।२४।८)।

(४) **कुरान**—इसमें जकात (दान) का बहुत महत्त्व है। हरएक मुसलमान का कर्त्तव्य है कि अपने आय के नियमित अंश गरीबों के लिए व्यय करे। दान की महत्ता दिखाते हुए कहा गया है कि जबतक अपनी प्रिय वस्तु में से खर्च न करोगे, तबतक पूरा नहीं पा सकते (३।१०।१)।

धार्मिक कर्त्तव्य—'यह पुण्य नहीं है कि तुम अपने मुँह को पूरब या पश्चिम की ओर कर लो। पुण्य तो परमेश्वर, अंतिम दिन, देवदूतों, पुस्तकों और पैगम्बरों पर श्रद्धा रखना है। धन को प्रेमियों, सबंधियों, अनाथों, दरिद्रों, पथिकों, याचकों और प्राण बचाने के लिए देना चाहिए। जो उपवास (रोजा रखना), दान और प्रतिज्ञा को पूरा करते हैं तथा जो युद्ध और विपत्ति में सहिष्णु रहते हैं वे ही सच्चे और संयमी हैं' (२।२२।१)।

इस्लाम में भ्रातृत्व कूट-कूट कर भरा है। यह संसार के सभी धर्मों एवं जातियों के लिए आदर्श है। लिखा है—'सारे मुसलमान अवश्य भाई हैं। अतः परस्पर लड़ते भाइयों को मिला दो। ईश्वर से डरो, कदाचित् तुम दया के पात्र बनाये जाओ' (४६।१।१०)।

मुहम्मद ने खुद अपनी फूफी की लड़की की शादी एक गुलाम से कर दी। भारतवर्ष में भी दास कुतुबुद्दीन को गोरी ने सम्मानित किया। यह ठीक है कि कुरान के आदेशानुसार भारत के मुसलमानों में भ्रातृभाव नहीं है। विवाह आदि में ऊँच-नीच का भाव हो गया है, तथापि मुसलमानों में जितना भ्रातृभाव है उतना दूसरों में नहीं। जो भ्रातृभाव काबुल, तुर्किस्तान, अरब और भारत के मुसलमानों में परस्पर पाया जाता है वैसा एक देश में पैदा होनेवाले, एक साथ रहनेवाले हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर नहीं पाया जाता है। राजा और रंक एक दस्तरखान पर खा सकते हैं और कंधे से कंधा मिलाकर मस्जिदों में नमाज पढ़ते हैं। यह दृश्य न हमें गिरजा में दीखता है, न मंदिर में।

कुर्बानी (बलिदान)—कुर्बानी की चाल इस्लाम के लिए नई वस्तु नहीं है। यहूदियों की भव्य वेदियाँ सदा पशुरक्त से रंजित रहती रहीं। किन्तु यहूदी और इस्लामी बलिदान-पद्धति में फर्क है। जहाँ यहूदी शास्त्रानुसार बलि के बाद पशुमांस पुरोहितों-द्वारा आग में होम कराते हैं वहाँ कुरान के अनुसार ईश्वर के नाम पर पशु-हत्या करने से ही सब विधियाँ समाप्त हो जाती हैं। वे लोग मांस का खुद उपयोग करते हैं। सारांश यह कि यहूदी लोगों की बलिप्रथा पुराने मीमांसकों के पशुयज्ञ का प्रतिरूप है और इस्लाम

की वलिप्रथा काली-दुर्गा आदि के सम्मुख पौराणिक पशुवलि के समान है। किन्तु काली या दुर्गा के सामने जो पशुवलि होती है, उसमें पशु की गर्दन शस्त्र के एक ही झटके से अलग कर दी जाती है और इस्लामी कुर्बानी में पशु-पक्षी की जिवह की जाती है—झटके से उड़ाई हुई गर्दनवाले पशु या पक्षी का मांस उनकी मजहवी निगाह में जायज नहीं है। इस्लाम ने हवन की बात हटाकर पशुवलिमात्र रहने दिया। कुरान में यद्यपि कुर्बानी का वर्णन आया है तथापि कहीं भी यह सर्वोपरि पुण्यकार्य नहीं माना गया है। कहा है—'परमेश्वर को उन वलियों का मांस और रक्त नहीं पहुँचता; बल्कि तुम्हारा संयम पहुँचता है' (२२।५।४)।

निन्दित कर्म—(१) सूद लेना बहुत बड़ा पाप समझा गया है (३।१४।१)। (२) कृपणता को अपराध कहा गया है (४।६।४)। फजूलखर्ची की निंदा की गई है (७।३।६)। (३) मद्यपान का निषेध किया गया है (२।२७।३)। (४) जूआ खेलना महापाप कहा गया है (२।२७।३)। (५) जो अपने ऊपर किये गये अन्याय का बदला ले उसके लिए तो कुछ कहना नहीं; पर जो लोगों पर अन्याय करते हैं एवं दुनिया में व्यर्थ धर्मात्मा होने की धूम मचाते हैं उन्हीं के लिए घोर यातना है। क्षमा और संतोष का काम निस्संदेह अत्यंत साहस का है (५२।४।१२-१४)।

विशेषताएँ—(१) प्रायः किसी धर्म में स्त्रियों को पुरुषों के समान जायदाद में हिस्सा पाने का अधिकार नहीं दिया गया है; किन्तु इस्लाम ने दिया है। यह इसकी विशेषता है। कहा है—माता, पिता या सबंधी जो कुछ थोड़ा-बहुत छोड़कर मरते हैं उसमें स्त्री-पुरुष दोनों का भाग है। परमेश्वर कहता है कि तुम्हारी संतान में पुरुष का भाग दो स्त्री-भाग के बराबर है (४।२।१)।

(२) कुरान में गौणरूप से चार विवाह तक की आज्ञा है। कहा है कि यथेच्छ विवाह करो—एक, दो, तीन, चार; किन्तु यदि भय हो कि प्रत्येक विवाहिता के साथ उचित व्यवहार नहीं कर सकोगे तो एक ही विवाह पर संतोष करो (४।१।३)।

(३) स्त्रियों के परदे के विषय में कहा है—हे नवी, अपनी बहू-बेटियों और अन्य स्त्रियों से भी कह दे कि अपनी चादर थोड़ी-सी ऊपर उठा लें जिससे वे पहचानी जायँ और उन्हें कोई न सतावे (३३।८।१)।

स्त्रियों से कह दे कि दृष्टि नीची रखें; अपने गुप्त अंगों को ढँककर रखें। जो प्रकट है उसके सिवा अपने सौन्दर्य को न दिखावें। अपने पति, पिता, श्वसुर, पुत्र, सौतेला पुत्र, भाई, भतीजा, भानजा, अपनी सहेली, दासी, आश्रिता, ऐसा पुरुष या बालक जो स्त्री-भेद नहीं जानता है—इन सबको छोड़कर औरों के सामने अपनी ओढ़नी से सीना ढँक लें; अपने घूँघट को न खोलें, पैर धमकाती न चलें, जिससे छिपा जेवर आदि दीख पड़े (२४।४।५)।

स्वर्ग-नरक—नरक उत्तर की ओर, स्वर्ग दक्षिण की ओर है और दोनों के बीच में एक ओट (दीवार) है। उसके ऊपर मनुष्य है जो प्रत्येक को उसके लक्षण से पहचानता है। वह स्वर्गवासियों से कहता है—'तुम्हारे लिए नमस्कार है।' वह स्वर्ग में प्रविष्ट नहीं हुआ। वह स्वर्ग का इच्छुक है। जब नरकवासियों की ओर उसकी दृष्टि पड़ती

है, तब वह कहता है—हे मेरे स्वामी, मुझे अपराधी लोगों के साथ न कर (७।५।७-८)। इसी बीच की ओट या दीवाल को 'एराफ' कहते हैं। नरक-स्वर्ग दोनों में से एक को भी पाने की योग्यता न रखनेवाला यहीं निवास करता है।

कर्मों के अधीन स्वर्ग और नरक है। कर्मों के भोगने में जीव परतंत्र है—यह सर्वसम्मत है। किन्तु कुरान में अनेक ऐसे वाक्य हैं जिनसे जीव की, कर्म करने में, परतंत्रता झलकती है। जैसे—'ईश्वर जिस मार्ग पर (चलने की) प्रेरणा करता है वही मार्ग बाला (ऊँचा) होता है। जिसे ईश्वर भटकाता है वह भटकता रहता है' (७।२२।७)। 'कोई भी जीव परमात्मा की आज्ञा में लिखित अवधि के पहले नहीं मरता (३।१५।२)।

स्वर्ग-नरक का वर्णन—स्वर्ग के ऐश्वर्यों में तख्त पर आमने-सामने से सुन्दर लड़के नफीस शराब के प्याले लिये घूमते हैं। वह शराब सफेद रंग की है और पीनेवालों के लिए सुस्वादु है। उसके पीने से सिर नहीं चकराता और न नशा होता है। उसके पास नीची नजर रखनेवाली विशाल नेत्रोंवाली स्त्रियाँ हैं जिनके नेत्र मानो छिपे अंडे हों (३७।२।२०-२६)। वहिश्त के विश्वासियों के लिए खुले द्वारवाला रहने का बाग है। उनके पास निम्नदृष्टिवाली युवतियाँ हैं (४८।४। १२-१४)। उद्यान में स्वच्छ जल की नहरें, दूध की नहरें जिनका स्वाद नहीं बदलता, शराब की नहरें और बहुत स्वादिष्ट फल हैं (२६।२।४)।

स्वर्ग में जिस प्रकार आनन्द-सागर तरंग मारता है, नरक में वैसे ही विपत्ति की ज्वाला भीषणता से जल रही है। कहा है—डरो उस अग्नि से जिसके ईंधन मनुष्य हैं (२।३।४)। जिन्होंने कुरान के प्रमाणों पर विश्वास नहीं किया, थोड़ी देर में हम उन्हें अग्नि में फेंक देंगे। जब उनकी एक ओर की चमड़ी जल जायगी तब हम दूसरी ओर बदल देंगे जिसमें वे कष्ट भोगें (४।८।६)। नरक में पीब का जल पिलाया जाता है। पापी एक-एक कुल्ला लेता है, परंतु घोंट नहीं सकता। उसके पास मृत्यु आती है, पर वह मरता नहीं। उसकी पीठ पर बड़ा डंडा है (१४।३।४-५)। वह अग्नि के समूह में डाल दिया जाता है फिर १४० हाथ लंबी बेड़ी से बाँध दिया जाता है। वह महान् परमात्मा पर विश्वास नहीं करता था, याचकों को भोजन देने में दत्तचित्त नहीं था। इसलिए यहाँ कोई उसका मित्र नहीं। घाव के धोये हुए जल के सिवा अपराधी कुछ दूसरा खाता नहीं (६६।२।२८-३४)। ऐसे लोगों के लिए आग्नेय वस्त्र बनाये गये हैं। उनके सिर पर गरम पानी डाला जाता है।

इस प्रकार कुरान में वर्णित स्वर्ग की रमणीयता और नरक की भीषणता उपर्युक्त बातों से भली-भाँति ज्ञात होती है। नरक और स्वर्ग दोनों का उपभोग अनन्त काल के लिए होता है। कुरान में कई स्थानों पर स्वर्ग-वर्णन के साथ-साथ नरक का भी वर्णन आया है जिससे पापी पाप करना छोड़ अच्छा बने और निर्णय के दिन नरकाग्नि में न डाला जाय।

पुनर्जन्म—कुरान के अनुसार मनुष्य का यह जन्म सर्वप्रथम और अंतिम है। हिन्दू-धर्मवालों (सनातनी, जैन, बौद्ध आदि) ने जिस तरह अनेक जन्मों को स्वीकार किया है

वैसा कुरान का मत नहीं। तथापि कुरान में कुछ ऐसे वाक्य हैं जो पुनर्जन्म को प्रमाणित करते हैं। जैसे—जिनपर परमेश्वर कुपित हुआ उनमें से कुछ को बन्दर और सूअर बना दिया (५।६।४)। और भी अनेक वाक्य हैं जिनसे पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता स्पष्ट ज्ञात होती है (२।२८; २।२४३; २।२५६; २२।६; ७१।१७-१८;३०।१६; ३।२६)।

आज मुसलमानों का एक सम्प्रदाय पुनर्जन्म मानता है। संसार-प्रसिद्ध कवि-दार्शनिक महात्मा रूमी अपनी 'मसनवी' में लिखते हैं—

"हम चुं सब्जा बारहा रोईद अम्।
हफ्त सद् हफ्ताद् कालिब् दीद अम्॥"

अर्थात् मैंने अनेक जन्म लिये और सात सौ सत्तर शरीरों में प्रकट हुआ। यह धारणा हिन्दुओं की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने की भावना से मिलती-जुलती है।

न्याय-दिवस (कयामत)—संसार में मनुष्य-पशु आदि सभी जीव प्रथम ही प्रथम शरीर में प्रविष्ट हुए हैं। मरने के बाद पुनर्जन्म न होगा। संसारी प्राणी का कोई संचित प्रारब्ध कर्म नहीं होता। जगत् के भोगों की असमानता जीव के कर्म के अनुसार नहीं है, वह ईश्वरेच्छा है। अपने कर्मों का फल मनुष्य ही पाते हैं—पशु-पक्षी नहीं। मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ईश्वर ने पशु-पक्षियों को बनाया है। कयामत अथवा पुनरुत्थान के दिन प्रत्येक जीव अपने-अपने प्राचीन शरीर के साथ जी उठेगा। उस दिन उसके शुभाशुभ कर्मों का पारितोषिक या दंड सुनाया जायगा। उस दिन न किसी का कोई मित्र—सहायक—होगा और न कोई सहायता पायगा (४४।२।१४)। उस दिन कोई दूसरे का भार नहीं उठावेगा। यदि बहुत भार से कोई मरा जाता हो और वह किसी को सहारे के लिए पुकारे तो भी उसका भार कोई न ढोयेगा, चाहे संबंधी ही क्यों न हों (३५।३।४;३६।१।६)। डरो उस दिन से जब एक जीव दूसरे जीव के कर्म को न बदलेगा और न सिफारिश मंजूर होगी। न उसके बदले में कोई दूसरा लिया जायगा और न वह कोई सहायता ही पायगा (२।६।२)।

परमेश्वर—अल्लाह के सिवा कोई ईश्वर नहीं। वह जीवन और सत् है। उसे नींद नहीं आती। जो कुछ भूमि और आकाश है, उसी के लिए है। कौन है जो उसकी आज्ञा के बिना उसके पास सिफारिश करे। वह सब-कुछ जानता है—आगे, पीछे, भूत, भविष्य में जो कुछ है उससे छिपा नहीं है, सिवा उन बातों के, जिन्हें वह नहीं जानना चाहता। वह उत्तम और महान है (२।३४।२)। वह न किसी से पैदा हुआ है न कोई उससे पैदा है (११२।१।३)। वह परमेश्वर है जिसने छः दिनों में भूमि और आकाश को बनाया और अर्श (सिंहासन) पर विराजमान हुआ (५७।१।४; १०।१।३; १३।१।२; ३२।१।४)। 'अर्श पर विराजमान हुआ'—इस वाक्य से स्पष्ट है कि कुरान में साकार ईश्वर की भी धारणा की गई है। ईश्वर सातवें आसमान में सिंहासन पर बैठकर फरिश्तों के द्वारा सारी सृष्टि पर शासन करता है। किन्तु कुरान में सब जगह ईश्वर को सर्वव्यापी कहा गया है। 'वह आदि है, वह अंत है, वह बाहर है, वह भीतर है, वह सब चीजों का जानकार है' (५७ १३)। काफिर (नास्तिक) को भगवान् से मिलने में संदेह है, किन्तु वह तो सर्वव्यापक है (५१।६।१०)। अतएव कुरान में ईश्वर के सर्वव्यापी होने की भी भावना है। साथ ही साथ, उसको सुदूर सातवें आसमान पर भी रहते तथा सिंहासनारूढ़

होकर मुहम्मद के पास कुरान को जिब्रील द्वारा भेजते भी हम देखते हैं। कुरान का ईश्वर-संबंधी भाव हिन्दू-धर्म के अद्वैत और द्वैत भावों का सम्मिश्रण है।

फरिस्ते—जिस प्रकार पुराणों में परमेश्वर के अधीनस्थ अनेक देवता विभिन्न काम करनेवाले माने गये हैं उसी प्रकार इस्लाम में फरिस्तों (देवदूतों) को माना गया है। फरिस्ते आस्तिकों के पास आते हैं और कहते हैं—'हमारा मालिक परमेश्वर है और हम उसपर दृढ़ हैं। डरो नहीं, अफसोस न करो और उसका स्वर्गीय संदेश सुनो जिसके मिलने के लिए तुम्हें वचन दिया गया है (४१।४।५)। प्रत्येक मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों के लेखक तथा रक्षक फरिस्ते हैं जिनके विषय में कहा गया है—'निसंस्देह तुम्हारे ऊपर रखवाले हैं, जो कुछ तुम करते हो उसे वे जानते हैं (८२।१।१०-१२)।'

शैतान—फरिस्तों के अतिरिक्त कुरान में एक तरह के और भी अदृष्ट प्राणियों की बात कही गई है जो सब जगह आने-जाने में फरिस्तों के ही समान हैं; किन्तु वे शुभ कर्मों से हटाकर मनुष्य को अशुभ कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। उन्हें शैतान (पापात्मा) कहते हैं। शैतान पृथ्वी तक ही धावा नहीं करते; बल्कि आकाश तक चढ़ मारते है। शैतानों के सरदार इब्लिस के स्वर्ग से निकाले जाने की कथा कुरान में वर्णित है। ईश्वर ने इन्हें जब पैदा किया, इनकी सूरत गढ़ी, तब फरिस्तों से कहा—आदम को दंडवत् करो। उन्होंने वैसा किया। किन्तु इब्लिस इन प्रणाम करनेवालों में न था। इसपर ईश्वर ने कहा—'निकल जा इस स्वर्ग से। क्योंकि यह ठीक नहीं कि तू इसमें रहकर गर्व करे। अतः तू निकल, तू क्षुद्र है।' दुष्ट शैतान से इतना भय है कि कहा है कि जब तुम कुरान पढ़ो तो दुष्ट शैतान से (रक्षा पाने के लिए) ईश्वर की शरण माँगो (१६।१३।१६)।

बाइबल में भी शैतान का जिक्र आया है। आदम को बहकाने की कथा दी गई है। किन्तु अगर विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्टतया पता लगेगा कि शैतान हमारे शरीर में रहनेवाले विकराल विकार हैं और उसी प्रकार फरिस्ते सद्विचार हैं। हमारे हृदय में भी निरंतर इन विरोधी शक्तियों का संघर्ष होता रहता है। कभी जीत फरिस्तों की होती है तो कभी शैतानों की। इस प्रकार महाभारत के शांतिपर्व में वर्णित गृध्र-गोमायु-संवाद भी आलंकारिक भाषा में दी गई है। वह हमारे भीतर होनेवाले मोह और वैराग्य के द्वन्द्व का द्योतक है और सर्वथा पठनीय है।

कुरान के उपदेशों का सार—भिक्षुकों और फकीरों को दान देना प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक कर्म है। दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरों से करवाना चाहते हो। किसी के साथ अन्याय न करो, इससे तुम्हारे प्रति भी कोई अन्याय न करेगा। भूखों को भोजन दो। रोगी की शुश्रूषा करो और बंधन में पड़े हुए को बंधन से मुक्त करो। किसी भी मनुष्य के प्रति घृणा न करो। पृथ्वी पर अकड़कर न चलो; क्योंकि भगवान् घमंडी को प्यार नहीं करता। जो भगवान् के बंदों को प्यार नहीं करता, ईश्वर भी उसे प्यार नहीं करता। दान देनेवाला संसार में सर्वश्रेष्ठ होता है। जो दाहिने हाथ मे देकर बाएँ हाथ से उसको छिपा लेता है वह सबपर विजय प्राप्त कर लेता है।

सम्प्रदाय

वैसे तो मुसलमानों में कई सम्प्रदाय हैं; किन्तु मुख्य ये हैं—(१) सुन्नी, (२) शिया, (३) वहाबी, (४) आगाखानी और (५) कादियानी। इनके अलावा हिन्दू-वेदान्तमत के समान सूफीमत भी है। ये सब-के-सब कुरान और मुहम्मद साहब को मानते हैं। सुन्नियों की संख्या अधिक है। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद मुसलमानों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष आरम्भ हुआ, जो बढ़ते-बढ़ते छठे खलीफा के समय तक काफी विषम हो गया। अनेक मुसलमानों ने खलीफा के खिलाफ मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुसेन को खलीफा घोषित किया। खलीफा ने इमाम हुसेन साहब को मदीना से अपनी राजधानी कुफा में बुलवाया। मार्ग में बगदाद के समीप कर्वला नामक स्थान में छल से खलीफा के आज्ञानुसार इमाम हुसेन की हत्या कर दी गई। उसी समय से, यादगार के तौर पर, शिया मुहर्रम मनाते हैं तथा कुछ सुन्नी भी उसमें शामिल होते हैं। खलीफा के अनुयायी सुन्नी हैं। मुहम्मद साहब के दामाद अली साहब के शहीद पुत्र इमाम हुसेन साहब के अनुयायी शिया हैं। शिया लोगों के मुख्य तीर्थ कर्वला और ईराक का नजफ अशरफ है। ईरान शियाप्रदेश है और ईराक में भी शियों की संख्या पर्याप्त है।

वहाबी—ये आर्यसमाजियों के सदृश मृत व्यक्तियों की पूजा के पक्ष में नहीं हैं। इनकी राय है कि कब्र के ऊपर यादगार के रूप में मूर्ति बनाना बेकार है। वहाबी राजा इब्न सईद ने, कुछ वर्ष हुए, अरब के समस्त कब्रगाहों को तुड़वाकर उनका अस्तित्व मिटा दिया। अन्य विचार-धारावाले मुसलमानों के विचार का खयाल कर उसने सिर्फ मुहम्मद साहब के स्मारक को छोड़ दिया।

आगाखानी—ये भारतवर्ष के बंबई-प्रांत में और अफ्रिका में खोजा, मेनन के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये मुसलमानों में सर्वाधिक धनाढ्य हैं। इनका विश्वास है कि 'आगाखाँ' ईश्वर के अवतार हैं और उन्हें मनुष्यों को बहिस्त या नरक में भेजने का अधिकार है। दक्षिणा पाने पर आप रोक्का लिखकर जिब्रील के नाम देते हैं और वह रोक्का कब्र में मुर्दे के साथ गाड़ा जाता है। उनका विश्वास है कि स्वर्ग में जिस स्थान का निर्देश उसमें रहता है वह उस व्यक्ति को मिलता है।

कादियानी—इस मत के अनुयायी सिर्फ पंजाब में हैं। इसके प्रवर्त्तक हजरत गुलाम अहमद कादियान, जिला गुरुदासपुर (पंजाब) के थे। अतएव यह मत **कादियानी** नाम से विख्यात है। यह मत सब धर्मों के महापुरुषों की इज्जत करता है। इसका कहना है कि मुहम्मद साहब अंतिम पैगम्बर नहीं हैं। यह मत कृष्ण, नानक आदि महापुरुषों को भी मुहम्मद साहब के समान पैगम्बर या अवतार मानता है। हजरत गुलाम भी नबी के रूप में आये हैं। अत: उनके उपदेश अंतिम नबी होने के कारण मान्य हैं। किन्तु और मुसलमान उनका अनादर करते हैं।

मुसलमानों का उदार दल जो परम प्रियतम के रूप में परमात्मा की उपासना करता है, **सूफी** कहलाता है। सूफी मत की यह धारणा है कि प्रभु की प्रेरणा शुद्ध हृदय से प्राप्त होती है। सूफी मानते हैं कि जो कुछ सत्ता है वह एकमात्र प्रभु की ही है। यह मुसलिम

वेदान्तमत है और 'अनलहक' (मैं ही ब्रह्म हूँ) इसका साधना-मंत्र है। सबमें प्रभु है और सब-कुछ प्रभु में है। प्रभु के चरणों में सर्वस्व अर्पण कर उसमें लय होना ही सूफी-साधना की चरम परिणति है। कठोर तपस्या, दीर्घ उपवास और प्रार्थना इसका साधन है। (१) रबिया, (२) मंसूर, (३) जलालुद्दीन, (४) हाफिज और (५) शेखसादी प्रसिद्ध सूफी थे। ईश्वर का मार्ग अनुसरण करने के कारण मंसूर को नाना प्रकार की यंत्रणाएँ सहनी पड़ीं और अन्त में सूली पर लटक जाना पड़ा। मंसूर 'अनलहक' की रट लगाते रहते थे। खलीफा ने आज्ञा दी कि जबतक यह 'अनलहक' बोलता रहे—पीटा जाय। लकड़ी की हरएक मार के साथ मंसूर के मुख से वही 'अनलहक' निकलता रहा। सूली का उन्होंने स्नेहभाव से चुंबन किया। पहले हाथ काटे गये, फिर पैर। अपने ही खून से अपने हाथों को रँगकर उन्होंने कहा कि यह एक प्रभु-प्रेमी की वजू (अंगमार्जन) है। जल्लाद जब उनकी जीभ काटने लगा तब उन्होंने कहा—हे परमेश्वर, जिन्होंने मुझे इतनी पीड़ा पहुँचाई उन्हें तू सुख से वंचित न कर, उनपर नाराज न हो; क्योंकि मेरी मंजिल को उन्होंने कम कर दिया है। अभी वे मेरा सिर काट लेंगे तो मैं तेरे दर्शन करने में समर्थ हो सकूँगा।

अनन्त प्रेम और अनन्त सौन्दर्य के सच्चे उपासक जलालुद्दीन रूमी का स्थान सूफी-संतों में विशिष्ट है। आपके काव्यग्रन्थ 'मसनवी' में सूफी-साधना की बहुत-सी बातें प्रसंगवश आई हैं। यह पुस्तक पठनीय है। इसमे सूफी-धर्म पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार सूफियों में दो मार्ग हैं—वेदान्तमार्ग और भक्तिमार्ग। उनमें मंसूर वेदान्तमार्ग के थे और रूमी भक्तिमार्ग के। समस्त सत्ता के केन्द्र में उसके प्राणस्वरूप ईश्वर है। वह निखिल प्रेम और निखिल सौन्दर्य का समुद्र है। सृष्टि के कण-कण में उसीका सौन्दर्य झलक रहा है। मोह के आवरण के कारण ही मनुष्य का देवत्व ढँका हुआ है। देवत्व की चिनगारी प्राणिमात्र में विद्यमान है। परमानन्द की स्थिति में अंधकार का आवरण हट जाता है। अंतर आलोकित हो जाता है। नरक अथवा अज्ञान की तो कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। वह सत्यरूपी सूर्य के उगने पर स्वयं लुप्त हो जाता है। सब-कुछ मिट जाने पर भी अन्त में प्रभु रहता है। वही हमारा सर्वस्व है। *

---

* कल्याण, संत-अंक

दूसरा परिच्छेद
शंकर और अद्वैतवाद

वेदान्त-दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार भारत में बहुत प्राचीनकाल से है। किन्तु जगद्गुरु शंकराचार्य ने इसको केवल नूतन और परिष्कृत रूप ही नहीं दिया, बल्कि सबसे अधिक इसका प्रचार भी किया। इसी कारण, अद्वैतवाद शंकरमत के नाम से विख्यात है। वेदान्त (ब्रह्मसूत्र) पर आज जितने भाष्य उपलब्ध हैं उनमें सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक 'शांकरभाष्य' ही है।

परिचय

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य का जन्म ६३६ ई० में केरल-प्रदेश-निवासी ब्राह्मण शिवगुरु की सुभद्रा नामक स्त्री के उदर से, वैशाख-शुक्ल-पञ्चमी को हुआ था। उनके जन्म का नाम शंकर था। जब वे तीन वर्ष के हुए, पिता की मृत्यु हो गई। सात वर्ष की अवस्था में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि विद्याओं में पारंगत हो माता के साथ रहने लगे। स्थानीय राजा शेखर ने उनकी विद्वत्ता, निस्पृहता एवं असाधारण प्रतिभा देखकर बहुत आदर-सत्कार किया। घटनाचक्र से आठ वर्ष की अवस्था में उनको अपनी माता से संन्यास लेने की आज्ञा मिल गई। घर से चलकर नर्मदा-तट पर स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से दीक्षा ली। गुरु द्वारा बताये मार्ग से साधना आरम्भ कर दी। कुछ ही वर्षों में बड़े योग-सिद्ध महात्मा हो गये। बाद काशी आये। ख्याति बढ़ने लगी। लोग शिष्य होने लगे। वहाँ से कुरुक्षेत्र होते हुए बदरिकाश्रम गये। १२ से १६ वर्ष की अवस्था तक २७२ ग्रन्थ लिखे, जिनमें ब्रह्म-सूत्र-भाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य और विवेकचूडामणि मुख्य हैं। बदरिकाश्रम से वे प्रयाग आये, जहाँ कुमारिलभट्ट से भेंट हुई। कुमारिलभट्ट के कथनानुसार माहिष्मती ग्राम में मण्डन मिश्र के पास शास्त्रार्थ के लिए आये। मण्डनमिश्र बड़े दिग्गज विद्वान और मीमांसक पण्डित थे। इसका आभास इसीसे मिलता है कि जिस समय शंकर माहिष्मती पहुँचे उस समय उन्होंने एक दासी से उनके घर का पता पूछा। दासी ने उत्तर में कहा—

स्वतःप्रमाणं परतःप्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥
जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥

अर्थात् वेद स्वतःप्रमाण है या परतःप्रमाण ; कर्म आप ही फल देता है या ईश्वर कर्म का फल देता है; जगत् नित्य है या अनित्य—इस प्रकार जिनके द्वार पर पिंजरे में बैठी मैना बोलती है, वही मण्डनमिश्र का घर है।

उपर्युक्त तीनो श्लोक षड्दर्शन के मूल सिद्धान्त के द्योतक हैं। मीमांसा वेद को स्वतः-प्रमाण मानता है, किन्तु न्याय को यह मान्य नहीं है। सांख्य का मत है कि कर्म आप ही फल देता है, किन्तु वैशेषिक का निश्चित मत है कि कर्म का फल देनेवाला ईश्वर है। वेदान्त संसार को क्षणभंगुर माया का प्रसार समझता है, किन्तु योग नहीं। इस उत्तर से सहज ही अनुमान होता है कि उस समय देश में विद्या का कितना प्रचार था और मण्डनमिश्र के घर पर कैसी शास्त्रचर्चा होती थी।

शंकराचार्य और मण्डनमिश्र में शास्त्रार्थ हुआ। मण्डनमिश्र की पत्नी 'भारती' (उपनाम 'शारदा') मध्यस्थ हुईं। मण्डनमिश्र परास्त हुए, और संन्यास लेने को उद्यत हुए। अब भारती और शंकर में शास्त्रार्थ हुआ। भारती कौशल से कामशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्न पूछ बैठीं। शंकर बाल-ब्रह्मचारी थे। उन्हें न वास्तविक अनुभव था, न उन्होंने कामशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन ही किया था। अतएव, उन्होंने अवधि माँगी। बाद शंकर ने योगबल से मृत राजा अमरुक के शरीर में प्रवेश किया तथा काम-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर भारती को पराजित किया। भारती पति के संन्यास लेने के बाद शृंगगिरि पर रहकर अध्यापन का कार्य करती रहीं।

शंकर में प्रकाण्ड पाण्डित्य, गम्भीर विचारशैली, प्रचण्ड कर्मशीलता, अगाध भगवद्भक्ति, सर्वोच्च त्याग, अद्भुत यौगेश्वर्य आदि अनेक गुण थे। उनकी वाणी में तो साक्षात् सरस्वती विराजती थीं। इसी कारण, बत्तीस वर्ष की अवस्था में, यातायात की सुविधा का सर्वथा अभाव होने पर भी, सुदूर कश्मीर एवं बदरीनारायण-धाम से कन्याकुमारी तक, सारे भारत में भ्रमण कर शैव, कापालिक, शाक्त, गाणपत और सर्वोपरि बौद्ध सम्प्रदाय के पृष्ठपोषकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। भारत के चारो कोनों में चार प्रधान मठ स्थापित कर सारे देश में युगान्तर उपस्थित कर दिया। इस प्रकार डूबते हुए हिन्दूधर्म का पुनरुद्धार कर उसे दृढ़ नींव पर स्थापित किया। परिणाम-स्वरूप, मुसलमानों के भयंकर आक्रमणों के बावजूद भी हिन्दू-धर्म और संस्कृति की रक्षा हो सकी।

सिद्धान्त

शंकर के मत से, जितना भी दृश्यवर्ग है, सब माया के कारण विभिन्न-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह अखण्ड शुद्ध चिन्मात्र ही है। सम्पूर्ण प्रतीतियों के स्थान में एक

अखण्ड सच्चिदानन्दघन का अनुभव करना ही ज्ञान है। जैसे तरंग, धारा, भँवर आदि जल से अभिन्न होते हैं वैसे ही यह अनेक विधि-भेद-संकलित संसार केवल शुद्ध परंब्रह्म ही है। उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। और, वही आत्मा है। इस बात का बोध होना कि सम्पूर्ण जगत् माया का प्रसार है और सच्चिदानन्दघन से उसका अभेद है—ज्ञान कहलाता है।

शंकर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ज्ञान का साधन माना है। किन्तु इसकी सफलता ब्रह्म की जिज्ञासा होने पर ही है। जो मनुष्य विवेक, वैराग्य आदि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षादि चार साधनों से सम्पन्न है, उसका चित्त शुद्ध होने पर जिज्ञासा हो सकती है, चित्त की शुद्धि के लिए निष्काम कर्म बहुत उपयोगी है। उन्होंने भक्ति को ज्ञानोत्पत्ति का प्रधान साधन माना है। अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति कहलाता है। ज्ञान को प्रधान और उपासना तथा कर्म को गौण सिद्ध किया है। उस समय के प्रचलित सभी धर्मों, मतों, पंथों के आचार्यों से वाद-विवाद कर ज्ञान-मार्ग का मण्डन किया और विजय प्राप्त कर अद्वैत का भी प्रचार किया।

साधारण जन-समाज में अद्वैतमत का पूर्ण प्रचार करने के निमित्त परमात्मा के सगुण रूपों की पूजा के अनेक स्तोत्र बनाये। यद्यपि वे ज्ञानमार्ग के ही पूर्ण पक्षपाती थे तथापि कर्म और भक्ति को ज्ञान का अवान्तर साधन समझकर वर्णाश्रम के अनुसार कर्मादि करने की आज्ञा प्रदान करते थे। केवल मोक्ष के लिए ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है—यह बतलाते हुए 'अहिंसा परमोधर्मः', 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या', 'जीवो ब्रह्मैव नापरः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* उपदेश देते थे और एकात्मभाव का प्रचार करते थे।

उनके द्वारा स्थापित चार मठ, जिनमें उन्होंने चारों वेदों के आचार्यों को मठाधीश नियुक्त किया, निम्नांकित हैं—

(१) तुंगभद्रा के तट पर शृंगेरीमठ। यही प्रधान मठ है। यजुर्वेदी सुरेश्वराचार्य (मण्डनमिश्र) प्रथम मठाधीश हुए।

(२) शारदापीठ, द्वारका के प्रथम मठाधीश सामवेदी हस्तमालकाचार्य बनाये गये।

(३) गोवर्धन-मठ, पुरी। आचार्य पद्मपाद ऋग्वेदी, जो शंकर के प्रथम शिष्य थे, प्रथम मठाधीश हुए।

(४) जोशीमठ (बदरिकाश्रम) के प्रथम मठाधीश अथर्ववेदी तोटकाचार्य हुए।

इन चार मठों के अतिरिक्त कांची का कामकोटि-पीठ भी आचार्य-द्वारा स्थापित माना जाता है।

प्रकाण्ड विद्वान् श्रीइन्दिरारमणजी का विचार है कि 'यह बात आँख मूँदकर मान लेने योग्य नहीं है कि देशव्यापी और सुसंघटित शंकर-मिशन सिर्फ मायावाद वा अद्वैत-वाद के प्रचार के लिए ही कायम हुआ था। आज भी शंकर-सम्प्रदाय के चार मठ, चार सम्प्रदाय, सात अखाड़े और बावन कुटियाँ देश के चतुर्दिक् स्थापित हैं, तथा उनके नागालोगों का जो फौजी बाना, अस्त्र-शस्त्र, निशान (सैनिक झण्डा), लड़ाकू

* अहिंसा परम धर्म है; ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है, जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं तथा विश्वमात्र ब्रह्मस्वरूप है।

स्वभाव आदि संस्कार अब भी शेष रूप से देखा जाता है। इन सबसे भी यही ज्ञात होता है कि शंकर-सम्प्रदाय का वह व्यूह अवश्य किसी विशेष सामाजिक प्रयोजन से रचा गया था। वह प्रयोजन था वाममार्गीभूत नकली बौद्धों से तथा विदेशी एवं विधर्मी आक्रमणकारियों से भारतीय वर्णाश्रमधर्म और समाज तथा देश की रक्षा करना। इसके लिए सुधार और संहार दोनों की आवश्यकता थी। सुतरां, परिस्थिति के अनुसार शंकर को ब्रह्म-क्षात्र-संयुक्त समाज-धर्म को अपनाना पड़ा और यथाप्रयोजन शास्त्र तथा शस्त्र दोनों से काम लेना पड़ा। तात्पर्य यह कि शंकर-सम्प्रदाय मुख्यतः धर्म-सैनिकों और समाज-निर्माताओं का संगठन था। पर, न जाने क्यों, उसका तद्विषयक इतिहास उपेक्षित रहा।'

उपर्युक्त विद्वान का ही मत है कि 'श्रीशंकराचार्य को अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए दो बार, दो प्रकार से वर्ण और आश्रम का परिवर्त्तन करना पड़ा था। पहले तो बौद्धों और मुसलमानों से वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करने के लिए और विशेषतः मुसलमानों के विध्वंसक आक्रमणों से तत्कालीन हिन्दू-मठ-मन्दिरों को बचाने के लिए उन्होंने चातुर्वर्ण्य के अपने अनुयायी युवकों का एक विराट् धर्म-युद्ध-सैन्य-दल संघटित किया। उसे सुदृढ़, निर्भय एवं निर्द्वन्द्व सैन्य बनाने के लिए ही उन्होंने 'गोस्वामीकरण' की प्रक्रिया निकाली, जिसका संक्षिप्त परिचय यों है—जब श्रीशंकर ने देखा कि इस प्रकार बौद्धों तथा विधर्मियों का उपद्रव होने लगा तो आप वहाँ से तत्काल चलकर प्रयाग आये। वहीं पर उन्होंने अपने मुख्य अनुयायियों को निमंत्रित किया। चारों वर्ण के लोग बड़े हर्ष और उत्साह के साथ उनकी आज्ञा का तन-मन-धन से पालन करने के लिए प्रस्तुत हुए। बहुत-से नवयुवक एवं कुलीन लोग अपने घर का सुख त्याग करके, गो-ब्राह्मणों और देवी-देवताओं के हितार्थ, उनके दल में सम्मिलित हुए। उस समय उन सबको गोस्वामी की उपाधि दी गई। वही शब्द अब 'गोसाईं' हो गया। इस प्रकार, बहुत थोड़े समय में उनके पास एक बहुत बड़ी सेना हो गई। इस धार्मिक सेना को उन्होंने सात खण्डों में विभाजित किया और हर एक का नाम 'अखाड़ा' रखा। इनमें, इस समय, भारत में, दो ही अखाड़े—निर्वाणी और निरञ्जनी—कायम हैं।[1]'

गोसाईं लोग किसी के धर्म पर आक्षेप नहीं करते; परन्तु अपने धर्म की रक्षा करना परम आवश्यक समझते हैं। वे छल, कायरता और असत्यता का आदर नहीं करते थे। वस्तुतः वे सत्यवादी, दयावान और बहादुर होते थे।

'इन अखाड़ेवाले गोस्वामियों के अपने विशेष निशान (झण्डा) और विशेष प्रकार के बाण, चक्कर, मोगरी, जुजुबे, तलवार, बर्छी वगैरह अजीब अस्त्र होते थे। अब भी कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार, प्रयाग आदि के चढ़ावों में निकलनेवाले अखाड़ों के जलूसों में इन चीजों का स्मारक प्रदर्शन होता है; पर अब उनमें वह शौर्य, तेज, धर्मरक्षा के लिए मर-मिटने का भाव, स्वाभिमान और भारतीयता का जोश तनिक भी नहीं है, जिनकी बदौलत ही शायद सम्पूर्ण भारतवर्ष विधर्मी होने से बच गया था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि शंकराचार्य तथा सिक्ख-गुरुओं के धार्मिक सैन्यदल ने ही विधर्मियों को, भारतायों को धर्मभ्रष्ट करने के हौसले और इरादे छोड़ देने के लिए, विवश किया। हिन्दू सन्त-

---

१ श्रीइन्दिरारमण, मानव धर्मशास्त्र—पृष्ठ २१३-२१६

पन्थियों ने पूर्वोक्त प्रकार के धर्मरक्षक सैन्यदल संगठित कर आक्रमणकारी विधर्मियों का सशस्त्र विरोध ही नहीं किया, समाज-सुधारक तथा लोक-संग्राहक कार्यों के द्वारा, विधर्मी हुए हिन्दुओं को पुनः वर्णाश्रमी भी बनाया और मूल विधर्मियों को भी, यथासम्भव व्रात्य-स्तोम संस्कारों से शुद्ध करके, वर्णाश्रमधर्म में मिलाया।

इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म को फिर से स्थापित कर शंकर ने जप, तप, व्रत, उपवास, दान, संस्कार, प्रायश्चित्त आदि को फिर से जीवित किया। उन्होंने अद्वैतवेदान्त की व्याख्या की और साथ-साथ पञ्चदेव—विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति—की, परमात्मा के पाँच स्वरूपों की, उपासना प्रचलित की। पञ्चदेवोपासना का मत 'स्मार्त्तमत' कहलाया। आज के साधारण सनातनधर्मी इसी स्मार्त्तमत के अनुयायी समझे जाते हैं।[1]"

आचार्य शंकर के पूर्व वैदिक धर्म का जो ह्रास हो रहा था या हो गया था, उसे रोककर पुनः वैदिकधर्म को स्थापित और प्रचलित करने का श्रेय स्वयं जगद्गुरु शंकर को है। उन्होंने अपने अद्वैतमत के प्रचार द्वारा, बौद्धों को, उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का खण्डन कर अपदस्थ कर दिया। उनके समय में अन्य अवैदिक तांत्रिक वाम-मार्गी पद्धतियों का बोलबाला था। वे लोग नाना प्रकार के अनाचार फैलाते रहे। आचार्य ने उनकी खूब खबर ली। सर्वोपरि, हिन्दू-जाति का संगठन कर भावी धार्मिक आक्रमण से भारत की रक्षा की।

---

१ मानव धर्मशास्त्र, पृष्ठ २१३-३२

तीसरा परिच्छेद
योगमार्ग

योगवेत्ता महर्षियों ने योगसाधन की चार स्वतन्त्र शैलियों का उपदेश दिया है। और, योगमार्ग से भगवद्राज्य में पहुँचने के लिए आठ प्रौढ़ियाँ बताई हैं। चार योग-साधन-शैलियों के नाम हैं—(१) मंत्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग, और (४) राजयोग। आठ प्रौढ़ियाँ हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, और (८) समाधि। ये आठों अंग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने के लिए आठ सीढ़ियाँ हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

[१] **यम**—बहिरिन्द्रियों पर आधिपत्य जमाने के साधनों को 'यम' कहते हैं। **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह**—इन पाँचों का नाम **यम** है।

(क) किसी भी प्राणी को मन, वाणी अथवा शरीरद्वारा, कभी किसी प्रकार, थोड़ा भी कष्ट न पहुँचाने का नाम **अहिंसा** है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा जैसा निश्चय किया हो, हित की भावना से, कपटरहित प्रिय शब्दों में, वैसा-का-वैसा ही, प्रकट करने का नाम **सत्य** है।

(ग) मन, वाणी और शरीरद्वारा किसी के किसी प्रकार के भी पदार्थ को या स्वत्व (हक) को, उसकी इच्छा या अनुमति के विना, न छीनना, वा न लेना या न हड़पना **अस्तेय** है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकार के सर्वथा अभाव का नाम **ब्रह्मचर्य** है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोग-सामग्री का संग्रह न करना **अपरिग्रह** है।

[२] **नियम**—पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच **नियम** हैं।

(क) अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय, काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणों के त्याग से भीतरी (मानसिक) **पवित्रता** होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट एवं प्रसन्नचित्त रहने का नाम **सन्तोष** है।

(ग) मन और इन्द्रियों के संयमरूप धर्म-पालन करने के लिए कष्ट सहने का और तितिक्षा (वैराग्य) एवं व्रतादि का नाम **तप** है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रों का अध्ययन और इष्टदेव के नाम का जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करने का नाम **स्वाध्याय** है।

(ङ) ईश्वर की भक्ति—अर्थात् मन, वाणी और शरीर द्वारा ईश्वर के लिए, ईश्वर के अनुकूल ही चेष्टा करने—का नाम **ईश्वर-प्रणिधान** है।

[३] **आसन**—आसन अनेक प्रकार के हैं। उनमें से आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुष के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इन तीनों में से कोई भी आसन हो; परन्तु मेरुदण्ड (पीठ), मस्तक और ग्रीवा को सीधा अवश्य रखना चाहिए और दृष्टि को नासिकाग्र पर अथवा दोनों भृकुटियों के बीच रखनी चाहिए। जिस आसन से जो पुरुष सुख-पूर्वक दीर्घकाल तक बैठ सके, वही उसके लिए उत्तम आसन है। शरीर की स्वाभाविक चेष्टा के शिथिल करने और अनन्त परमात्मा में मन के तन्मय होने पर **आसन-सिद्धि** होती है। कम-से-कम तीन घंटे तक एक आसन में सुखपूर्वक, अचल-भाव से, बैठने को आसन-सिद्धि कहते हैं।

[४] **प्राणायाम**—श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध का नाम 'प्राणायाम' है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश करना 'श्वास' है और भीतर की वायु का बाहर निकलना 'प्रश्वास'। इन दोनों के रुकने का नाम 'प्राणायाम' है। भीतर के श्वास को बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'वाह्यकुम्भक' कहलाता है और बाहर के श्वास को भीतर खींचकर भीतर ही रोकने को 'आभ्यन्तरकुम्भक' कहते हैं।

श्वास को भीतर ले जाना 'पूरक' कहलाता है और उसको भीतर ही रोक रखना 'कुम्भक' तथा पुनः उसे बाहर निकालना 'रेचक'। पूरक करते यदि एक सेकंड समय लगा, तो कुम्भक चार सेकंड तक होना चाहिए और रेचक दो सेकंड तक। प्राणायाम में, संख्या और काल का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण, नियम में व्यतिक्रम नहीं होना चाहिए।

प्राणायाम का विषय अनुभवी योगियों के पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिए, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

प्राणायाम के सिद्ध होने पर, विवेक (ज्ञान) को आवृत करनेवाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है। मन स्थिर हो जाता है और उसकी धारणा के योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

[५] **प्रत्याहार और उसका फल**—वहिर्मुख मन को अन्तर्मुख करने के साधन को 'प्रत्याहार' कहते हैं। अपने-अपने विषयों के संग से रहित होने पर, इन्द्रियों का चित्त के रूप में अवस्थित (स्थिर) हो जाना 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर, प्रत्याहार के समय, साधक को वाह्यज्ञान नहीं रहता। अन्य किसी साधन से यदि मन का निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियों का निरोध-रूप प्रत्याहार अपने-आप ही उसके अन्तर्गत हो जाता है। प्रत्याहार से इन्द्रियाँ सर्वथा वशीभूत हो जाती हैं।

[६] **धारणा**—अन्तर्जगत् में ले जाकर मन को एक स्थान में ठहराने की साधना को **धारणा** कहते हैं। किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बाँध देना, स्थिर कर देना लगा देना—'धारणा' है।

[७] **ध्यान**—जब देश-विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकाररूप से प्रवाहित होता है और उसे (ध्येय वस्तु को) दबाने के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब उसे **ध्यान** कहते हैं। अन्तर्जगत् में मन को ठहराने का अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्ट-देव—चाहे सगुणमय रूप हो या ज्योतिर्मय, बिन्दुमय रूप हो अथवा निर्गुण-सच्चिदानन्द-मय, जिसका जैसा अधिकार हो—को ही केवल ध्येय बनाना ध्यान का लक्ष्य होता है।

[८] **समाधि**—विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना **समाधि** कहलाता है। जहाँ ध्यान, ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वहीं समाधि होती है। यह समाधि—सविकल्प और निर्विकल्प—दो प्रकार की होती है। निर्विकल्प समाधि ही सब साधनों का अन्तिम लक्ष्य है।

ऊपर कहा गया है कि यौगिक क्रियाएँ चार प्रकार की हैं। संसार में भक्तियोग, कर्म-योग और ज्ञानयोग भी प्रसिद्ध हैं। वे इन्हीं चार पूर्वोक्त योग-प्रणालियों के अन्तर्गत आ जाते हैं। योगतत्त्वोपनिषद् में मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग का स्वरूप-निर्देश, लक्षण-वर्णन और तत्त्व-विवेचन बहुत अच्छे प्रकार से किया गया है।

[१] **मंत्रयोग** का सिद्धान्त यह है कि यह संसार नाम-रूपात्मक है। अविद्या में फँसकर जकड़ा मनुष्य जिस भूमि पर गिरता है उसीके अवलम्बन पर उठ सकता है। अतः नाम और रूप के अवलम्बन से ही वह मुक्त हो सकता है। योग के ध्यान को स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासना के अनुसार कई प्रकार का होता है। मंत्रयोग की समाधि को **'महाभावसमाधि'** कहते हैं। इस मत्र की साधना निरन्तर मंत्रजप से होती है।

[२] **हठयोग** का सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भाव से गुम्फित हैं तथा एक का प्रभाव दूसरे पर पूरा बना रहता है। 'हठ' शब्द सांकेतिक है। 'ह' से अभिप्राय है बाहर जानेवाली वायु (अर्थात् प्राण) से। 'ठ' से तात्पर्य है भीतर जानेवाली वायु (अर्थात् अपान) से। अतः प्राण तथा अपान वायु में समत्व लानेवाला योग 'हठयोग' कहलाता है। इसके महान् आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ हुए हैं। हठयोग के ध्यान को **'ज्योतिर्ध्यान'** कहते हैं और प्राण के निरोध से होनेवाली हठयोग की समाधि **'महायोगसमाधि'** कहलाती है।

विक्रम की सातवीं से नवीं शताब्दी के भीतर, बौद्ध और हिन्दू तांत्रिक, वाममार्ग की उपासना में एक हो रहे थे। तंत्रों की सांकेतिक भाषा को न जानने से जनता में अनर्थ का प्रचार हो रहा था। वाममार्ग की उपासना ऐसे गूढ़ शब्दों में बताई जाती थी कि अधिकारी साधक ही उसके वास्तविक अर्थ को समझ सकता था। फलतः तांत्रिक सिद्धियों का दुरुपयोग होने लगा। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि घोर षट्कर्मों की—'कामरूप' और 'कामाख्या' में—खूब बाढ़ आई। उस समय के साधक उसमें बह गये। इन तांत्रिकों और सिद्धों के चमत्कार प्रसिद्ध हो गये थे तथा तंत्रपद्धति

बदनाम हो गई थी। ये शाक्त तांत्रिक मद्य-मांसादि के व्यवहार के कारण और स्त्री-सम्बन्धी आचार के कारण घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। इन यौगिक क्रियाओं के उद्धार के लिए ही नाथ-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

नाथ-सम्प्रदाय

नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आदिनाथ थे। इनके शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) हुए। शंकराचार्य के बाद गोरक्षनाथ के सदृश प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारत में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरक्षनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरक्षनाथ-सम्बन्धी कहानियाँ न पाई जाती हों। गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े धार्मिक नेता थे।

'गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने योग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव-प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधा विस्रस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की। उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांवृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण- उद्गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मण-विरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि-विरोधी रूप ज्यों-का-त्यों बना रहा। परन्तु उसकी अशिक्षाजन्य प्रमाद-पूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गईं।[1]''

गोरखनाथजी का मन्दिर गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) में है। यहाँ नाथपन्थी कनफटे योगी रहते हैं। उनके कानों में बड़े-बड़े छेद होते हैं जिनमें वे सींग के बड़े-बड़े कुण्डल पहनते हैं। उनके गले में काले ऊन का बटा हुआ डोरा रहता है और इसमें सींग की एक सीटी बँधी रहती है। हाथ में नारियल का खप्पर रहता है। वे भस्म भी रमाते हैं। इस भस्मस्नान का एक विशेष तात्पर्य है। जब वे एक ओर से वायु का आना रोकते हैं तब रोमकूपों को भी भस्म से ढँक देते हैं। प्राणायाम की क्रिया में यह महत्त्व की युक्ति है, यह शुद्ध योगसाधनवाला पन्थ है। शैवों की तरह न वे लिंगार्चन करते हैं और न शिवोपासना। वे तीर्थ-देवता आदि मानते हैं। इस पन्थ का योग-साधन पातंजल-विधि का विकसित रूप है। नाथपन्थ में ऊर्ध्वरेतस् (वीर्य का ऊपर उठाना) सबसे अधिक महत्त्व का है। मांस, मदिरा आदि सभी तामसिक भोजन का पूरा निषेध है। इस पन्थ के योगी बाल-ब्रह्मचारी होते हैं।

श्रीगोरखनाथ ने परमात्मा को वेदों की तरह सत् और असत्, नाम और रूप—दोनों से परे माना। उनका सिद्धांत है कि परमात्मा 'केवल' है। इसी परमात्मा तक पहुँचना मोक्ष

१ श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथसंप्रदाय, पृष्ठ ६६—६८

है। जीव का उससे चाहे जैसा सम्बन्ध माना जाय, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उससे सम्मेलन ही कैवल्य मोक्ष या योग है। इसी जन्म में इसकी अनुभूति करना—इस मत का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पहली सीढ़ी **काया की साधना** है। कोई काया को शत्रु समझकर उसे भाँति-भाँति के कष्ट देते हैं और कोई विषय-वासना में लिप्त होकर उसे बे-लगाम छोड़ देते हैं। किन्तु नाथ-पन्थी काया को प्रभु का आवास समझकर उसकी समुचित साधना करते हैं। काया उनके लिए वह यंत्र है जिसके द्वारा वे इसी जीवन में मोक्षानुभूति कर लेते हैं—जन्म-मरण-जीवन पर पूरा अधिकार कर लेते हैं और जरा-मरण-व्याधि पर विजय पा जाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले वे काया-शोधन करते हैं। वे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा हठयोगसाधन करते हैं जिससे काया शुद्ध हो जाय। योगासन, नाड़ी-ज्ञान, षट्चक्र-निरूपण तथा प्राणायाम-द्वारा समाधि की प्राप्ति ही इसका मुख्य अंग है। इस पन्थ के योगी जीवित समाधि लेते हैं या शरीर छोड़ने पर उन्हें समाधि दी जाती है। वे जलाये नहीं जाते। गोरखा लोग गोरखनाथ को महादेव का अवतार मानते हैं।

नाथ-पन्थी योगी अलख (अलक्ष्य) जगाते हुए कहते हैं—'अलख, खोल दे पलक, देख ले झलक।' इसी शब्द से इष्टदेव का ध्यान करते हैं और यही कहकर मधुकरी भी माँगते हैं। नाथ-पन्थ का सबसे प्राचीन हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ 'घेरण्ड-संहिता' 'शिव-संहिता' और 'हठयोगप्रदीपिका' आदि हैं।[१]

हठयोग के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम में आसन-प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्रभाग में दृष्टि-निबद्ध करके आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिए हठयोग कहा गया है। यह सिद्ध-सेवित मार्ग है।

शरीर में तीन ऐसी वस्तुएँ हैं जो परम शक्तिशालिनी हैं; पर चंचल होने के कारण वे मनुष्यों के काम नहीं आती हैं। पहली और प्रधान वस्तु है (१) बिंदु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं (२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इनमें से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयं वश में हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिंदु अर्थात् शुक्र को ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोगी षट्कर्म-द्वारा वही कार्य करता है। धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति—षट्कर्म कहे जाते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने से बिंदु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल हो जाते हैं। प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रारचक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती है और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है।

---

१ नाथ-सम्प्रदाय—पृष्ठ ९८—९९

[३] **लययोग**—जिस योग द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को ले जाकर ब्रह्म से मिला दिया जाता है उस ब्रह्ममुक्ति को प्राप्त करने के साधन का नाम लययोग है। लययोग के आठ अंग हैं। इस योग के ध्यान को **बिन्दुध्यान** और लय-समाधि को **महालयसमाधि** कहते हैं।

जिसमें चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख रहता है और दृष्टि बाहर की ओर रहती है अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं; किंतु कोई बाह्य पदार्थ दिखाई नहीं देता, शास्त्रों में वह छिपी हुई 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है। इस योग के साधन के लिए साधक को शरीर, मस्तक और ग्रीवा को समान रखकर सरल और निश्चल भाव से स्थिर होकर नासिका के अग्र भाग को देखना होता है। इस समय और कोई भाव मन में नहीं आना चाहिए। इस प्रकार प्रशान्तात्मा, भय-रहित, ब्रह्मचर्यव्रत में स्थिर योगी मन को निर्विषय करे और योगयुक्त रहकर स्थिर रहे। निद्रा और तन्द्रा दोनों के त्याग करने पर मन जहाँ लय हो वहीं ब्रह्म का अनुभव होता है।

लययोग में सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन से साधन करने योग्य क्रियाओं का सम्बन्ध अधिक रखा गया है। इसी कारण लय-क्रिया से साधन करने के बाद लययोगी महालय-समाधि का अधिकार प्राप्त करता है। जिस प्रकार जल का बिन्दु समुद्र में गिरकर समुद्र से अभिन्न हो जाता है, उसी प्रकार ध्येयरूप परमात्मा में संलग्न हुआ अन्तःकरण शेष में उसी ध्येय अर्थात् परमेश्वर से अभिन्न हो जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। जिस प्रकार जल में निक्षिप्त लवण-खण्ड क्रमशः जल के सम्बन्ध से जल में घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार विषय से स्वतन्त्र हुआ मन ध्येय वस्तु (परमात्मा) में युक्त होकर अन्त में परमात्मा के स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है और यह आत्मस्वरूप-प्राप्ति ही समाधि कहलाती है। नाद और बिन्दु की सहायता से इस समाधि की सिद्धि होती है। प्रथम नाद और बिन्दु का एकत्व होकर उसके साथ मन भी लय हो जाता है। उसी समय दृश्य का नाश होकर द्रष्टा का स्वरूप प्रकट हो जाता है और आँखें खुली रहने पर भी बाह्य पदार्थ दीख नहीं पड़ते।

ध्यान-योग-द्वारा निर्विकल्प-समाधि सिद्ध होती है। सिद्धासन और शाम्भवी मुद्रा के द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह सर्वथा सरल और निरापद है।

लययोग गूढ़रहस्य-पूर्ण अपूर्व साधन है, जिसको योगिराज श्रीमद्गुरुदेव की कृपा से प्राप्त कर साधक कृतकृत्य हो सकता है।

[४] **राजयोग**—योग के क्रियात्मक भाव की सभी शाखाओं में राजयोग का सम्बन्ध केवल मनः शक्ति से है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान कह सकते हैं। इसका उद्देश्य सभी प्रकार की मानसिक बाधाओं को हटाकर मन को पूर्णतया स्वस्थ और संयमी बनाना है।, इसके अभ्यास का मुख्य अभिप्राय है,—इच्छाशक्ति को जगाना तथा उसे बलवती करके राजयोग-साधक को ध्यान और धारणा के द्वारा सभी धर्मों के चरम उद्देश्य की प्राप्ति करा देना।

समस्त धर्मों में श्रेष्ठ धर्म यही है कि योगबल से परमात्मा का साक्षात्कार किया जाय। राजयोग की सिद्ध-दशा में जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध होकर सर्वत्र अद्वितीय परब्रह्म का

साक्षात्कार हो जाता है। इसलिए राजयोग सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। वेदान्त-प्रतिपाद्य माया से अतीत परब्रह्म की उपलब्धि इस योग का लक्ष्य है।

राजयोग-साधन में विचारबुद्धि का प्राधान्य रहता है। विचारशक्ति की पूर्णता-द्वारा राजयोग-साधन होता है। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान कहते हैं और उसकी समाधि को निर्विकल्प-समाधि कहते हैं। राजयोग के सिद्ध महात्मा को जीवन्मुक्त कहा जाता है। मंत्रयोग, हठयोग अथवा लययोग में सिद्धि प्राप्त योगी, तत्त्वज्ञान की सहायता से, राजयोग में अग्रसर होता है। राजयोग सब साधनों में श्रेष्ठ और साधन की चरम-सीमा है। इसी कारण इसको योगों का राजा अथवा राजयोग कहते हैं।

यह बात पहले ही कही गई है कि पतञ्जलि-द्वारा वर्णित यम-नियमादि अष्टांगयोग ही योग-साधनाओं का निमित्त रूप है। अतएव राजयोग के साधन में भी अष्टांग का सन्निवेश है। परन्तु राजयोग का साधन केवल अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्मरूप में होने से और उसमें स्थूल-शरीर-सम्बन्धी तथा वायु-विषयक कोई भी क्रिया न होने से 'मंत्र'-'हठ'-'लय'-योगोक्त साधनों की तरह राजयोग में कथित आसन, प्राणायाम आदि के साथ किसी भी क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। वे सब अन्तःकरण के द्वारा सूक्ष्म तथा विचित्ररूप से ही साधित होते हैं। मंत्रयोग, हठयोग और लययोग—तीनों साधनावस्था के योग हैं और राजयोग सिद्धावस्था का सूचक है।

योगवासिष्ठ में योग

योगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्ष के आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषि द्वारा श्रीरामचन्द्र को किये गये आध्यात्मिक उपदेशों का बहुत सरस भाषा में वर्णन है। इसके दार्शनिक सिद्धांत बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अतएव योग-वासिष्ठ के योग-सम्बन्धी विचारों का दिग्दर्शन संक्षेप में कराना उचित ज्ञात होता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप (सच्चिदानन्द) का अनुभव कर लेता है। योग का ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मा में स्थिति है जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—किसी का भी अनुभव न हो और न इनके आगामी अनुभव का बीज ही रहे; किन्तु परम आनन्द का निरन्तर अनुभव होता रहे।

योग की तीन रीतियाँ

योगवासिष्ठ के अनुसार (१) एक तत्त्व की दृढ़ भावना, (२) मन की शान्ति और (३) प्राणों के स्पन्दन का निरोध—योग की रीतियाँ हैं। इन तीनों में से किसी एक पर भी चलने से तीनों की सिद्धि होती है। तीनों में मन को शान्त कर लेना सबसे सरल है। योगवासिष्ठकार का कथन है कि प्राणों के निरोध की अपेक्षा मन को शान्त करना अथवा एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है।

(१) **एक तत्त्व की दृढ़ भावना** से मन शान्त होकर विलीन हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है। यह अभ्यास निम्न तीन रूपों में किया जाता है—(क) ब्रह्मभावना अर्थात् संसार भर में केवल एक ही अनन्त तत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्व के नाना नाम-रूप हैं, (ख) अभाव-भावना अर्थात् पदार्थों को अत्यन्त

असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढ़ भावना और (ग) केवलीभाव जिसमें केवल एक आत्मतत्त्व की स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थों के असत्य होने के कारण अपने उस आत्मस्वरूप में स्थित हो जाय जिसमें द्वैत का कोई भाव नहीं है।

(२) योगवासिष्ठ के अनुसार मन ही संसार का उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मन के शान्त हो जाने पर जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी स्वयं रुक जाता है। मन को जीत लेने पर सब-कुछ जीत लिया जाता है। चित्त के लीन हो जाने पर द्वैत और अद्वैत—दोनों ही भावनाओं का लय होकर परम शान्त आत्म-तत्त्व का ही अनुभव रह जाता है। संसाररूपी दुःख से मुक्त होने का उपाय केवल मन का निग्रह करना है। इसी को **मन की शान्ति** कहते हैं।

मन को शान्त करने की अनेक रीतियाँ हैं, उनमें से मुख्य हैं—(१) ज्ञान-युक्ति, (२) संकल्प-त्याग, (३) भोगों से विरक्ति, (४) वासना-त्याग, (५) अहंभाव का नाश, (६) असंग का भाव, (७) कर्तृत्व-भाव का त्याग, (८) सर्वत्याग, (९) समाधि का अभ्यास और (१०) लयक्रिया।

(३) तीसरी रीति **प्राण-निरोध** है। प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है। और मन के शान्त होने पर संसार का लय हो जाता है।

प्राण क्या हैं, प्राणों की प्रगति किस प्रकार होती है और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयों की चर्चा योगवासिष्ठ में खूब विस्तार से की गई है। योगवासिष्ठानुसार जिनसे प्राण का स्पन्दन रुक जाता है, वे हैं—वैराग्य, परमकल्याण का ध्यान, व्यसन-क्षय, निरोध की विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान, शास्त्र और सज्जनों का संग, सांसारिक प्रवृत्तियों से मन की निवृत्ति, इच्छित वस्तु का ध्यान, एक तत्त्व का अभ्यास, दुःख हटानेवाले प्राणायामों का भूरि अभ्यास, ऐकान्तिक ध्यान, ओंकार का उच्चारण एवं शब्दतत्त्व की भावना इत्यादि।

प्राणविद्या के अतिरिक्त योगवासिष्ठ में कुण्डलिनीविद्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन है।

योग की सात भूमिकाएँ

योगवासिष्ठ के अनुसार संसार के अनुभव से मुक्ति पाने और परमानन्द का अनुभव प्राप्त करने के योग नामक मार्ग की सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं वे उन सबको थोड़े ही समय में पार कर लेते हैं और जो प्रयत्नशील नहीं होते उनका जन्म-जन्मान्तर खप जाता है। ज्ञान की निम्न सात भूमिकाएँ हैं—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानस, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी और (७) तुर्यगा। इन सातों के अन्त में मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेने पर कोई दुःख नहीं रहता।

(१) **शुभेच्छा**—संसार से वैराग्य हो जाने पर जब मनुष्य अपने को अज्ञानी समझकर शास्त्रों और सज्जनों की संगति करके सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस अवस्था का नाम शुभेच्छा है।

(२) **विचारणा**—शास्त्रों और सज्जनों के सम्पर्क से तथा वैराग्य और अभ्यास से जो सदाचार में प्रवृत्ति होती है, उस अवस्था का नाम विचारणा है।

(३) **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से और इन्द्रियों के विषयों में असक्तता होने से, मन के सूक्ष्म हो जाने का नाम तनुमानसा है।

(४) **सत्त्वापत्ति**—शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा के अभ्यास से और चित्त के विषयों से पूर्णतया विरक्त हो जाने पर सत्य आत्मा में स्थित हो जाने का नाम सत्त्वापत्ति है।

(५) **असंसक्ति**—चारों अभ्यासों के परिपक्व हो जाने पर जब मन में पूर्णतया अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है एवं आत्मतत्त्व में दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है तब उस अवस्था का नाम असंसक्ति है।

(६) **पदार्थाभावनी**—पूर्व पाँचों अभ्यासों के निरंतर आचरित होने से और आत्मा में निश्चल स्थिति हो जाने से जब आन्तर और बाह्य वस्तुओं के अभाव की भावना दृढ़ हो जाती है तब उस स्थिति का नाम पदार्थाभावनी है।

(७) **तुर्यगा**—पूर्वोक्त छः भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा पदार्थानुभवज्ञानशून्य होने से अपने असली स्वरूप में निरन्तर स्थित रहने का नाम तुर्यगा है। जीवन्मुक्त लोगों को इस अवस्था का अनुभव होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्था से परे है।[१]

उपनिषदों में योग

कठ, बृहदारण्यक, मुण्डक तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनेक वाक्यों में योग की महिमा प्रस्फुट देखी जाती है। इसके पश्चात् कैवल्योपनिषद्, गर्भोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्, बृहज्जाबालः, अमृतनादोपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगशिखोपनिषद् और योगकुण्डलिन्युपनिषद् आदि उपनिषदों में भी योग का वर्णन और महत्त्व है। इनमें से एक का भी मनन कर लेने से जिज्ञासु जन के मन को पूर्ण समाधान मिलेगा और साथ-ही-साथ योगविषयक गुप्त रहस्यों का परिज्ञान भी प्राप्त होगा। इन उपनिषदों को सद्गुरु के मुख से श्रवण करके मनन करना चाहिए; क्योंकि इनमें बहुत ही गुह्य क्रियाओं का वर्णन है। उनका शुद्ध ज्ञान क्रियावान् विद्वान् गुरु के बिना नहीं हो सकता। योग के प्रत्येक अंग के विषय में इन उपनिषदों में बहुत-कुछ कहा गया है। अतः उपनिषदों का पूर्णतया मनन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि यौगिक साधनों के बिना हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अधूरी ही रहती है।

भोग में योग

वासनात्याग के लिए जंगल में जाने की या अमुक क्रिया करने की जरूरत नहीं है। उसके लिए तो ब्रह्मज्ञ गुरु द्वारा आत्म-परमात्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अन्तःकरणावच्छिन्न वासनाओं का त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवन की चञ्चलता को नष्ट कर समता के साम्राज्य में विचरना होगा। 'समत्वं योग उच्यते' का पालन करना होगा।

१ कल्याण-योगांक, पृष्ठ ११७

'सर्वमनास्था खलु' की धारणा दृढ़ करनी होगी; ऐहिक ऐश्वर्यों को पाकर भी निर्लिप्त रहना होगा; सच्चा विदेह बनना होगा, तभी भोग में योग का आनन्द प्राप्त होगा, गृह में जंगल से अधिक मंगलमय जीवन व्यतीत होगा। हठयोग द्वारा किसी वृत्ति को समूल नष्ट करना अथवा किसी वृत्तिविशेष को, उत्पत्ति के पूर्व ही, नष्ट कर देना वास्तविक योग नहीं है। योगी तो वही है जो विश्व-वैभव-सरोवर में खड़ा होकर भी अपने को सूखा (निर्लिप्त) रख सके, उसकी तरंगों का रंग अपने ऊपर न चढ़ने दे। विषय-द्वन्द्व में भी निर्द्वन्द्व (निर्विकार) रहे। निर्वात दीप की भाँति चित्त को अचंचल और मन को एकाग्र रखे। सारांश यह कि सम्पूर्ण भोगों को भोगे; किन्तु उसमें लिप्त न हो और कर्मफल का त्याग करे। गीता को भी यही मान्य है। गीता की मूल शिक्षा आसक्ति-हीन कर्मफल-त्याग ही है। गीता का आदेश है, भोग में यदि योग प्राप्त करना है तो चित्त में विक्षेप का प्रवेश मत होने दो, मन के विकारों को नष्ट करो, कल्पना को मिटा दो। उदासीनता के सेवन का अभ्यास करो, जंगल के बदले घर में ही सच्चा कर्मयोगी विदेह (जनक) बनो। निर्लिप्त होते ही ऋद्धि-सिद्धियाँ दासी हो जायँगी; तृष्णा हाथ जोड़े खड़ी रहेगी; संतोष मित्र बन जायगा; फिर भय और चिन्ता किसकी? बन्धन तो वासना में है। जब वासना लय हो गई तब जाग्रत् अवस्था होते कितनी देर लगेगी। वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है।

वामकौलतांत्रिक योग की साधना में भी कर्म के त्याग और ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, केवल कर्मफलत्याग की आवश्यकता है।

चौथा परिच्छेद
वैष्णवमत

हम इतिहासखण्ड में 'भागवतधर्म' का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए कह आये हैं कि महाभारतकाल में परब्रह्म परमात्मा के रूप में विशेष रूप से विष्णु की पूजा चल पड़ी थी और वैदिककाल के वरुण तथा इन्द्र का स्थान विष्णु ले चुके थे। अब हमें यहाँ इतिहासकाल के बाद की प्रगति का दिग्दर्शन कराना है।

आज विष्णु की पूजा के साथ-साथ विष्णु के अवतार—राम और कृष्ण—की पूजा भारतवर्ष में सर्वमान्य हो गई है। अब हमें देखना है कि राम और कृष्ण की पूजा कब से प्रचलित हुई।

ग्रीक राजा एण्टियालकिदाय का राजदूत हिलीयोडोर भागवतधर्म का अनुयायी था। वेसनगर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि ईसवी सन् के २०० वर्ष पूर्व हिलीयोडोर ने वासुदेव की प्रतिष्ठा में विष्णुध्वजस्तम्भ बनवाया था, जिसपर एक लेख खुदवाया जिसमें 'परम भागवतो हिलीयोडोरः' आज भी खुदा हुआ देखा जाता है। इसके कुछ पूर्व घुसुण्डी के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वासुदेव की पूजा होती थी। बाद के नानाघाट के शिलालेख से भी इसकी पुष्टि होती है। यह प्रायः निश्चित है कि प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ई० सन् के लगभग छः शताब्दी पूर्व हुए थे। पाणिनि के सूत्र (४।३।९५) से ज्ञात होता है कि वासुदेव की पूजा उनके समय भी प्रचलित थी। दक्षिण के आलवार-समुदाय—जिनका जीवनकाल, श्रीशुद्धानन्द भारती के अनुसार, ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी पर्यन्त माना जाता है, वासुदेव-भक्त थे। किन्तु 'वासुदेव' से यह नहीं समझना चाहिए कि वह कृष्ण का पर्यायवाची शब्द है। तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक में लिखा है—'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।' यहाँ वासुदेव शब्द विष्णु के रूप में आया है, किन्तु महाभारत में वासुदेव शब्द वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्णचन्द्र का द्योतक है।

श्रीकृष्ण

घुसुण्डी के शिलालेख में वासुदेव के साथ संकर्षण (बलदेव) का उल्लेख है। अतएव यह स्पष्ट है कि वहाँ वासुदेव शब्द श्रीकृष्ण के लिए ही लिखा गया है। ऋग्वेद से

लेकर महाभारत तक कृष्ण नाम के कितने महान पुरुषों का उल्लेख आया है। ऋग्वेद (१।११६।२३) में विश्वकाय के पिता कृष्ण का नाम आया है। कौषीतकी ब्राह्मण (३०।६) में कृष्ण अंगिरस् का नाम आया है। ऐतरेय आरण्यक (३।२।६) में कृष्ण हरित का नाम आया है और छान्दोग्य-उपनिषद् (३।१७।४) में देवकीपुत्र कृष्ण को हम घोर-अंगिरस् के यहाँ अध्ययन करते पाते हैं। बाद महाभारत में कृष्ण का उल्लेख एक आचारवान, सर्वप्रिय, सत्यवादी, अद्वितीय योद्धा तथा राजनीतिज्ञ के रूप में आया है। हरिवंशपर्व में, जो बहुत बाद की रचना है, और जो स्पष्टतया महाभारत का खिलपर्व है, कृष्ण की बाललीला का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवतपुराणान्तर्गत दसवें स्कन्ध द्वारा भी हुई है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वृन्दावनलीला का प्रचार बहुत पीछे महाभारत के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर हुआ।

श्रीकृष्ण ! द्वारकावासिन् ! गोपगोपीजनप्रिय !
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव !!

आचार्य बलदेव उपाध्याय का विचार है कि "महाभारत में द्रौपदी की यह उक्ति है। इसमें 'गोपगोपीजनप्रिय' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महाभारत कृष्ण की बाललीलाओं से—गोपियों के साथ क्रीड़ा करने से—पूर्ण परिचित है। अतः इन लीलाओं को कल्पित तथा नवीन मानना नितान्त अनुचित है।"

किन्तु इस सम्बन्ध में श्रीचिन्तामणिविनायकवैद्य-सदृश विद्वानों की राय है कि महाभारत को वर्त्तमान स्वरूप ई० सन् से लगभग २५० वर्ष पूर्व मिला। उस समय तक "यह कल्पना थी कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से जो प्रेम करती थीं वह निर्व्याज, विषयातीत और ईश्वर-भावना से युक्त था। यही कल्पना महाभारत में दिखाई देती है। वस्त्र-हरण के समय द्रौपदी ने श्रीकृष्ण की जो पुकार की थी उसमें उसने उन्हें 'गोपीजनप्रिय' नाम से सम्बोधित किया था। स्पष्ट है कि इस नाम का अभिप्राय यही है कि वे दीन-अबलाओं के दुःखहर्त्ता हैं। उस नाम में यदि निन्द्य अर्थ होता तो सती द्रौपदी को पातिव्रत की अग्नि-परीक्षा के समय उसका स्मरण नहीं होता। यदि होता भी तो वह उसे मुख से कदापि न निकालती, और यदि निकालती भी तो वह उसके लिए फलप्रद नहीं होता। अतएव यह निर्विवाद है कि इस नाम में गोपियों का विषयातीत भगवत्प्रेम ही गर्भित है।"[1]

वृन्दावन की लीला काल्पनिक है। उसका प्रमाण हमें महाभारत से ही मिलता है। जब शिशुपाल ने कृष्ण को सभा में एक सौ गालियाँ दीं तब उनमें कृष्ण की गोपियों के साथ रासलीला का कहीं उल्लेख तक नहीं किया। गालियाँ देने के सिलसिले में शिशुपाल ने बहुत-सी अनर्गल बातें कहीं। यदि कृष्ण का बाल्यकाल वास्तव में कलुषित होता तो यह बात शिशुपाल के मुख से निकले बिना नहीं रहती और उन घटनाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अत्यन्त कलुषित रूप में वह कहता। इसके अतिरिक्त यह सर्वमान्य है कि कृष्ण मल्ल-विद्या में निपुण थे और उनकी प्रशंसा सुनकर कंस ने उन्हें मल्ल-युद्ध के लिए

१ चि० वि० वैद्य, महाभारत-मीमांसा—पृष्ठ ५६८

मथुरा बुलाया था और उस युद्ध में ही कृष्ण ने कंश को मारा। यह अकाट्य सिद्धान्त है कि ऐसे बालमल्ल को कामवासना कभी नहीं हो सकती।

अतएव वैद्य महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "वर्त्तमान महाभारत के समय तक यही धारणा थी कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से केवल निर्विषय प्रेम करनेवाली परम भक्ता थीं। परन्तु धीरे-धीरे भक्तिमार्ग में जब भक्ति की मीमांसा होती है तब सम्भव है कि भक्ति की उपमा उस प्रेम से दी गई हो जो असती का जार से रहता है।"[1]

इस प्रकार जहाँ उपनिषद् में कृष्ण का वर्णन एक मेधावी ब्रह्मचारी छात्र के रूप में किया गया है, वहाँ महाभारत में दैवी शक्तियों से समन्वित पुरुषोत्तम के रूप में और हरिवंश एवं श्रीमद्भागवत में परब्रह्म परमेश्वर के रूप में।

श्रीराम

रामावतार का उल्लेख गुप्तवंश के प्रतिभाशाली राजाओं के शिलालेखों में नहीं है। किन्तु गुप्तकालीन कालिदास ने पहले-पहल अपने रघुवंश में 'रामाभिधानोहरिः' (१३।१) कहा है। रामानन्द स्वामी के पूर्व भी राम की उपासना का उल्लेख हमें कई आलवारों के पदों तथा चरित्रों में मिलता है। पुराणों ने राम को विष्णु का सातवाँ अवतार माना है। साम्प्रदायिक उपनिषदों में और विशेषतः रामरहस्योपनिषद् में राम की निर्विघ्न पूजा के लिए सखावेष्टित रूप की आवश्यकता बताई गई है। तुलसीदास के ग्रन्थों में रामोपासना का पूर्ण परिपक्व रूप देखने में आता है।

इस प्रकार विष्णु पूजा के साथ-साथ विष्णु के अवतार रूप में पहले कृष्ण की पूजा और उसके बाद राम की पूजा आरम्भ हुई और भिन्न-भिन्न आचार्यों ने विष्णु, कृष्ण एवं राम की पूजा घर-घर फैलाकर सारे भारत को वैष्णवधर्म की तरंग में बहा दिया। इन प्रचारकों में आलवार सन्त, विष्णु स्वामी, वामनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द स्वामी, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु एवं तुलसी, सूर आदि अनेक वैष्णव सन्त हुए। शंकराचार्य के विरोध में रामानुज, वल्लभ आदि ने भक्तिमार्ग-समन्वित भिन्न-भिन्न प्रकार का द्वैत-सम्प्रदाय चलाया जिसका यहाँ संक्षेप में तुलनात्मक वर्णन किया जायगा। इन लोगों ने भी अपने मत की पुष्टि के लिए शंकर के समान ही प्रस्थानत्रयी अर्थात् दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्य रचे।

(क) आलवार सन्त

दक्षिण भारत में लोगों के हृदय में भगवत्प्रेम की बुझती हुई लौ को पुनः उद्दीप्त तथा वायुमण्डल को पवित्र करनेवाले कुछ वैष्णव सन्त हुए जो आलवार नाम से प्रसिद्ध हैं। आलवार का अर्थ है अध्यात्म-ज्ञानरूपी समुद्र में गहरे गोते लगानेवाला। आलवार सन्त गीता की सजीव मूर्ति, उपनिषदों के जीते-जागते नमूने, भगवान के चलते-फिरते मन्दिर, और भगवत्प्रेम की कलकलनिनादिनी सरिता थे। आलवारों की संख्या बारह मानी जाती है। उन्होंने नारायण, राम, कृष्ण आदि के गुणों का वर्णन करनेवाले हजारों पद रचे जिनको सुनकर हृदय एक बार फड़क उठता है। आल-

१ महाभारत-मीमांसा, पृ० ५६८-६६

वार सन्त इतने सीधे-सादे, इतने विनयी, भगवत्प्रेम में इतने भींगे हुए और संसार से इतने ऊपर उठे हुए थे कि उन लोगों ने इस बात की बिल्कुल परवा न की कि उनके सुन्दर सुललित भावमय पदों को लोग जानें। उनका चित्त सदा नारायण के चिन्तन में लीन रहता था, उनकी वाणी केवल भगवान के गुणों का गान करती थी।

आलवारों का समय ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। इनके पदों का संग्रह और प्रचार, नाथमुनि द्वारा हुआ, जो स्वयं बड़े भक्त और विद्वान थे। श्रीनाथ के वंशज यामुनाचार्य-द्वारा निरूपित प्रवृत्तिमार्ग को एक निश्चित रूप देकर उसका प्रचार आचार्य रामानुज ने किया। आलवार सन्त भिन्न-भिन्न जातिओं में उत्पन्न हुए थे, परन्तु सन्त होने के नाते उन सबका समान रूप से आदर है। इन सन्त कवियों के चार हजार पद 'दिव्यप्रबन्ध' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं, जो ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता और आनन्द की भावना से ओत-प्रोत अध्यात्मज्ञान के अमूल्य खजाना हैं। दक्षिण के सभी वैष्णव अपने-अपने घर में तथा मन्दिर में एवं सब प्रकार के उत्सव, धार्मिक कृत्य तथा पूजा में 'तिरुवाय मोड़ी' नामक दिव्यप्रबन्ध को गाते हैं जिसका अर्थ तमिल भाषा में 'सन्तों के पवित्र मुख से निकली हुई दिव्य वाणी' है।

ये बारह आलवार (१) पेरिआलवार (विष्णुप्रिय), (२) श्रीआरादाल (रंगनायकी), (३) कुल-शेखर आलवार, (४) विप्रनारायण, (५) मुनिवाहन, (६) पोयग, (७) भूतताल-वार, (८) पेयालवार, (९) भक्तिसार आलवार, (१०) नीलग्न, (११) मधुर कवि और (१२) नम्मालवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें हरएक का चरित्र विमल है। उन लोगों ने सबकी शंकाओं का यथोचित उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया कि भगवान नारायण के चरणों में अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करना ही कल्याण का एकमात्र उपाय है। भगवान नारायण ही हमारे रक्षक हैं। वे अपनी योगमाया से साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दलन करने के लिए समय-समय पर अवतार लेते हैं। वे समस्त भूतों के हृदय में स्थित हैं। भगवान माया से परे हैं और उनकी उपासना ही माया से छूटने का एकमात्र उपाय है। प्रत्येक आलवार का चरित्र एव उपदेश पठन एव मनन करने योग्य है। इन लोगों ने कोई सम्प्रदाय कायम नहीं किया।

(ख) विष्णुस्वामी

विष्णु स्वामी का सम्प्रदाय सर्वापेक्षा अधिक प्राचीन है। सम्भवतः आप तीसरी शताब्दी में वर्तमान थे। शास्त्रों के अध्ययन से विष्णु स्वामी का चित्त शान्त और बुद्धि पवित्र हो गई थी। उन्हें परमात्मा के सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो गया था। साथ ही, उनकी इच्छा थी कि सर्वमान्य सरल धर्म का प्रचार हो। उन दिनों एक ओर शाक्त-जैसे सम्प्रदायों में अनाचार और अपवित्रता फैल गई थी और दूसरी ओर शैव और बौद्ध प्रभृति धर्मों में कठिन नियम, योग-साधन और कायाकष्ट का आधिपत्य हो गया था। विष्णु स्वामी ने लोकरुचि के अनुकूल वैष्णव-सम्प्रदाय की स्थापना की। मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी। अतः उन्होंने विष्णु के प्रतिमा पूजन को ही शास्त्र-सम्मत बतलाया। उनका मत है कि विष्णु की पूजा और भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है। उन्होंने काया-कष्ट को निरर्थक और विष्णु के नाम-स्मरण को मोक्ष का साधन बतलाया। उनका उपदेश ब्राह्मणों तक ही

सीमित था। सम्भवतः वे अन्य लोगों को दीक्षा नहीं देते थे। अतः यह मत सर्वव्यापी नहीं हो सका।

(ग) यामुनाचार्य

यामुनाचार्य वर्तमान वैष्णवधर्म के प्रवर्तक रामानुज के आदिगुरु थे। यामुनाचार्य के दादा नाथमुनि वैष्णव-सम्प्रदाय के एक प्रधान आचार्य थे। नाथमुनि ने योग की अद्भुत सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और योगेन्द्र कहलाते थे। यामुनाचार्य का जन्म संवत् १०१० में मदुरा (मद्रासप्रान्त में) हुआ था। उनकी अलौकिक प्रतिभा का परिचय उनके बचपन में ही मिलने लगा। वह अपने गुरु से शिक्षा पाकर थोड़े समय में सब शास्त्रों में पारंगत हो गये। बारह वर्ष की अवस्था में पाण्डुराज की सभा में दिग्विजयी पण्डित कोलाहल को पराजित कर शास्त्रार्थ-पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार उनका आधा राज्य प्राप्त कर लिया। शास्त्रार्थ में बालक यामुन ने कोलाहल से निम्नलिखित प्रश्न किये—

(१) आपकी माता वन्ध्या नहीं हैं, इस बात का खण्डन कीजिए।

(२) पाण्ड्याधीश धर्मशील हैं, इसका खण्डन कीजिए।

(३) रानी, सावित्री की तरह, साध्वी हैं, इसका खण्डन कीजिए।

कोलाहल चकराये, वे उत्तर न दे सके। अन्त में यामुनाचार्य ने इन प्रश्नों का उत्तर निम्नलखित रीति से दिया—

(१) जैसे सिर्फ एक वृक्ष से बगीचा नहीं हो सकता, उसी तरह जिस किसी के एक सन्तान है उसे वन्ध्या के सिवा दूसरा क्या कहा जा सकता है?

(२) शास्त्र का वचन है कि राजा को समस्त प्रजा के पाप का अंश मिलता है। राजा को सबसे अधिक पाप के बोझ का वहन करना पड़ता है। अतएव वास्तव में राजा धर्मशील नहीं हो सकता।

(३) प्रत्येक कन्या विवाह के पहले अग्नि, वरुण तथा इन्द्र को अर्पण की जाती है और तत्पश्चात् जिस पुरुष से विवाह होता है उसको अर्पण की जाती है। अतएव किसी स्त्री को हम साध्वी नहीं कह सकते।

बालक यामुन राजगद्दी पर बैठकर बड़ी दक्षता के साथ राजकाज सँभालने लगे। जब यामुन २३ वर्ष राज्य कर चुके तब उनके दादा नाथमुनि के शिष्य राम मिश्र उनके पास आये और बोले—महाराज, आपके पितामह आपके लिए बहुत धन छोड़ गये हैं। उसे लेने के लिए आप मेरे साथ चलिए। राजा साथ चले। राम मिश्र राजा को इस बहाने श्रीरंगनाथजी के मन्दिर में ले आये। रास्ते में परम भक्त राम मिश्र के सत्संग तथा भगवत्सम्बन्धी संलाप के कारण यामुनाचार्य के हृदय में भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा। वैराग्य से उनका हृदय भर गया। वे राम मिश्र के उपदेश सुनकर मुग्ध हो गये और उसी दिन से राजपाट छोड़ श्रीरंगजी के सेवक हो गये। उन्होंने सच्चा धन प्राप्त कर लिया और अपना शेष जीवन भगवत्सेवा तथा ग्रन्थ-प्रणयन में बिताया।

यामुनाचार्य, रामानुज के परम गुरु थे। उनका रामानुज पर बहुत स्नेह था। रामानुज ने भी यामुनाचार्य के मन की तीन कामनाओं को भली भाँति पूर्ण किया।

(घ) रामानुजाचार्य और उनका विशिष्टाद्वैत

रामानुज ने कांची में यादवप्रकाश नाम के गुरु से वेदाध्ययन किया। उनकी बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि वे अपने गुरु की व्याख्या में भी दोष निकाल दिया करते थे। विद्या, चरित्रबल और भक्ति में रामानुज अद्वितीय थे। उन्होंने योग के बल से कांची की राजकुमारी को प्रेतबाधा से मुक्त कर दिया। आचार्य रामानुज दया में भगवान बुद्ध के समान, प्रेम और सहिष्णुता में ईसामसीह के प्रतियोगी, शरणागतवत्सलता में आलवार-सन्तों के अनुयायी और प्रचारकार्य में जगद्गुरु शंकराचार्य के समान उत्साही थे। उन्होंने तिरुकोरिन्दूर के महात्मा नाम्बि से अष्टाक्षरमंत्र (ओम् नमो नारायणाय) की दीक्षा ली थी। गुरु ने मंत्र देते समय उनसे कहा था कि इस मंत्र के जप से विष्णुधाम मिलेगा। अतएव उसे गुप्त रखने का आदेश दिया। किन्तु गुरु की अनुपस्थिति में रामानुज ने सभी वर्णों के लोगों को एकत्र कर, मन्दिर के शिखर पर खड़ा होकर, यह मंत्र सुना दिया। गुरु ने जब रामानुज की इस धृष्टता का हाल सुना तब उनपर बहुत क्रुद्ध हुए और कहने लगे—तुम्हें इस अपराध के लिए नरक भोगना पड़ेगा। रामानुज ने इसपर बहुत विनय-पूर्वक कहा—'भगवन्, यदि इस महामंत्र का उच्चारण कर हजारों आदमी नरक की यंत्रणा से बच सकते हैं तो मुझे नरक भोगने में आनन्द ही होगा।' रामानुज के इस उत्तर से गुरु का क्रोध शान्त हो गया। उन्होंने बड़े प्रेम से उन्हें गले लगाया और आशीर्वाद दिया। इस प्रकार रामानुज ने अपनी समदर्शिता और उदारता का परिचय दिया।

उन दिनों श्रीरंगम् पर चोल देश के राजा का अधिकार था। वह बड़ा कट्टर शैव था। उसने श्रीरंगजी के मन्दिर पर एक ध्वजा स्थापित करा दी थी जिसपर लिखा था—'शिवात्परतरो नास्ति' (शिव से बढ़कर कोई नहीं है)। जो कोई इसका विरोध करता उसके प्राणों पर आ पड़ती। रामानुज राजा का अभिप्राय जान गये और मैसूरराज्य के शालग्राम नामक स्थान में रहने लगे। वहाँ बारह वर्ष रहकर वैष्णवधर्म की बड़ी सेवा की। चोल राजा के देहान्त हो जाने पर आचार्य रामानुज श्रीरंगम् वापस आये और उन्होंने मन्दिर बनवाया। इसके बाद देश में भ्रमण करके हजारों नर-नारियों को भक्ति-मार्ग में लगाया।

रामानुज के ७४ शिष्य थे जो सब-के-सब संत हुए। सारा जीवन साधन, भजन और धर्मप्रचार में व्यतीत कर आचार्य ने प्रायः १२० वर्ष की अवस्था में ११९४ विक्रमाब्द में दिव्यधाम को प्रस्थान किया।

रामानुज ने गुरु यामुनाचार्य की इच्छा के अनुसार ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और आलवारों के 'दिव्यप्रबन्धम्' की टीकाएँ स्वयं लिखीं तथा लिखवाईं।

रामानुज ने विशिष्टाद्वैतमत का प्रचार किया। इस सम्प्रदायवाले लक्ष्मी तथा विष्णु और उनके अवतारों की पृथक्-पृथक् किंवा युगलरूप में उपासना करते हैं। श्रीराम पर विशेष भाव रखते हैं। शैवमतावलम्बियों से बड़ा द्वेष रखते हैं। उत्तरभारत में इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार नहीं है। रामानुजी ललाट में नासामूल से लेकर केश-पर्यन्त गोपीचन्दन का खड़ा तिलक लगाते हैं और उसके बीच में एक लाल रेखा

अंकित करते हैं। उनके ललाट, कण्ठ, बाहु, नाभि, पार्श्व, कर्णमूल, शिरोमध्य, पीठ आदि द्वादश अंगों में शंख-चक्र का चिह्न अंकित रहता है।

रामानुज के मतानुसार ध्यान और उपासना मुक्ति के साधन हैं, ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है। मुक्ति प्राप्ति का उपाय भक्ति है। भगवान के चरणों में आत्म-समर्पण करने से जीव को शान्ति मिलती है। भगवान की प्रसन्नता से ही मुक्ति मिल सकती है।

(च) आचार्य रामानन्द

रामानन्द का समय पन्द्रहवीं शती का मध्यभाग माना जाता है।

रामानन्द ने देश के लिए तीन मुख्य काम किये। पहला तो उन्होंने घोर साम्प्रदायिक गृह-कलह शान्त किया। दूसरा यह कि लोदी बादशाहों की हिन्दू-संहारिणी वृत्ति को दबाया और तीसरा काम उनका वैष्णवमत को लोकप्रिय बनाना था।

रामानन्द के सम्प्रदाय का प्रचार एक घटना के कारण हुआ। कहा जाता है कि रामानन्द एक बार देशाटन करने निकले। दीर्घकाल तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण करते रहे। तत्कालीन वैष्णव-सम्प्रदाय का नियम था कि भोज्य पदार्थ पर यदि दृष्टि पड़ जाय तो वह अपवित्र हो जाता था और फेंक दिया जाता था। रामानन्द ने देशभ्रमण में इस नियम का पालन नहीं किया। अतएव वे पतित माने गये। जब उनके गुरु राघवानन्द ने भी उनके गुरुभाइयों की बात का समर्थन किया तब उन्हें बहुत दुःख हुआ और उन सबका साथ छोड़कर अपने नाम से एक भिन्न सम्प्रदाय की स्थापना की।

रामानन्द काशी में पंचगंगाघाट पर निवास करते थे और आपने वहीं शरीर-त्याग किया।

रामानन्दी विष्णु के समस्त अवतारों को मानते हैं और श्रीराम को अपने इष्टदेव के रूप में पूजते हैं। रामानुजी वैष्णव की भाँति वे पृथक् किंवा युगल मूर्ति की आराधना करते हैं। शालग्राम तथा तुलसी पर विशेष श्रद्धा रखते हैं। केवल नाम-जप और स्मरण को मोक्ष का साधन मानते हैं।

रामानुज-सम्प्रदाय का कठोर नियम उन्हें पसन्द नहीं था। अतएव उन्होंने अपने शिष्यों को खान-पान के विषय में स्वतन्त्र रहने की आज्ञा दी। वे अपनी इच्छा तथा लोक-व्यवहार के अनुसार इस विषय में आचरण कर सकते हैं।

इस सम्प्रदायवालों का रामनाम गुरुमंत्र है। वे एक दूसरे से मिलने पर 'जय श्रीराम', 'जय राम', 'सीताराम' इत्यादि शब्दों से अभिवादन करते हैं।

रामानन्द के अनेक शिष्य थे जिनमें कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना आदि १२ प्रधान थे। इनमें कबीर जुलाहा, रैदास चमार, पीपा राजपूत, धन्ना जाट और सेन नापित थे। इससे स्पष्ट है कि रामानन्द ने ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं रखा और सब जाति के लोगों को शिष्य बनाया। गोस्वामी तुलसीदास आपके ही अनुयायी थे।

रामानन्द-सम्प्रदाय की शिक्षा का सार है कि ईश्वर की भक्ति करके जीव सांसारिक कष्टों से तथा आवागमन से बच सकता है। यह भक्ति राम की उपासना से ही प्राप्त हो सकती है। इस उपासना के अधिकारी मनुष्यमात्र हैं। जाति-पाँति का भेद इसमें अवरोध उपस्थित नहीं कर सकता।

रामानन्द का कार्यक्षेत्र उत्तरभारत रहा और आज उत्तरभारत के प्रायः समस्त रामभक्त वैष्णव रामानन्दी हैं। अयोध्या इस मत का मुख्य केन्द्र है।

रामानन्दी और रामानुजी तिलक में विशेष अन्तर नहीं है। केवल भिन्न-भिन्न रुचि के कारण पुण्ड्र की अन्तर्वर्त्ती रेखा के रूप और परिमाण में कुछ अन्तर आ गया है।

रामानन्दी गृहस्थ और उदासी दोनों होते हैं। उदासी काषायवस्त्र धारण करते और वैरागी के नाम से सम्बोधित होते हैं। वैरागियों में खान-पान का भेदभाव तथा छूतछात नहीं रहता है।

(छ) मध्वाचार्य और उनका द्वैतमत

दक्षिणभारत के बेलिग्राम में आचार्य मध्व का जन्म संवत् १२५६ में हुआ था। इन्होंने अन्तेश्वरमठ में वेदशास्त्रादि का अध्ययन किया। ग्यारह वर्ष की उम्र में ही अद्वैतमत के सन्यासी आचार्य सनककुलोद्भव अच्युतप्रज्ञाचार्य (नामान्तर शुद्धानन्द) से दीक्षा ले ली। यहाँ पर इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया। सन्यास लेकर इन्होंने गुरु से वेदान्त पढ़ना आरम्भ किया। जब वेदान्तशास्त्र में पारंगत हो गये तब गुरु ने इन्हें आनन्दतीर्थ नाम देकर मठाधीश बना दिया।

मध्वाचार्य बड़े धर्मनिष्ठ और विद्वान पुरुष थे। उन्होंने रामानुज तथा शंकर-प्रभृति धर्माचार्यों के सिद्धान्त का मनन किया। विचार करने पर न इन्हें शंकर का अद्वैत ही पसन्द आया न रामानुज का विशिष्टाद्वैत ही। इन्होंने सन्यासमार्ग का परित्याग कर लोकरुचि के अनुकूल द्विधातत्त्व-युक्त द्वैतमत का प्रतिपादन किया। इन्होंने विष्णु को जगत् का नियन्ता और परमेश्वर बतलाया तथा स्पष्ट शब्दों में कहा—

एको नारायणो ह्यासीत् न ब्रह्मा न च शंकरः।
आनन्द एक एवाग्र आसीन्नारायणः प्रभुः॥

अर्थात् आरम्भ में एकमात्र अद्वितीयस्वरूप भगवान नारायण विराजमान थे। न ब्रह्मा थे और न शंकर। नारायण सर्वगुण-सम्पन्न, स्वतन्त्र और आनन्दस्वरूप हैं। उन्हीं के शरीर से ब्रह्मादि देव पैदा हुए और सृष्टि हुई।

मध्वाचार्य ने सूत्रभाष्य, ऋग्वेदभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य आदि ३७ ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने उड़िपी (मालाबार) के मन्दिर में विष्णु के अतिरिक्त सीताराम, कालियमर्दन, वराह, नृसिंह-प्रभृति देवताओं की मूर्ति प्रतिष्ठित की।

मध्वाचारियों की उपासना के तीन अंग हैं—(१) अंकन, (२) नामकरण और (३) भजन। अंकन अर्थात् विष्णु के शंख-चक्र-गदा-पद्मादि चिह्नों से शरीर को अंकित करना तथा तप्तमुद्रा धारण करना। नामकरण अर्थात् अपनी सन्तानों का विष्णुपर्यायवाची नाम रखना, और नाम का कायिक, वाचिक मानसिक भजन करना।

इस मत में भक्ति ही मुक्ति का साधन है। ध्यान के बिना ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होता। इनके मत में भक्ति की दस विधियाँ हैं—(१) सत्य बोलना, (२) हित वाक्य बोलना, (३) सत्पात्र को दान देना, (४) प्रिय भाषण, (५) स्वाध्याय, (६) विपन्न व्यक्ति का उद्धार, (७) शरणागत की रक्षा करना, (८) दरिद्र का दुःख दूर करना, (९) केवल भगवान के दास बनने की इच्छा रखना और (१०) गुरु और शास्त्रों में विश्वास रखना।

वैष्णव की भाँति मध्वाचारी खड़ा तिलक लगाते हैं, किन्तु मध्य में लाल अथवा पीली रेखा के बदले कृष्ण रेखा अंकित करते हैं और उसके शिरोभाग पर हरिद्रा की गोल बिन्दी लगाते हैं।

(ज) निम्बार्काचार्य और उनका द्वैताद्वैतमत

इनका मूल नाम नियमानन्द था। इनका जन्म निजाम-राज्य (दक्षिण हैदराबाद) के बेदर नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने राधाकृष्ण की मूर्ति स्थापित कर उनकी पूजा करने का उपदेश दिया।

ये वृन्दावन में रहा करते थे। इनके अनुयायी इन्हें सूर्य का अवतार मानते थे। भक्तमाल में इनके सम्बन्ध की यह अलौकिक कथा है।

एक बार अपनी कुटी में एक सन्यासी से धर्म-चर्चा करते-करते सन्ध्या हो गई। सन्यासी रात में भोजन नहीं करते। अतएव इन्होंने सूर्य से कुछ देर और ठहरने का अनुरोध किया और जबतक अतिथि ने भोजन-कार्य समाप्त नहीं किया तबतक सूर्य अस्ताचल पर नहीं गये। साधु के भोजन करते समय सूर्य का प्रकाश नीम के पेड़ पर चमकता रहा, अतएव उसी दिन से इनका नाम निम्बार्काचार्य पड़ा।

निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतसम्प्रदाय का विशेष प्रचार किया। इनके मत से भक्ति ही मुक्ति का साधन है; उपासना द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। कृष्ण को ही ये भगवान् का अवतार मानते थे। अतएव इन्होंने भगवान् कृष्ण की पूजा और भक्ति का आदेश दिया।

इस सम्प्रदाय की गद्दी मथुरा के पास यमुनातट पर है। इसके अनुयायी उत्तरभारत में अधिक पाये जाते हैं। इस सम्प्रदायवाले गोपीचन्दन का खड़ा तिलक और उसके बीच में कृष्णवर्ण की बिन्दी लगाते हैं।

(झ) वल्लभाचार्य और उनका शुद्धाद्वैतमत

वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३५ में रामपुर (मध्यप्रदेश) के जिले में हुआ। काशी में ११ वर्ष की आयु में विद्याध्ययन समाप्त कर वृन्दावन आये। यहाँ कुछ काल रहकर तीर्थाटन करने निकले। विजयनगर के राजा कृष्णराय की सभा में विद्वानों को शास्त्रार्थ में हराया। यहाँ पर इन्हें वैष्णवाचार्य की पदवी मिली। तत्पश्चात् इन्होंने वृन्दावन एवं गिरिराज आदि जगहों में रहकर भगवान् कृष्ण की प्रेममयी आराधना की। इनकी अष्टयामसेवा बड़ी ही सुन्दर है और उसमें माधुर्यभाव का बड़ा सुन्दर प्रकाश हुआ है। कहा जाता है, बाद में भगवान कृष्ण ने इन्हें वात्सल्यभाव से उपासना के प्रचार की आज्ञा दी। अतएव भगवान् की आज्ञा से २८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने विवाह किया, जिससे विट्ठलस्वामी का जन्म हुआ। उन दिनों लोग धर्म के कठिन नियमों का पालन करते-करते ऊब उठे थे। वे सांसारिक सुखों में तन्मय हो रहे थे और उन्हें तनिक भी त्याग करना पसन्द नहीं था। अतएव इन्होंने राधाकृष्ण की लीला के प्रति पूर्णभक्ति का उपदेश देकर लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने की चेष्टा की।

ये राधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे। इनकी दिनचर्या में भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के लिए स्थान नहीं है। इनकी उपासना के तीन अंग हैं—भोग, राग और सेवा। इन तीनों वस्तुओं के द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना और अनन्तर मुक्ति पाना इनका लक्ष्य है। भगवान् के अनुग्रह को ही भागवत में पुष्टि कहा गया है—पोषणं तदनुग्रहः (भागवत)। इसीलिए यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है।

सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने कृष्ण को—जो उनके इष्टदेव हैं,—पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम माना है, जिनके सगुण, निर्गुण दो रूप हैं। ब्रह्म का निर्गुणरूप दुरभिगम्य है; अतएव सगुण का आधार आवश्यक है। सगुणरूप की लीला के गुणगान को ही सूर ने आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है। सूर तथा अष्टछाप के कवियों ने जीव को स्त्री तथा ब्रह्म को पुरुष माना है। जिस प्रकार पत्नी पति से बिछुड़कर दुखी होती है उसी प्रकार यह जीवात्मा ब्रह्म से बिछुड़कर मर्त्यलोक में आ गई है, जो दिन-रात प्रियतम के वियोग में अश्रु बहाया करती है।

वल्लभाचार्य के ८४ शिष्य हुए, जो ८४ वैष्णव के नाम से विख्यात हैं। ये अपने शिष्यों को 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' अथवा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र का उपदेश देते थे। इन्होंने श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी नाम की टीका लिखी है जो इस मत का प्रधान साम्प्रदायिक ग्रन्थ है।

गुजरात में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार है। वहाँ के धनी-मानी और वणिक्-वैश्य इसमें सम्मिलित हैं। वे गुरु को ईश्वर मानते हैं और 'जय श्रीकृष्ण', 'जय गोपाल' से परस्पर अभिवादन करते हैं। वल्लभसम्प्रदायी मन्दिरों में विविध प्रकार के पक्वान्न और फल भगवान कृष्ण को भोग लगाये जाते हैं, और पुजारियों तथा मन्दिर के सेवकों द्वारा प्रसाद के रूप में भक्तों के बीच बेचे जाते हैं। नाथद्वारा के मन्दिर का राग-भोग प्रसिद्ध है। यह मन्दिर उदयपुर-राज्य में है। यहाँ प्रतिदिन राग-भोग में हजारों रुपये व्यय होते हैं। जन्माष्टमी, शरतपूनो, अन्नकूट आदि अवसरों पर और भी अधिक व्यय होता है।

(ट) चैतन्य-महाप्रभु और उनका अचिन्त्य-भेदभाव

यह एक बृहद्वैष्णव-सम्प्रदाय है। बंगाल में कृष्ण की भक्ति के प्रचार का श्रेय चैतन्य-महाप्रभु को है। उनका जन्म १४०७ शकाब्द में नवद्वीप (बंगाल) में हुआ। वे बचपन से ही बड़े मेधावी थे। सदा एकाग्रचित्त से भागवत का पाठ किया करते थे। गृहस्थाश्रमी होने पर भी श्रीकृष्ण की उपासना में निरन्तर लीन रहा करते थे। अन्त में उन्हें वैराग्य हो गया और उन्होंने २४ वर्ष की अवस्था में सन्यास ग्रहण कर लिया। फिर छः वर्षों तक भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर कृष्णभक्ति का प्रचर किया। इसके बाद जगन्नाथपुरी में १८ वर्षों तक निवास किया। वे सदा दुःख-पीड़ितों का कष्ट दूर करने की चेष्टा में लगे रहते थे। रोगी को औषध और शोकाकुल को सदा सान्त्वना देते थे।

चैतन्य का कथन था कि सब लोग समानभाव से ईश्वर-भक्ति कर सकते हैं। भक्ति द्वारा समस्त जातियाँ शुद्ध हो सकती हैं। यही कारण है कि उन्होंने मुसलमान तथा अन्यान्य विधर्मियों को भी दीक्षा देकर अपनाया। उन्होंने

'शिक्षाष्टक' में अपने उपदेशों का सार दिया है, जिसका भाव इस प्रकार है—"मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का अधिक समय भगवान् के सुमधुर नामों के कीर्त्तन में लगावे जो अन्तःकरण की शुद्धि का सबसे उत्तम और सुगम उपाय है। कीर्तन करते समय वह प्रेम में इतना मग्न हो जाय कि उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगे। उसकी वाणी गद्‌गद और शरीर पुलकित हो जाय। भगवन्नाम का कीर्त्तन करनेवाला अपने को तृण से भी तुच्छ समझे। भगवन्नाम के उच्चारण में देशकाल का कोई बन्धन नहीं है। जहाँ, जब चाहे, भगवन्नाम का उच्चारण कर सकता है। भगवान् ने अपनी सारी शक्ति और अपना सारा माधुर्य अपने नामों के अन्दर भर दिया है। यों तो भगवान् के सभी नाम मधुर और कल्याणकारी हैं, किन्तु—

'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥'

महामंत्र सबसे अधिक लाभकारी और भगवत्प्रेम को बढ़ानेवाला है। भगवन्नाम का श्रद्धा के बिना उच्चारण करने से भी मनुष्य संसार के दुःखों से छूटकर भगवान के परमधाम का अधिकारी बन जाता है।"

उनके मत से भक्ति ही मोक्षप्राप्ति का मुख्य साधन है, ज्ञान और वैराग्य सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के बिना भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। वे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—पाँचों भावों को स्वीकार करते थे; परन्तु इनमें मधुररस को ही सबसे श्रेष्ठ मानते थे। उनके मत से निष्कामधर्म में निर्लिप्त चित्तवाला, सत्संग की इच्छा रखनेवाला, श्रद्धालु और शम-दमादि से सम्पन्न जीव ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकारी है।

वैष्णवों के कुछ उपसम्प्रदाय

वैष्णव-सम्प्रदायों में भी कुछ उपसम्प्रदाय हैं जिनमें (१) राधावल्लभी सम्प्रदाय, (२) स्वामीनारायणी सम्प्रदाय, (३) परिणामी सम्प्रदाय और (४) सतानी सम्प्रदाय मुख्य हैं।

(१) राधावल्लभी सम्प्रदाय—स्वामी हितहरिवंशजी ने सवत् १६४२ के लगभग वृन्दावन में राधावल्लभी सम्प्रदाय का आरम्भ किया। वृन्दावन में अबतक राधावल्लभ का मन्दिर मौजूद है जो इस उपसम्प्रदाय का मुख्य स्थान है। राधावल्लभ की उपासना इसकी विशेषता है। राधारानी महाशक्ति और स्वामिनी हैं। भगवान् कृष्ण उनके आज्ञानुवर्त्ती हैं। उनकी आज्ञा से ही विश्व की सृष्टि, भरण और हरण होता है। स्वामी हितहरिवंशजी की तीन पोथियाँ इस उपसम्प्रदाय के आधारग्रन्थ हैं—(१) 'राधा-सुधानिधि', जिसमें संस्कृत के पौने दो सौ श्लोक हैं; (२) 'चौरासी पद' और (३) 'स्फुट-पद'। पिछले दोनों व्रजभाषा में हैं।[१] वे अष्टछाप के महाकवियों में एक थे।

(२) स्वामीनारायणी सम्प्रदाय—गुजरात में राधाकृष्ण का उपासक स्वामी नारायणी सम्प्रदाय है। वल्लभ-सम्प्रदाय के घोर अत्याचार से खिन्न होकर सवत् १८६१

१ हिन्दुत्व—पृष्ठ ७४०

के लगभग स्वामी नारायण ने अपना सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने ऊँच-नीच के भेद को छोड़कर सभी जातियों के लोगों के लिए अपने पंथ का द्वार खुला रखा। इस्लाम मतावलम्बी खोजा लोगों को भी पंथ में सम्मिलित किया। इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में स्त्री-पुरुष का पारस्परिक स्पर्श न हो—ऐसा प्रबन्ध किया जाता है। वे अधिकाकांश मूर्त्ति के स्थान पर चित्रपट की पूजा करते हैं। अधिकांश अनुयायी गृहस्थ हैं। इनका दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है। परन्तु उपासनाविधि वल्लभकुल की है। इनके शिष्यों में (१) गुणातीतानन्द स्वामी, (२) गोपालानन्द स्वामी, (३) नित्यानन्द स्वामी, (४) शतानन्द स्वामी (५) निष्कुलानन्द स्वामी, (६) मुक्तानन्द स्वामी तथा (७) ब्रह्मानन्द स्वामी प्रसिद्ध संत हो गये हैं।

(३) परिणामी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को 'प्रणामी' भी कहते हैं। इसके प्रवर्त्तक महात्मा प्राणनाथजी परिणामवादी वेदान्ती थे और विशेषतः पन्ना (मध्यभारत) में रहते थे। ये अपने को मुसलमानों का मेहदी, ईसाइयों का मसीहा और हिन्दुओं का कल्कि अवतार मानते थे। इन्होंने मुसलमानों से शास्त्रार्थ भी किया था। सर्वधर्म-समन्वय इनका लक्ष्य था। इनका मत राधावल्लभी-सा था। ये भगवान् कृष्ण के सख्यभाव की उपासना की शिक्षा देते थे। इनकी रचनाएँ बहुत हैं। इनकी शिष्य-परम्परा का भी अच्छा साहित्य है। इनके अनुयायी वैष्णव हैं और गुजरात, राजस्थान तथा बुन्देलखण्ड में अधिक पाये जाते हैं।[१]

(४) सतानी सम्प्रदाय—यद्यपि इसके सभी अनुयायी शूद्र या शूद्रवत् समझे जाते हैं; तथापि ब्राह्मणों से कुछ कर्त्तव्यों की शिक्षा लेने के ये अधिकारी होते हैं। ये शिखा-सूत्र-विहीन होते हैं और रामानुजाचार्य के समय के बहुत पहले से श्रीवैष्णव कहलाते हैं। मैसूर, आंध्रदेश और तमिलनाड में पाये जाते हैं। कई मन्दिरों में, विशेषतः हनुमानजी के मन्दिरों में ये पुजारी का काम करते हैं। इन मन्दिरों में ब्राह्मण भी दर्शनार्थ जाते हैं, किन्तु वे पूजा नहीं चढ़ाते। साधारणतः ब्राह्मण, श्रीवैष्णव-मन्दिरों में आवश्यकता पड़ने पर, मूर्ति को सवाहन ढोते हैं और असवर्णों को जब श्रीवैष्णव की दीक्षा दी जाती है, तब वे ही तप्त शख-चक्र से उन्हें अंकित करते हैं। श्रीरंगम् के मन्दिर में प्राचीन सतानियो का विशेष आदर होता है। सतानी लोग तमिल-वेद के अधिकारी माने जाते हैं।[२]

इस प्रकार भक्ति का जन्म द्राविड़प्रदेश में आलवार-सन्तों द्वारा हुआ। कर्नाटक-प्रदेश में यह बढ़ी हुई, और महाराष्ट्रप्रदेश में बहुत दिनों तक वास करके गुजरात में जीर्ण हो गई।[३] मध्ययुग के भक्त लोग भी कहते हैं कि भक्ति द्राविड़ देश में उत्पन्न हुई थी और रामानन्द उसे उत्तरभारत में लाये थे।

---

१ हिन्दूत्व—पृष्ठ ७४०-४१। २ हिन्दूत्व—पृष्ठ ७४०-४१। ३ पद्मपुराण, उत्तर खण्ड ५०-५१

पाँचवाँ परिच्छेद

आचार्यों का दार्शनिक मत

अद्वैतवाद के प्रबलमेधावी प्रवर्त्तक शंकराचार्य के मत के अनुसार जितना भी दृश्यवर्ग है वह सब माया के कारण ही विभिन्न-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह एक अखण्ड शुद्ध चिन्मात्र ही है। सम्पूर्ण विभिन्न प्रतीतियों के स्थान में एक अखण्ड सच्चिदानन्द-घन का अनुभव करना ही ज्ञान है। तथा उस सर्वाधिष्ठान पर दृष्टि न देकर भेद (माया) में सत्यता का बोध करना ही अज्ञान है। अतएव शंकर ने भक्ति को ज्ञानोत्पत्ति का प्रधान साधन माना है। फल-रूप से तो उन्होंने ज्ञान को ही स्वीकार किया है। उनके मत से अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति है।

शंकर का अद्वैतवाद भारत की विचारधारा के क्षेत्र में तो सर्वोपरि आसन पर प्रतिष्ठित है ही, साथ ही पाश्चात्य दर्शन भी अब उसमें ही अपना लक्ष्यबिन्दु खोजने लगा है। क्या आश्चर्य, यदि आधुनिक विज्ञान की अणु-परमाणु-सम्बन्धी खोज अन्ततः शंकर के ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जगत् केवल एक भ्रांति और माया है; और जो कुछ है वह एक चेतन-तत्त्व है। शंकर का अद्वैतवाद या वेदान्त भारतीय दर्शन का सबसे गहन और प्रकाण्ड विषय है। उसपर सैकड़ों विशद ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। बहुतेरे लोगों के लिए उसकी बारीकियों को समझ लेना कठिन है। यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' सूत्ररूप में उसका सार निचोड़कर मानों भर दिया गया है तथापि इन्हीं सूत्र-वाक्यों की विशद व्याख्या के रूप में शंकर ने जो जगत् और जीव की नाम-रूपात्मक मिथ्याप्रतीति करानेवाली माया या अविद्या की असत्ता और उसकी उपाधि से रहित निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की एकमात्र सत्ता का जो दार्शनिक वाद हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है उसके सभी पहलुओं पर प्रकाश डालना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

विशिष्टाद्वैत

शंकराचार्य के मत में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन होने के कारण सगुण ईश्वर की भक्ति अथवा अवतारवाद की धारणा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी। अतएव प्राचीन भागवतधर्म के अनुयायी वैष्णवों के लिए इस अद्वैतवाद

के विरुद्ध, जिसे उन्होंने 'मायावाद' के नाम से पुकारना शुरू किया था, आन्दोलन मचाना और अपने मतविशेष की पुष्टि के लिए नवीन दार्शनिक भूमिका तैयार करना आवश्यक हो गया। एक बात और थी। शंकर की अद्वैतवादिनी विचारधारा सामान्य जन-मस्तिष्क-द्वारा ग्राह्य नहीं थी। वह वस्तुतः ज्ञानियों की वस्तु थी। साधारण नर-नारी तो उस ईश्वर की खोज में थे जो उनपर दया करता, विपत्ति के समय आकर रक्षा करता तथा जिसके चरणों में अपने को समर्पित कर वे अपने दुःख-दैन्य से छुटकारा पा जाते। जन-साधारण की इस भावना से ही ज्ञान के बदले भक्ति-प्रधान धर्म की माँग प्रबल हुई। इसी माँग ने बौद्धधर्म के उत्कर्षकाल में उसमें भक्ति और उपासना की प्रधानता कायम की थी। इस माँग की पूर्ति के लिए ही रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद को प्राचीन महाभारतकालीन भागवतधर्म के साथ संयुक्त करके विशिष्टाद्वैत नामक उस दार्शनिक धारा का जन्म दिया जिससे जीवात्मा, जगत् और ब्रह्म मूलतः तो शंकरमत के अनुसार एक ही रहे; किन्तु कार्यरूप में एक दूसरे से भिन्न तथा विशिष्ट गुणों से युक्त माने जाने लगे। रामानुज ने ज्ञान और कर्म दोनों को भक्ति का ही उपादान बताया और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर के साक्षात्कार करने का सबसे उपयुक्त मार्ग भक्ति ही है। रामानुज ने जीव, ब्रह्म और शरीर की उपमा कृष्ण, रक्त और श्वेत धागों के संघात से बने हुए कपड़े से दी है। उनका कहना है कि तीनों प्रकार के धागों से बना हुआ कपड़ा श्वेत, कृष्ण और रक्त होता है। इसी प्रकार चेतन, जड़ और ईश्वर के संघात से बने हुए जगत् की कार्यावस्था में भी भोक्ता, भोग और नियन्ता रहते हैं और संकरता नहीं आती, धागे तो अलग-अलग रह सकते हैं और जुलाहे के इच्छानुसार 'कारण' स्थानीय धागे के रूप में या 'कार्य' कपड़े के रूप में रहते हैं। परन्तु जगत् में चेतन और जड़, सब ब्रह्म के नित्य शरीर हैं और उसके प्रकार हैं। यही चेतन-जड़-पदार्थ-विशिष्ट परमात्मा शब्द से पुकारा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल और सूक्ष्म अवस्थापन्न जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं। चित् और अचित् की सूक्ष्म समष्टि ही स्थूल जगत् का उपादान है। इन दोनों—चित् और अचित्—से ब्रह्म में विकार नहीं होता; क्योंकि नित्य व्यापक होने पर भी ब्रह्म सदा पृथक् है, जैसे कृष्ण, रक्त और श्वेत धागे हर जगह पर एक नहीं हो जाते उसी प्रकार ब्रह्म, जीव और जड़ अलग-अलग रहते हैं।

शंकर ब्रह्म को सब प्रकार के गुणों से रहित—निर्गुण—मानते हैं। रामानुज को यह स्वीकार नहीं है। इसलिए उन्होंने गुणों से ब्रह्म को समन्वित मानकर अद्वैत के साथ 'विशिष्ट' शब्द का प्रयोग कर दिया। शंकर को सब प्रकार का द्वैत अमान्य था। वे गुण और गुणी के भेद को भी नहीं चाहते थे। दो शब्द ही क्यों रहे? द्रव्य और गुण का द्वैतभाव ही क्यों हो? इसीलिए उन्होंने ब्रह्म को सभी द्वन्द्वों से मुक्त कर दिया। परन्तु रामानुज का कहना है कि यह मनमानी बात तो नहीं है, कोई वस्तु बिना गुणों के नहीं होती। गुणी में गुण रहते ही हैं। यदि ब्रह्म एक सत्ता है तो उसमें गुण होना ही चाहिए। इसलिए उन्होंने ब्रह्म को सगुण या सविशेष माना है और इस प्रकार अद्वैत के साथ 'विशिष्ट' शब्द लगा दिया है।

द्वैताद्वैत

निम्बार्काचार्य ने 'द्वैताद्वैत' मत का प्रतिपादन किया जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर, जीव और जगत्—तीनों ही ब्रह्म हैं। उन्होंने रामानुज के मत को स्वीकार नहीं किया; क्योंकि रामानुज ने ब्रह्म को केवल ईश्वरत्व का प्रतिपादक माना है। उनके मत से यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर भिन्न हैं तथापि जीव और जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतंत्र नहीं। और परमेश्वर में ही जीव तथा जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म अंशी है। ब्रह्म ही जगद्रूप में परिणत हुआ है, जगद्रूप में परिणत होने तथा जगत् के ब्रह्म में लीन होने पर भी उनमें कोई विकार नहीं होता। जीव अणु और अल्पज्ञ है, मुक्त जीव भी अणु है। मुक्त और बद्ध में यही भेद है कि मुक्त जीव ब्रह्म के साथ अपने और जगत् के अभिन्नत्व का अनुभव करता है; किन्तु बद्धजीव ऐसा नहीं करता। इस प्रकार द्वैताद्वैतमत एक तरह से भेदाभेदवाद है। इस मत के अनुसार द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी। इस सम्प्रदाय की एक विशेषता है कि इसके आचार्यों ने अन्य मतों के आचार्य की तरह दूसरे मत का खण्डन नहीं किया है।

शुद्धाद्वैत

वल्लभाचार्य रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत अथवा निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत से समझौता करने पर तैयार न थे। अतएव सबको अलग रखकर उन्होंने अपने मतवाद के लिए एक बिल्कुल नई दार्शनिक भित्ति तैयार करने का निश्चय किया। यहाँ पर इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि जहाँ शंकर, रामानुज, निम्बार्क आदि ने 'प्रस्थानत्रयी' अर्थात् ब्रह्मसूत्र, दशोपनिषद् और गीता को ही अपना आधार बनाया था वहाँ वल्लभ ने इनके अतिरिक्त 'भागवतमहापुराण' को भी अपना एक मुख्य प्रमाणभूत आधार माना और शुद्धाद्वैत नामक सुप्रसिद्ध दार्शनिक विचार-धारा का विकास किया। इसके अनुसार उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म की अद्वैतसत्ता तो निर्विवाद स्वीकार कर ली गई; किन्तु शंकर के इस मत को कि एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म की ही परमार्थित सत्ता स्वीकार्य है, शेष सब कुछ माया है, बिल्कुल उलट दिया गया। संक्षेप में, इसके अनुसार माया-रहित शुद्ध जीव और परब्रह्म एक ही वस्तु है। वल्लभ ने घोषणा की कि ब्रह्म की अद्वैतता तो माया की कल्पना के बिना भी सिद्ध है। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्म कारण और कार्य—इन दोनों ही रूपों में सत्य और एक है—वह विशुद्ध है। माया के ऊपर वह अवलम्बित नहीं है। यह सारा दृश्य जगत् इस ब्रह्म की क्रीड़ा-शक्ति का ही विस्तार है। जीवों में भी तो लीला के हेतु अंशरूप में सिवा उसके कौन प्रकट हुआ है? इस प्रकार शंकर ने जहाँ ब्रह्म के निरुपाधि निर्विशेष को ही उसका यथार्थ रूप बताया था और सगुण को उसका मायिक रूप कहा था, वहाँ वल्लभ ने उसके सगुणरूप को ही यथार्थ और वास्तविक माना। संक्षेप में उनके मत में ब्रह्म कारण और जगत् कार्य है। कार्य और कारण दोनों अभिन्न हैं।

द्वैतवाद

शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियारूप में मध्ययुग के उत्तरकाल में जो विविध दार्शनिक और धार्मिक विचारधाराएँ उच्छ्वसित हुईं उनमें मध्वाचार्य-द्वारा प्रवर्तित

द्वैतवाद का एक विशिष्ट स्थान है। रामानुज, निम्बार्क और वल्लभ ने जहाँ शंकर के मायावाद का विरोध किया है वहाँ साथ-ही-साथ, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत नामक अपने मतवादों में परोक्षरूप से अद्वैत की धारणा के साथ समझौता करने का भी प्रयास किया है। इसके विपरीत मध्वाचार्य के विशुद्ध द्वैतवाद में ब्रह्म, जीव और जगत् की एकता की धारणा के लिए कोई गुंजाइश ही शेष नहीं रह गई। इनकी दृष्टि में तो एक ओर स्वतन्त्र अद्वितीय चेतन ब्रह्म और दूसरी ओर अस्वतन्त्र जड़ प्रकृति या परतन्त्र जीव है। इन दोनों की ही यथार्थ सत्ता मानी गई है। उन्होंने इनके भेद को नित्य माना, अनित्य नहीं। उनका कहना है कि परब्रह्म और जीव को कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध और असम्बन्ध बात है। इसलिए दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिए, क्योंकि इन दोनों में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती। आपके विचार में ब्रह्म और जीव में सेव्य-सेवकभाव है। सेवक कभी सेव्य से अभिन्न नहीं हो सकता। निरन्तर ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है।

इन आचार्यों के मतानुसार ब्रह्मा, शिव आदि से विष्णु श्रेष्ठ हैं। सब देवता विष्णु के वश में हैं। वे ही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। वे ही मुक्ति देते हैं। रामानुज और मध्वाचार्य ने विशेषकर दक्षिण भारत में, विष्णु की पूजा का परब्रह्म की पूजा के रूप में, प्रसार किया। वृन्दावन के निकट निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य का कार्यक्षेत्र रहा। अतएव पश्चिम भारत में विष्णु के पूर्णावतार श्रीकृष्ण की पूजा परब्रह्म की पूजा के रूप में प्रचलित हुई। बाद में चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल के घर-घर में कृष्णमत का प्रचार किया। परब्रह्म के रूप में श्रीराम के प्रचार का विशेष श्रेय स्वामी रामानन्द को है। आज अयोध्या एवं अन्य स्थानों के वैरागी कहानेवाले साधु एव उनके अनुयायी रामोपासक इसी सम्प्रदाय के हैं। रामानन्द ने रामानुजी-वैष्णव सम्प्रदाय की संकुचित सीमा को तोड़कर उसे अधिक विस्तृत तथा उदार बनाया। अतएव उनके मुख्य शिष्यों में कबीर, पीपा, धन्ना और रैदास हुए। उन्हीं की शिष्य-परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास हुए जिनके लिखे 'रामचरितमानस' को रामानन्द के सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ मानना चाहिए। यद्यपि यह ग्रन्थ सम्प्रदाय की चीज है तथापि इसमें किसी सम्प्रदाय की विशेषता की शिक्षा न होने के कारण यह ग्रन्थ सार्वभौम हो गया है। श्रीरामानन्द के सम्प्रदाय की शिक्षा का सार यह है कि राम की भक्ति और उपासना से ही जीव सांसारिक कष्टों से तथा आवागमन से बच सकता है। 'इस उपासना का अधिकारी मनुष्यमात्र है। जाति-पाँति का भेद इसमें अवरोध उपस्थित नहीं कर सकता।

निदान, शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में भारत के भिन्न-भिन्न भागों में द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और उनके अन्तर्गत चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्य भेदाभेदवाद या चैतन्य-सम्प्रदाय और रामानन्द के रामानन्द-सम्प्रदाय आदि वैष्णव-सम्प्रदायों का प्रसार हुआ, जिनका सिद्धान्त है कि मोक्ष की प्राप्ति का सबसे सुगम साधन भक्ति है। भगवान ने भी गीता में कहा है—अव्यक्त ब्रह्म में चित्त लगाना अत्यन्त कठिन और क्लेशमय है। यद्यपि गीता में निष्कामकर्म के महत्त्व का वर्णन है तथापि वह केवल साधन है और भक्ति ही अन्तिम निष्ठा है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना अथवा न करना बराबर है।

छठा परिच्छेद
शैव-सम्प्रदायों की परम्परा

वैष्णव आलवार-सन्तों की तरह दक्षिण भारत में शैव आलवार भी हुए, जिनकी संख्या चौंसठ मानी जाती है। इनमें माणिक वाचक, सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर अधिक प्रसिद्ध हैं। आलवारों की अमरवाणियाँ आध्यात्मिक साहित्य के दो महान संग्रह-ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। उनमें से एक का नाम 'देवरन'—अर्थात् भगवत्प्रेम के हार और दूसरे का नाम है 'निरुवाचकम्'—अर्थात् पवित्रवाणी। परियपुराणम् तथा 'ईश्वरलीला' नामक महान ग्रन्थों में इनके पवित्र चरित्र का वर्णन है।

इतिहास और पुराणों में शैव-सम्प्रदायों का वर्णन नहीं है; किन्तु बाद में शैवमत के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हो गये।

शैवों के मुख्य पाँच भेद हैं—(क) सामान्य शैव भस्म धारण करते हैं; भूप्रतिष्ठित शिवलिंग की अर्चना करते हैं; शिवभक्तों से भ्रातृभाव रखते हैं; शिवार्थ व्यापार करते हैं; शिव की कथा सुनते हैं एवं शिवध्यानादि अष्टविधा भक्ति करते हैं।

(ख) मिश्रशैव उन्हें कहते हैं जो पीठस्थ लिंग की पूजा करते हैं। साथ-ही-साथ विष्णु, उमा, गणपति और सूर्य की भी पूजा करते हैं। ये शंकराचार्य के अनुयायी स्मार्त शैव हैं।

(ग) वीर शैव मानते हैं कि अखिलजगत्, कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता और ब्रह्मरूप शिव हैं। जगत् के उपादान और निमित्तकारण वे ही हैं। ये अपनेको वीर, नन्दी, भृंगी, वृषभ और स्कन्द—इन पाँच गणाधीश्वरों के गोत्र में उत्पन्न बतलाते हैं। वीर शैव सम्पूर्ण जगत् को शिवमय मानते हैं। वीर शैवों की विशेषता इस बात में है—

> परब्रह्म इदं लिंगम् पशुपाशविमोचनम्।
> यो धारयति सद्भक्त्या स पाशुपत उच्यते॥

इन प्रमाणों से निरन्तर मृत्यु-पर्यन्त शरीर पर ये लिंगधारण किया करते हैं। इसके बिना एक क्षण भी नहीं रहते। ये लिंगायत के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। मद्रासप्रान्त में और विशेषकर हैदराबादराज्य (दक्षिण) में इनकी प्रधानता है। इस शैवमत का आरम्भ सृष्टि के आरम्भ से बताया जाता है। अतः यह मत पाशुपतमत से अभिन्न है और

कालानुसार ही इसके नामों में भेद पड़ता गया है। इसमें सभी प्रकार के वेदान्तीय विचारों का समावेश है। शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, भेदाभेदविशेषाद्वैत—ये कई प्रकार के विचार समाविष्ट हैं।

वीरशैवों के पाँच बड़े-बड़े मठ हैं, जो एक-एक आचार्य के स्थान-विशेष हैं। कहते हैं कि, उन-उन स्थानों के प्रायः ज्योतिर्लिङ्ग से ही ये पाँचो आचार्य प्रकट हुए। इन पाँचो स्थानों में—(१) कोलनुपाक (२) अवन्तिका, (३) श्रीकेदार, (४) श्रीशैल और काशी में—वीरशैवों के बड़े-बड़े मठ हैं।

वीरशैवों में यह प्रथा है कि बालक जब आठ वर्ष का होता है तब उसे शिव-दीक्षा दी जाती है। वीरशैवों में वर्णाश्रमधर्म पूर्णरूप से माना जाता है। सन्यासी विरक्त कहलाता है। ये लोग अपने गोत्र के अन्दर विवाह नहीं करते। इस मत के अनुसार कर्म से ही ज्ञान होता है, जिससे मुक्ति होती है। ये आचार्य से पाये हुए शिवलिंग की तीनों सन्ध्या में पूजा करते हैं। ये पशु-हिंसावाले यज्ञ नहीं करते। मंत्र, भस्म, रुद्राक्ष आदि विषयों में इनमें और सामान्य शैव में कोई भेद नहीं है। ये शिवलिंग से वियोग सह नहीं सकते, परम भक्त होते हैं, इसलिए वीरशैव कहलाते हैं। रामायण से ज्ञात होता है कि रावण भी वीरशैव था, क्योंकि सोने का शिवलिंग वह सदा साथ रखता था। वीरशैवो की संख्या संतालिस लाख के लगभग कही जाती है।

(घ) 'बसव'-पन्थी लिंगायत एक सुधारवादी शाखा है जिसका आरम्भ 'बसव' से समझा जाता है और जिसका आधार 'बसवेश्वरपुराण' है। बसवेश्वर ने लिंग-धारण की विशेषता तो स्थिर रखी, परन्तु वीरशैवों के अनेक मन्तव्यों के विपरीत मत चलाये। इन्होंने वर्णाश्रमधर्म का खण्डन किया, ब्राह्मणों का महत्त्व अस्वीकार किया, वेदों को नहीं माना, भगवान् शिव के सिवा किसी देवी-देवता को मानना अस्वीकार किया, जन्मान्तर को असिद्ध ठहराया, प्रायश्चित्त और तीर्थयात्रा को व्यर्थ बतलाया, सगोत्र विवाह को विहित बताया, अन्त्येष्टिक्रिया को अनावश्यक और शौचाशौच के विचार को भ्रमात्मक ठहराया, विधवाविवाह प्रचलित किया। इनके अनुयायी भी अपने को वीरशैव और लिंगायत कहते हैं। परन्तु आचार-विचार में इतना अधिक भेद होने से प्राचीन वीरशैव, पाशुपतशैव और बसवपन्थी लिंगायत में भेद सहज में दृष्टि-गोचर हो सकता है।[1]

(च) कापालिक शैवमत माननेवाले तांत्रिक साधु होते हैं जो मनुष्य की खोपड़ी लिये रहते हैं और मद्य-मांसादि का सेवन करते हैं। पहले ये नरबलि करते थे। ये लोग भैरव या शक्ति को बलि चढ़ाते हैं। ये स्पष्ट ही वाममार्गी शैव हैं, गृहस्थों में इस मत का प्रचार नहीं है। ये श्मशान में रहकर बीभत्सरीति से उपासना करते हैं।

(छ) प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुयायी कश्मीर के शैव हैं। इनके अनुसार सृष्टिमात्र शिवमय है। अद्वैतज्ञान के साथ मुक्ति का योग इनकी विशेषता है। सिर्फ इस ज्ञान की आवश्यकता है कि जीव और ईश्वर एक है। इस ज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति का साधन है। जीवात्मा और परमात्मा में जो भेद दीख पड़ता है, वह भ्रम है। यह मत शंकराचार्य के अद्वैतसिद्धान्त का पोषक और शिवसूत्रों पर निर्भर है।

१—हिन्दूत्व—पृष्ठ ६६७—६८

(ज) 'शिवाद्वैतवाद' भक्तिप्रधान मत है। इस मत में शिव को ही परब्रह्म माना गया है। शिव की उपासना करने से मुक्ति मिलती है। कहा गया है कि फल की कामना का त्याग करके काम करने से पाप का नाश होता है और पाप के नाश से चित्त की शुद्धि होती है। तब बोध होता है। इसलिए कर्म ही ज्ञान का हेतु है। कर्म और ज्ञान—दोनों का फल मुक्ति है। इस मत के प्रवर्तक श्रीकण्ठ के अनुसार जीव को पापों से मुक्त करना ही प्रयोजन है और उपासना से प्रसन्न होकर शिव मुक्ति प्रदान करते हैं। इस मत के आचार्य ने ब्रह्म को सगुण और सविशेष माना है। सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ शिव ब्रह्म हैं और जीवों को उनके कर्मानुसार भोग प्रदान करते हैं। आत्मा (जीव) अज्ञानरूपी वासनाओं से बद्ध है। जीव के बन्धन कट जाने पर वह परब्रह्म के समान ऐश्वर्य प्राप्त कर असीम आनन्द का अनुभव करता है। यही मुक्ति है। इस प्रकार यह मत द्वैतवादी कर्म-भक्ति-प्रधान है और इसके आचार्य ने शङ्करमत का खण्डन कर ज्ञान-कर्म-समुच्चय की स्थापना करने की चेष्टा की है।[1]

---

[1] श्रीबलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ५७०-५७८ और ५८५-९३

सातवाँ परिच्छेद

वैष्णव संत और उनकी परम्परा

पहले समस्त ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में लिखे जाते थे। शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क, रामानन्द, वल्लभ आदि समस्त धर्मप्रचारकों ने अपने-अपने ग्रंथ संस्कृत-भाषा में लिखे। किन्तु मुसलिम संस्कृति की वृद्धि के साथ-साथ संस्कृत-भाषा का प्रचार घटता गया। इस्लाम की बढ़ती हुई धारा को देखकर धार्मिक सम्प्रदायों के नेताओं को जनता की भाषा के सहारा लेने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और पन्थों एवं सम्प्रदायों के प्रचारकों ने अपने मत के ग्रन्थों को अपने-अपने प्रान्त की भाषा में लिखना आरम्भ किया। महाभारत और रामायण का भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ। पुराणों में, विशेषरूप से, श्रीमद्भागवत का अनुवाद हुआ और उसका कृष्णचरित्र-सम्बन्धी दशमस्कन्ध 'सुखसागर' के रूप में सर्वमान्य हो गया। गीता के भी अनेक अनुवाद हुए। पठन-पाठन और प्रकाशन एवं धारणा के सुभीते से ये प्राकृतग्रन्थ अधिकांश पद्यों में लिखे गये। सन्त-महात्माओं ने सर्वत्र इन प्राकृत अर्थात् प्रान्तीय भाषाओं को अपनाया और प्रायः सबने पद्यमय ग्रन्थ लिखे। साखी, शब्द, दोहरे, अभंग, भजन, गीत आदि के द्वारा ही उपदेश दिये जाने लगे। दक्षिण में ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी, नामदेव के पद, मुकुन्दराज के विवेकसिन्धु, महीपति के भक्तलीलामृत, एकनाथजी के हरिपाठ, त्रिलोचन के पद, तुकाराम के अभंग और रामदास के दासबोध आदि मराठी भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सिक्खों का तो 'ग्रन्थसाहब' ही गुरु है। कर्णाटकी में पुरन्दरदास के पद, व्यासराज के पद्य, तिम्मप्पदास और मध्वदास की रचानाएँ, चिदानन्द के हरिभक्ति-रसायन और हरिकथासार आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इसी कन्नड़ में वेंगाय आर्य का कृष्णलीलाभ्युदय (श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध का अनुवाद) और लक्ष्मीशदेवपुर के जैमिनि-भारत अच्छे ग्रन्थ हैं। बंगाल में चण्डीदास, कृत्तिवास, काशीरामदास आदि वैष्णव चैतन्य महाप्रभु के अनेक अनुयायी; तिरहुत में विद्यापति ठाकुर और उमापतिधर भक्तिरस के बड़े उद्भट कवि हो गये हैं। बंगाल में कृत्तिवास-रामायण का प्रचार तुलसी-कृत रामायण के समान है। नरसीमेहता गुजरात में और मीराबाई राजस्थान में भक्तिरस के प्रमुख कवि हुए। प्राणनाथ, हित-हरिवंश आदि महात्मा

तथा ब्रज के गोसाइयों में अष्टछापवाले प्राकृत के अच्छे कवियों में गिने जाने लगे। सारे भारत में धार्मिक भावों को व्यक्त करने की आवश्यकता ने मनोहर वाङ्मय की सृष्टि की। हृदय के ऊँचे-से-ऊँचे और बारीक-से-बारीक भाव और बुद्धि के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचार व्यक्त करने के लिए इन प्राकृतों (लोक-भाषाओं) को इन महात्माओं की वाणियों ने सुधारा और सँवारा। भगवान राम, कृष्ण, विट्ठल और पाण्डुरंग के गुणगान के बहाने भाषा की शब्द-शक्ति अत्यन्त बढ़ गई तथा विमर्श की अभिव्यक्ति पर वक्ता का अच्छा अधिकार हो गया। धीरे-धीरे संस्कृत का स्थान प्राकृतों ने ले लिया और वे उसकी साहित्य-निधि के उपयुक्त माध्यम बन गये।[1]

अनेक वैष्णव सन्तों ने धार्मिक विषमता और कटुता हटाने तथा भगवान की ओर भावुक जनता को प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया। नाभादास ने अपना भाव बहुत उदार रखा तथा अपने भक्तमाल में सभी सम्प्रदायों के महात्माओं की स्तुति की। सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसीमेहता, रामदास स्वामी, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास एवं आलवार सन्तों ने किसी मत का प्रचार नहीं किया; किन्तु अपने भजनों तथा उपदेशों-द्वारा भक्ति का प्रचार एवं तत्कालीन कटुता को हटाने का अथक प्रयत्न किया। भारत में संतों एवं सुधारकों की संख्या इतनी अधिक है कि उनके संक्षिप्त वर्णन के लिए भी हजारों पन्नों की पुस्तक पर्याप्त नहीं होगी।

वारकरी-पन्थ

महाराष्ट्र में पंढरपुर नामक एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहाँ विट्ठलनाथजी की मूर्ति है। यह मूर्ति बालक कृष्ण की है। आषाढ़ और कार्तिक की शुक्ला एकादशी को, साल में कम-से-कम दो बार, भक्तजन वहाँ विट्ठल के दर्शनार्थ जाते हैं। इस यात्रा का नाम है वारी। अतः इस पुण्ययात्रा करनेवाले का नाम हुआ वारकरी। इसी कारण इस पंथ का नाम वारकरी-पंथ पड़ा।

वारकरी-सम्प्रदाय पूर्णतया वैदिक धर्मानुकूल है। यह बिल्कुल भागवत-सम्प्रदाय है। भगवान कृष्ण की भक्ति ही मोक्ष का प्रधान साधन है। अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मेल करा देना इस पंथ की विशेषता है।

इस मत के अनुसार भक्ति ज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। एकनाथ महाराज के कथनानुसार भक्ति मूल है और ज्ञान फल है। अतएव मूलरूपी भक्ति के बिना ज्ञानरूपी फल पाना असम्भव है। इस प्रकार भक्ति तथा ज्ञान दोनों का समन्वय इस मार्ग में है। एकनाथजी कहते हैं—

भक्ति तें मूल ज्ञान ते फल।
वैराग्य केवल तयीं चें फूल॥
भक्ति युक्त ज्ञान ते थें नाही पतन।
भक्ति माता तया करित से जतन॥

---

१ हिन्दुत्व—पृष्ठ ७२८–२६

इस पंथ के चार सम्प्रदाय हैं—(१) चैतन्य-सम्प्रदाय, (२) स्वरूप-सम्प्रदाय, (३) आनन्द-सम्प्रदाय और (४) प्रकाश-सम्प्रदाय।

(१) चैतन्य-सम्प्रदाय में दो भेद हैं। एक में 'राम-कृष्ण-हरि' यह षडक्षर मंत्र है और दूसरे में प्रसिद्ध द्वादशाक्षर मंत्र है।

(२) स्वरूप-सम्प्रदाय का 'जय राम जय राम' मंत्र है। इसके छोटे-छोटे दो उप-सम्प्रदाय हैं।

(३) आनन्द-सम्प्रदाय का तीन अक्षर का मंत्र 'श्रीराम' और दो अक्षर का मंत्र 'राम' है। इसके अन्तर्गत नारद, वाल्मीकि, रामानन्द आदि संत माने जाते हैं।

(४) प्रकाश-सम्प्रदाय का मंत्र है 'ओम् नमोनारायणाय'। इस प्रकार मंत्र के भेद से वारकरी-पंथ के इतने प्रभेद हैं।

यह पंथ प्रधानतया कृष्णभक्तिमूलक होने पर भी शिव का विरोधी नहीं है। इसमें हरि और हर दोनों की एकता ही मानी जाती है। यह इस पंथ की विशिष्टता है। जब स्वयं पंढरनाथ के सिर पर शिव की मूर्ति विराजमान है तब पंढरनाथ के भक्त का शिव से भला कभी विरोध हो सकता है? ये लोग जिस प्रकार एकादशी के दिन व्रत रखते हैं उसी भाँति शिवरात्रि और सोमवार को भी। इसीलिए महाराष्ट्र में दक्षिणभारत के सदृश शैव-वैष्णव के मतभेद का नाम-निशान भी नहीं है।

ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम—इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। इनसे सम्बद्ध सब स्थान तीर्थ के समान पवित्र माने जाते हैं। इन सन्तों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) ज्ञानेश्वर—आपका जन्म संवत् १३३२ में महाराष्ट्र के नेवास ग्राम में हुआ। आपके बड़े भाई श्रीनिवृत्तिनाथ, एक छोटे भाई श्रीसोपानदेव और एक छोटी बहन मुक्ताबाई थी। ज्ञानेश्वर के पिता सन्यासी होने के बाद पुनः गृहस्थ हुए थे; अतएव आलन्दी ब्राह्मणों ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। उपनयन संस्कार के समय बड़ी कठिनाई उपस्थित हुई। अतएव चारो भाई-बहन इस कार्य के लिए पाटण आये। ज्ञानेश्वर की अद्भुत सामर्थ्य और विनय को देखकर पाटण के लोग चकित और मुग्ध हो गये, और इनसे भगवन्नाम-कीर्तन और कथाश्रवण करने लगे। धर्मज्ञ ब्राह्मणों ने बड़ी नम्रता के साथ इन्हें शुद्धिपत्र लिखकर दिया। कुछ कालतक पाटण के निवासियों को अपना अपूर्व सत्संगलाभ कराकर ज्ञानेश्वर अपने भाई और बहन के साथ ब्राह्मणों का दिया हुआ शुद्धिपत्र लेकर अपने ग्राम को लौटे।

'नेवास' में ज्ञानेश्वर ने गीता के ज्ञानेश्वरी भाष्य का प्रवचन किया जो गीता के भाष्यों में सर्वांगसुन्दर एवं अपने ढंग का निराला भाष्य है। ज्ञानेश्वर ने अपने बाल-जीवन में जो-जो चमत्कार दिखलाये, उनमें सबसे बढ़कर चमत्कार यह ज्ञानेश्वरी भाष्य है, जिसका प्रवचन उन्होंने केवल पन्द्रह वर्ष की आयु में किया था। उनके भाई और बहन भी अच्छे सन्त हुए। उन्होंने सारे भारत में भ्रमण कर हिन्दूधर्म का प्रचार एवं उसकी पुष्टि की।

इक्कीस वर्ष तीन मास पाँच दिन की अल्प आयु में संवत् १३५३ में मार्गशीर्ष-कृष्ण-त्रयोदशी को ज्ञानेश्वर ने जीवित समाधि ली और उसी वर्ष उनके भाई और बहन भी परलोक सिधारे।

ज्ञानेश्वर के चार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—ज्ञानेश्वरी[1] भाष्य के अतिरिक्त अमृतानुभव, हरिपाठ अभंग और चांगदेव पासठी।

(ख) नामदेव—'नरसी ब्राह्मणी' नामक स्थान में, संवत् १३२७ में, नामदेव का जन्म हुआ। वे कुल-परम्परा से दर्जी थे और थे विठ्ठल के भक्त। विठ्ठल-विठ्ठल कहना, विठ्ठल की मूर्ति का ध्यान करना तथा विठ्ठल नाम का जयजयकार करना—उनके बचपन का खेल था। बचपन में ही उनका विवाह हुआ, पुत्र और कन्याएँ हुईं; पर उन्हें गृहाशक्ति कभी न हुई। वे भगवान की एकान्तभक्ति में सदा लीन रहते थे।

एक बार नामदेव शिवरात्रि के अवसर पर 'औढ़िया' नामक स्थान पर 'नागनाथ' महादेव के दर्शन करने गये। भगवान शंकर के दर्शन-पूजन कर सम्मुख खड़े हो, हाथ जोड़, कीर्त्तन करने लगे। उस समय भगवान शंकर के अभिषेक करनेवाले ब्राह्मणों ने नामदेव के कीर्तन का तिरस्कार कर उन्हें वहाँ से हटा दिया। वे नम्रतापूर्वक वैसे ही हाथ जोड़े गर्भमन्दिर के पिछवाड़े खड़े होकर कीर्तन करने लगे। कहा जाता है कि इसपर भगवान शंकर ने घूमकर अभिषेक करनेवाले ब्राह्मणों की ओर पीठ फेर दी, और नामदेव के सम्मुख हो गये। अब भी इस घटना का चिह्न मिलता है। वहाँ नन्दी वृषभ शंकर के सामने नहीं, किन्तु पीछे की ओर है।

भगवान विठ्ठल की आज्ञा से नामदेव ज्ञानेश्वर के साथ तीर्थयात्रा को गये। ज्ञानेश्वर के समाधि लेने के पश्चात् नामदेव लगभग चालीस-पचास साधुओं को संग लिये मथुरा-वृन्दावन पहुँचे और विठ्ठलनाथ का संकीर्त्तन करते-कराते आगे बढ़े। इस प्रकार वे पंजाब पहुँच गये। पंजाब में उन्होंने भगवन्नाम का खूब प्रचार किया। पंजाबी हिन्दी में उनके पद अब भी पाये जाते हैं। गुरुग्रन्थसाहब में उनके साठ से अधिक पद मिलते हैं। पंजाब में उनकी वाणियाँ गाई जाने लगीं। उन्होंने मरी हुई गाय को जिलाकर मुसलमानों को भी प्रभावित किया था। ग्रन्थसाहब में इस प्रसंग का बड़ा सुन्दर वर्णन है।

नामदेव अठारह वर्ष पंजाब में रहे। पीछे पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) लौट आये और अस्सी वर्ष की अवस्था में विठ्ठल-मन्दिर के महाद्वार की सीढ़ी पर संवत् १४०७ में प्राणत्याग किया।

(ग) एकनाथ—एकनाथ का जन्म संवत् १५९० में हुआ था। बारह वर्ष की आयु में उनके अन्दर ऐसी भगवत्प्रीति जगी कि वे भगवान से मिलानेवाले सद्गुरु के लिए बेचैन हो उठे। उन्हें आकाशवाणी सुन पड़ी, जिसमें देवगढ़ में जनार्दन पन्त के यहाँ जाने का आदेश था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने छः वर्ष पर्यन्त गुरु की सेवा की। अन्त में गुरुकृपा से उनको भगवान दत्तात्रेय का साक्षात्कार हुआ। एकनाथ ने देखा कि गुरुदेव ही दत्तात्रेय हैं और दत्तात्रेय ही गुरु हैं। सगुण-साक्षात्कार के अनन्तर गुरु ने कृष्णोपासना की

---

१. श्रीरामचंद्र वर्मा ने ज्ञानेश्वरी का बहुत सुन्दर हिंदी अनुवाद किया है।

दीक्षा देकर शूलभञ्जन पर्वत पर रहकर जप करने की आज्ञा दी। उन्होंने उस पर्वत पर घोर तपस्या की। तप पूरा होने पर पुनः गुरु के पास लौट आये। गुरु ने उन्हें सन्त-समागम और भागवतधर्म का प्रचार करने के लिए तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दी। इसी बीच उनके पितामह ने गुरु से आज्ञापत्र ले लिया था कि 'एकनाथ, अब तुम विवाह करके गृहस्थाश्रम में रहो'। अतः गुरु की आज्ञा के अनुसार अपनी तीर्थयात्रा समाप्त करके उन्होंने विवाह किया। उनकी धर्मपत्नी गिरिजाबाई बड़ी धर्म-परायणा और आदर्श गृहिणी थीं। इस कारण उनका सारा प्रपञ्च भी परमार्थ-परायण ही हुआ। उनका जीवन बद्धों को मुमुक्षु बनाने, मुमुक्षु को मुक्त करने और मुक्तों को पराभक्ति का परमानन्द दिलाने के लिए ही हुआ था। उनके परोपकारमय निःस्पृह साधुजीवन की अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जिनसे उनके विविध दैवी गुण प्रकट होते हैं।

परोपकारमय निःस्पृह साधुजीवन से, उपदेश से, दान से सबका उपकार करते हुए गृहस्थाश्रम का दिव्य आदर्श सबके सामने रखकर, अन्त में संवत् १६५६ की चैत्र-कृष्ण षष्ठी को उन्होंने गोदावरी-तट पर शरीर त्याग किया। उस समय वे पूर्ण स्वस्थ थे। उन्होंने महाप्रयाण का दिन पहले ही बतला दिया था। अतः उसके कई दिन पहले से ही 'पैठण' में सर्वत्र भगवत्संकीर्तन हो रहा था। हरिकथाओं की धूम थी। दूर-दूर से आये हुए दर्शनार्थियों की भीड़ जमी थी। आकाश भगवन्नाम-कीर्तन से गूँज रहा था। जब उस षष्ठी तिथि का प्रातःकाल आरंभ हो रहा था तब उन्होंने गोदावरी में स्नान किया और बाहर निकलकर सदा के लिए समाधिस्थ हो गये।

उनके ग्रन्थों में सबसे लोक-प्रिय और प्रसिद्ध भागवत का एकादशस्कन्ध, रुक्मिणी-स्वयंवर और भावार्थरामायण हैं। सभी ग्रन्थ अद्वैतप्रधान हैं। उनकी शैली भी सुबोध तथा चित्ताकर्षक है।

(घ) **तुकाराम**—इनका जन्म दक्षिण के 'देहू' नामक ग्राम में संवत् १६६५ में हुआ। पिता के मरने और बड़े भाई के विरक्त होने के कारण गृहस्थी का सारा भार उनपर आ पड़ा, जिसके कारण उन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़े। वे सदा भगवद्भजन में, कीर्तन में या कहीं एकान्त में रहते। दिनभर पर्वत पर अथवा मन्दिर में नाम-स्मरण करते और सन्ध्या होने पर गाँव में लौटकर लगभग आधी रात तक हरिकीर्तन सुनते। इस प्रकार की कठिन साधनाओं के फलस्वरूप उनकी चित्तवृत्ति अखण्डनाम-स्मरण में लीन रहने लगी। बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण और साधु-संत उनकी प्रकाण्ड ज्ञानमयी कविताओं को उनके मुख से प्रस्फुटित होते देखकर उनके चरणों में नत होने लगे। किन्तु पूना से नौ मील दूर 'बाघोरी' नामक स्थान में वेद-वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित तथा कर्मनिष्ठ रामेश्वर भट्ट नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। उनको तुकाराम की प्रतिष्ठा सह्य नहीं हुई। तुकाराम-जैसे शूद्र के मुख से श्रुत्यर्थबोधक मराठी अभंग निकले और ब्राह्मण भी उनको संत जानकर मानें तथा पूजें—यह उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने 'देहू' के हाकिम से तुकाराम को 'देहू' छोड़कर अन्यत्र जाने की आज्ञा दिलाई। बाद में रामेश्वर भट्ट पूना के नागनाथजी के दर्शन करने जाते समय अनगढ़ शाह औलिया की बावली में नहाने के लिए उतरे। नहाकर ज्यों ही वे ऊपर आये, एकाएक उनके सारे शरीर में भयावह जलन पैदा हो गई। वे रोने-पीटने-चिल्लाने लगे। दवा-दारू से

उन्हें कुछ लाभ नहीं हुआ। अन्त में ज्ञानेश्वर महाराज ने उन्हें स्वप्न में तुकाराम की शरण में जाने को कहा। तब वे तुकाराम की शरण में गये और उनके पास जाते ही उनकी जलन गायब हो गई। छत्रपति महाराज शिवाजी उन्हें अपना गुरु बनाना चाहते थे। पर उनके नियत गुरु समर्थ रामदास हैं—यह अन्तर्दृष्टि से जानकर तुकाराम ने उन्हीं की शरण में जाने का उपदेश दिया। संवत् १७०६ चैत्र-कृष्ण को वे स्वर्ग सिधारे।

तुकाराम का अभंग-समुदाय उनका जीता-जागता स्मारक है और वह जगत् की अमूल्य एवं अमर आध्यात्मिक सम्पत्ति है।

नरसी मेहता

पन्द्रहवीं शताब्दी में नरसी मेहता गुजरात के एक बहुत बड़े कृष्णभक्त हो गये हैं। उनका जन्म जूनागढ़-राज्य में हुआ था। उनके भजन आज भी श्रद्धा और आदर से गाये जाते हैं। उनका निम्नलिखित भजन गांधीजी को बहुत प्रिय था—

वैष्णव जण ते तेणें कहिए जे पीर पराई जाणे रे।

बचपन में ही साधुओं का सत्संग प्राप्त होने से उनके हृदय में कृष्णभक्ति का उदय हुआ। वे बराबर साधुओं के साथ रहकर श्रीकृष्ण और गोपियों की लीला गाने लगे। यह घरवालों को पसन्द नहीं आया। एक दिन उनकी भौजाई ने ताना मारकर कहा कि 'ऐसी भक्ति उमड़ी है तो भगवान से क्यों नहीं मिल आते?' इसका नरसी पर जादू की तरह असर हुआ। वे महादेव के पुराने मन्दिर में जाकर उनकी उपासना और तपस्या करने लगे। तपस्या पूरी कर घर आये और अपने बाल-बच्चों के साथ अलग रहने लगे। उनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण मेरे सारे दुःखों और अभावों को अपने-आप दूर कर देंगे। क्योंकि भगवान ने गीता में कहा भी है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९–२२

कहते हैं, उनकी पुत्री के विवाह में जो रुपये और अन्य सामग्रियों की जरूरत पड़ी, भगवान के अनुग्रह से वे सब अनायास पहुँच गई। पुत्र-पुत्री के विवाह हो जाने पर नरसी निश्चिन्त हो गये और अधिक उत्साह से कीर्तन करने लगे। कुछ दिन बाद जब एकाएक उनकी स्त्री का देहान्त हो गया तब वे एकदम विरक्त हो गये और लोगों को भगवद्भक्ति का उपदेश देने लगे। भक्ति तथा प्राणिमात्र के साथ विशुद्ध प्रेम करने से सबको मुक्ति मिल सकती है,—यही उनके उपदेश का सार था। उन्होंने घूम-घूमकर जनता के हृदय को कृष्ण-भक्ति से प्लावित किया।

स्वामी समर्थ रामदास

स्वामी रामदास का पूर्वाश्रम नाम नारायण था। उनका जन्म संवत् १६६५ की रामनवमी के दिन, गोदावरी के तट पर 'जम्बू' नामक स्थान में, एक ब्राह्मण के घर, हुआ था। बाल्यावस्था से ही राम के चरणों में उनका अनुराग था। उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिसे दूर करने के लिए माता-पिता ने उनका विवाह करना

चाहा। पर वे विवाह-मण्डप से उठकर भाग गये और नासिक के पास एक गुफा में जाकर तपस्या करने लगे। बाद में बहुत दिनों तक इधर-उधर तीर्थयात्रा करते रहे। दक्षिणभारत में उनकी साधुता की बहुत प्रसिद्धि हो गई, जिसको सुनकर छत्रपति शिवाजी उनके दर्शन के लिए आये और उनके भक्त हो गये।

संसार के दुःखद प्रपंच से घबराकर संसार-त्याग में ही सुख और मोक्ष बतलानेवाले बहुत-से महात्मा मिलेंगे; किन्तु प्रवृत्ति तथा निवृत्ति—दोनों के द्वारा मोक्ष का साधन बतलानेवाले महात्मा बहुत कम मिलेंगे। रामदासी सम्प्रदाय में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति—दोनों का यथानुरूप मिश्रण किया गया है। 'मानपंचक' में रामदासजी ने कहा है—

रामदासी ब्रह्मज्ञान सारासार विचारणा।
धर्म संस्थापने साठं कर्मकंड उपासना॥

'सदा जागरूक रहना और यत्न करते रहना'—इन दोनों को स्वामीजी एक रूप से आवश्यक समझते थे; क्योंकि इनसे लोक-परलोक दोनों बनते हैं। रामचन्द्र का विश्वामित्र के साथ अयोध्या से प्रस्थान कर रावण-वध-पर्यन्त लोक-हितकर कार्य का एकमात्र उद्देश्य आर्य-संस्कृति को सुदृढ़ एवं विस्तृत करना एवं ऋषियों और गुरुकुलों की रक्षा करना था। रामचन्द्र इस कार्य में पूर्णतया सफल हुए। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों का आश्रय समानरूप से ग्रहण करनेवाले महात्मा रामदास को रामचन्द्र से बढ़कर आदर्श उपास्यदेव दूसरा कौन मिल सकता था? इसलिए इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्य गीता में प्रतिपादित कर्मयोग के सच्चे मार्ग पर शुद्ध मन से चले, जिससे उसका दोनों लोक बन जाय। इस मत के अनुयायी गृहस्थ और विरक्त दोनो हैं। विरक्तों के लिए ब्रह्मचारी रहते हुए भिक्षा से अपनी जीविका चलाकर, निष्कामबुद्धि से समाज की सेवा करना तथा साथ-ही-साथ आत्मज्ञान प्राप्त करना ही कर्म निर्धारित किया गया है। शिवाजी उनसे प्रभावित होकर, समस्त राज-पाट उनके चरणों में अर्पित कर, झोली लेकर भिक्षाटन करने चले। किन्तु शिवाजी के द्वारा हिन्दू-धर्म और आर्य-संस्कृति की रक्षा अवश्यम्भावी समझकर उन्होंने शिवाजी को संन्यास-आश्रम में जाने से विरत किया। शिवाजी उनके मन्त्रणानुसार पुनः राजकाज सँभालने लगे। स्वामीजी ने रामनवमी का जो उत्सव आरम्भ किया वह आजतक बड़े समारोह से महाराष्ट्र में मनाया जाता है।

स्वामीजी ने राजमंत्र के ४६ श्लोक लिखे हैं, जो परम विख्यात हैं। मन को सम्बोधित कर संसार की माया छोड़ देने और भगवान की ओर लगन लगाने के जो विमल उपदेश आपने दिये वे 'मनबोधाँचे श्लोक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका 'दासबोध' हिन्दूमात्र के पठन और मनन करने योग्य ग्रन्थ है। स्वनामधन्य शिवाजी के प्रतापशाली होने का एकमात्र श्रेय स्वामीजी को है। यह उन्हीं की शिक्षा का प्रभाव है कि शिवाजी हिन्दूधर्म और आर्यजाति की रक्षा में तत्पर रहकर विधर्मियों से हिन्दूधर्म और आर्य-संस्कृति को बचा सके।

मीराबाई

परमभक्त प्रेमयोगिनी मीरा का नाम आज देश-विदेश में कौन नहीं जानता? प्रभु के प्रेम में अपना सब-कुछ कैसे होम दिया जाता है, श्रीचरणों में सर्वात्मसमर्पण का क्या स्वरूप है—यह जानना हो तो प्रातःस्मरणीया चिरवन्दनीया परम सती मीरा के चरित्र से बढ़कर कोई साधन नहीं है।

मीरा का जन्म संवत् १५७३ के लगभग 'मेड़ता' के राठोर रतनसिंह के घर में हुआ। उनका विवाह उदयपुर के राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र महाराजकुमार भोजराज के साथ हुआ था। परन्तु उनका अनन्त सम्बन्ध श्रीकृष्ण से हो चुका था और इसी कारण मन को भरमानेवाले सांसारिक सम्बन्ध का उनपर कुछ भी असर नहीं हुआ। बचपन से ही वे कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के कुछ ही दिन बाद उनके पतिदेव का परलोकवास हो गया। परन्तु उनके वास्तविक पति जिनके साथ उनका अमर सम्बन्ध स्थापित हो चुका था, चिर अमर थे।

लोकलाज के मिथ्या आडम्बर को एक ओर हटाकर, मीरा भक्तों और संतों के बीच मन्दिर में जाकर भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने आनन्दमग्न होकर नाचने और गाने लगीं। उनके स्वजन इस आचरण से तंग आकर उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देने लगे। विष भेजा गया, वे भगवान का चरणामृत समझकर पी गईं और भगवान् की कृपा से विष भी अमृत हो गया। पिटारी में साँप भेजा गया, उसे खोलने पर मीरा को साँप के स्थान पर शालग्राम की मूर्ति मिली। उन्होंने उस मूर्ति को हृदय से लगा लिया। उनके विरुद्ध नाना प्रकार के अपवाद फैलाये गये, परन्तु उनका मन भगवद्भक्ति की ओर से न फिरा।

कहने के लिए तो घरवालों के व्यवहार से तंग आकर, परन्तु वस्तुतः भगवान से सान्निध्य प्राप्त करने के अभिप्राय से, वे महल से निकल पड़ीं। वृन्दावन पहुँचकर मन्दिरों में घूम-घूम अपने हृदय-धन को भजन सुनाती रहीं। जहाँ-जहाँ जातीं, भक्त और संतजन उनके चरणों का स्पर्श कर अपने को धन्य मानने लगे।

अन्त में वृन्दावन की प्रेमलीला में छकी हुई मीरा द्वारका पहुँचीं और वहाँ श्रीरणछोड़जी के मन्दिर में पैरों में घुँघरू बाँधकर और हाथ में करताल लेकर भजन गा-गाकर भगवान् के सामने नाचने लगीं। यहीं वे अपने जीवन के अन्तिम दिन रणछोड़जी की मूर्त्ति में समा गईं।

'नरसीजी का मायरा', 'गीतगोविन्द-टीका', 'रामगोविन्द', 'राग सोरठ'—ये चार ग्रन्थ मीरा के बनाये कहे जाते हैं। मीरा के भजन अपनी मधुरता के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

कहा जाता है कि मीरा को गोस्वामी तुलसीदास का यह उपदेश प्राप्त हुआ था—

> **जाके प्रिय न राम वैदेही।**
> **तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥**[1]

---

[1] कल्याण—सतांक, पृष्ठ ५२१-२२

संत तुलसीदास

प्रातःस्मरणीय महात्मा तुलसीदास निर्विवादरूप से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। संसार के कवियों में भी उनका विशिष्ट स्थान है। उनका 'रामचरितमानस' न केवल एक अमरकाव्य है; वरन् अपने ढंग का अद्वितीय ग्रन्थ है। महात्मा गान्धी का कथन है कि गहरे अध्ययन के लिए यह गीता के समान ही मूल्यवान है। महामना मालवीयजी ने भी कहा है कि रामायण को सिर्फ काव्यग्रन्थ कहना उसका अपमान करना है; उसमें तो भक्तिरस का निर्मल प्रवाह है जो मानव-जीवन को पवित्र कर देता है। सर्वसाधारण की सुरुचि का विचार रखते हुए रामकथा के व्याज से युगधर्म के अनुकूल तत्त्वविवेचन की सब बातें कह जाना और सफल मानव-जीवन का सर्वाङ्गसुन्दर उत्कृष्ट चित्र अंकित करना ही उसकी अपूर्वता और विशेषता है। यह ग्रन्थ सिर्फ भजनानन्दियों के लिए ही नहीं लिखा गया है, वरन सर्वसाधारण को भगवान की भक्ति का रहस्य समझाने के लिए भी। ग्रन्थ का उद्देश्य राम-कथा का वर्णन और काव्य-चमत्कार प्रदर्शित करना ही नहीं है, वरन मानव-जीवन की चरितार्थता के लिए मानवोचित कर्त्तव्यों का निर्देश करना भी है।

"तुलसी-मत न केवल मानवधर्म और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ बातों को ही समेटे हुए है, वरन् वह गीता से लेकर गांधीवाद तक समग्र धर्म-प्रवर्त्तकों के सत्सिद्धान्त को भी अपनी गोद में खेला रहा है। गीता का अनासक्तियोग, बौद्धों और जैनों का अहिंसा-वाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का मंत्रजप, शंकराचार्य का अद्वैत-वाद, रामानुज की भक्तिभावना, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतभाव, मध्वाचार्य की रामोपासना, वल्लभाचार्य की बालरूपोपासना, चैतन्य महाप्रभु का अनन्य प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाम-माहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्म-समाज की ब्रह्मकृपा-प्रतीति, आर्यसमाज का आर्य-संगठन, गान्धीवाद की सत्य-अहिंसा-मूलक आस्तिकतापूर्ण लोकसेवा आदि-आदि सभी कुछ तो उसमें हैं ही, साथ ही, मुसलमानों का विश्व-बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा कारुण्य से पूर्ण सदाचार भी उसमें क्रीड़ा कर रहे हैं।"[1]

तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उन्होंने भाषा-रामायण लिखकर प्रसंगवश वर्णाश्रमधर्म, अवतारवाद, सगुणो-पासना, मूर्तिपूजा, गो-ब्राह्मण-रक्षा एवं प्राचीन संस्कृति तथा वैदिक मार्ग का मण्डन तो किया ही है, साथ-साथ अपने समय के विधर्मी शासकों के अत्याचारों और सामा-जिक दोषों एवं पन्थवाद की निन्दा भी की है। तुलसीदास खूब समझते थे कि भारत के पतन और विधर्मियों के आधिपत्य का मुख्य कारण हिन्दू-राजाओं की आपसी फूट तथा मत-मतान्तर के झगड़े एवं जातीय कटुता ही है। 'रामचरितमानस' में आदर्श पात्रों द्वारा उन्होंने भाई-भाई के अपूर्व प्रेम, स्वराज्य के सिद्धान्त, सुशासन के आदर्श, अत्याचारों से बचने और शत्रु पर विजय पाने के उपाय आदि सभी सामाजिक तथा राज-नीतिक बातों को खुले शब्दों में बड़ी कुशलता से बतलाया है। इस अद्भुत ग्रन्थ ने

१. डा० बलदेवप्रसादमिश्र-रचित—तुलसीदर्शन

राजा से रंक तक सबके हृदय में स्थान बना लिया है। सारे उत्तर-भारत में, झोपड़ी से महल तक, इसकी गति है। मूर्ख से महापंडित तक के आदर-मान का यह अधिकारी है। भारत में आज कोई ग्रन्थ इसके सदृश लोकप्रिय नहीं है। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिकता की सीमा को लाँघकर सारे देश में व्याप्त है और निर्विवाद-रूप से सभी मत-मतान्तरों को मान्य है।

तुलसीदास के समय में शैवों और वैष्णवों में जो विषम कटुता फैली हुई थी, जिसके कारण दोनों का परस्पर संहार हो रहा था, उसका बहुलांश में उन्मूलन करने में तुलसीदास समर्थ हुए। आपने स्पष्ट घोषित कर दिया कि राम और शिव दोनों में कोई भेद नहीं है और एक का वैरी दूसरे का कृपापात्र हो ही नहीं सकता। रावणादि अनार्य यद्यपि शिवभक्त थे तथापि रामद्रोही होने के कारण ही उनका वध हुआ। समस्त हिन्दू-समाज की बिखरी हुई शक्तियों को एक सूत्र में बाँधने का उन्होंने भगीरथ-प्रयत्न किया और बहुत-कुछ सफल भी हुए। परिणाम-स्वरूप स्मार्त्तों की संख्या बढ़ी और अधिकांश हिन्दू पंच-देवोपासक बनकर सभी देवताओं की, समान रूप से, पूजा-प्रतिष्ठा करने लगे।

तुलसीदास ने भारत को विधर्मी होने से तो बचाया ही, सारे उत्तर-भारत को भक्ति-रस से परिप्लावित भी कर दिया। अतएव, यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि उनका 'रामचरितमानस' हिन्दू-जनता का जीवन-रक्षक और मार्ग-प्रदर्शक है।

गोस्वामी तुलसीदास आदिकवि वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं। उनका आविर्भाव संवत् १५५४ की श्रावण-शुक्ला-सप्तमी को, बाँदा जिले के यमुनातटस्थ 'राजापुर' गाँव में जो प्रयाग से ३० मील दूर है, एक सरयूपारीण ब्राह्मण के घर हुआ था। यहाँ उनके हस्तलिखित 'रामचरितमानस' का कुछ अंश अबतक सुरक्षित है।

विक्रम-संवत् १६३१ की रामनवमी को हनुमान की आज्ञा से उन्होंने 'रामचरितमानस' का प्रणयन प्रारम्भ किया। दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिन में वह पूरा हुआ। उनके रचे ग्रन्थों में दोहावली, कवित्त-रामायण, गीतावली, रामचरितमानस और विनय-पत्रिका विशेष प्रसिद्ध हैं। उन्होंने १२६ वर्ष की अवस्था में, संवत् १६८० की श्रावण-कृष्ण-तृतीया (शनिवार) को, काशी के अस्सीघाट पर शरीर छोड़ा।

अष्टछाप के सन्त

वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी गद्दी पर बैठे। आपने कृष्णभक्त कवियों में आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप की प्रतिष्ठा की। अष्टछाप कवि (१) सूरदास, (२) नन्ददास, (३) कुम्भनदास, (४) परमानन्ददास, (५) कृष्णदास, (६) छीतस्वामी, (७) गोविन्दस्वामी और (८) चतुर्भुजदास हैं। इनमें सूरदास ने तो सन्त तथा कवि की दृष्टि से विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। अनेक विद्वान तो कविता की दृष्टि से सूर को तुलसी से भी श्रेष्ठ समझते हैं। अष्टछाप के सन्तों-द्वारा रचित पदों के श्रवण-भजन से चित्त शुद्ध और हृदय पवित्र होता है, मन को शान्ति मिलती है।

(१) महात्मा सूरदास का जन्म संवत् १५४० के लगभग दिल्ली के पास हुआ। ये वल्लभाचार्य के शिष्यों में प्रधान थे। इनके जन्मांध होने के संबंध में विद्वानों में

मतभेद है। इनकी उपासना-पद्धति सख्यभाव की थी। ये संवत् १६२० के लगभग गोलोकवासी हुए।

गुरु की आज्ञा से इन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया। उन पदों का संग्रह सूरसागर के नाम से विख्यात है। इस समय तक सूरसागर के कुछ हजार पद ही प्रकाशित हुए हैं। जो प्रकाशित हुए हैं उनमें प्रधानतया श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा वर्णित है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत सूरसागर में है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं दीख पड़ता। उसके बाललीला-संबंधी और भ्रमरगीत-संबंधी पद बड़े अनूठे हैं। उनके पठन से आत्मा को वास्तविक सुख, शान्ति और तृप्ति मिलती है। उनके अनेक पद कृष्णभक्तों के हृदय में बराबर गूँजते रहते हैं।

उन्होंने भगवान कृष्ण की बाललीला और गोपियों के विरह का जो स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। उनकी उद्भावना-शक्ति ने उनके ललित काव्य को अत्यंत मधुर तथा आकर्षक बना दिया है। उनका 'दृष्टिकूट' काव्य भी हिन्दी-साहित्य में अनोखा है।

(२) **नन्ददास** प्रायः सूरदास के समकालीन थे। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी ने जो "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" लिखी उसमें इनका भी उल्लेख है। नन्ददास की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपञ्चाध्यायी' है, जो रोला छन्दों में लिखी गई है। इसमें भगवान कृष्ण की रासलीला का बहुत भावपूर्ण वर्णन है। वे परम भागवत, महान् भावुक और उच्च प्रतिभावान् संत कवि थे। उनकी रचना मर्मस्पर्शिनी, सरस और सजीव है। उन्होंने अत्यंत ललित पदों में रासलीला का मार्मिक चित्र अंकित किया है। उनके सम्बन्ध में एक कहावत है—'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।' जैसे सोने के गहने में रतन-जड़ाई होती है वैसे ही भाषा में उन्होंने नक्कासी की है। उनकी भाषा की मधुरिमा ने रासलीला के माधुर्य को और भी बढ़ा दिया है।

(३) **कृष्णदास** वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वे शूद्र जाति के थे, परन्तु आचार्य के बड़े कृपापात्र थे। इसीलिए वे मन्दिर के प्रधान हो गये। उन्होंने भी राधा-कृष्ण के प्रेम-शृंगार-संबंधी बहुत सुन्दर पद गाये हैं। उनका गोलोकवास संवत् १६६५ में हुआ।

(४) **परमानन्ददास** का निवासस्थान कन्नौज था। अत्यन्त तन्मयता के साथ उन्होंने बड़ी सरस कविता की है। वे बहुत ही सुन्दर कीर्तन करते थे। ब्रजरज के प्रति उनकी विशेष अनुरक्ति थी।

(५) **कुम्भनदास** गोवर्धन के निकट यमुनावत गाँव में रहते थे। वे पूरे विरक्त गृहस्थ थे। वे धन-मान-मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। उनके फुटकर पद मिलते हैं जिनका विषय श्रीकृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला है।

(६) **चतुर्भुजदास** कुम्भनदास के पुत्र थे। वे भगवान के ऐसे अनन्यभक्त थे कि और किसी दूसरे के आगे गाते ही न थे। उनके पद बहुत मनोहर और एक-से-एक अनूठे हैं।

(७) **छीतस्वामी** पहले मथुरा के एक सुप्रसिद्ध और सुसम्पन्न पंडा थे—बड़े अक्खड़ और उद्दण्ड। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा लेकर परम शान्त भक्त हो गये

और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। उनके फुटकर पद संगृहीत हैं जिनमें शृंगार के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति अच्छी प्रेम-व्यञ्जना भी पाई जाती है।

(८) गोविन्दस्वामी का रचनाकाल १६०० से १६२५ है। वे भक्त और कवि के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैया भी थे। तानसेन कभी-कभी उनका गान सुनने के लिए आया करते थे। वे गोकुल में रहते थे, पर यमुना में पाँव नहीं देते थे। वे यमुना को साक्षात् राधा का प्रतिरूप मानते थे। यमुना का दर्शन करते, दण्डवत् करते, उसका जलपान भी करते; किन्तु पाँव कभी नहीं धोते। श्रीनाथजी की अन्तरंग-लीला में सम्मिलित होने के कारण गोस्वामी विट्ठलनाथजी उनपर विशेष प्रेम करते थे।

मुसलमान संत

मुसलमान सन्तों में विरागी रहीम और भक्त रसखान का स्थान अग्रगण्य है। दोनों समकालीन थे।

अब्दुल रहीम खानखाना अकबर के दरबार के नवरत्नों में थे। वे सर्वधर्म-समन्वय की भावना से ओतप्रोत थे। भिन्न-भिन्न धर्मों के सन्तों और महापुरुषों को आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने सांसारिक माया-मोह को विष के समान त्याज्य बताया है। उनका ईश्वर पर अटूट विश्वास था। उनकी धारणा थी कि जबतक मनुष्य में ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण की भावना नहीं होती तबतक उसका उद्धार नहीं हो पाता। उन्होंने लिखा है कि मनुष्य जब अपने को ईश्वर के हाथों में सौंप देता है तब सब प्रकार से उसकी लज्जा रखने का भार वे ले लेते हैं।

भक्त रसखान दिल्ली के पठान थे। उनका जन्मकाल संवत् १६१५ के लगभग माना जाता है। युवावस्था में वे सांसारिक वासनाओं में फँसे हुए थे; किन्तु भगवान श्रीकृष्ण की एक दर्शनीय मूर्ति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर और गोपियों के कृष्णानुराग की कथा से प्रभावित होकर सांसारिक प्रपञ्च से विमुख हो गये। उनका उत्कट वैराग्य और सच्ची लगन देखकर गोसाईं विट्ठलनाथजी ने विधर्मी और विजाति का विचार छोड़कर उन्हें अपना लिया। वे श्रीनाथजी के प्रेम में ऐसे रँग गये थे कि भावावेश में नित्य भगवान् के साथ गाय चराने जाया करते थे। उनका मन भगवान कृष्ण की भक्ति में निरंतर तल्लीन रहता था। उनकी रचनाओं में उनकी गंभीर तन्मयता की स्पष्ट छाप है। परमभागवत वैष्णव कवियों में मुसलमान केवल रसखान ही हैं।

उपर्युक्त अष्टछाप के कवियों और मुसलमान भक्त-कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा भगवद्भक्ति का जनता में जो प्रचार किया, उससे हिंदू जाति का बड़ा कल्याण हुआ। यदि ये भक्त कवि न हुए होते तो विधर्मियों के प्रभाव से हिंदू-समाज छिन्न-भिन्न हो गया होता।

आठवाँ परिच्छेद

सुधारक और उनके पंथ

लगभग १००० वर्ष हुए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष होने लगा। जहाँ हिन्दू-संस्कृति दार्शनिकता से ओतप्रोत है वहाँ मुस्लिम संस्कृति भक्तिप्रधान है।

विदेशी आक्रमणों से अपने को बचाने के लिए हिन्दुओं ने कोई आपसी संगठन नहीं किया; बल्कि आपस में शास्त्रार्थ और मतभेदों में उलझे रहे। बाहरी शत्रुओं से भिड़ने के बदले आपस में ही भिड़ते रहे। जिन लोगों का उद्देश्य एकमात्र भगवद्भक्ति का प्रचार है उनके निकट तो जाति-पाँति का भेद ही नहीं होना चाहिए। मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य का ध्येय था विजातीय प्रभावों से बचाकर हिन्दू-संगठन; किन्तु हिन्दुओं की आपसी फूट के कारण उनके उद्देश्य की सिद्धि में बहुत बाधाएँ पड़ीं। रामानन्द और चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी, भगवच्छरणागत विधर्मियों तक को अपनाकर, अपनी उदाराशयता तथा शुद्ध भावना का परिचय दिया। रामानन्द के शिष्य कबीर ने तो ऐसा पंथ चलाया जिसके अनुयायी होने में किसी हिन्दू या मुसलमान को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार पंजाब में गुरु नानक ने भारतीय और अभारतीय धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर अपना अलग पंथ चलया। उनका कथन था कि जब मुसलमान आकर भारत में बस गये और राजकाज भी करने लगे तब दोनों जातियाँ मिलकर एक राष्ट्र का रूप बनावें तभी शान्ति और कुशल है। दादू ने भी अपना लक्ष्य यही रखा। इस प्रकार कबीर-पंथ, नानक-पंथ और दादू-पंथ—ये तीन हिन्दू-मुसलमानों को मिलानेवाले मुख्य पन्थ हुए। इन संतों ने राम-रहीम और मन्दिर-मसजिद की एकता प्रतिपादित की; मूर्तिपूजा और अवतारवाद को विवादास्पद बतलाकर हृदय की शुद्धता; मन की एकाग्रता, जीव-दया और सर्वव्यापी ईश्वर की अहर्निश अनुभूति को मानव-जीवन की सफलता का आधार निश्चित किया। उन्होंने कुरान-पुराण को बराबर बताया। किन्तु इन सुधारकों के अनुयायी मुसलमान कम हुए; क्योंकि इन पन्थों के प्रवर्तकों ने अपने सम्प्रदाय की भित्ति एकमात्र हिन्दू-संस्कृति की नींव पर उठाई। मुल्लों और पण्डितों ने इन पंथों से मतभेद प्रकट कर इनकी हँसी उड़ाने में

कोई कोर-कसर नहीं रखी। इन पंथों के प्रचार का प्रभाव यह पड़ा कि विधर्मियों के प्रभाव से पथ-भ्रष्ट हुई जनता सहज में ही इनकी अनुयायिनी हो गई। वर्णाश्रमधर्म, अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदि को विवादग्रस्त घोषित कर इन पंथों ने परमात्मा की उपासना-विधि को सरल और सुगम बनाया। परिणाम यह हुआ कि बहुत संख्या में हिन्दू विधर्मी होने से बच गये। अपने प्रजाजन में जो धार्मिक मतभेद था, उसे अशांति का कारण समझकर सम्राट् अकबर ने दीन-इलाही पंथ चलाया। अकबर का कार्य स्तुत्य था; किन्तु यह मत फूला-फला नहीं।

सुधारक पंथों में मुसलमानों का जितना संघर्ष सिख-सम्प्रदाय से हुआ उतना अन्य किसी सम्प्रदाय से नहीं। सिख-धर्म ने संसार के धर्मों में आज विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है।

(१) कबीर पंथ

कबीरदास का जन्म संवत् १४५६ में और उनकी मृत्यु संवत् १५७५ में मानी जाती है। उनका लालन-पालन जुलाहा-परिवार में हुआ था। उनके जीविकोपार्जन का व्यवसाय भी जुलाहे का था। कुछ विद्वानों का मत है कि वे जन्मजात मुसलमान थे और सयाना होने पर स्वामी रामान्द के प्रभाव में आकर हिन्दू-धर्म के दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को मान लिया तथा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को अमान्य कर दिया। वे पढ़े-लिखे न थे; किन्तु उनकी अन्तर्दृष्टि बड़ी निर्मल और पैनी थी। उनकी वाणियों का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—(१) 'रमैनी', (२) सबद, और (३) साखी। इन तीनों में वेदान्ततत्त्व, धार्मिक पाषण्ड, अंधविश्वास, मिथ्याचार, संसार की क्षणभंगुरता, हृदय की शुद्धि, माया, छूआछूत आदि अनेक प्रसंगों पर बड़ी मार्मिक उक्तियाँ हैं। भाषा ठेठ और देशज होने पर भी बहुत ही जोरदार और स्पष्टवादितापूर्ण है। उनको शान्तिमय जीवन बहुत प्रिय था। अहिंसा, सत्य, सदाचार, दया आदि सद्गुणों के वे उपासक थे। वे जनता के गुरु और मार्गदर्शक ही नहीं, साथी और मित्र भी थे। वे साम्प्रदायिक ऐक्य के प्रतिष्ठाता थे। उनका लक्ष्य सर्व-धर्म-समन्वय और विश्वबंधुत्व था। वे बुढ़ापे में मगध में जाकर ११६ वर्ष की आयु में निर्वाणपद को प्राप्त हुए। हिंदुओं की धारणा के अनुसार मगध में मरना निषिद्ध है; किंतु कबीर की धारणा थी कि जिसका जीवन और मानस सर्वथा शुद्ध हो, वह कहीं भी मरकर परम पद को पहुँच सकता है। उनके अनुयायियों में अधिकतर समाज की निम्न-श्रेणी के अपढ़ लोग ही हैं। उनके पंथ के बहुत-से मठ और रमतायोगी संत देश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं।

(२) रैदासी पंथ

मीरा के मार्गदर्शक, कबीर के समकालीन, धन्ना-पीपा के संगी चिरवन्दनीय भक्त रैदास के जन्म की तिथि अबतक सन्दिग्ध-सी है। उनका जन्म काशी में हुआ था। वे प्रायः कबीर के सत्संग-समाज में सम्मिलित होते थे। वे अलमस्त फक्कड़ थे। लोक-परलोक की निन्दा-स्तुति की ओर उनकी दृष्टि गई ही नहीं। वे मामूली झोपड़ी में रहते और जूते बनाकर—अपनी जातीय पेशे से—अपनी जीविका चलाते थे। कहते हैं

कि उनकी आर्थिक दुरवस्था देखकर भगवान् ने साधुवेश में आकर उन्हें पारस पत्थर दिया, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है; किन्तु उन्होंने कभी उसका उपयोग न किया। वे १२० वर्ष की आयु में ब्रह्म-पद में लीन हुए। गुजरात-बिहार आदि प्रान्तों में लाखों आदमी ऐसे हैं जो अपने को रैदासी कहते हैं। वे निर्गुणवादी संत थे। हरिचरणों का अनन्य आश्रय ही उनकी साधना का प्राण था। उनका शुद्ध नाम रविदास था। उनकी जाति के लोग अपने को रविदासी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। उनकी जाति के सिवा अन्य हरिजन भी लाखों की संख्या में उनके अनुयायी हैं।

(३) दादू-पंथ

दादू दयाल का जन्म संवत् १६०१ में हुआ। वे कभी क्रोध नहीं करते थे, सबपर दयाभाव रखते थे। इसीसे इनके नाम के साथ 'दयाल' जुड़ गया। सबको दादा-दादा कहने के कारण ये दादू कहलाये। ये कबीर की पीढ़ी के शिष्य थे। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने की चेष्टा की। इनके बनाये हुए 'सबद' और 'बानी' प्रसिद्ध हैं। इन बानियों में इन्होंने संसार की असारता और ईश्वरभक्ति के उपदेश दिये हैं। ये अपने शिष्यों को वेदान्त के तत्त्वों का उपदेश देते थे। दादूपन्थी या तो ब्रह्मचारी साधु होते हैं अथवा गृहस्थ जो सेवक कहलाते हैं। दादू-पन्थी शब्द साधुओं के लिए ही व्यवहृत होता है।

(४) पलटूदासी पंथ

पलटूदास भी एक पहुँचे हुए सन्त हो गये हैं। अयोध्या में इनके सम्प्रदाय का प्रधान मठ है। इस सम्प्रदाय के संत निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं। वे मूर्तिपूजा नहीं करते। राम-नाम का स्मरण और योग-साधना को ही मोक्ष का मूल मानते हैं। उत्तरप्रदेश और नेपाल में इस मत के अनुयायी अधिक हैं। इनका भजन भावपूर्ण होता था।

(५) दीन-इलाही पंथ

विख्यात मुगल-सम्राट् अकबर धर्म की चर्चा ध्यानपूर्वक सुना करते थे। पृथक्-पृथक् धर्म के कारण उनकी हिन्दू-मुसलमान प्रजा में परस्पर विरोध था। उसे दूर करने के लिए उन्होंने यह नया पंथ चलाया था। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी प्रभृति धर्मों के सर्वसुलभ सिद्धान्तों को मिलाकर ईसवी सन् १५७९ में उन्होंने इस मत को प्रवर्तित किया। इसमें जाति-बन्धन न रखकर सबको सम्मिलित होने की स्वतंत्रता दी गई। इस मत का सिद्धान्त इस प्रकार है—

'परमेश्वर एक है। उसकी मानसिक पूजा करनी चाहिए। किन्तु निर्बल हृदय के मनुष्य के लिए कुछ क्रिया या साधना आवश्यक है। अतः उन्हें प्राचीन आर्यों की भाँति ईश्वर के प्रताप-दर्शक सूर्य या अग्नि की पूजा करनी चाहिए और उन्हें केवल ईश्वरीय शक्तिसूचक तथा उसके प्रतीकस्वरूप मानना चाहिए, ईश्वरस्वरूप नहीं। अपनी विवेक-बुद्धि से जो ज्ञान स्वयं प्राप्त किया जा सके, उसीके अनुसार भक्ति करनी चाहिए। पारलौकिक कल्याण-साधन के लिए सभी मनोविकारों पर अंकुश रखना चाहिए। किसी

मनुष्य द्वारा निश्चित किये हुए धर्म का आधार नहीं ग्रहण करना चाहिए। स्वाद-सुख से निर्लिप्त रहने पर किसी प्रकार का आहार अभक्ष्य नहीं है; परन्तु उपवास करना और जितेन्द्रिय रहना आवश्यक है; क्योंकि इनसे मानसिक उन्नति होती है।'

उन्होंने सलामवालेकुम (आप शान्त रहें) के बदले अल्लाहो अकबर (ईश्वर सबसे बड़ा है) कहने की प्रथा प्रचलित की। हिन्दू और मुसलमानों का धर्म एक है—यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक विद्वान से फारसी और संस्कृत-मिश्रित भाषा में अल्लाहोपनिषद् नामक एक ग्रंथ तैयार कराया। इस पंथ को मानने के लिए किसी को जबर्दस्ती विवश करना अथवा प्रलोभन देना हेय बताया। यह पंथ उनके जीवन की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो गया।

(६) सतनामी पंथ

यह पता नहीं कि सतनामियों का आरम्भ कब और कैसे हुआ। संवत् १७३० के अन्त में नारनौल में एक मामूली झगड़े में औरंगजेब से सतनामी साधु बिगड़ खड़े हुए। भयानक लड़ाई हुई। हजारों सतनामी मारे गये। पीछे संवत् १८०० में महात्मा जगजीवनदास ने इस पंथ का पुनरुद्धार किया। वे योगी और कवि थे। प्रायः सवा सौ वर्ष पूर्व छत्तीसगढ़ के चमार गाजीदास ने इस पंथ की पुनः रचना की और सामाजिक सुधार के लिए चमारों में इस पंथ का प्रचार किया। इस पंथ के लोग सतनाम का जप करते हैं। सत्य को परमेश्वर मानते हैं। वे मानते हैं कि ईश्वर में ध्यान रखकर संसार का काम करना चाहिए; संसार दुःखरूप है; जबतक इस बात का अनुभव हमें नहीं हो जाता तबतक हम ईश्वर के मिलन का आनन्द कैसे पा सकते हैं? सरल रहने और ईश्वर का मानसिक जप करने से ज्ञान प्राप्त होता है। इस मत के अनुयायी दाहिनी कलाई पर सफेद या काला धागा बाँधते हैं, और महंत दोनों हाथों में। मद्य-मांस वर्जित है। यह पंथ हरिजनों में ही प्रचलित है।

(७) किनारामी अघोरपंथ

किनारामजी का जन्म संवत् १६५८ में बनारस में हुआ था। वे गाजीपुर के महात्मा शिवदास के शिष्य होने के बाद गिरनार पर्वत पर गये। वहाँ उन्हें भगवान् दत्तात्रेय का दर्शन हुआ और उनसे अवधूतमत की दीक्षा ली। उनकी आज्ञा से वे काशी लौट आये और वहाँ बाबा कालूरामजी अघोरपन्थी से अघोरमत का उपदेश लिया। वैष्णव, भागवत और फिर अघोरपन्थी होकर उन्होंने इन तीनों का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण किया। वैष्णव की रीति से रामोपासक हुए और अघोरपंथी की रीति से मद्य-मांसादि का सेवन करने लगे। साथ ही जाति-पाँति का भेद मिटा दिया। उनके शिष्य हिन्दू-मुसलिम—सभी हुए। उनके अनुयायी सभी जाति के लोग हैं। रामावतार की उपासना उनकी विशेषता है। ये देवताओं की मूर्ति की पूजा नहीं करते। इस पंथ की प्रधान गद्दी काशी में कृमिकुण्ड पर है। देवन्त (गाजीपुर) में भी सीताराम का प्रसिद्ध और विशाल मठ है।

(८) सत्यपथ (इमामशाही पंथ)

सत्यपथ के प्रवर्तक एक मुसलमान फकीर इमामशाह थे; किन्तु उनके अनुयायी आज एकमात्र हिन्दू ही हैं। यह कम कुतूहल की बात नहीं है। वे ईरान-निवासी थे और घूमते-फिरते गुजरात में आकर अहमदाबाद के पास रहने लगे। वे पहुँचे हुए सिद्ध थे। अतएव स्वभावतः इस भावुक देश के अनेक लोग उनके शिष्य हो गये, जिनमें मुख्य भामाराम, नागाकाका, साराकाका, और जिजीबाई हिन्दू और हाजरबेग मुसलमान थे। इस पंथ के अनुयायी काठियावाड़, गुजरात और महाराष्ट्र के खानदेश जिले में विशेषरूप से हैं। इस मत में अधिक संख्या बनिया, कुनबी तथा नोनिया आदि जातियों की है और वे इमामशाही कहलाते हैं। पिराराग नामक स्थान में इस सम्प्रदाय की गद्दी है। गद्दी पर ब्रह्मचारी के ही बैठने की चाल है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भागवत, रामायण, गीता आदि धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त इमामशाह के लिखे गुरु-उपदेश का भी बड़ी श्रद्धा-भक्ति से पाठ करते हैं। इस मत के अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें 'सतवचन' और 'ब्रह्म-प्रकाश' हिन्दी में भी प्राप्य हैं। इस सम्प्रदाय का गुरुमंत्र 'शिवोऽहम्' है।

(९) महानुभाव-पंथ

इस पंथ का भिन्न भिन्न प्रान्त में भिन्न-भिन्न नाम है। यह महाराष्ट्र में 'महात्मा पंथ' गुजरात में 'अच्युत-पंथ' और पंजाब में 'जयकृष्ण पंथ' के नाम से पुकारा जाता है। कृष्णभक्ति इस पंथ की प्रधानता है। इसके अनुयायी अपने धर्मग्रन्थों को अत्यन्त गुप्त रखते हैं। परन्तु इधर इसका कुछ रुख बदला है। लोकमान्य तिलक ने इस पंथ पर अनेक पाण्डित्यपूर्ण लेख लिखे थे। इतिहासज्ञ राजवाड़े एवं यशवंत देशपाण्डे के उद्योग से इस मत के सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा इतिहास का बहुत-कुछ प्रामाणिक पता चला है।

ये लोग मूर्ति-पूजा को नहीं मानते। अतः विधर्मियों ने इन्हें मूर्तिपूजक हिन्दुओं से अलग समझकर इनपर अत्याचार नहीं किया। इस मत ने स्त्रियों और शूद्रों के लिए भी संन्यास की व्यवस्था दी है। इस मत के संन्यासी काला कपड़ा पहनते हैं। हिन्दुओं के वर्णभेद को मिटाकर सबमें समानता तथा मैत्री का प्रचार हो—यही इस पंथ का उद्देश्य रहा है। इसे वेद-शास्त्र सब-कुछ मान्य हैं। इसके दो वर्ग हैं—उपदेशी और संन्यासी। उपदेशी गृहस्थ होते हैं, वर्ण-व्यवस्था मानते हैं और स्वजातियों में ही विवाह करते हैं। श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय इनके उपास्य देवता हैं। गीता मान्य धर्मग्रन्थ है। इस पंथ के अनुयायी परमेश्वर को निर्गुण, निराकार मानते हैं जो भक्तों पर कृपा कर समय-समय पर सगुण रूप धारण करते हैं।

इस मत के प्रवर्तक भड़ोच (गुजरात) के राजा हरपालदेवजी संन्यास लेने पर 'चक्रधर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ प्राप्य हैं, जिनमें 'ज्ञानेश्वरी-लीला-चरित्र', 'शिशुपालवध' 'एकादश स्कन्ध भागवत', 'कृष्णचरित्र' और 'सिद्धांत-सूत्रपाठ' प्रसिद्ध हैं। इस मत के अनुयायियों ने यवन-प्रधान पंजाब में अहिंसा का सफलता-पूर्वक प्रचार किया।

(१०) बाउल-सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय विशेषरूप से बंगाल में प्रचलित है। 'बाउल' शब्द का अर्थ पागल होता है। इस मत के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को संसार में रहते हुए भी इससे पूर्णरूप से विरक्त रहना चाहिए। जबतक तृष्णा का पूर्णरूप से नाश नहीं होगा, निर्वाण सम्भव नहीं है।

बाउल-मत के अनुयायी गृहस्थ और विरक्त दोनों होते हैं। यह मत जाति-पाँति, मूर्ति-मन्दिर आदि में विश्वास नहीं करता। यद्यपि बाउल-सम्प्रदायी धार्मिक उत्सव में सम्मिलित होते हैं तथापि वे किसी मन्दिर में नहीं जाते। बाउल न अपने को हिन्दू कहते हैं, न मुसलमान। अतएव हिन्दू और मुसलमान दोनों समानरूप से इस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो सकते हैं। यह भी समन्वय का पंथ है। ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद इसमें अवरोध उपस्थित नहीं करता। बाउल अपने वासस्थान में किसी प्रकार की प्रतिमा की स्थापना नहीं करते। उनका कथन है कि जब हमारे शरीर में ही भगवान का निवास है तो मन्दिर की क्या आवश्यकता? इस सम्प्रदाय के लोग सारे शरीर को ढककर रखना आवश्यक समझते हैं। इस सम्प्रदाय के लोग गा-गाकर अपने मत का प्रचार करते हैं। इनके गीतों में बंगाल के ग्रामीण जीवन की वास्तविक झलक मिलती है। किसी भी धर्मग्रन्थ पर वे विश्वास नहीं करते। आज यह सम्प्रदाय अवनति पर है।

उपर्युक्त निर्गुणवादी और संत-मतों के द्वारा हिन्दू-धर्म की सांस्कृतिक विशेषता बहुत-कुछ सुरक्षित रह सकी है और विधर्मियों के प्रभावों से हिन्दू-समाज की रक्षा हुई है।

नवाँ परिच्छेद
सिख-धर्म

सिख-धर्म के आदिप्रवर्त्तक गुरु नानकदेव हैं। इनका जन्म राइमोइकी तलवंडी (आज का नानकाना) में वेदी कालूचन्द पटवारी के घर माता तृप्ता के उदर से वैशाख सुदी ३, संवत् १५२६ (१४ अप्रैल १४६६) में हुआ था। ये बचपन से ही बड़े शांत स्वभाव और एकांत-प्रेमी थे। इनको हिन्दी, संस्कृत और फारसी की शिक्षा मिली थी। ये सदा हरिचिंता में लवलीन रहा करते थे। अन्य काम-धंधों में ध्यान नहीं देते थे। पिता ने इन्हें व्यापार में लगाना चाहा और ४०) रुपये के साथ इन्हें बाहर भेजा। इन्हें रास्ते में कई दिनों के भूखे संत मिले। इन्होंने सब रुपये उनके आदर-सत्कार में खर्च कर दिये। जब ये वापस लौटे तब पिता ने रुपये के बारे में पूछताछ की। इन्होंने उत्तर दिया कि आपने मुझे खरा सौदा खरीदने की आज्ञा दी थी। मैंने भूखे संत-जनों को खिलाकर सच्चा सौदा खरीदा। इसपर क्रुद्ध होकर पिता ने इन्हें पीटा भी। इससे इनकी बहन नानकी बहुत दुःखी हुईं और अपने भाई के साथ अपने पति के घर (सुलतानपुर) चली गईं। वहाँ पर इन्होंने दौलत खाँ लोदी के यहाँ मोदीखाने का काम सँभाला। सं० १५४४ में इनका विवाह हुआ और इनके दो पुत्र—श्रीचन्द और लक्ष्मीदास—हुए।

यद्यपि ये काम मोदीखाने में करते थे तथापि इनका मन ईश्वर की ओर लगा रहता था। एक दिन ये आटा तौलते समय एक-दो-तीन गिनते हुए तेरह पर पहुँचे तो गिनती भूल गई और 'तेरा-तेरा' कहते-कहते सब आटा तौल दिया। उस दिन से इन्होंने नौकरी छोड़ दी। यदि कोई इनसे धर्म-सम्प्रदाय आदि के बारे में पूछता तो उसे यही उत्तर देते थे कि न कोई हिन्दू, न कोई मुसलमान। ये शब्द इनके मुख से इस वेग से निकलते कि लोग चकित रह जाते। इन्होंने सोचा कि घर

बैठकर उपदेश करने से संसार का पूर्ण कल्याण न होगा। ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध, धर्मान्धता आदि की प्रचण्ड अग्नि से जलते हुए देश को ईश्वरीय अमृत-वाणी की वर्षा-द्वारा शांति प्रदान करने के लिए इन्होंने संवत् १५५४ में देशाटन आरम्भ किया।

इन्हें अपने गहरे अनुभवों से ज्ञात हुआ कि पृथक्-पृथक् जाति और पृथक्-पृथक् धर्मों में बद्ध होकर लोगों का पृथक्-पृथक् रहना ठीक नहीं है। देवालयों में जाकर मूर्ति पूजा और यज्ञादि क्रियाओं के करने तथा ब्राह्मणों को मालपूआ खिलाने से कोई फल नहीं मिलता। आत्मशुद्धि के बिना मुक्ति मिल ही नहीं सकती। इन्होंने बताया कि आत्मा ईश्वर का अंश है। सत्य बोलना, वेद के ज्ञानकांड को मानना, मांस-मदिरा का त्याग करना और गुरु की आज्ञा को ईश्वर की आज्ञा समझना परम कर्त्तव्य है। मूर्त्तिपूजा असत्य है। ईश्वर अवतार नहीं लेता। गुरु-लिखित ग्रंथ ही वेद है। अतः उसका पूजन उचित है। अधर्म का नाश करने से ईश्वर प्रसन्न होता है। ध्यान, धारणा और समाधि से मुक्ति मिलती है। ईश्वर एक है। पृथक्-पृथक् धर्म मनुष्य-कृत हैं। ईश्वर का कृपापात्र बनने के लिए संसार-त्याग या वैराग्य की आवश्यकता है। जिससे हृदय शांत हो, जिससे पवित्रता प्राप्त हो, जिससे उदार ईश्वरीय तत्त्वों का विकास हो वही ज्ञान जीवन का सार है। जिसका हृदय ऐसे ज्ञान से प्रकाशित हो रहा है वही सच्चा हिन्दू है और जिसका जीवन पवित्र है वही सच्चा मुसलमान है। इन्होंने इन सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए सिख-धर्म की स्थापना की। इनके अनुयायियों की संख्या पंजाब में विशेष रूप से बढ़ी।

इनकी चार यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। पहली यात्रा में एमनाबाद गये और वहाँ एक बढ़ई भाई लालो के घर रहकर छूआ-छूत का भ्रम दूर किया। फिर हरिद्वार, देहली, काशी, गया आदि स्थानों में धर्म प्रचार करते हुए जगन्नाथपुरी पहुँचे और वहाँ कर्त्तार की सच्ची आरती का उपदेश दिया। दूसरी यात्रा में इन्होंने दक्षिण की ओर आबू पर्वत, रामेश्वर, सिंहल (लंका) आदि स्थानों में ईश्वरभक्ति का प्रचार किया। तीसरी यात्रा में सरमौर, गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिक्किम, भूटान, तिब्बत आदि स्थानों में परमात्मा की अनन्य उपासना का प्रचार किया और चौथी यात्रा में बलूचिस्तान होते हुए मक्का पहुँचे और किसी निश्चित दिशा की ओर मुँह करके सर्वव्यापी को नमाज पढ़ने का खंडन किया। फिर रूम, बगदाद, ईरान आदि की सैर करते हुए कंधार, काबुल आदि में सत्यनाम का उपदेश दिया।

इनके उपदेश का ढंग विचित्र और नवीन था। ये मक्के में काबे की ओर पैर करके सो गये। जब काजी क्रुद्ध हुआ तब इन्होंने कहा—काजीजी, जिधर अल्लाह का घर न हो, मेरे पैर को उधर ही कर दीजिए। कहते हैं कि काजी ने इनके पैर को जिस ओर फेरा, काबा भी उस ओर ही फिर गया।

अपने पुत्र के बदले अपने सबसे योग्य शिष्य श्रीअंगद को गुरुगद्दी देकर ७० वर्ष की आयु में सं० १५९६ (सन् १५३९) में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

इनकी उच्चरित तथा रचित सारी वाणियों को पंचम गुरु अर्जुनदेव ने 'ग्रन्थ साहब' नाम से संकलित किया। इसके पढ़ने से पता चलता है कि गुरु नानक ने हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई आदि संतों के केन्द्रीय स्थान पर पहुँचकर उनका तत्त्व निकालकर स्पष्ट भाषा में संगृहीत किया है। गुरु नानक के बाद क्रमशः अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव ने उनका स्थान ग्रहण कर धर्मप्रचार का काम जारी रखा। अर्जुनदेव के खिलाफ दुश्मनों ने सम्राट् अकबर से शिकायत की। अकबर ने 'ग्रन्थ साहब' को मँगा भेजा। जब ग्रन्थ साहब को पढ़ने के लिए खोला गया तब उसमें ऐसा प्रसंग निकला जिसके एक-एक शब्द ने सम्राट् के हृदय पर सब धर्मों की एकता, निर्गुण ब्रह्म की उपासना, विश्वप्रेम, हृदय की शुद्धता और सरलता तथा दीन जन की सेवा-सहायता के संदेश की गहरी छाप लगाई। इससे प्रभावित होकर सम्राट् गुरु अर्जुनदेव के दर्शन के लिए अमृतसर गये और गुरु साहब की वाणी सुनकर मुग्ध हो गये। सम्राट् की मृत्यु के बाद चन्दूशाह तथा खुद अर्जुनदेव के भाई ने झूठी चुगली खाई। परिणामस्वरूप जहाँगीर की आज्ञा से गुरु की हत्या चन्दूशाह ने बड़ी क्रूरता से कर दी। इसी समय से सिख-मुगल-संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

अर्जुनदेव के पुत्र छठे गुरु हरगोविन्द सिंह ने निश्चय किया कि संत-स्वरूप के साथ-साथ वीरता का वेश धारण करना भी आवश्यक है। स्वरक्षा एवं देशोद्धार के लिए उन्होंने खड्ग धारण किया और सब सिखों को शस्त्र धारण करने की आज्ञा दी। भक्ति और ज्ञान के साथ साथ शूरता का भी उपदेश देना आरंभ किया। अमृतसर को सुरक्षित बनाने के लिए उन्होंने वहाँ एक किला बनवाया जो आज लोहगढ़ के नाम से प्रसिद्ध है। चन्दू के षड्यन्त्र से गुरु हरगोविंद सिंह कैद कर ग्वालियर के किले में रखे गये; किन्तु मुसलमान साधु-फकीरों के समझाने पर जहाँगीर को चन्दू का छल मालूम हुआ। और गुरु की इच्छा के अनुसार साठ छोटे बड़े हिन्दू राजा, कवि, पंडित आदि के साथ उन्हें मुक्त कर दिया।

जहाँगीर की मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने सिखों से वैर ठाना। तीन लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें सिखों की विजय हुई। गुरु हरगोविन्द की मृत्यु ३ मार्च, १६४४ ई० में हुई। सातवें गुरु हरिराय ६ अक्तूबर १६६१ में स्वर्ग सिधारे। अब उनके कनिष्ठ पुत्र हरिकृष्ण गुरु हुए। किन्तु ढाई वर्ष के बाद उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने इतने थोड़े दिनों में ही अपनी प्रतिभा से लोगों को चकित कर दिया।

नवें गुरु तेग बहादुर हुए। वे आसाम-यात्रा के लिए चले। रास्ते में पटना में अपने परिवार को छोड़ राजा जयसिंह के साथ आसाम गये। उस समय आसाम की सीमा पर आसामवासियों और औरंगजेबी फौज में मुठभेड़ हो रही थी। गुरु ने इन दोनों में सुलह करा दी। इसी बीच पटना में उनके पुत्र गुरु गोविन्द का जन्म हुआ। बाद में तेग बहादुर कश्मीर गये। वह हिन्दू पंडितों का मुख्य स्थान था। औरंगजेब के अत्याचारों की वहाँ सीमा न थी। धर्मपरिवर्त्तन के लिए हिन्दू तरह-तरह से तंग किये जाते थे। अब उन्होंने बादशाह को कहला भेजा कि यदि गुरु तेगबहादुर मुसलमान हो जायँगे तो

हम सब भी हो जायँगे। इसपर तेगबहादुर दिल्ली बुलाये गये। दिल्ली में गुरु को विधर्मी बनाने की अनेकों चेष्टाएँ की गईं। उनके साथ छल किया गया। और उनकी हत्या ११ नवंबर १६७५ ई० में कर दी गई। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी गुरु गोविन्द सिंह ६ वर्ष की अवस्था में गुरु हुए। ये सिखों के दसवें और अंतिम गुरु थे।

सन् १७५६ के वैशाख की पहली तिथि को इन्होंने खालसा-सम्प्रदाय की सृष्टि की। इससे सिख जाति और मजबूत बन गई। इसके अतिरिक्त दाढ़ी-चोटी और मूँछें रखना, हिन्दू देवालयों के प्रति द्वेषभाव न रखना, गोहत्या न करना आदि नियम बनाकर धर्म को सुव्यवस्थित बना दिया। एकाग्रचित्त से ईश्वर-भक्ति करना, अपनी जाति में भेद-भाव न रखना, एक पंक्ति में भोजन करना, परस्पर मेल रखना आदि उपदेशों-द्वारा सिखों के हृदय में नवजीवन का संचार किया। परिणाम-स्वरूप हजारों नर-नारी खालसा-पंथी बन गये। मृत्यु के पूर्व गुरु गोविंद सिंह ने कहा—'मेरे बाद कोई सिख गुरु नहीं होगा। केवल गुरु-वाणी—ग्रन्थ साहब ही गुरु होंगे।'

सिख-धर्म का मूल सिद्धांत

(१) एक सर्व-शक्तिमान ईश्वर में विश्वास। (२) ईश्वरेच्छा पर अपने को पूर्णतया निछावर करना। (३) धर्म और सदाचार का पालन। (४) भ्रातृभाव। (५) ईश्वर को छोड़कर और किसी की पूजा नहीं करना। (६) ईश्वर-द्वारा निर्धारित कर्मों को, बिना फलेच्छा के, आकांक्षा-रहित होकर पालन करना।

सिख-धर्म के पाँच चिह्न

(१) केश (२) कंघी (३) कृपाण (४) कड़ा (लोहे का) और (५) कच्छा—ये सब सिखों के लिए अनिवार्य हैं।

ग्रन्थ-साहब

ग्रन्थ-साहब 'जपजी' के प्रकरण से शुरू होता है। जपजी में संक्षेप में नानक ने अतिसरल और स्वच्छ भाषा में बतलाया है कि किस प्रकार आत्मा मुक्ति के पथ पर अग्रसर होती है।

इसके पाँच विश्राम या खण्ड हैं—(१) धर्मकाण्ड (२) ज्ञानकाण्ड (३) शरणकाण्ड (४) कर्मकाण्ड (५) सूत्रकाण्ड।

(१) धर्मकाण्ड में कर्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। कहा है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य का संपादन भली-भाँति करना चाहिए। मृत्यु के बाद अपना कर्तव्य ही काम आवेगा।

(२) दूसरा खण्ड ज्ञानकाण्ड है। इस बात की जानकारी (ज्ञान) कि राम और कृष्ण सदृश महापुरुष कर्तव्य के पालन द्वारा चिरशांति को प्राप्त हुए। कर्तव्य-पालन ही प्रतिज्ञा को दृढ़ बना देता है!

(३) शरणकाण्ड हर्षोन्माद की अवस्था है। इस अवस्था में धर्म-कार्य स्वेच्छानुसार स्वाभाविक रूप से होता है। यह मनुष्य के स्वभाव का एक अंग ही बन जाता है।

(४) आत्मकाण्ड शक्ति का भण्डार है। पूर्व की तीन अवस्थाओं में जो चरित्र-निर्माण होता है, उसके परिणाम में शक्ति और धार्मिक निष्ठा प्राप्त होती है और साधक अजेय हो जाता है। मृत्यु का भय जाता रहता है और साधक आवागमन के चक्कर से छूट जाता है। ईश्वर में लीन संत इसी अवस्था में रहते हैं।

(५) अंत में आत्मा सूत्रकाण्ड में पहुँचती है जहाँ निराकार परमात्मा का निवास है। यहाँ आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। फलतः इसका अपना अस्तित्व लुप्त हो जाता है।

सिखों के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान

(१) अमृतसर—चौथे गुरु ने यहाँ स्वर्ण-मंदिर स्थापित किया जिसकी नींव एक मुसलमान फकीर मियाँ पीर ने डाली।

(२) आनन्दपुर (जिला—होशियारपुर)—इसी स्थान पर गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा-पंथ कायम किया।

(३) पटना सिटी—गुरु गोविन्द सिंह का जन्मस्थान।

(४) हजौरी साहब जिला नादेर (हैदराबाद दक्षिण) -गुरु गोविन्द सिंह का मृत्यु स्थान।

(५) ननकाना साहब (जिला शेखपुरा)—गुरु नानक का जन्मस्थान।

जपजी का मूलमंत्र इस प्रकार है। इसी मंत्र से प्रार्थना और जप किया जाता है:—

'एक ओं सतनाम कर्त्ता पुरुष निर्भो निर्वैर।
अकाल मूरत अजोनी सैभं गुरु प्रसाद जप।
आदि सच जुगादि सच है भी सच। नानक होसी भी सच।
वाह गुरु॥'

अर्थात्—'एक ही ईश्वर है। उसका नाम सत्य है। वह कर्त्ता है। वह भय और शत्रुता से परे है। वह असीम है। वह अमर, अजन्मा, निराकार और स्वयंभू है। गुरु की कृपा से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। वह संसार की सृष्टि से पूर्व था। युगारम्भ के पूर्व था। वह इस समय वर्तमान है और नानक कहते हैं, वह सब कालों में वर्त्तमान रहेगा।' यह तो हिन्दू वेदान्त का निचोड़ है।

उदासी मत

नानक के पुत्र श्रीचन्द ने उदासी मत की स्थापना की। किन्तु उनके सिद्धांत गुरु गोविन्द सिंह के खालसा सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न हैं। जगह-जगह उदासी नानकसाहियों के मठ हैं जहाँ गुरुग्रन्थ साहब के साथ-साथ हिन्दू-देवताओं की भी पूजा होती है। इनके महंथ गृहत्यागी होते हैं। शुद्ध सिख-सम्प्रदाय में उदासियों का स्थान नहीं है। ये उदासी नानकसाही कहे जाते हैं, सिख नहीं।[1]

---

१ सिख-गुरुओं के प्रामाणिक वर्णन के लिए द्रष्टव्य—कल्याण—'संताङ्क' में डा० जसवंत सिंह का लेख, पृ० ५५१-५६९।

छठा खण्ड

प्रथम परिच्छेद

शिन्तोधर्म

शिन्तोधर्म जापान-निवासियों का राष्ट्रीय धर्म है। इसमें प्रकृति-पूजा के साथ-साथ पूर्वजों की पूजा भी समाविष्ट है। इस धर्म के अस्सी लाख देवताओं के समूह में प्रमुख स्थान 'अमाटेरा सुओमीकामो' अर्थात् सूर्यदेवी (?) को प्राप्त है। जापान के राजवंश का जन्म इसी देवी से हुआ था—ऐसा उन लोगों का विश्वास है। इसी कारण जापान में मेकैडो (सम्राट्) की प्रतिष्ठा ईश्वर-तुल्य है। यद्यपि जापान के देववृन्द में बहुत-से प्राकृतिक देवता तथा समुद्र, नदी, वायु, अग्नि, पहाड़ आदि अधिष्ठात्री देवियाँ, अनेक सुप्रसिद्ध योद्धा और राजघराने के राजभक्त अनुयायी भी सम्मिलित हैं तथापि शिन्तोधर्म राजवंश की प्रथम प्रवर्तिका देवी तथा उसके सम्बन्धियों और वंशजों की पूजा का ही सूचक है। शिन्तोधर्म के पूर्णतया समझने पर ही जापानियों के जीवन और सभ्यता का उचित ज्ञान हो सकता है। इस धर्म में न उत्कृष्ट दर्शन है और न पेचीली क्रिया-पद्धति। यह एक तरह की प्रबल भावना है, जिससे तत्त्वविज्ञान या धर्मशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें सुगम साहित्यिक विचार अथवा उच्च कल्पना का अभाव है। पूजा एक प्रकार से शिष्टतामात्र ही है। यह हृदय का धर्म है। शिन्तो स्वाभाविक और वास्तविक धार्मिक शक्ति है जो जापानियों के जीवन के रग-रग में व्याप्त है। शिन्तो का सिद्धान्त जापानियों की सभ्यता, नियम, पारिवारिक एवं जातीय गठन की पृष्ठभूमि है। शिन्तो ने जापानियों के धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था का नया संस्कार करके नूतन जीवन प्रदान किया है। शिन्तोधर्म बहुत अंश में हिन्दू-धर्म से मिलता-जुलता है न कि निकटवर्ती चीन के कनफ्यूसियस अथवा ता-ओ धर्म से।

देवता

शिन्तो के टिओवू (अद्वैत आध्यात्मिक सिद्धान्त) के अनुसार 'अमेनोमीन कानुसी' सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी आत्मा ही है। इसके अन्दर दृश्य तथा अदृश्य जगत् व्याप्त है। यह गुणों के परे है। इसकी तुलना हम ऋग्वेद के 'हिरण्यगर्भ' अथवा उपनिषद् के 'ब्रह्म' से कर सकते हैं।

इस धर्म के अनेक देवताओं में अतिप्राचीन काल से सूर्य देवता (अनाटेरा सुओमीकामो) की प्रतिष्ठा सबसे ऊपर है। इसके बाद वृष्टि के देवता (सुरतानो आनो मिकटो) का तथा चन्द्रदेवता (रसुकियोमीनो मिकटो) का स्थान आता है। इस त्रिमूर्ति का क्रमशः आकाश, समुद्र और रात्रि पर अधिकार है।

पूजा-पद्धति

इस धर्म में पूजा का अर्थ होता है नमन, नैवेद्य और प्रार्थना। नैवेद्य में मुख्यतः भोजन तथा पेय पदार्थ सम्मिलित हैं। पहले इसके साथ वस्त्र अर्पित करने की प्रथा थी। बाद में कागज के टुकड़ों को कपड़े का प्रतीक मानकर एक डण्डे में लपेटकर वेदी पर रखने की प्रथा चल पड़ी।

पूजा के पहले पवित्रता का खयाल रखना जरूरी है। इसके लिए तीन तरीके बतलाये गये हैं—हराई, (मंत्रोच्चारण), मिसौगी (अभिषेक), इमी (मनोनिग्रह अर्थात् ध्यान)। पवित्रता शिन्तोधर्म का सर्वमान्य गुण है। यदि मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता है तो वह अवश्य ईश्वर को प्राप्त करेगा। निष्कपटता पवित्रता का मुख्य अंग है।

आरम्भ से शिन्तोधर्म में आचारशास्त्र की पद्धति न थी। वह मनुष्य के आन्तरिक सौजन्य पर जोर देता था। हृदय के भीतर की सच्ची प्रेरणाओं का अनुगमन करो—यही इनकी नैतिक शिक्षा का सार था। काल-क्रम से कनफ्यूसियस तथा बौद्धधर्म का प्रभाव शिन्तोधर्म पर पड़ा और यह धर्म इन दोनों धर्मों के आचार-विचार से विशेष प्रभावित हुआ।

शिन्तोधर्म का विकास

शिन्तोधर्म में माने गये देवगण केवल आंशिक अवतार या छायामात्र हैं। इन देवताओं के सम्मिलित रूप में प्रत्येक 'कामो' (शिन्तो देवता) किसी बौद्ध देवता की पवित्र छाया समझा जाता था। इस उभयरूपधारी शिन्तोधर्म को समझौते की प्रवृत्ति का सूचक ही समझना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार शिन्तोमत के देवता, बुद्ध के उन-उन मूलरूपों के ही अवतार बताये गये जो स्वर्ग में विराजमान हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि शिन्तोधर्म का सबसे महान देवता अनाटेरा सुओमीकामो (सूर्यदेवी) है। यह धारणा लगभग १००० वर्ष तक रही। अठारहवीं शताब्दी में शिन्तोधर्म ने नया रूप धारण किया और एक बार इसका पुनः नव संस्कार हुआ। इस परिष्कृत शिन्तोधर्म का अगुआ एवं सुधारक माटा-ओरो नोरी गामा (१७३०-१८०१) नामक व्यक्ति था, जिसका कहना था कि विदेशी प्रभाव को निकाल देने से शिन्तोधर्म का जो रूप रह जाता है वह सबसे शुद्ध और सबसे अच्छी देन है जो मनुष्य को दिव्य युगों से प्राप्त हुई है।

वर्तमान शिन्तोधर्म

आजकल शिन्तोधर्म दो हिस्सों में बट गया है। एक इसका सनातन रूप है जिसका समर्थन वहाँ की सरकार भी करती है और दूसरा रूप, इसके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में, दृष्टिगोचर होता है। १८६८ में सम्राट् की पुनः प्रतिष्ठा का एक बड़ा कारण शिन्तो-मत

का पुनरुद्धार भी था। रियोबू (अद्वैत सिद्धान्त) की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई और साथ-साथ देवताओं को बुद्ध का अवतार न कहकर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाने लगा। राजकीय उत्सवों के समय होनेवाले अर्धधार्मिक कृत्य अब शिन्तोधर्म के अनुसार किया जाने लगा। शिन्तो-समाधियाँ सरकारी संरक्षण में ले ली गईं। सारे जापान में छोटी-बड़ी लगभग एक लाख चौदह हजार समाधियाँ हैं।

धार्मिक विषयों में सरकार की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। राजकीय शासन-विधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वातंत्र्य प्राप्त है। सरकारी आँकड़ों से विदित होता है कि इस मत के अनुयायी करीब पौने दो करोड़ हैं। पुनःप्रतिष्ठा के बाद शिन्तोधर्म की सुख-समृद्धि का समय आया। राष्ट्रीय भावना और प्राचीन बातों को अपनाने की नीति के कारण इसका अधिक प्रचार होना अनिवार्य था। अन्य मतावलम्बियों को इस मत के अनुयायी बनाने का किञ्चित् प्रयत्न भी किया गया और 'देवताओं के मत' का प्रचार करने के लिए धर्मदूतों की नियुक्ति की गई। इस मत की तीन बातें मुख्य बताई गई हैं—(१) देवताओं का सम्मान तथा देशानुराग के सिद्धान्त का अनुसरण करना; (२) स्वर्ग के मार्ग का तथा मनुष्य के जीवन का परिष्कार करना; (३) सम्राट् का शासनाधिकार कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना और उसकी इच्छा के अनुसार चलना।

शिन्तोधर्म की विशेषता

शिन्तोमत के अध्ययन का क्रम अब भी जारी रहने के दो कारण हैं—एक तो इसका ऐतिहासिक महत्त्व; दूसरा इसका नैतिक तथा सामाजिक पहलू। इसमें धर्म के कुछ निश्चित सिद्धान्तों का न होना ही इसके बहुत-से अनुयायियों की निगाह में एक आकर्षक बात है, क्योंकि निश्चित धार्मिक सिद्धांतों के अभाव में, वे अपने-अपने विचारों के अनुरूप, धर्म के स्वरूप का भिन्न-भिन्न तरह से प्रतिपादन कर सकते हैं।

कुछ लोग इसे राष्ट्रीय विश्वासों का संग्रह बनाना चाहते हैं, तो दूसरे लोग इसे सामाजिक संस्था बनाकर इससे ऐसे काम निकालना चाहते हैं जिन्हें अन्य संस्थाएँ नहीं कर सकतीं। इन नई बातों के कारण शिन्तोमत अब लोगों के विचार के निकटतर पहुँच जायगा।

सारांश, मेकाडो के प्रति, जो सूर्यदेवी के प्रतिनिधिरूप समझे जाते हैं, पूर्ण राजभक्ति, पूर्वजों के प्रति आदर, माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा, बच्चों के प्रति स्नेह—इस धर्म का मूलाधार है। दर्पण, तलवार तथा रत्न मेकाडो के राज्याधिकार के चिह्न हैं और वे शिन्तोधर्म के देवताओं की मूर्तियों के सम्मुख रखे जाते हैं।

शिन्तो-प्रार्थना

हमारी आँखें भले ही अपवित्र वस्तु देखें, किन्तु हे भगवान, हृदय में अपवित्र भावों का उदय न हो। हमारे कान भले ही अपवित्र बात सुनें, किन्तु हमारे चित्त में अपवित्र बातों का अनुभव न हो।

शिन्तोधर्म की दस आज्ञाएँ

(१) ईश्वरेच्छा के प्रतिकूल आचरण न करो। (२) पूर्वजों के प्रति अपना कर्त्तव्य न भूलो। (३) राजनियम का उल्लंघन न करो। (४) देवताओं के अगाध गुणों को न भूलो। उन्हीं की कृपा से विपत्ति टलती है और रोग का शमन होता है। (५) यह कभी न भूलो कि संसार एक बड़ा परिवार-सदृश है। (६) अपनी परिमितता को न भूलो। (७) यद्यपि अन्य क्रुद्ध हो जायँ तथापि स्वयं क्रुद्ध न हो। (८) अपने कार्य में आलसी न बनो। (९) शिक्षा पर लांछन न लगने दो। (१०) बाहरी शिक्षा के प्रलोभन में न पड़ो।

शिन्तोधर्म के कुछ कथन

(१) तुम्हारे सम्मुख जो मनुष्य है उसका हृदय आईना है, अपना रूप उसमें देखो। (२) एक ही निष्कपट प्रार्थना स्वर्ग को हिला देती है। निष्कपट प्रार्थना से ही तुझे ईश्वर की उपस्थिति का आभास मिलेगा। (३) पाप-पुण्य का परिणाम परछाईं की तरह अवश्यम्भावी है। (४) भला काम करना पवित्र होने के तुल्य है और बुरा काम करना अपवित्र होना है। (५) परमात्मा को प्राप्त करने का पहला और निश्चित मार्ग निष्कपटता है। (६) आत्म-विजय परोपकारिता की जड़ है। (७) सदाचार में दृढ़ रहो। यह जीवन से भी मूल्यवान है। (८) न बुरा देखो, न सुनो और न बोलो। (९) किसी मन्दिर में तीन दिन उपवास करने की तुलना में एक उत्तम कार्य करना भला है। (१०) क्षमा समस्त धन-धान्य से कीमती है। संतोष का यह आधार है। (११) स्वर्ग और नरक मनुष्य के हृदय में हैं। (१२) यदि हृदय पवित्र है तो कार्य अच्छा होगा। (१३) हमारा जीवन बत्ती की लौ की तरह है। (१४) देवताओं को निष्कपटता और सद्गुण प्रिय होता है न कि पूजा-अर्चना की वस्तु। (१५) जबतक मनुष्य का चित्त सत्य पर अवलंबित है, ईश्वर उसकी रक्षा करेंगे। (१६) देश में शान्ति, नागरिकों की रक्षा, धन-धान्य की प्राप्ति की कामना, शिन्तो-प्रार्थना का अंग है। (१७) अपने माता-पिता की आज्ञा और शिक्षकों के उपदेश का अक्षरशः पालन करो। उदार-हृदय बनो। झूठ त्यागो। पढ़ने में परिश्रमी बनो, जिससे तुम ईश्वरीय इच्छाओं का पालन कर सको।

दूसरा परिच्छेद

आधुनिक काल के सुधारक

नानक, कबीर आदि सुधारकों एवं ज्ञानेश्वर, रामदास, तुकाराम, नरसी आदि धर्म-प्रचारकों के सद्योग से इस्लामधर्म की ओर झुकी हुई हिन्दूजाति सँभल गई। फिर भी अन्त्यजों की विचारधारा बदलने लगी थी। इसी समय भारत में अंग्रेजों के आधिपत्य का दूसरा आक्रमण हुआ। फलस्वरूप ईसाई धर्म के भावुक प्रचारकों का जोर बढ़ा। किन्तु इस्लाम और ईसाईधर्म के भावुक प्रचारकों में विशेष रूप से विभिन्नता थी। अधिकांश मुसलमान बादशाह और नवाब एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में कुरान लेकर अपने धर्म का प्रचार करते थे। हिन्दुओं पर भिन्न-भिन्न प्रकार के विशेष कर लगाते थे, जगह-जगह उन्हें अपमानित करते थे। इन कारणों से जीवन की रक्षा, आर्थिक स्वतंत्रता और अपमान-निवारण के हेतु अनेक हिन्दू मुसलमान होने के लिए विवश हो जाते थे। जात-पाँत, छुआछूत आदि की प्रथा अग्नि में घी का काम करती थी। मुसलमानों का एकेश्वरवाद, एकमात्र धर्मशास्त्र कुरान और ऊँच-नीच के भेदभाव का सर्वथा अभाव, पीड़ित शूद्रों और अछूतों को इस्लामधर्म की ओर आकृष्ट करने में सफल हुआ था। इन्हीं बातों को देखकर नानक, कबीर आदि ने सीधे-सादे पन्थ चलाकर, न केवल मुसलिम धर्म का मुकाबला किया; बल्कि हिन्दू-संस्कृति के साँचे में इस्लामधर्म को ढालने का प्रयत्न किया। उन्होंने मुसलिम धर्म को अपने निर्गुणपंथ में पचा लेने की भरपूर कोशिश की; परन्तु उन्हें यथेष्ट सफलता न मिली। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति की यथासाध्य रक्षा की और उनका राज्यबल इस रक्षा-कार्य में उनका सहायक हुआ। किन्तु मुसलिम-धर्म-प्रचारकों के वेग को उक्त संत-महात्माओं ने बहुत-कुछ रोका। अनेक शूद्र एवं अछूत नानक, कबीर, दादू आदि के सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर अपनी संस्कृति की रक्षा करने में सफल हुए।

ईसाई यहाँ व्यापार के लिए आये थे। किन्तु घटनाचक्र से विशाल भारत पर उनका अधिकार हो गया। उनके दाहिने हाथ में तराजू और बायें हाथ में बाइबल था। उन लोगों ने व्यापार करना और धर्म फैलाना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझा। वे अपने देश में इस बात का प्रचार करते थे कि ईसाई धर्म के प्रचार और हिन्दुस्तानियों को सभ्य बनाने के

उद्देश्य से वे भारत में आये हैं। अतः उनके देशवासियों ने जी खोलकर उन्हें आर्थिक सहायता दी। ईसाइयों ने स्त्रियों और बालकों की शिक्षा के बहाने ईसाई धर्म को परिवारों में और स्कूलों में फैलाना शुरू किया। जगह-जगह अस्पताल खोलकर और पीड़ित जनता की सेवा कर उसे आकृष्ट किया। वे बाजारों में और बस्तियों में ढिंढोरा पीट-पीटकर सचित्र और सुन्दर छपी किताबें मुफ्त बाँटा करते थे। शिक्षा-प्रेमी हिन्दू इस जाल में आसानी से फँसने लगे। आधुनिक शिक्षित अपनी संस्कृति को उनके प्रभावक्षेत्र में आकर बहुत अंशों में खो बैठे। ईसाई साधारणतः बल-प्रयोग नहीं करते थे। बल-प्रयोग सिर्फ पोर्तुगीजों द्वारा ही किया गया। दक्षिणभारत के हिन्दू सबसे अधिक कट्टर थे। अन्त्यजों पर उनका अत्याचार असह्य था, जिसके परिणामस्वरूप दक्षिणभारत में ईसाइयों की संख्या सब जगहों से अधिक है। किन्तु ईसाई धर्म के अनुयायी होने पर भी उनका रहन-सहन अधिकतर हिन्दुओं-सा ही है। जिस प्रकार नेपाल के हिन्दुओं और बौद्धों की वेश-भूषा एक तरह की होने के कारण उन्हें पहचानना कठिन है उसी प्रकार दक्षिण-भारतीयों में भी ईसाइयों और हिन्दुओं को पहचानना कठिन है।

उत्तरभारत में ईसाई धर्म का प्रचार विशेष रूप से आदिवासियों तक ही सीमित रहा। यद्यपि अधिकांश अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू भले ही ईसाई न हों और बाइबल का आदर धर्म-पुस्तक की तरह न करते हों तथापि उनकी विचारधारा अपनी संस्कृति के प्रति बहुत अंशों में अश्रद्धा और कुछ अंश तक घृणा के रूप में परिवर्तित हो गई। अधिकांश अंग्रेजी शिक्षित-समुदाय चार्वाक सिद्धान्त को गौणरूप से मानने लगा। विदेशी शिक्षा-पद्धति ने इस प्रवाह को अत्यन्त वेगवान कर दिया है। बहुतेरे हिन्दू धर्म और संस्कृति की ओर से उदासीन होने लगे। ऐसी अवस्था में हिन्दुत्व की रक्षा के लिए (१) ब्रह्मसमाज, (२) आर्यसमाज, (३) राधास्वामीमत, (४) ब्रह्म-विद्यासमाज (थियोसोफिकल सोसाइटी), (५) रामकृष्ण-मिसन, स्वामी विवेकानन्द, (६) स्वामी रामतीर्थ आदि तत्पर हुए। स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ ने केवल भारत में ही नहीं, बल्कि सुदूर पाश्चात्य देशों में भी आर्य-संस्कृति का डंका पीट दिया।

तीसरा परिच्छेद

ब्रह्म-समाज

इस धर्म के संस्थापक राजा राममोहनराय का जन्म हुगली जिले के राधानगर ग्राम में १७७४ ई० में एक ब्राह्मण के घर हुआ था। १८३३ ई० में उनकी मृत्यु हुई। आरम्भ में उनकी शिक्षा, पटना में, अरबी-फारसी की हुई। इस कारण मुसलिम मत का उनपर बहुत प्रभाव पड़ा। फिर उन्होंने काशी में संस्कृत का अध्ययन किया। एक ओर सूफी मत का और दूसरी ओर वेदान्त का अध्ययन करने के कारण वे स्वभावतः ब्रह्मवादी हो गये। अंग्रेजी का अध्ययन करके ईसाइयों के सम्पर्क में आये। बाइबल को मूलभाषा में समझने के अभिप्राय से उन्होंने हिब्रू और ग्रीक भाषा का अध्ययन किया। हिन्दुओं के अवतारवाद, जाति-पाँति, मूर्त्तिपूजा, बहुदेववाद एवं ईसाइयों के त्रित्ववाद (अर्थात् God the Father, God the Son and God the Holy Ghost) आदि का खण्डन करते हुए उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। दशोपनिषद् में जिस ब्रह्म की चर्चा है उसी एक सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना को अपना इष्ट मानकर उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। बिना किसी नबी, पैगम्बर, देवदूत, आचार्य अथवा पुरोहित को माध्यम माने सीधे एक ईश्वर की उपासना ही मानव-कर्त्तव्य मानी गई। पुनर्जन्म के प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में ब्रह्मवादी पुनर्जन्म नहीं मानते। निदान, उन्होंने मुसलमान और ईसाइयों से भी कहीं अधिक सरल और तर्क-सङ्गत मत चलाया। मन्दिर, मस्जिद, गिरजा—सबमें वे लोग ब्रह्म को स्थित मानते हैं। वे सर्वव्यापक ब्रह्म को मानकर सभी मतों का आदर करते हैं। यद्यपि ब्रह्मसमाज ने वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत, जाति-पाँति, जप-तप, होम-व्रत, उपवासादि को न माना, और न हिन्दुओं की तरह श्राद्ध प्रेतकर्म आदि का विधान ही रखा तथापि वेश-भूषा, वेदादि-पाठ, यज्ञोपवीत के कारण उनपर हिन्दू-संस्कृति की छाप बनी रही। भिन्न-भिन्न धर्मों की बुद्धिग्राह्य और उपयोगी बातें निःसंकोच भाव से ग्रहण की गईं। अतएव ब्रह्म-समाज वेद, बाइबल, कुरान आदि सभी धर्मग्रन्थों का समान सम्मान करता है एवं संसार के सभी धर्म-शिक्षकों का समान आदर करता है। इस प्रकार ब्रह्मसमाज ने हिन्दू-संस्कृति को इतना विस्तृत कर दिया कि इसका द्वार संसार के सर्व-धर्मावलम्बियों के लिए समान रूप से खुल गया।

इस धर्म का प्रभाव ईसाई एवं इस्लामधर्म पर नहीं पड़ा, किन्तु हिन्दू-समाज का इसने बहुत बड़ा उपकार किया। सामयिक शिक्षित-समुदाय की रक्षा हुई। अंग्रेजों का राज्य सर्वप्रथम बंगाल में स्थापित हुआ था और ईसाई धर्म के प्रभाव एवं अंग्रेजों के खान-पान, रहन-सहन की पद्धति से बंगाल के निवासी विशेष प्रभावित हो रहे थे। ऐसी अवस्था में ब्रह्म-समाज में बड़ी संख्या में हिन्दू सम्मिलित हो गये; क्योंकि बंगाल के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को एक ऐसा धर्म मिल गया जिसको स्वीकार कर हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति को बिना परित्याग किये वे खान पान, रहन-सहन आदि में समाज के बन्धन से स्वतन्त्र रह सकते थे।

कवीन्द्र रवीन्द्र के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन के अवसानकाल में केशवचन्द्र सेन नामक प्रतिभाशाली व्यक्ति ब्रह्मसमाज में दीक्षित हुए और उन्होंने अपनी अपूर्व वक्तृत्व-शक्ति एवं प्रतिभा के कारण समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। १८६२ ई० में महर्षि ने केशवचन्द्र सेन को समाज का पुरोहित नियुक्त किया। इससे समाज के पुराने सदस्यों को क्षोभ हुआ; क्योंकि इसके पूर्व सिर्फ यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण ही आचार्य का काम करते थे। नवयुवक विजयकृष्ण गोस्वामी ने जैसोर जिला के समाज-च्युत पिराली ब्राह्मण के तेईस परिवार के लोगों को ब्रह्म-समाज में दीक्षित किया। इस कार्य से प्रभावित हो केशवचन्द्र ने इन्हें समाज का मंत्री, और अपने मित्र प्रतापचन्द्र मजुमदार को सहायक मत्री नियुक्त किया। इस प्रकार समाज का संचालन नवयुवकों के हाथ में आ गया। इससे पुराने सदस्य बहुत असंतुष्ट हुए। तत्पश्चात् कन्हाईलाल पाइन के नेतृत्व में कुछ पुराने सदस्यों ने महर्षि देवेन्द्रनाथ के कार्य से असंतुष्ट हो समाज से अलग होकर १८६४ ई० में नया समाज कायम किया, जो **'उपासना-समाज'** के नाम से विख्यात हुआ।

ब्रह्म-समाज के विभिन्न मत

अगस्त १८६४ में केशवचन्द्र तथा उनके नवयुवक अनुयायियों ने भिन्न-भिन्न जाति के पुरुष और नारी के बीच विवाह सम्पन्न कराने की व्यवस्था की। समाज के वृद्ध सदस्यों को इससे बहुत आघात पहुँचा और इससे आपस के मनोमालिन्य का एक नया कारण उपस्थित हुआ। इसी बीच विजयकृष्ण गोस्वामी ने यज्ञोपवीतधारी पुरोहितों के विरुद्ध आन्दोलन किया, जिसके परिणाम-स्वरूप पण्डित अयोध्यानाथ पाकराशी तथा अन्य यज्ञोपवीतधारी पुरोहित पदच्युत किये गये और यज्ञोपवीत-हीन पुरोहित नियुक्त हुए। इन सब घटनाओं से नवयुवक तथा वृद्ध सदस्यों के बीच की खाई चौड़ी होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि महर्षि देवेन्द्रनाथ ने मंत्री तथा सहायक मत्री को पदच्युत कर उनके स्थान पर क्रमशः द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर तथा पण्डित अयोध्यानाथ पाकराशी को क्रमशः मंत्री तथा सहायक मंत्री नियुक्त किया। केशवचन्द्र सेन को आनेवाले संघर्ष का आभास हो गया और उन्होंने समाज की सम्पत्ति को कायम करने का निश्चय किया। इस बीच आपस के समझौते का प्रयत्न जारी रहा। दोनों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था। महर्षि देवेन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों में हिन्दू-संस्कृति के प्रति आसक्ति थी, किन्तु केशवचन्द्र और उनके नवयुवक साथी आमूल परिवर्त्तन के पक्ष में थे। अतएव समझौते का प्रयत्न असफल रहा। अन्त में ११

नवम्बर १८६४ को केशवचन्द्र तथा उनके अनुयायियों की एक सभा हुई जिसमें **भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज** के नाम से एक नया समाज कायम किया गया। महर्षि देवेन्द्रनाथ का ब्रह्मसमाज **'आदि-ब्रह्मसमाज'** के नाम से विख्यात हुआ। किन्तु सद्भावना कायम रखने के उद्देश्य से नये समाज ने एक प्रस्ताव द्वारा महर्षि देवेन्द्रनाथ के प्रति नवयुवक सदस्यों का प्रेम और सम्मान प्रदर्शित किया।

केशवचन्द्र और उनके मित्रों-द्वारा अलग समाज कायम करने के कारण महर्षि बहुत खिन्न हुए और 'आदि ब्रह्मसमाज' का कार्यभार राजनारायण बोस को सौंपकर अपना समय देशभ्रमण तथा एकान्त उपासना में व्यतीत करने लगे।

राजा राममोहनराय के बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्रह्मसमाज के अधिष्ठाता हुए थे। उनका हृदय हिन्दू संस्कृति से ओत-प्रोत था। वे यज्ञोपवीत धारण करते और रहन-सहन में हिन्दू-आचार बरतते थे। उनकी एकमात्र प्रार्थना थी—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् भगवन्, मुझे अन्धकार से प्रकाश में लाओ। 'गायत्रीमंत्र जप' का उनको बहुत सुन्दर अभ्यास था। कहा जाता है कि गायत्रीमंत्र का जप करते-करते उन्होंने प्रभुचरणों में अपने प्राण का विसर्जन किया।

केशवचन्द्र सेन पाश्चात्य रंग में रँगे हुए थे। उनके मन में हिन्दू संस्कृति के प्रति श्रद्धा नहीं थी। वे जाति-पाँति, शिखा-सूत्र, सजातीय विवाह आदि हिन्दू-पद्धति के घोर विरोधी थे। उन्होंने पूजा-पद्धति से संस्कृत के वाक्यों को हटा दिया। उनकी प्रतिभा एवं वक्तृत्व-शैली अद्भुत थी। परमहंस रामकृष्ण के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी, जिसके परिणाम-स्वरूप वे सभी धर्मों का आदर करने लगे और सभी धर्मों का सारतत्त्व अपने धर्म में सम्मिलित किया।

वर्षों बाद केशवचन्द्र के ब्रह्मसमाज में भक्ति की भावना प्रबल हो उठी। समाज के सदस्य भक्तिरस से ओत-प्रोत होने लगे। भक्ति की भावना से प्रेरित होकर, केशवचन्द्र के अनुयायी उन्हें साष्टांग प्रणाम करने लगे। केशवचन्द्र की प्रतिष्ठा पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिससे सिर्फ केशवचन्द्र सेन की मान-मर्यादा ही नहीं घटी; किन्तु उनका 'ब्रह्म-समाज' छिन्न-भिन्न हो गया।

कुचविहार के नवयुवक महाराज से केशवचन्द्र की कन्या का विवाह-सम्बन्ध निश्चित हुआ। वर-कन्या दोनों अल्पवयस्क थे। ब्रह्म-समाज का नियम १४ वर्ष से कम की कन्या और १८ वर्ष से कम के वर के विवाह के प्रतिकूल था। केशवचन्द्र की धारणा थी कि राजघराने में सम्बन्ध हो जाने से 'समाज' के प्रचार में विशेष प्रगति होगी। दूसरी कठिनाई यह थी कि महाराज ब्रह्मसमाजी नहीं थे और विवाह ब्रह्मसमाज की विवाह-पद्धति के अनुसार नहीं हुआ। वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। अन्त में १८७८ की १५ वीं मई को कलकत्ता टाउनहाल में 'भारतीय ब्रह्मसमाज' के अनुयायियों की सभा हुई जिसमें **'साधारण ब्रह्मसमाज'** की स्थापना की गई। बंगाल के २५० आनुष्ठानिक ब्रह्मसमाजी परिवारों में से १७० परिवार 'साधारण ब्रह्मसमाज' की स्थापना के पक्ष में हो गये। 'आदि-ब्रह्मसमाज के सभापति राजनारायण बोस समाज की ओर से प्रतिनिधि-

रूप में उपस्थित थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की शुभकामना भी पढ़ी गई। इस प्रकार जो 'भारतीय ब्रह्मसमाज' 'आदि-ब्रह्मसमाज' से अलग होने पर केशवचन्द्र सेन की प्रतिभा और उद्योग से सफलता की चरम सीमा पर पहुँच गया था वह समाज के नियमोल्लंघन के कारण उन्हीं के जीवनकाल में छिन्न-भिन्न हो गया।

'ब्रह्मसमाज' का आधार-ग्रंथ दशोपनिषदें हैं और उसकी विचारधारा बहुत अंशों में अद्वैतवादिनी है।

चौथा परिच्छेद

आर्यसमाज

आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म १८८१ ई० में, गुजरात-प्रान्त के 'मोखी' राज्य में हुआ। उनके पिता ने जब उनका विवाह करना निश्चित किया तब वे घर से भाग निकले और उन्होंने संन्यास ले लिया। संन्यासी का वेश धारण कर वे सच्चे गुरु की खोज में भ्रमण करने लगे। वे हजारों कोस नंगे पाँव पर्वत, जंगल आदि में घूमते रहे। भयानक कष्टों और कठिनाइयों का उन्हें सामना करना पड़ा। अंत में पता चला कि मथुरा में स्वामी विरजानन्दजी प्रज्ञाचक्षु संन्यासी हैं। स्वामीजी वेदों के अद्वितीय ज्ञाता थे। दयानन्दजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने अपने को स्वामीजी के चरणों में अर्पित कर दिया। उन्हें आज्ञा मिली कि जो पुस्तकें तुम्हारे पास हैं, यमुना में बहा दो। प्रायः ढाई वर्ष वे गुरु की सेवा में रहे। वेदों का प्रचार करने की प्रतिज्ञा कर कार्य-क्षेत्र में उतरे। उन्होंने गुरु के सम्मुख मूर्त्तिपूजा के खण्डन की प्रतिज्ञा की। उस समय उनकी आयु ३६ वर्ष की थी। हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर बड़े-बड़े पंडितों से उनका शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ लोगों ने उनपर पत्थर बरसाये, गालियाँ दीं, किन्तु वे दृढ़ रहे। उनको धर्म-भ्रष्ट करने के लिए मथुरा में उनके पास एक अत्यन्त सुन्दरी वेश्या भेजी गई, किन्तु वह उन्हें देखते ही भय से काँपने लगी। उन्हीं दिनों बंगाल में ब्रह्म-समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन से उनकी भेंट हुई। वे दोनों उनसे बहुत प्रभावित हुए। तत्पश्चात् वे बम्बई गये और वहाँ आर्य-समाज की स्थापना की। अमृतसर में व्याख्यान देते समय लोगों ने उनपर ईंट-पत्थर फेंके। इसपर उन्होंने कहा—'जो लोग आज मुझपर पत्थर फेंक रहे हैं वे ही एक दिन पुष्पों की वृष्टि करेंगे।' उनके जीवन-काल में तो नहीं, किन्तु आज पंजाब की अधिकांश हिन्दू जनता उनकी अनुयायिनी है और उनके अमृतमय उपदेशों पर श्रद्धा रखती है। आर्यसमाजियों की संख्या पंजाब की अपेक्षा अन्य प्रांतों में बहुत कम है। यह धर्म केवल वैश्यों और शूद्रों को ही आकृष्ट कर सका।

स्वामी दयानन्दजी ने जब देखा कि भारतीय संस्कृति की रक्षा में ही राष्ट्र की रक्षा है और यह रक्षा किसी भी अभारतीय भाषा-द्वारा नहीं हो सकती तब उन्होंने समाज-सुधार के सारे कामों के लिए आर्यभाषा हिन्दी को अपनाया। आर्यसमाज के मुख्य ग्रन्थ

'सत्यार्थप्रकाश' को उन्होंने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में लिखा। इस प्रकार स्वामीजी सर्वप्रथम भारतीय थे जिन्होंने हिन्दी को सिर्फ राष्ट्रभाषा ही नहीं माना; बल्कि उसको राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न का श्रीगणेश किया।

वेदों के उद्धार और प्रचार का कार्य उनका अद्भुत हुआ। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वान उनकी प्रतिभा पर मुग्ध थे। हम पहले कह आये हैं कि वेदों की भाषा अत्यन्त लचीली है। उनके मतानुसार सायण एवं पाश्चात्य भाष्यकारों ने वेदों के अर्थ करने में अनर्थ कर डाला है। अतएव उन्होंने स्वयं वेदों का भाष्य लिखा। 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' लिखकर उन्होंने वेदों को अपौरुषेय प्रमाणित किया। वैदिक धर्म की तुलना में संसार के प्राय: समस्त धर्मों की समीक्षा की। वैदिक साहित्य के प्रचार में उनके अनुयायी आर्यसमाजियों का कार्य भी अत्यन्त स्तुत्य हुआ है।

स्वामी दयानन्द ने लाखों हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचाया। संक्षेप में दयानन्द नानक, कबीर, राममोहनराय आदि सुधारकों से आगे बढ़ गये। उन्होंने केवल संस्कृति की रक्षा ही नहीं की; बल्कि बहुत बड़ा काम यह किया कि करोड़ों बिछुड़े भाइयों के लिए हिन्दू-समाज का द्वार खोल दिया। एक बार जो मुसलमान अथवा ईसाई हो जाता था वह हिन्दू-समाज में लौट नहीं सकता था। इस क्रूर और हृदयहीन स्थिति को बदलने का श्रेय एकमात्र आर्यसमाज को है।

सिद्धान्त

आर्य-समाज कर्मानुसार वर्णाश्रम का सिद्धान्त मानता है, जन्मगत नहीं। वह किसी को अछूत नहीं मानता। वेद का पढ़ना सबका अधिकार मानता है।

आर्य-समाजी आरम्भ में बहुत उत्साह और जोश से मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे; किन्तु आज इस समाज का ध्येय विशेष रूप से आपस की कटुता को बचाते हुए हिन्दू-धर्म और हिन्दू-जाति को सुदृढ़ बनाना है। यद्यपि आज आर्यसमाजियों की संख्या कम है तथापि जो लोग आर्य-समाज के विचारों से लाभान्वित हुए हैं और जिनको किसी प्रकार के मतभेद के बिना आर्यसमाज के कामों से सहानुभूति है, उनकी संख्या करोड़ों है। यद्यपि आर्य-समाज से सनातनधर्मी हिन्दुओं का मतभेद है तथापि हिन्दू-समाज आर्य-समाज द्वारा अपने को सुरक्षित और गौरवान्वित समझता है।

आर्यसमाज ने वेदों के प्रचार के अतिरिक्त हिन्दू-संस्कृति-सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखकर उनके द्वारा जनता के हृदय पर अमिट प्रभाव डाला है। आर्यसमाज का पूर्वकाल भिन्न-भिन्न मतों के खण्डन में लगा और उसका उत्तरकाल विशेष रूप से रचनात्मक काल है। इस उत्तरकाल में आर्यसमाज द्वारा अनेक प्रमुख स्थानों में गुरुकुल, दयानन्द स्कूल, दयानन्द कालेज, अनाथालय, विधवाश्रम आदि बने, जो आज भी चल रहे हैं। पंजाब, सिन्ध तथा पश्चिमोत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का कार्य विशेष रूप से हुआ।

आर्यसमाज सनातन-हिन्दुओं के पुराण, उप-पुराण, तंत्रादि के सिवा सभी हिन्दू-ग्रन्थों को मानता है। वह अवतार नहीं मानता। राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों का, विशिष्ट पुरुष के रूप में वह आदर करता है। भिन्न-भिन्न धर्मों में प्रतिपादित पापक्षमा के

सिद्धान्त को भी वह नहीं मानता। 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तमोल्लास में कहा है कि 'जो पाप (ईश्वर) क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायँ; क्योंकि क्षमा की बात सुनकर ही उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाय।' आर्य-समाज ने ईश्वर को निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी माना है।

स्वामी दयानन्द के हृदय में स्त्रीजाति के प्रति बड़े ही आदर तथा श्रद्धा का भाव था। उनकी निर्भयता देखकर लोग दंग रह जाते थे। लोगों के षड्यन्त्र में पड़कर एक ब्राह्मण ने उनके भोजन में विष दे दिया; किन्तु उनके मन में उसके प्रति द्वेष नहीं हुआ और उसे अपनी ओर से रुपया देकर नेपाल भाग जाने को कहा। विष के परिणामस्वरूप तीव्र वेदना और असह्य कष्ट भोगने के बाद अक्तूबर १८८३ को दीपावली की रात में वे परलोक सिधारे। उनके अन्तिम वचन ये थे—'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। आह! तूने अच्छी लीला की। ओम्!'

दयानन्द के उपदेश

(१) ईश्वर को वही प्रिय है जिसको सत्य प्रिय है। जो सत्य का आचरण करता है वह ईश्वर का प्रिय है। सत्य ही ज्ञान का सबसे बड़ा आधार है।

(२) न्याय-प्रियता को कभी हाथ से न जाने दो, किसी का अनुचित पक्षपात मत करो और धर्मान्धता को अपने हृदय में स्थान न दो।

(३) मनुष्यमात्र से प्रेम करना चाहिए। प्रेम करना मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

(४) प्राणिमात्र पर दया करनी चाहिए।

(५) स्त्रीजाति का आदर करना उचित है।

(६) गौ की रक्षा और सेवा करनी चाहिए।

(७) किसी का मन दुखाना संसार में सबसे महान् पाप है।

(८) आत्मा नित्य और अविनाशी है। इसको कोई नहीं मार सकता।

(९) अनाथों, विधवाओं तथा दीन-दुःखी जनों की सहायता और सामाजिक सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(१०) भारतवासियों के लिए एक ही भाषा, एक ही वेश तथा एक ही प्रकार के भाव होने चाहिए।

दार्शनिक विचार

आर्यसमाज ने जीव, प्रकृति और ब्रह्म को भिन्न-भिन्न माना है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा है कि दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) मित्रता के साथ एक वृक्ष (शरीर) में रहते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) सुस्वादु पिप्पल के फल का भक्षण करता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण (भोग) नहीं करता; केवल द्रष्टा है।

आर्यसमाज के मतानुसार दुःख का आत्यन्तिक विच्छेद ही मोक्ष कहलाता है। मुण्डकोपनिषद् (३।२।६) का हवाला देते हुए 'सत्यार्थप्रकाश' कहता है कि मुक्त जीव मुक्ति को प्राप्त कर ब्रह्मानन्द का उपभोग कर महाकल्प के पश्चात् पुनः मुक्ति-सुख को छोड़कर संसार में आता है। अतएव आर्यसमाज ने मुक्ति को पुराणों में वर्णित स्वर्ग-

सुखभोग के सदृश ही माना है। आर्य-समाज को वेदान्त का यह मत भी मान्य नहीं है कि ज्ञानाग्नि से कर्म और अकर्म के दग्ध होने पर आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है और उसका अस्तित्व नहीं रह जाता।

इस प्रकार, इस समाज को वेदान्त के ये महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब निश्चय करके ब्रह्म है) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (इसमें नाना प्रकार के दूसरे पदार्थ कुछ भी नहीं हैं, किन्तु सब-कुछ ब्रह्ममय है) मान्य नहीं हैं। और ब्रह्म में लय होने का सिद्धान्त भी मान्य नहीं है।

आर्यसमाज के अनेक मन्तव्यों को तो आज स्मार्त हिन्दू भी कार्यरूप में परिणत कर रहे हैं।

पाँचवाँ परिच्छेद

राधास्वामी-मत

इस मत के प्रवर्त्तक आगरा-निवासी लाला शिवदयाल सिंह साहब थे। उनके अनुयायी उन्हें परमगुरु स्वामीजी महाराज कहकर सम्बोधित करते हैं। उनका जन्म आगरा में, संवत् १८७५ में, हुआ था। अपनी जीविका के निमित्त उन्होंने अध्यापन किया, और गृहस्थाश्रम में रहे। १५ वर्ष तक लगातार अपने घर के एक कमरे में बैठकर 'सुरत-शब्द-योग' का वे अभ्यास करते रहे। संवत् १९१७ की वसन्तपञ्चमी से उन्होंने सत्संगकार्य आरम्भ किया। घर पर ही वे जिज्ञासुओं से धर्मचर्चा करते और उपदेश देते रहे। सत्संग सत्रह वर्षों तक निरन्तर चलता रहा और इस काल में भिन्न-भिन्न जाति के लगभग तीन हजार व्यक्तियों ने उनकी दीक्षा स्वीकार की। उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए अनेकों विद्वान दूर-दूर से आते, किन्तु सन्तोषजनक उत्तर पाने पर स्वयं निरुत्तर होकर वापस चले जाते थे।

स्वामीजी महाराज, पूर्ववर्त्ती अन्य सन्तोंकी भाँति ही, सत्य-नाम का उपदेश दिया करते थे। राधास्वामी नाम को उनके उत्तराधिकारी द्वितीय गुरु हजूर साहब (राय शालग्राम सिंह बहादुर) ने प्रकट किया और तब से 'राधास्वामी' नाम का ही उपदेश दिया जाने लगा। इस 'राधास्वामी' शब्द का आधार कबीर का निम्नलिखित वचन है—

> **"कबीर धारा अगम सत गुरु दई लखाय।**
> **उलट ताहि सुमिरन कर, स्वामी संग लगाय॥"**

उनका निधन संवत् १९३५ की आषाढ़-कृष्ण-प्रतिपदा को हुआ। उन्होंने 'सारवचन' नामक पुस्तक पद्य में लिखी है जो इस मत का प्रामाणिक ग्रन्थ है। दूसरे गुरु राय शालग्राम सिंह पोस्ट मास्टर जेनरल थे। वे प्रथम भारतीय थे जिन्हें इस उच्च पद को सुशोभित करने का अवसर मिला। उनकी भक्ति उच्च एवं आदर्श कोटि की थी। पेनशन पाने के बाद तथा नौकरी करते समय भी वे अधिक-से-अधिक समय अपने प्रियतम हजूर राधास्वामी दयाल की भक्ति में ही व्यतीत करते थे। उन्होंने सब मिलाकर ग्यारह पुस्तकें लिखी हैं। लगभग २० वर्ष तक वे गुरु रहे। उनकी मृत्यु ६ दिसम्बर १८९८ ई० में हुई। उनके आदेशानुसार पं० ब्रह्मशंकर मिश्र 'महाराज साहब' नाम से तीसरे गुरु हुए।

वे सिर्फ छः वर्ष १६०१-१६०७ तक कार्यभार-ग्रहण कर सके; क्योंकि उनकी मृत्यु संवत् १६६४ की आश्विन-शुक्ल-पञ्चमी को हुई। उन्होंने अंग्रेजी में डिसकोर्सेज आन राधा स्वामी फेथ (Discourses on Radha Swami Faith) लिखा।

प्रायः ६० वर्ष के भीतर ही असली गद्दी के सिवा सात गद्दियाँ और स्थापित हो गईं। इनमें मुरार, जिला शाहाबाद (बिहार) के बक्सी कामताप्रसाद उर्फ 'सरकार साहब' द्वारा संचालित गद्दी बहुत प्रसिद्ध हो गई। उनके बाद इस गद्दी पर सर आनन्दस्वरूप उर्फ 'साहबजी' गुरु हुए। उन्होंने आदि गुरु शिवदयालसिंहजी की जन्मभूमि आगरा के पास 'दयालबाग' नामक एक संस्था कायम की। इसमें भिन्न-भिन्न उद्योगों के संमिश्रण के साथ-साथ स्कूल और कालेज भी सम्मिलित हैं। दयालबाग मीलों के घेरे में स्थित है। अनेक सत्संगी यहाँ स्थायी रूप से रहते हैं। साहबजी तथा उनके बाद वर्त्तमान गुरु मेहताजी यहीं रहते हैं और अपने उपदेशामृत से सत्संगियों को तृप्त करते हैं। राधास्वामी-मत के प्रवर्त्तक परमगुरु 'स्वामीजी महाराज' का समाधि-मन्दिर संगमरमर का बन रहा है जिसकी कारीगरी अद्भुत है। समझा जाता है कि तैयार होने पर आगरे में यह ताजमहल का प्रतिद्वन्द्वी होगा।

इस मत के प्रवर्त्तक तथा समस्त गद्दीधारी प्रायः गृहस्थ ही हुए हैं और कर्मयोगी की तरह आत्मोन्नति के साथ-साथ जगत का धार्मिक एवं आर्थिक कल्याण भी करते रहे हैं।

योगमत

इस मत के गुरुओं का उपदेश है कि जिज्ञासुओं को चाहिए कि सर्वप्रथम एक ऐसे गुरु को ढूँढ़े जो आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोच्चशिखर को प्राप्त कर चुके हों। यदि जिज्ञासु ऐसे गुरु के सत्संग तथा दीक्षा के बिना आध्यात्मिक उन्नति करना चाहता है तो उसे सफलता नहीं मिलती; क्योंकि बिना योग्य और अनुभवी गुरु के उसे वास्तविक मार्ग का पता नहीं चलेगा और न वह माया-बन्धन से छुटकारा पाने में समर्थ होगा। गुरु की नितान्त आवश्यकता के कारण इस मत को 'गुरुमत' भी कहते हैं। इस मत के अनुयायियों को 'सुरत-शब्दयोग' के अभ्यास का उपदेश दिया जाता है। 'सुरत-शब्दयोग' को हम संक्षेप में 'अन्तर्नादयोग' कह सकते हैं। इस योग का साधन एक विशेष आसन में बैठकर किया जाता है। इसकी युक्ति जिज्ञासुओं को दीक्षाकाल में बताई जाती है। इस मत में प्राणायाम तथा हठयोग का कोई स्थान नहीं है। इस मत के आचार्यों का मूल मंत्र 'राधासोआमी' है। इसी को 'आदिनाद' बताया गया है। इस मत के अभ्यासी को सफलता के मार्ग में यह शब्द सुनाई पड़ता है। निर्गुण-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी इस मत में वर्त्तमान सद्गुरु के रूप की पूजा तथा उन्हीं के स्वरूप का ध्यान किया जाता है। वस्तुतः यह मत न तो निर्गुण की उपासना करता है न सगुण की; किन्तु निर्गुण और सगुण दोनों के परे की उपासना करता है। राधास्वामी-मत के प्रायः सभी संतों ने इस बात पर विशेष जोर दिया है।

इस मत में चार मुख्य बातें हैं—(१) सत्गुरु (२) सत्नाम (३) सत्संग तथा (४) अनुराग। सत्संग दो प्रकार का होता है। आभ्यन्तर सत्संग में अभ्यासी अपनी

सुरत अथवा जीवात्मा को अन्तरतम में चढ़ाकर सत् पुरुष राधास्वामी के चरणों में लगाता है और बाह्य सत्संग में सन्तों और साधुओं का दर्शन और उपदेश प्राप्त करता है।

इस मत को भी हम सुधारवादी कहते हैं; क्योंकि इसमें प्राचीन योगमत का सुधार है और जाति-पाँति, पण्डित-पुरोहित, श्राद्धादि कर्मों की यहाँ गुञ्जाइश नहीं है।

सिद्धान्त

इस मत के अनुसार सृष्टि के तीन मुख्य भाग हैं—(१) पिण्ड, (२) ब्रह्माण्ड और (३) दयाल-देश। इन तीन भागों के अन्तर्गत १८ भाग हैं। इसकी प्रथम अवस्था में सांसारिक विषय प्रधान और धार्मिक विषय गौण रहता है। दूसरी अवस्था में धार्मिक विचार प्रधान हो जाता है और सांसारिक वासनाएँ गौण। तीसरी अवस्था में सांसारिक भावनाओं का पूर्णनाश होकर एकमात्र शुद्ध धार्मिक भावना जागरित रहती है।

तीर्थ, व्रत, मन्दिर, मूर्तिपूजा, जप आदि व्यर्थ समझा जाता है; क्योंकि इनमें मन और जीवात्मा सम्मिलित नहीं होते और अहंकार हो जाता है। जीवात्मा 'राधास्वामी' का अंश है। इस अंश को अपने वास्तविक मूल की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। जीवात्मा का शरीर के भीतर स्थिर रूप से रहने का स्थान आँखों के पीछे है। वहीं से वह सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है। 'आदि-शब्द' सबका कर्ता और स्वामी है। आदि सुरत या जीव का नाम 'राधा' है। साधक धारा को अपने साधन से उलटकर राधा-स्वामी को प्राप्त होता है। इस सन्त-मत का मार्ग शुद्ध भक्तिमार्ग है। प्रभु के चरणों में प्रेम, प्रीति और प्रतीति ही उपासना है। वास्तविक सन्त, सत्पुरुष अथवा परब्रह्म में भेद नहीं है।

यह मत पहले गुप्त था। पहले-पहल लाहौर के विख्यात पादरी और लेखक ग्रिस-वल्ड साहब को, तृतीय गुरु के जीवनकाल में ही, एक विद्यार्थी से राधास्वामी के तत्त्व के सम्बन्ध में जानकारी हुई। उन्होंने १८६८ ई० के १४ अक्तूबर के 'अफसान' में इस सम्बन्ध का एक लेख छपवाया। इसके बाद उन्हें एक ऐसे सज्जन से विशेष जानकारी हासिल हुई जिसने १३-१४ वर्ष तक राधास्वामी-मत में रहकर १६०२ में ईसाई धर्म को स्वीकार किया था। उन्होंने इन्हीं सबके आधार पर 'राधा-स्वामी सेक्ट' नामक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में लिखी।

इस पन्थ के मूल प्रवर्तक के मत का प्रायः उन्हीं के शब्दों में निर्देश किया गया है। इस मत का बहुत बड़ा साहित्य है, जो प्रायः उन्हीं को उपलब्ध होता है जो इस सत्सग में सम्मिलित होते हैं। किन्तु इधर सारवचन, शब्द-संग्रह, संतबानी-संग्रह, प्रेम-समाचार आदि पुस्तकें हिन्दी में प्राप्य हो गई हैं। इस मत की पुस्तकों में जहाँ-तहाँ कबीर, नानक, पलटू, दादू आदि की अनेक 'वाणी' सम्मिलित हैं। गुरुवाणी को पाठ करने की प्रथा इस मत में है।

छठा परिच्छेद

ब्रह्मविद्या-समाज (थियोसोफिकल सोसाइटी)

इस समाज के आदि-संस्थापक मैडम ब्लावडस्की और कर्नल आलकट हैं। सर्व-धर्म-समन्वय-द्वारा विश्व में बन्धुत्व स्थापित करना; विश्वबन्धुत्व के साथ-साथ गुप्त शक्तियों का अनुसंधान एवं समन्वय करना; धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, राष्ट्र, वर्ग आदि किसी प्रकार का भेद-भाव न रखकर सारे विश्व को एक प्रेमसूत्र में गूँथना इसका ध्येय है। अतः इसमें आस्तिक, नास्तिक, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी आदि सभी तरह के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हो सकते हैं।

जन्मान्तरवाद, कर्मवाद, अवतारवाद जो हिन्दू-धर्म की विशेषताएँ हैं वे इस धर्म में भी मान्य हैं। गुरु की उपासना और योगसाधन इसके सिद्धान्तों में सन्निहित हैं। जप, तप, व्रत आदि भी इसमें मान्य हैं। अतएव इसकी बुनियाद आर्यधर्म और भारतीय संस्कृति है—इसमें सन्देह नहीं।

इस समाज की शाखाएँ समस्त संसार में वर्तमान हैं। संसार के एक कोने का सदस्य दूसरे कोने के समस्त सदस्यों को अपना बन्धु समझता है और पारस्परिक पत्र-व्यवहार में बन्धु (brother) से एक दूसरे को संबोधित करता है। यह इस समाज की विशेषता है।

इस संस्था का प्रधान कार्यालय मद्रास शहर से प्रायः सात मील दूर अदयार नदी के तट पर अदयार नामक स्थान में है। यहाँ का पुस्तकालय समूचे भारत में प्रसिद्ध है। जो पुनर्जन्म को न मानने तथा समाज से विद्रोह करने में असमर्थ होने के कारण 'ब्रह्मसमाजी' नहीं हो सकते थे और जिन्हें 'आर्यसमाज' की तरह अन्य मतों का खण्डन करना इष्ट न था; और जो भारतीय संस्कृति के हामी थे; वे भी अपनी सत्ता और संस्कृति को खोये विना इस संस्था में सम्मिलित होते रहे हैं।

सिद्धान्त

अन्य धर्मों की भाँति ही इस संस्था के मत से भी मनुष्य का आचार-विचार शुद्ध रहना चाहिए। सांसारिक प्रपञ्चों में लिप्त रहकर भी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। जबतक मुक्त-स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती, सभी विकारों का अनुभव करना जीवात्मा का कर्तव्य है। इसलिए जीवात्मा को क्रमशः पृथक् पृथक् योनियों में जन्म लेना पड़ता है। समस्त संसार

पुरुष और प्रकृति के योग से उत्पन्न हुआ है। ये दोनों अनादि हैं। अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है; परन्तु संसारोत्पत्ति के लिए उसी ब्रह्म का—पुरुष और प्रकृति का—द्वैतरूप में संयोग होता है। वेदान्त में श्राद्धविधि नहीं है, किन्तु मृत प्राणी की जीवात्मा, पुनर्जन्म होने तक, स्वकर्म-बन्धन से कर्मलोक में रुकी रहती है। मंत्रों की ध्वनि में गति, रंग और रूप है। अतः उसमें अनेक प्रकार की सामर्थ्य भी है। मंत्र-फल तबतक सिद्ध नहीं होता जबतक यथाविधि एकाग्रचित्त होकर ध्यानपूर्वक उसका प्रयोग नहीं किया जाय। कल्याण की दृष्टि से दूसरों में दोष दिखाने में जो दूसरों को दुःख होगा उसमें दोष-दर्शक हितैषी के लिए कोई पाप नहीं है; बल्कि दोष न दिखाना ही पाप है। इस मत के लोगों को पुराण मान्य हैं। उनका कहना है कि धर्मशास्त्रों और पुराणों में अनेक स्थलों पर रूपक अथवा कथा के रूप में विचार प्रदर्शित किये गये हैं। हमको चाहिए कि उन प्रसंगों का शब्दार्थ छोड़कर रहस्य जानने की चेष्टा करें। मनुष्य के विचारानुसार उसका कर्म होता है और कर्म के अनुसार भाग्य निर्मित होता है। अतएव मनुष्य ही अपने भाग्य का विधाता है। भाग्य के भरोसे आलसी होकर बैठ रहना मूर्खता है। ईश्वर जगत् के कल्याणार्थ अवतार लेता है और महात्मा भी गुप्त रूप से विद्यमान हैं। कृष्ण, बुद्ध, ईसा, जरथुस्त्र, मैत्रेय इत्यादि नाम और शरीर धारण करनेवाले महात्मा मूल में एक ही आत्मा हैं।

मृत्यु के पश्चात् जीवन के सम्बन्ध में इस समाज का मत है कि मृत्यु होने के कुछ क्षण पूर्व जीव अपने इस जन्म की सारी कार्रवाइयों का सिंहावलोकन करता है। इस अवसर पर उचित है कि उस जीव को निश्चिन्त छोड़ दिया जाय, ताकि वह अपने जीवन भर का लेखा समझ ले। इसलिए यदि हम अधिक न कर सकें, यदि हम विशेष सहायता न पहुँचा सकें, तो कम-से-कम हमें इतना तो अवश्य करना ही चाहिए कि उस जीव के रास्ते में हम बाधाएँ उपस्थित न करें। और यह तभी सम्भव है जब हम वृथा रोने-पीटने तथा शोक-विलाप करने से परहेज करें।

परलोक-सम्बन्धी विचार

छाया और स्थूल शरीर में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों का नाश प्रायः एक ही समय होता है। छायादेह के नष्ट हो जाने पर मनुष्य अपने को भुवर्लोक में पाता है। भुवर्लोक में भूलोक (पृथ्वी) के द्रव्य की बनी कोई वस्तु नहीं है। और, न मनुष्य ही अपने स्थूल शरीर में रहता है जिसमें कीड़े उसे काट सकें अथवा आग उसे जला सके। वहाँ की यातनाओं का वर्णन करने के लिए उपमाएँ केवल सांकेतिक रूप में व्यवहार में लाई जाती हैं। सारांश यह है कि भुवर्लोक वासनाओं का खुला स्थान है। स्थूल शरीर से पृथक् होने पर मनुष्य की वासनाओं का वेग और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि उस समय उन वासनाओं को स्थूल शरीर के तत्त्वों को प्रभावित करके अपना कार्य करना नहीं पड़ता है। जीवित अवस्था में, इस प्रक्रिया के कारण, वासनाओं का वेग स्वभावतः बहुत कम हो जाता है। इस प्रकार जिन वासनाओं में मनुष्य इह लोक में अपना जीवन बिताता है, मरने के बाद भुवर्लोक में वे यहाँ की अपेक्षा कई गुना अधिक प्रबल तथा वेगवती हो जाती हैं। ऐसी दशा में मनुष्य उनको सन्तुष्ट करने के लिए आगे बढ़ना चाहता है; पर ऐसा करने से वह अपने को लाचार पाता है। इसका कारण यह है कि उन

वासनाओं की तृप्ति स्थूल शरीर की इन्द्रियों को व्यवहार में लाये बिना नहीं हो सकती और उस अवस्था में स्थूल शरीर तो उसके पास रहता ही नहीं है। इसीलिए उनको तृप्त करने से वह बिलकुल मजबूर रहता है। अतएव साधारण दृष्टि से भुवर्लोक का यह जीवन असह्य दुःखों से भरा हुआ जान पड़ता है। इसका अन्त नहीं; क्योंकि इस दशा में मनुष्य के भीतर प्रतिदिन एक ही वासना बनी रहती है और उसकी तृप्ति का कोई साधन नजर नहीं आता। इसी कारण कुछ धर्मों में भुवर्लोक के सुख-दुःख अनन्त माने गये हैं। पर, वास्तव में दोनों का अन्त होता है। मनुष्य भूलोक में अपना जीवन जितना ही बुरी वासनाओं में बिताता है, उतना ही, अधिक दिनों तक भुवर्लोक में उन वासनाओं की अतृप्ति-द्वारा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य को हठात् अपनी इन्द्रियों के वश में करने का अवसर मिलता है। भुवर्लोक के जीवन की यही विशेष उपयोगिता है। यहाँ रहकर मनुष्य आत्म-संयम का पाठ सीखता है। इस आत्म-संयम के कारण जब मनुष्य पुनर्जन्म धारण करता है तब पूर्वजन्म की दुष्ट-प्रवृत्तियों की ओर झुकाव रहने के साथ-साथ आत्म-संयम की रोक भी उसमें लगी रहती है और इसलिए इस बार पहले से कुछ अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर उसे मिलता है। मनुष्य के भुवर्लोक का जीवन, इस समाज के विद्वानों के मत से, साधारणतः पाँच से चालीस वर्ष तक का होता है। उसी प्रकार पुण्यात्मा स्वर्गलोक में रहते हुए अपनी समस्त अभिलाषाओं को पूरा करने में समर्थ होते हैं।

पुनर्जन्म

हिन्दू-धर्म का विश्वास है और पुराणों में स्पष्ट वर्णन है कि, यदि मनुष्य नरजन्म पाकर भगवान की भक्ति में चूक गया तो उसे चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ेगा अर्थात् भाँति-भाँति के पशु, पक्षी, कीड़े आदि की योनियों में जीव को घूमना पड़ेगा और अन्त में अनेक जन्मों के बाद ही कहीं मनुष्य का तन पुनः प्राप्त हो सकेगा। यह धारणा इस समाज को मान्य नहीं है। इसका विचार है कि पशु-योनियों के अनुभव पूर्ण होने पर जीव को मनुष्य-योनि में स्थान मिलता है। अत्यन्त दुर्लभ एवं असाधारण परिस्थिति में ही मनुष्य का जीव पशु आदि योनियों में गिर सकता है। इसलिए मनुष्योचित अवस्था प्राप्त कर लेने पर साधारणतः मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य योनि में ही होता है। पापी मनुष्य का जन्म ऐसे ही कुछ परिवार अथवा परिस्थिति में हुआ करता है जहाँ उसको और अधिक उन्नति करने में सहायता मिलती है। जो हो, दूसरे जन्म में चाहे अच्छी परिस्थिति मिले अथवा बुरी; पर साधारणतः मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य-योनि में ही हुआ करता है। वास्तव में भिन्न-भिन्न जन्मों के अनुभव-द्वारा क्रमशः विकास होता रहता है। जिस प्रकार शैशव, कौमार, यौवन, वार्द्धक्य आदि अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी शरीर एक ही रहता है उसी प्रकार उन्नतिशील अर्थात् परिवर्तनशील होने पर भी प्रत्येक मनुष्य का एक-एक विशेष व्यक्तित्व होता है जिसे उसका 'जीव' कहते हैं। प्रत्येक बार मृत्यु के बाद स्थूल, छाया, वासना तथा लघु मानसिक शरीरों का नाश हो जाता है और प्रत्येक बार पुनः जन्म धारण करने के समय नये स्थूल शरीर, लघु मानसिक वासना और छाया को धारण करना पड़ता है। ये नये-नये शरीर पूर्वजन्म के

शरीरों की नाईं उन्नति प्राप्त नहीं करते। जैसे-जैसे उनका विकास होता जाता है वैसे-वैसे पूर्वजन्म के गुण भी धीरे-धीरे उनमें प्रकट होते जाते हैं।

इस धार्मिक संस्था के भूतपूर्व सभापति श्रीमती एनीबिसेएट थीं। उनके सहकारी लेडबिटर साहब ने एल्फियोनी के जीवनचरित (Life of Alfeyoni) नामक पुस्तक में अनेक मनुष्यों के पूर्वजन्मों के विषय में स्वतन्त्र अनुसंधान किया है। उसमें उन्होंने पुनर्जन्म-सम्बन्धी अनेक बातों का पता लगाया है। पहली बात यह है कि भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्यों के स्वर्गीय जीवन की अवधि किस प्रकार चन्द वर्षों से लेकर साढ़े इक्कीस सौ वर्षों तक पाई जाती है। दूसरे तथ्य का पता लगा है कि प्रत्येक मनुष्य का पुनर्जन्म भिन्न-भिन्न देशों तथा भिन्न-भिन्न धर्मों में हुआ करता है। जीव तो एक यात्री है, जो हर जगह घूमकर प्रत्येक प्रकार के अनुभव को प्राप्त करता है। तीसरे तथ्य का पता चला है कि जीव का कोई लिंग नहीं होता। एक ही जीव कुछ जन्मों में नर-तन धारण करता है और कुछ में नारी-तन। जीव के विकास के लिए जो तन अत्यन्त उपयोगी समझा जाता है उसी के अनुसार उसको नर अथवा नारी का तन मिलता है। पुनर्जन्म का सच्चा ज्ञान होने से हमारे दृष्टिकोण में और हमारे जीवन में बहुत बड़ा अन्तर आ सकता है। धार्मिक झगड़ों का तो प्रायः अन्त ही हो जा सकता है। क्योंकि कोई भी धर्म एक दूसरे से बड़ा या छोटा नहीं है; बल्कि प्रत्येक का कुछ विशेष गुण है; और उस विशेष गुण को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को सभी धर्मों में एक जन्म में रहना पड़ता है। इसी प्रकार यदि पुरुषों को इस बात का दृढ़ ज्ञान हो जाय कि आज की स्त्रियाँ दूसरे जन्म में पुरुष बन सकती हैं और पुरुष दूसरे जन्म में स्त्रीरूप में आ सकते हैं तो सम्भवतः स्त्रियों के साथ पुरुष अत्याचार नहीं, किन्तु आदर करेंगे।

कर्म-सिद्धान्त

कर्म-व्यवस्था के सम्बन्ध में इस समाज की राय है कि कर्म का लेखा रखने तथा उसका आवश्यकतानुसार संचालन करने का भार अत्यन्त उच्च श्रेणी के देवता के जिम्मे रहता है। वे प्रत्येक मनुष्य की शक्ति और उसके विकास की आवश्यकताओं को भली-भाँति जानते हैं। उन्हीं के अनुकूल मनुष्य के जन्म लेने के समय उसके साथ संचित कर्म का उतना ही भाग वे उसके प्रारब्ध में देते हैं जितनी भोगने की शक्ति वह रखता है। और, साथ ही ऐसी परिस्थितियों में उसको भेजते हैं जहाँ उसका उत्तमोत्तम विकास हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने सभी कर्मों का पूरा-पूरा फल अवश्य भोगना पड़ता है। पर कौन कर्म उसे कब भोगने के लिए दिया जाय, इस बात के निर्णय करने में उसके क्रमिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता है। कर्म का नियम हमें अकर्मण्यता नहीं सिखलाता; बल्कि दुःखों को सहर्ष स्वीकार कर कठिन परिस्थिति में भी बहादुरों की तरह, निश्चिन्त रहकर, आगे बढ़ते जाने की शिक्षा देता है। कर्म (भाग्य) की शक्ति के साथ पुरुषार्थ की शक्ति को लगा देने से भाग्य के दुष्परिणाम बहुलांश में बदल दिये जा सकते हैं; बहुलांश ही क्यों, उसका रुख एकदम पलट भी दिया जा सकता है। कर्म के नियम हमें यही सिखलाते हैं कि बाहर से कोई वस्तु—सुख अथवा दुःख—किसी के पास नहीं आती है, अपने ही कर्मों के परिणाम अपने सामने आते हैं। यदि अतीत काल के कर्मों के परिणाम

आज हमारे सामने आ रहे हैं तो आज के कर्मों के परिणाम भी भविष्य में हमारे सामने आवेंगे। आनेवाली परिस्थितियों को हम अवश्य बदल सकते हैं। क्योंकि उनके स्वरूप का निर्माण वर्तमानकाल के कार्यों द्वारा ही होता रहता है। यह वर्तमानकाल हमारे हाथ में है, इसलिए इसको अच्छे-अच्छे कामों में लगाकर, जैसा हम चाहें, वैसा भविष्य का निर्माण कर सकते हैं।

अवतार-तत्त्व

दशावतार के सम्बन्ध में इस समाज का मत है कि दशावतार के क्रम में विकास का सार तत्त्व छिपा है। जीवन के जिस विभाग में जीव रहता है उसी विभाग के शरीर द्वारा उसकी सहायता की जा सकती है। इस अवतार-प्रणाली में यह दिखलाया गया है कि जब विश्व में पृथ्वी के तत्त्व का उद्भव नहीं हुआ था—संसार केवल जलमय ही था, तब से लेकर आजतक पृथ्वी का उद्भव होने पर मनुष्य की कोटि तक पहुँचते-पहुँचते जीव को किन-किन प्रधान अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है।

इस समाज का स्पष्ट विचार है कि संसार के आध्यात्मिक संचालन के लिए महात्माओं का संघ है, जिसे ऋषि-संघ कहते हैं। इस संघ का केन्द्र भारतवर्ष के उत्तर में पर्वतराज हिमालय पर है। हिमालय के उत्तरी भाग में मध्य एशिया की ओर एक स्थान है, जिसको श्वेत द्वीप कहते हैं। वह ऐसे दुर्गम स्थान पर है कि कोई मनुष्य अपनी स्थूल देह से वहाँ नहीं पहुँच सकता; पर सूक्ष्म शरीर द्वारा अनेक अधिकारी पुरुष वहाँ गये हैं और अपने निजी अनुभव-द्वारा उसके अस्तित्व का समर्थन करते हैं। यहीं पर संसार के आध्यात्मिक राजा का निवास-स्थान अर्थात् आश्रम है। उस उच्च पद पर एक अत्यन्त उच्च कोटि के महात्मा रहते हैं जिनका नाम है भगवान सनत्कुमार। उन्हीं की स्वीकृति मिलने पर कोई मनुष्य ऋषि-संघ में दाखिल हो सकता है।

जगद्गुरु

इसके अनुसार प्रत्येक मूल जाति के लिए एक जगद्गुरु होते हैं। वर्तमान जगद्गुरु महर्षि मैत्रेय हैं। इनका भी आश्रम हिमालय पर है। इनके पहले जगद्गुरु के पद पर वही महात्मा थे जो अपने अन्तिम जन्म में सिद्धार्थ गौतम होकर इस पृथ्वी पर उतरे और जिन्होंने बुद्ध का परम पद प्राप्त कर इस संसार में बौद्धधर्म की संस्थापना की। बुद्धत्व प्राप्त करने का अर्थ है जगद्गुरु पद से भी एक पद और ऊपर उठ जाना। उस समय से महर्षि मैत्रेय ही जगद्गुरु हैं।

इस समाज का साहित्य विशद और गहन है। प्रायः समस्त साहित्य अंग्रेजी भाषा में सुलभ मूल्य पर प्राप्य है। उस साहित्य में अनेक विषय हैं, किन्तु (१) पुनर्जन्म, (२) युगधर्म और विकास-क्रम, (३) महान् ऋषिसंघ, (४) भगवान की लीला, (५) सद्गुरु की प्राप्ति का साधन, (६) मृत्यु के पश्चात् जीवन-सम्बन्धी विचार-धारा आदि मनन करने योग्य हैं। इस समाज के अनेक योगी दिव्य दृष्टि-द्वारा इन समस्याओं पर प्रकाश डालने में समर्थ हुए हैं।

सातवाँ परिच्छेद

स्वामी रामकृष्ण और उनका समन्वयवाद

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का जन्म हुगली जिला के कामारपुकर ग्राम में हुआ था। बाल्यावस्था में पिता के मर जाने से बालक रामकृष्ण के परिवार को आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप उन्हें बाल्यावस्था में ही अपनी जीविका का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ा। कलकत्ता के समीप एक मन्दिर में वे पुजारी हो गये। उन दिनों किसी मन्दिर का पुजारी होना एक ब्राह्मण के लिए कोई गौरवपूर्ण कार्य नहीं समझा जाता था। बचपन में ही उनमें धर्मानुराग के चिह्न प्रकट दीखने लगे थे। वे किसी साधु या संन्यासी को देखते ही उसके पास जा बैठते। जिस मन्दिर में उन्होंने पूजा का भार ग्रहण किया था उसमें आनन्दमयी जगन्माता की एक मूर्ति थी। वे उस मूर्ति की पूजा में अहर्निश व्यस्त रहा करते थे। धीरे-धीरे उनके मन में इस विचार ने अधिकार जमा लिया—क्या इस इस मूर्ति में किसी का वास है? क्या यह सत्य है कि इस संसार में आनन्दमयी जगन्माता हैं। क्या यह सत्य है कि इस विश्व का सारा व्यवहार वही चलाती हैं? क्या धर्म में सचमुच सत्यता है। इस प्रकार के तर्क-वितर्क उनके मन को सदा आन्दोलित किया करते थे। फलतः वे अशांत होकर रो पड़ते और जगन्माता को पुकारकर कहते—माँ, क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है अथवा यह सब कल्पनामात्र है? उनका हृदय दर्पण-जैसा स्वच्छ था। इसलिए धीरे-धीरे उनके हृदय में यह भावना दृढ़ हो गई कि भगवती माँ को इन्हीं आँखों से देखा जा सकता है। वे इस भावना में यहाँ तक निमग्न हो गये कि ठीक तरह से पूजा भी नहीं कर सकते थे। बहुधा वे जगन्माता की मूर्ति के सम्मुख नैवेद्य रखना भी भूल जाते और कभी-कभी आरती उतारना भी, और कभी-कभी तो वे घंटों आरती ही उतारते रहते। उस समय उनके दृष्टि-पथ से जगन्माता के सिवा सब-कुछ हट जाता था—यहाँ तक कि वे अपने-आपको भी भूल बैठते थे।

प्रतिदिन एक ही विचार उनके मन में रहा करता था कि क्या माता का अस्तित्व सत्य है? यदि है तो फिर वह बोलती क्यों नहीं? अन्त में रामकृष्ण के लिए उस मन्दिर में काम करना असम्भव हो गया। उन्होंने उस मन्दिर को छोड़ दिया और समीपवर्ती एक

छोटे-से जंगल में जाकर रहने लगे। उनके सम्बन्ध में स्वामी विवेकानंद (उस समय उनका नाम नरेन्द्र था) कहा करते थे कि उन्हें यह बात ज्ञात नहीं रहती थी कि सूर्योदय या सूर्यास्त कब हुआ। यहाँ तक कि भोजन करने का भी उन्हें कभी ध्यान नहीं रहता था। इन दिनों उनके एक सम्बन्धी ने बड़े प्रेम से उनकी देख-रेख की। वह उनके मुख में भोजन डाल दिया करता था। वे केवल निगल जाते थे। इस प्रकार उनके अनेक दिन बीत गये। जब एक पूरा दिन बीत जाता और संध्या के समय मन्दिरों से घंटे की झंकार तथा भजनों की गूँज उनके कानों में सुनाई देती तब वे दुखित होकर कलपते हुए चिल्लाने लगते। कहते—हे माता! आज का दिन भी व्यर्थ चला गया और तूने दर्शन नहीं दिये। इस छोटे-से जीवन का एक दिन यों ही नष्ट हो गया, फिर भी मुझे तेरा ज्ञान नहीं हुआ। इस हार्दिक वेदना के कारण कभी-कभी वे अपना मुँह जमीन पर रगड़ने लगते और बिलखते-बिलखते उनके मुख से यह प्रार्थना निकल पड़ती—"हे माता! तू शीघ्र प्रकट हो जा—देख, मैं तेरे लिए कितना तड़प रहा हूँ, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।" वास्तव में अपने ध्येय में वे एकनिष्ठ हो गये थे।

उन्हें यह ज्ञात था कि जबतक जगन्माता के लिए सर्वस्व-त्याग नहीं किया जाता तबतक वह दर्शन नहीं देती। अतः वे इस भावना में लीन होने का यत्न करने लगे और उन्होंने साधन के नियमों को, पूर्णरूप से, पालन करने का निश्चय किया। जो कुछ थोड़ी-बहुत सम्पत्ति थी, उन सबको उन्होंने छोड़ दिया और धन को कभी न छूने का प्रण कर लिया। दूसरा विचार जो उनके मन में उत्पन्न हुआ वह यह था कि काम-वासना एक प्रबल शत्रु है। मनुष्य वस्तुतः आत्म-स्वरूप है और यह आत्मा न तो स्त्री है और न पुरुष। उन्होंने सोचा कि कामिनी तथा कंचन ही ऐसे दो कारण हैं, जो उन्हें जगन्माता के दर्शन नहीं होने देते। अन्ततः उन्हें यह ज्ञान हुआ कि सारा विश्व जगन्माता का ही दृश्य रूप है। स्त्रीमात्र जगन्माता का रूप है। यह विचार उनके मन में पूर्णरूप से जम गया कि प्रत्येक स्त्री हमारी माता है तथा हमें उस अवस्था को पहुँचना चाहिए जहाँ प्रत्येक स्त्री में केवल जगन्माता का ही रूप दीखे। अन्त में तीव्र साधना के अनन्तर जगन्माता ने ही प्रत्यक्ष होकर गुरु का स्थान ग्रहण किया और उन्हें सत्य-मार्ग दिखला दिया, जो वे ढूँढ़ रहे थे। इसी समय उस स्थान पर एक अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न सुन्दरी स्त्री आ पहुँची। तुरत ही वह उनके क्लेश का कारण ताड़ गई। उसने कहा—"मेरे बेटे, वह पुरुष धन्य है जिसपर इस प्रकार का पागलपन सवार होता हो। वैसे तो सारा संसार ही पागल है—कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोई कीर्ति के लिए अथवा दूसरों पर जुल्म करने के लिए; किन्तु भगवान के लिए कोई पागल नहीं होता। जो भगवान के प्रति पागल है, उसके विषय में लोग विचार करने लगते हैं कि उसका सिर फिर गया है। यही कारण है कि वे तुझे पागल कहते हैं। किन्तु तेरा ही पागलपन ठीक है।" वह स्त्री रामकृष्ण के पास वर्षों रही और उसने उन्हें भारत-वर्ष के विभिन्न धर्म-प्रणालियों और अनेक प्रकार के योग-साधनों की शिक्षा दी। बाद में एक अद्भुत अद्वैतवादी संन्यासी आये। वे उन्हें वेदान्त की शिक्षा देने लगे। शीघ्र ही संन्यासी को यह आश्चर्यजनक बात मालूम हुई कि रामकृष्ण कुछ विषयों में

उनसे भी बढ़े-चढ़े हैं। संन्यासी कई महीनों तक उनके साथ रहे और अंत में सत्य की दीक्षा देकर उन्होंने प्रस्थान किया।

रामकृष्ण का विवाह बचपन में ही हो चुका था। जब तरुणी पत्नी अपने पति के सम्मुख आकर खड़ी हुई तब रामकृष्ण उनके चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे—'जगन्माता ने मुझे दर्शन दिये हैं। वह प्रत्येक स्त्री में निवास करती है। मैंने यह प्रण किया है कि प्रत्येक स्त्री को मैं मातृवत् समझूँ। यही एक दृष्टि है जिससे मैं तुम्हें देख सकता हूँ। परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा मुझे संसाररूपी मायाजाल में, पत्नी होने के नाते, खींचने की हो तो मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।' अपने पति की आकांक्षा जानकर उनकी धर्मपरायणा पत्नी ने उत्तर दिया कि वह नहीं चाहती कि अपने पूज्य पतिदेव को सांसारिक जीवन में घसीटे; किन्तु उसकी यह मनःकामना अवश्य है कि वह उन्हीं के समीप रहकर उनकी सेवा करे। आगे चलकर वह उनके भक्तों में प्रधान हो गई और सदैव उनकी सेवा करती रही।

कुछ दिनों के बाद रामकृष्ण की इच्छा हुई कि वे भिन्न-भिन्न धर्मों के सत्य-स्वरूप को जानें। अतः उन्होंने विभिन्न धर्मों के गुरुओं को ढूँढ़ना आरंभ किया। सबसे पहले उन्हें एक मुसलमान साधु मिल गये। उनसे दीक्षा लेकर वे तीन दिनों तक उनके साथ रहे और जो-जो भक्तिभावात्मक साधनाएँ उन्होंने बतलाईं उन सबको रामकृष्ण ने पूर्ण किया। उन तीन दिनों तक न तो वे काली के मन्दिर में गये और न उन्होंने काली का प्रसाद ही ग्रहण किया। उनके भीतर से हिन्दुत्व के भाव तक लुप्त हो गये थे। इस्लाम की साधना द्वारा उन्हें अनुभव हुआ कि हिंदू-मुस्लिम धर्मों में कोई अंतर नहीं। इसी प्रकार उन्होंने तीन दिनों तक ईसाई धर्म धारण किया। वे घर में बैठे-बैठे पादरियों के उपदेश सुनते रहे। इस साधना के समय उनके मुख से काली, कृष्ण, शिव या राम—कोई नाम नहीं निकला, इनका उन्हें स्मरण ही नहीं हुआ। इन दोनों धर्मों की साधना से उन्हें उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई जिसे वे पहले पा चुके थे। इस प्रकार के अनुभव-द्वारा उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रत्येक धर्म का ध्येय एक ही है और सब एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं—अन्तर केवल मार्ग का तथा विशेषरूप से भाषा का है।

रामकृष्ण पूजा-अर्चना आदि से भी धीरे-धीरे मुक्त हो गये। पहले वे दिन भर फूल चुनते रहते, फिर उन फूलों से काली की पूजा करते। एक दिन उन्होंने अनुभव किया कि जिनके लिए फूल तोड़ रहे हैं उन्हीं का शरीर तो यह विश्व है। यह सोचकर वे हँस पड़े और कहने लगे—'ये फूल तो माता को चढ़ चुके हैं। फिर इन्हें दुबारा कैसे अर्पित किया जाय।' तब से उनकी पूजा भी बन्द हो गई। अब वे प्रवाह की तरह निर्बंध होकर अपने-आपको भी भूल गये। कभी मन्दिर में चँवर डुलाते तो कभी ताली बजाकर भजन गाते। कभी 'जय माँ, जय माँ' कहकर समाधिस्थ हो जाते और कभी जगत् को ब्रह्ममय जानकर सबको प्रणाम करते।

जहाँ वे रहते थे, वह चाण्डालों की बस्ती थी। उन्होंने उनकी सेवा करनी चाही। किन्तु ब्राह्मणों से सेवा लेना पाप होगा,—यह समझकर उन लोगों ने उसे स्वीकार नहीं किया। फिर भी आधी रात को जब चाण्डाल सोते रहते थे, तब उनके घर में वे

घुस जाते और अपने बड़े-बड़े बालों से ही सारी जगह झाड़ डालते थे और यह कहते थे—'हे जगन्माता, मुझे चाण्डाल का दास बनाओ। मुझे यह अनुभव कर लेने दो कि मैं उससे भी हीन हूँ।' जिन स्त्रियों को समाज तिरस्कृत समझता है उनके चरणों पर वे गिर पड़ते थे और रोते-रोते कहते—'हे जगन्माता, एक रूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे रूप में संसार को व्याप्त किये हो। हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।' आत्मशुद्धि के लिए इस प्रकार की उनकी अन्य अनेक साधनाएँ भी थीं। उनके जीवन के अणु-अणु में पवित्रता परिव्याप्त थी। सामान्य मनुष्य के जीवन में जो नाना प्रकार के द्वन्द्व होते हैं वे उनके लिए नष्ट हो गये थे। अपना तीन-चतुर्थांश जीवन व्यतीत करके उन्होंने उग्र तपस्या-द्वारा जो आध्यात्मिक सम्पत्ति एकत्र की थी, मानव-जाति के कल्याणार्थ उसे वितरित करने में उन्होंने अपने जीवन का शेष अंश भी लगा दिया।

सिद्धान्त

स्वामी रामकृष्ण ने विभिन्न धर्मों को मथकर जो सिद्धान्त निकाला, वह यह था कि मनुष्य को सर्वप्रथम चरित्रवान होकर आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वे बहुधा यह दृष्टान्त दिया करते थे कि जब कमल खिलता है तब मधुमक्खी स्वयं उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती है। इसी प्रकार अपना चरित्ररूप कमल पूर्णरूप से खिल जाने दो और फल अपने-आप ही प्राप्त हो जायगा। यह हम सबके लिए बहुत बड़ी शिक्षा है। विचारों-द्वारा उत्पन्न प्रचण्ड शक्ति को बहुत थोड़े लोग समझ पाते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी गुफा के अन्दर चला जाता है और उसमें अपने को बन्द कर किसी गहन तथा उदात्त विषय पर एकान्त में, निरन्तर एकाग्रचित्त होकर, मनन करता है एवं उसी रूप में मनन करते हुए प्राण त्याग कर देता है तोभी उसका वह विचार गुफा की दीवाल में घिरकर नहीं रहता, उस विचार की तरंगें वहाँ के वातावरण में फैल जाती हैं और अन्त में वे तरंगें सारी मनुष्यजाति में प्रवेश कर जाती हैं। विचार में ऐसी प्रचण्ड शक्ति है कि वह प्रचार की अपेक्षा नहीं रखता। पहले हमें इस योग्य बन जाना चाहिए कि हम दूसरों को कुछ दे सकें। मनुष्य में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है जिसके पास देने के लिए कुछ हो। क्योंकि शिक्षा देने का अर्थ है अपनी आध्यात्मिक शक्ति को किसी दूसरे पर प्रेरित करना।

समन्वय-साधना

स्वामी रामकृष्ण के सब धर्मों के प्रति समान श्रद्धा के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'वर्षों मैं उनके समीप रहा; परन्तु उनके मुँह से कभी किसी दूसरे धर्मग्रन्थ के विषय में मैंने बुराई नहीं सुनी। सब धर्म-ग्रन्थों पर उनकी समान श्रद्धा थी और सबमें उन्होंने ऐक्यभाव ढूँढ़ लिया था। मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, कर्ममार्गी अथवा मार्गत्रयोपासक हो सकता है। विभिन्न धर्मों का यही मार्ग है। यह भी सम्भव हो सकता है कि चारो गुण एक ही मनुष्य में पाये जायँ। भविष्यकाल में मानवजाति में वही होनेवाला है—यही स्वामी रामकृष्ण का विश्वास था। उन्होंने किसी को बुरा नहीं कहा; बल्कि सबमें अच्छाइयाँ ही देखीं। इस प्रकार उन्होंने सारे प्रचलित मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के

मूल में एक ही प्रभु की सत्ता की अनुभूति की। उनके दर्शन तथा उपदेश सुनने के लिए हजारों मनुष्य आते थे। वे बोलचाल की भाषा में ही उपदेश देते थे। उनका प्रत्येक शब्द सरल, किन्तु ओजस्वी होता था। उनके जीवन का पूर्वार्ध आध्यात्मिक शक्ति के संचय में लगा तथा उत्तरार्ध उसके वितरण में। वास्तव में वे परमहंसत्व के सजीव मूर्ति थे, जिनको देखने पर नास्तिक से नास्तिक को भी जीवन की दिव्य ज्योति की झाँकी मिलती थी।

आज भी परमहंस रामकृष्ण का नाम भारत में लाखों पुरुषों की जीभ पर है। इतना ही नहीं, वरन् इन महापुरुष की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी गई है। उनका सन्देश आधुनिक संसार को यह है—"धार्मिक मतों, आचारों, पंथों तथा गिरजाघरों एवम् मन्दिरों को महत्त्व मत दो। प्रत्येक मनुष्य में वास करनेवाले चैतन्य तथा आत्मशक्ति की अपेक्षा इनका मूल्य कुछ नहीं है और जिस मनुष्य में जितनी ही आत्मशक्ति होगी वह उतना ही जगत् का कल्याण कर सकेगा।" अतएव प्रसिद्ध दार्शनिक रोम्या रोलां ने लिखा है कि रामकृष्ण परमहंस भारत के चालीस करोड़ नर-नारियों की दो हजार वर्ष की आध्यात्मिक तपस्या के चिरवांछित वरदान के रूप में प्रकट हुए थे।

१५ अगस्त, १८८६ ई० को स्वामी राकृष्ण परमहंस ने इहलीला संवरण की। उनके शिष्यों और भक्तों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि स्वामी विवेकानन्द की हुई। स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। मिशन के कार्य का संचालन बड़ी कुशलता से हुआ। उन्होंने मिशन की जो परम्परा कायम की, वह आज तक अपने गुरु का कार्य बड़ी निपुणता से करती जा रही है। आज भारत के कोने-कोने में रामकृष्ण-मिशन की शाखाएँ हैं। इस संस्था का सेवा-सम्बन्धी कार्य संसार-प्रसिद्ध है। इस संस्था ने विद्या-प्रचार, रोगियों की शुश्रूषा तथा अकाल-दुर्भिक्ष आदि में अपूर्व सेवा द्वारा भारत में कर्मयोग का एक नूतन आदर्श उपस्थित कर दिया है जो अन्य संस्थाओं के लिए भी पथ-प्रदर्शक है। इस मिशन के अधिकांश संन्यासी विद्वान एवं प्रतिभाशाली हैं। अनेकों ने अपनी प्रतिभा की छाप दूर देशों पर भी डाली है। मिशन की विभिन्न शाखाएँ अमेरिका, इङ्गलैंड, जर्मनी, फ्रांस, स्विटजरलैंड, सिंगापुर, लंका आदि देशों में स्थापित हैं। इनके द्वारा दूर देशों के ज्ञान-पिपासुओं की पिपासा-निवारण के साथ-साथ भारतीय संस्कृति को भी फैलाने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

कलकत्ते के पास गंगा के तट पर बेलूर मठ में सात-आठ लाख की लागत से एक भव्य मन्दिर बनाया गया है, जिसमें परमहंसजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। वहाँ नियमित रूप से सेवा-पूजा की सुन्दर व्यवस्था है। वह मठ परम पवित्र और दर्शनीय है। उक्त मन्दिर के बनवाने का प्रायः सारा खर्च होनोलूलू की एक महिला ने दिया था।

आठवाँ परिच्छेद

विवेकानन्द और रामतीर्थ का धर्मप्रचार

भारत में अंग्रेजों के आगमन के बाद पाश्चात्य सभ्यता ने अपने प्रकाश से यहाँ चकाचौंध पैदा कर दी और यहाँ की संस्कृति और प्रकृति के प्रतिकूल एक उलटी धारा बहा दी। पाश्चात्य भावों और आदर्शों के भयंकर आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि भारतीयों का मस्तिष्क भ्रमित हुआ और ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो भारतीय जीवन में सम्भवतः इस नई लहर का सामना करने की शक्ति बिलकुल लुप्त हो गई। नवीन धारा को पलटने की तो बात ही दूर रही। इस प्रकार के विचारों से अभिभूत होकर पाश्चात्य आदर्शों की ओर पढ़े-लिखे लोग झुकने लगे। किन्तु इन्हें सञ्जीवनपथ पर लाने के लिए, जैसा हम इस खण्ड के आरम्भ में कह चुके हैं, ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, राधास्वामी-मत, ब्रह्म-विद्या-समाज आदि की स्थापना हुई एवं रामकृष्ण परमहंस का प्रादुर्भाव हुआ।

रामकृष्ण के सुयोग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा उनके बाद स्वामी रामतीर्थ ने हिन्दूधर्म और हिन्दू-संस्कृति की पताका दूर देश—अमेरिका, यूरोप आदि—में फैलाई। पाश्चात्य संसार में आध्यात्मिकता की नईधारा प्रवाहित करने में वे पूर्णतः समर्थ हुए।

(क) स्वामी विवेकानन्द

७ जनवरी, सन् १८६२ को कलकत्ते के निकट नरेन्द्रनाथ दत्त का जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त था। वे वारिष्टर थे और कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे।

बाल्यावस्था में नरेन्द्रनाथ ने अपने अनुपम विचारशक्ति, प्रखर बुद्धि और चामत्कारिक प्रतिभा से सबको चकित-स्तम्भित कर दिया था। छात्रावस्था में ही उन्होंने यूरोपीय दर्शनशास्त्र में अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। कालेज में पढ़ते समय ही उन्होंने हर्बर्टस्पेन्सर के दार्शनिक विचारों की आलोचना की और अपनी वह आलोचना हर्बर्ट स्पेन्सर के पास भेज दी। महात्मा स्पेन्सर उस आलोचना को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और सत्य के अनुसन्धान के लिए उन्होंने आलोचक नरेन्द्र को उत्साहित किया।

कालेज में अध्ययन करते समय नरेन्द्र नास्तिक हो गये थे। ईसाई मत की उत्ताल तरंगों को रोकने के लिए बंगाल में ब्रह्म-समाज की नींव पड़ चुकी थी। नवयुवक नरेन्द्र भी ब्रह्म-समाज के विचारों की ओर झुक गये थे। परन्तु ब्रह्म-समाज से उनकी तृप्ति नहीं हुई। इसी बीच बी० ए० परीक्षा पास कर वे कानून की परीक्षा की तैयारी करने लगे। साथ-ही-साथ अपने संशयों की निवृत्ति के लिए वे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के पास जाते रहे; पर कहीं भी उनकी शंका का समाधान नहीं हुआ। संयोगवश, एक दिन उनके चाचा उन्हें अपने साथ रामकृष्ण परमहंस के पास ले गये। और ठीक उसी दिन नरेन्द्र के जीवन में अप्रकट रूप से एक नई धारा प्रवाहित होने लगी।

रामकृष्ण परमहंस ने प्रथम दर्शन में ही नरेन्द्रनाथ में कुछ ऐसी वस्तु देखी जिससे वे परम प्रसन्न हुए और उन्हें देखते ही पूछा—क्या तुम धर्म-विषयक कुछ भजन गा सकते हो ? उसके उत्तर में नरेन्द्र ने कहा—हाँ, गा सकता हूँ। और, दो-तीन भजन अपनी स्वाभाविक मधुर ध्वनि में गाये। उनके गान से वे बहुत प्रसन्न हुए। उनकी प्रसन्नता पर नरेन्द्र को भी तृप्ति मिली और वे परमहंस की ओर आकृष्ट हुए। तब से वे नित्य उनके दर्शन और सत्संग के लिए आने लगे।

नरेन्द्रनाथ ने १८८१ से १८८६ ईसवी तक परमहंस से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की। पिता उनका विवाह करना चाहते थे; किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप उन्हें बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। वे परमहंस रामकृष्ण के उपदेशों से यहाँ तक प्रभावित हुए कि उन्होंने संन्यास की दीक्षा ली, स्वामी विवेकानन्द कहलाये और ईश्वर तथा मानवजाति की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया।

संन्यास लेने के बाद स्वामी विवेकानन्द अनेक साधनाओं में लग गये। किन्तु निर्विकल्प समाधि में सफलता प्राप्त न करने के कारण वे बड़े बेचैन रहने लगे। अंत में परमहंसजी ने अपने प्रिय शिष्य को निर्विकल्प समाधि का न केवल आस्वादन ही कराया, वरन् उन्हें पूर्णतया योग्य समझकर अपनी समस्त आध्यात्मिक अनुभूतियों की निधि प्रदान करते हुए बोले—'अपनी सारी साधना का फल तुम्हें देकर अब मैं वास्तव में फकीर हो गया। मुझे विश्वास है, तुम इनका सदुपयोग करोगे।' इस घटना के तीन-चार दिनों के बाद ही परमहंसजी ने चिर-समाधि ले ली।

सबसे पहले स्वामी विवेकानन्द हिमालय के शिखर पर छः वर्ष तक एकान्तवास में रहे। फिर वहाँ से तिब्बत गये और वहाँ बौद्धधर्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। फिर भारतवर्ष के अधिकांश भागों में भ्रमण कर लोगों की रीति-नीति, रहन-सहन और सामाजिक आवश्यकताओं आदि का गहरा अध्ययन किया। उन्होंने एक बार अपने मित्रों से कहा था कि देश की शोचनीय अवस्था उन्हें पाँच मिनट भी चैन नहीं लेने देती।

अमेरिका-यात्रा

इसी बीच शिकागो (अमेरिका) में विश्वधर्म-सम्मेलन की आयोजना का संवाद पत्रों में प्रकाशित हुआ। स्वामीजी को शिकागो जाने की प्रबल इच्छा हुई। अंत में बड़ी कठिनाई के बाद, उन्होंने अमेरिका की यात्रा की। वहाँ पहुँचकर उन्होंने विश्वधर्म-सम्मेलन में जो पहला व्याख्यान दिया, उससे ही अमेरिका में उनकी विशेष ख्याति हो

गई। अमेरिकनों पर उनके व्यक्तित्व का सिक्का जम गया। उनकी अलौकिक वक्तृत्व-शक्ति, विचारशैली तथा मधुर वार्तालाप ने अमेरिका को अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

स्वामी विवेकानन्द का शिकागो के सर्वधर्म-सम्मेलन में भाषण देने के पूर्व, साम्राज्य-वाद के दूषित प्रचार के कारण, पाश्चात्य देशवासियों की धारणा थी कि भारत असभ्य मूर्तिपूजकों का देश है; किन्तु जब स्वामीजी ने साधारण हिन्दू-पद्धति के अनुसार अमेरिका के निवासियों को 'अमेरिका के मेरे प्यारे भाइयो और बहनो' कहकर संबोधित करते हुए भाषण आरम्भ किया तब दो मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट होती रही। परिणाम यह हुआ कि सम्मेलन के सदस्यों ने उनका भाषण बड़ी उत्सुकता और श्रद्धा के साथ सुना। स्वामीजी का यह कथन था कि हिन्दुओं के विचार से, भिन्न-भिन्न धर्म भिन्न-भिन्न नर-नारियों को रुचि तथा अवस्था के अनुसार बने हैं, जो सब एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं और कोई भी नहीं दिखा सकता कि हिन्दू-धर्मग्रन्थों में कहीं भी लिखा हुआ है कि केवल हिन्दूधर्मावलम्बी ही मुक्ति के अधिकारी हैं, अन्य कोई धर्मावलम्बी नहीं। स्वामीजी के इस विचार से उपस्थित जन-समुदाय में खलबली मच गई। समाचारपत्रों में उस भाषण की बड़ी प्रशंसा निकली। सारे अमेरिका में उनके भाषण की बड़ी प्रशंसा हुई। 'न्यूयार्क क्रिटिक' नामक पत्र ने लिखा था—'वे (स्वामी विवेकानन्द) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए महान वक्ता हैं। उनका सौम्य और चमत्कारपूर्ण मुखमंडल, उनके पीले और नारंगी वस्त्र, उनके सच्चे वचन और बहुमूल्य भाषण से कम चित्ताकर्षण करनेवाले न हैं।' 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था—'इसमें संदेह नहीं कि पार्लियामेंट आफ रिलिजन्स में स्वामी विवेकानन्द एक महान पुरुष हैं, उनका भाषण सुनकर हम सोचने लगे हैं कि ऐसी सांस्कृतिक जाति के लिए पादरियों को भेजना कैसी मूर्खता है ?'

अनेक नगरों में स्वामीजी के व्याख्यान हुए। वहाँ उनके अनेक शिष्य हुए। उनमें मैडम लुईसी (स्वामी अभयानन्द) तथा मिस्टर सण्डसवर्ग (स्वामी कृपानन्द) मुख्य थे।

अमेरिका से स्वामीजी ने अक्टूबर सन १८९५ में इंगलैण्ड की यात्रा की। वहाँ वे तीन मास तक रहे। वहाँ भी उनके व्याख्यानो की खूब धूम रही। वहाँ मिस मारगेट नोविल, जो पीछे भगिनी निवेदिता के नाम से विख्यात हुई, उनकी शिष्या हो गई। इसके अतिरिक्त, स्वामीजी के और भी दो अंग्रेज शिष्य हुए थे। उनमें से एक स्वर्गीय जे० जे० गोविन था। वह जहाँ स्वामीजी जाते थे, साथ जाता था। दूसरा कप्तान सेवियर था जिसने हिमालय के मायावती नामक स्थान में अद्वैताश्रम स्थापित करने में सहायता दी थी।

इस भाँति अमेरिका-इंगलैण्ड में वेदान्त की ध्वजा फहराकर स्वामीजी १६ दिसम्बर १८९६ ई० को भारत वापस आये। उनके साथ कतिपय पाश्चात्य स्त्री-पुरुष भी आये जो उनके शिष्य थे।

भारत में आकर भी वे निश्चिंत बैठे न रहे। १८९७ ई० के अकाल में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता में तल्लीन हो पड़े। फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। डाक्टर की सलाह से वे आबहवा बदलने के लिए इंगलैण्ड और वहाँ से अमेरिका गये। कालिफोर्निया में थोड़े दिन रहने पर उनका स्वास्थ्य सुधर गया। फिर वहीं वे उपदेश करने लग गये।

उन्होंने सानफ्रांसिस्को में 'वेदान्त-सोसाइटी' और एक 'शान्ति-आश्रम' स्थापित किया। न्यूयार्क में रहते समय उनको पेरिस से 'काँग्रेस आफ रिलजन्स' का निमन्त्रण मिला था जो सन् १६०० ई० में होनेवाली थी। वहाँ फ्रेंचभाषा में उन्होंने हिन्दू-दर्शन पर कई व्याख्यान दिये थे।

स्वामी विवेकानन्द वहाँ से भारतवर्ष लौट आये। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चुका था, फिर भी वे अपने स्वास्थ्य की जरा भी चिन्ता न करके निरन्तर कार्य करते ही रहे। १६०२ ई० की ४ जुलाई को वे सदा के लिए अखण्ड ज्योति में लीन हो गये।

स्वामी विवेकानन्द की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे प्रतिभावान योगी, तत्त्वदर्शी गुरु, नेता, भक्त, ज्ञानी, धर्मप्रचारक और एक महान राष्ट्रनिर्माता थे। उनमें श्रीशंकराचार्य की महती संगठन-शक्ति तथा भगवान बुद्ध के हृदय का विस्मयजनक सम्मिश्रण था। उनमें आश्चर्यजनक तेजस्विता थी। उन्होंने पाश्चात्य देशों के निवासियों में भारतीय धर्म का प्रचार कर और अनेकों शिष्य बनाकर भारत का सिर ऊँचा किया था। उनका कथन था कि पाश्चात्य देशों के रक्त में राजनीति की प्रधानता है और भारत के रक्त में धर्म की। इसे छोड़ देने से भारत विलुप्त हो जायगा। उन्होंने अपने गुरु की स्मृति में, देश के विभिन्न भागों में, 'सेवाश्रम' स्थापित कर 'प्राणिमात्र की सेवा ईश्वर की सच्ची पूजा है'—अपने इस कथन को चरितार्थ कर दिखाया।

स्वामी विवेकानन्द और वर्त्तमान शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द का समस्त पुरुषार्थ भारतीय राष्ट्र-निर्माण की ओर विशेष रूप से रहा। राष्ट्र निर्माण का प्रथम साधन राष्ट्रीय शिक्षा है। पर उस शिक्षा के अभाव में भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का दुष्परिणाम देखकर उनका हृदय विह्वल हो गया था। इस सम्बन्ध में मद्रास के अपने एक भाषण में उन्होंने कहा—'हमें धार्मिक और गार्हस्थ्य शिक्षा को प्रश्रय देना होगा। इस शिक्षा में, जो तुम प्राप्त कर रहे हो, कुछ अच्छी बातें हैं, किन्तु उसमें एक बहुत भारी बुराई है, और वह बुराई ऐसी है कि उससे सभी अच्छी बातें दब गई हैं। पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनानेवाली नहीं है चूँकि यह निषेधात्मक शिक्षा है। जिस शिक्षा में अभावात्मक दोष भरा हो, वह मृत्यु से भी बुरी है। हमें मनुष्य का जीवन बनाना, उनका चरित्र-गठन करना और उनके विचारों को एक-सा करना है। यदि तुमने पाँच विचार एक-से कर लिये और अपना जीवन तथा चरित्र-गठन कर लिया तो तुम उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो जो पुस्तकालय की पुस्तकों को रटकर शिक्षा दे सकता है। शिक्षा शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। विस्तृत विवेचन और ज्ञानदर्शक शब्दों का बड़ा संग्रह मस्तिष्क में कर लेना शिक्षा नहीं है। जिस पठन, मनन अथवा आचरण से हम अपनी इच्छा-शक्ति का निग्रह करके उसे योग्य मार्ग पर ला सकते हैं और उसे प्रत्यक्ष फलप्रद बना सकते हैं, उसे ही शिक्षा कहते हैं। समस्त देश की शिक्षा का धार्मिक और गार्हस्थ्य आदर्श होना चाहिए, और जहाँ तक हो सके, यह शिक्षा राष्ट्रीय पद्धति और राष्ट्रीय प्रणाली पर होनी चाहिए।'

सच्ची उपासना

स्वामी विवेकानन्द के जितने उपदेश और व्याख्यान हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि दीन-दुखियों और पीड़ितों की सहायता करना परम धर्म है। उपासना के संबन्ध में उनका कथन था—'सभी उपासना का पवित्र उद्देश्य यही है कि स्वयं पवित्र रहो और दूसरों की भलाई करो। जो दीन-दुखियों में तथा पीड़ितो में शिव को देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है। जो केवल मूर्त्ति में शिव को देखता है, उसकी उपासना प्रारम्भिक है। शिव उसीसे अधिक प्रसन्न होते हैं जिसने एक दीन-दुःखी में शिवरूप को देखकर, बिना उसके धर्म, जाति-पाँति का विचार किये उसकी सहायता और सेवा की है। निःस्वार्थ भाव ही तो धर्म का परीक्षण है। जिसका जितना निःस्वार्थ भाव है, वह उतना ही धर्मात्मा और शिव के निकट है—चाहे वह विद्वान हो या मूर्ख। स्वार्थी मनुष्य ने चाहे जितने मन्दिरों में देवदर्शन किया हो, चाहे जितने तीर्थ-स्थानों में भ्रमण किया हो, वह तब भी शिव से बहुत दूर है।'

लाहौर में भक्ति पर भाषण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—'वर्त्तमान समय में सबसे अच्छा धर्म यह है कि प्रत्येक मनुष्य बाजार में जाय और वहाँ अपनी शक्ति के अनुसार एक-दो, छः-सात, दस-बारह भूखे नारायण की तलाश करे। उन नारायण को सदैव स्मरण रखना चाहिए। हिन्दू-धर्म के अनुकूल जिसको दिया जाता है वह दाता से बड़ा है और उस थोड़े समय तक दान प्राप्त करनेवाला परमेश्वर है।'

धार्मिक विचार

स्वामी विवेकानन्द का कथन था कि वेदान्त वेद का ही निचोड़ है। वे वेद से परे वेदान्त को नहीं समझते थे। वेदों को वे अनादि मानते थे। द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत में परस्पर कुछ विरोध उन्हें नहीं जान पड़ता था। उनके विचार से अद्वैत द्वैत का प्रतिवादी नहीं है। द्वैत तीनों सीढ़ियों में केवल पहली सीढ़ी है। अतएव तीनों आपस में प्रतिवादी नहीं, बल्कि एक ही उद्देश्य को पूरा करते हैं। वेदान्त एक ऐसा दर्शन है जो मनुष्य को पूर्णतः नीति सिखलाता है। वेदान्त की शिक्षा न तो निराशावादी (Pessimistic) है और न आशावादी (Optimistic)। वेदान्त इन दोनों की ही शिक्षा देता है और जो पदार्थ जैसा है वह उसे वैसा ही बतलाता है। 'भक्ति-योग' नामक पुस्तक में उन्होंने लिखा है—'मनुष्य पुस्तकों के सहारे सच्ची आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता है। इसके लिए गुरु की आवश्यकता है।' स्वामीजी ने इस पुस्तक में गुरु और शिष्य में किन आवश्यक गुणों का प्रयोजन है, दर्शाया है। अवतार और मूर्तिपूजा भी उन्हें मान्य थी। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में उनका कथन था—'तुम सभी मूर्ति-पूजक हो, और मूर्त्ति-पूजा अच्छी चीज है। क्योंकि यह मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल है। इसके परे कौन जा सकता है? केवल पहुँचे हुए योगी-महात्मा हो। शेष सब मूर्तिपूजक हैं।' स्वामीजी कहा करते थे कि कभी किसी अन्य धर्मों के विश्वासों के प्रति विरोध न करना चाहिए। संसार में जितने धर्म हैं वे एक दूसरे के न तो विरुद्ध हैं, न शत्रु—एक ही अनन्त धर्म की बहुत-सी शकलें हैं। एक अनादि धर्म ही सदैव

स्थित रहेगा। यह धर्म अनेक देशों में अनेक ढंग से प्रकट हो रहा है। इसलिए हमें सब धर्मों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। किसी मत (धर्म) के द्वेषी होने की अपेक्षा समस्त धर्मों से हमारी असीम सहानुभूति होनी चाहिए।

सामाजिक विचार

स्वामी विवेकानन्द हिन्दू-जाति की वर्त्तमान बहुत-सी रीतियों में सुधार चाहते थे; पर पश्चिमी विचारों के आधार पर नहीं, बल्कि भारतीय वेद-शास्त्रों के आधार पर। उन्होंने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। विधवा-विवाह के प्रति उन्होंने खुल्लमखुल्ला न तो सहानुभूति दिखलाई है और न उसकी निन्दा की है। भोजन-सम्बन्धी छूआछूत के विषय में उनका सव्यङ्ग कथन था—'हमारे धर्म को रसोई-गृह में परिणत हो जाने का भय है। अब हममें से न कोई वेदान्ती है, न पौराणिक और न तांत्रिक। ठीक है—मत छुओ, हम अस्पृश्य हैं, हमारा धर्म रसोई-गृह है। हमारा परमेश्वर रसोई का बर्तन है और हमारा धर्म 'हमें मत छूओ, हम पवित्र हैं' में है।'

अछूत जातियों के प्रति स्वामीजी के हृदय में निरन्तर दया का स्रोत बहता रहा। उनका कथन था—'भारतवर्ष में विधर्मियों की विजय, पददलित दीनों के लिए मुक्ति थी। यही कारण है कि हमारी जाति में से पाँचवाँ हिस्सा विधर्मी हो गया है। जाति-पाँति के विषय में वाद-विवाद नहीं होना चाहिए। इसका निर्णय ऊँचों को नीचे गिराने से नहीं होगा, बल्कि नीचों को ऊपर उठाने से होगा। एक ओर आदर्श ब्राह्मण है तो दूसरी ओर आदर्श चाण्डाल है। इसलिए चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक को उठाने का कार्य होना चाहिए।'

नवीन भारत के प्रति सन्देश

स्वामीजी के उपदेश के अक्षर-अक्षर में नवीन भारत के प्रति सन्देश है,—भारतीय राष्ट्र निर्माण की प्रबल आकांक्षा है। उन्होंने नवीन भारत से यही प्रार्थना की है कि 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'—उठो, जागो और अपनी मातृभूमि की सेवा करो। सेवा नीचभाव से न करो, बल्कि उच्चभाव से करो। मनुष्यमात्र की सेवा करो; दुखियों की सेवा और सहायता करके ही परमपिता परमेश्वर की कृपा प्राप्त करो। मनुष्यमात्र को विचार-स्वातन्त्र्य प्रदान करो। किसी के विचार और कार्य पर रोक और छाप मत लगाओ। स्मरण रखो कि जैसा हमको स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने और कार्य करने का अधिकार है वैसा ही दूसरों को भी है।

उनका दूसरा सन्देश नवीन भारत के प्रति यह है कि अपने घोंसलों में ही बैठे मत रहो। कूपमण्डूक मत बने रहो। बाहर जाकर देखो कि किस भाँति अन्य जातियाँ उन्नति के निमित्त आगे बढ़ रही हैं।

उनका तीसरा सन्देश है कि धूप न देखो, बादल न देखो, भूख न देखो, प्यास न देखो—अधिक क्या, यह देह भी अपनी मत समझो। इसे परमेश्वर के कार्य में अर्पण करो। पीछे मत देखो। हमारे पीछे-पीछे कोई आता है या नहीं—यह विचार भी न लाओ। बराबर आगे बढ़ो।

उनका चौथा सन्देश है कि दुर्बलों की रक्षा करो, बलवानों का अत्याचार उनपर मत होने दो। न्याय और सत्य की सदैव शरण ग्रहण करो। अज्ञानियों के हृदय में ज्ञान की ज्योति का प्रसार करो; मूढ़ जनों को चेतावनी दो कि वे उस महाप्रभु की मंगलमय सृष्टि में अपने स्वत्वों को पहचानें; अपने अधिकारों को नष्ट न होने दें। अपने कर्त्तव्य-पालन में दृढ़ रहो। जीवन-संग्राम में सँभल-सँभलकर अपना डग बढ़ाओ। बस, धर्म का यही सारतत्त्व है। इस सारतत्त्व को भूल जाने से ही तो हमारी अधोगति हुई है। आत्मरक्षा तथा देशरक्षा से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है।

पाँचवें सन्देश में वे कहते हैं कि धैर्य न छोड़ो। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं—भगवान कृष्ण का यह वाक्य स्मरण करो और काम के लिए कमर कसो।

(ख) स्वामी रामतीर्थ

रामतीर्थ गोस्वामी का जन्म, पंजाब के एक गोस्वामी ब्राह्मण-कुल में, सन् १८७३ ई० की दीवाली के दिन हुआ। पढ़ने-लिखने में उनकी विलक्षण बुद्धि और अप्रतिम मेधा देखकर सभी चकित हो जाते। बी० ए० की परीक्षा में सर्वप्रथम आने पर उन्हें साठ रुपये की छात्रवृत्ति मिलने लगी। गणित में एम० ए० करने के बाद वे मिशन कालेज, लाहौर में प्रोफेसर हुए।

इन दिनों गोसाईंजी के हृदय में कृष्ण-भक्ति का स्रोत बड़े वेग से उमड़ रहा था। उन्होंने गीता का विधिवत् अनुशीलन किया। उनपर कृष्ण-प्रेम का नशा छाने लगा। रावी के किनारे सायंकाल घंटों बैठकर प्रेम में वे तन्मय हो जाते। होश में आते ही 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर रोने-तड़पने लगते। छुट्टियों में मथुरा-वृन्दावन पहुँचकर कृष्णभक्ति का अमृत पीते। उन्हें उपनिषद्-वेदान्त आदि ग्रन्थों के अनुशीलन के साथ-साथ उत्तराखण्ड में जाकर एकान्त-सेवन का चसका लग गया। इसके बाद उन्होंने सूफी-मत का भी गहरा अध्ययन किया। अजमेर, शिमला, लाहौर, अमृतसर, पेशावर, स्यालकोट आदि स्थानों की सनातनधर्म-सभाओं में जो उनके व्याख्यान हुए, उनमें उन्होंने प्रेम और ईश्वर-भक्ति की स्रोतस्विनी प्रवाहित कर श्रोताओं को निमग्न कर दिया था। व्याख्यान देते समय उनके अनुरागपूर्ण नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती थी। लाहौर में 'इश्के-इलाही' (भगवत्प्रेम) पर उनका जो भाषण हुआ, उसमें प्रेम के आवेश में वे इतना रोये कि हिचकियाँ आने लगीं। पेशावर में जो उनका 'तृप्ति' पर भाषण हुआ, उसमें तो वे इतने विह्वल हुए कि बहुत देर तक उनके मुँह से शब्द ही न निकल सका। ऐसे ही भाषणों को सुनकर श्रीमन्नारायण स्वामी का मन-मधुकर भी गोसाईंजी के पादपद्मों में लुब्ध हो गया।

इन्हीं दिनों द्वारका-मठ के अधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराज लाहौर पधारे। उनके सत्संग का गोसाईंजी के पवित्र अन्तःकरण पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका भक्ति-विगलित चित्त ज्ञान की अग्नि में तपकर चमकने लगा। उनकी कृष्ण-दर्शन की लालसा आत्म-साक्षात्कार में परिणत हो गई। गर्मियों की छुट्टियों में प्रतिवर्ष मथुरा-वृन्दावन की यात्रा

करने के स्थान में अब वे उत्तराखण्ड के वन-प्रान्तर और एकान्त गिरि-गुहा का निवास ढूँढ़ने लगे। अब वे आत्मविचार, आत्मचिन्तन, एवं आत्मनिदिध्यासन में निमग्न रहने लगे। अतएव ईसवी सन १८९८ की गर्मी की छुट्टियों में, एकान्त-सेवन के विचार से, गोसाईंजी हरिद्वार से हृषीकेश होते हुए तपोवन पधारे। हृषीकेश से वनगमन करते समय गोसाईंजी के पास जो कुछ पैसे थे वे सब उन्होंने साधु-महात्माओं की सेवा में अर्पण कर दिये और अकेले, उपनिषदादि ग्रंथ साथ लिये, ईश्वर के भरोसे, तपोवन की ओर चल दिये। वहाँ वे एकाग्र चित्त होकर आत्म-साक्षात्कार में लीन हो गये।

अब रामतीर्थ का नर-नारियों के कोलाहलपूर्ण नगर में रहना असंभव हो गया। जब वैराग्य का स्रोत किसी तरह उनके भीतर न समा सका तब उन्होंने गंगातट पर संन्यास ले लिया और गोसाईं रामतीर्थ से स्वामी रामतीर्थ हो गये। १९०० ई० के जुलाई मास में नौकरी छोड़ दी और स्त्री-पुत्र के साथ वे वन को सिधारे। जो कुछ पैसे पास थे उन्हें गंगा में फेंकवा दिया और सबको एकान्त स्थान में अलग-अलग बैठकर, ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करके, निश्चिन्त होकर, 'अहंग्रह-उपासना' करने का आदेश दिया। रामतीर्थ के इस अटूट ईश्वर-विश्वास से लोग बड़े विस्मित हुए। वहाँ रहकर रामतीर्थ की लेखनी से जो धारा प्रवाहित हुई, वह 'वनवास' के नाम से छपी।[1] रामतीर्थ अब 'राम बादशाह' बन गये। अब वे सदा उन्मुक्त होकर 'ओम्-ओम्' गुनगुनाते रहते और अपने-आपको ईश्वर में खोये रहते। जो भी उनकी मस्ती देखता, मुग्ध हो जाता।

१९०२ ई० की जुलाई में महाराज टिहरी (गढ़वाल) ने किसी अंग्रेजी समाचारपत्र में यह समाचार पढ़ा कि 'शिकागो की तरह जापान में भी संसार भर के धर्मों का एक धर्म-महासम्मेलन होगा, जिसमें भारतवर्ष के भी सब धर्मों के विद्वानों को आमंत्रित किया गया है।' उन्होंने स्वामीजी से जापान जाने की प्रार्थना की। उस प्रार्थना पर उन्होंने जापान के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में हांगकांग आदि बन्दरों में ठहरते, व्याख्यान देते और लोगों को मोहित करते हुए अक्टूबर में वे जापान पहुँचे। इस जलयात्रा के समय उनके चित्त की जो दशा थी उसका आभास उनकी निम्नलिखित कविता से मिलता है—

यह सैर क्या है अजब अनोखा कि राम मुझमें, मैं राम में हूँ।
बग़ैर सूरत अजब है जल्वा कि राम मुझमें, मैं राम में हूँ॥
ज़मान आईना राम का है, हर एक सूरत से है वह पैदा।
जो चश्मे-हक़बीं[2] खुली तो देखा कि राम मुझमें, मैं राम में हूँ॥
बसा है दिल में मेरे वह दिलबर, है आईना में ख़ुद आईनागर।
अजब तहय्यर हुआ है कैसा ? कि राम मुझमें, मैं राम में हूँ॥
मुक़ाम पूछो तो लामकाँ था, न राम ही था, न मैं वहाँ था।
लिया जो करवट तो होश आया कि राम मुझमें, मैं राम में हूँ॥

---

१ स्वामी रामतीर्थ के लेख और आदेश

२ चश्मे-हक़बीं = तत्त्वदृष्टि का नेत्र। आईनागर = ईश्वर

जापान पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि किसी ने धर्म-सम्मेलन-सम्बन्धी झूठमूठ समाचार हिन्दुस्तान के अखबारों में छपवा दिया था। फिर भी जापान में स्वामीजी के अनेक भाषण हुए। टोकियो के हाई कमर्शल कालेज में 'सफलता के रहस्य' पर उनका जो अत्यन्त युक्तिपूर्ण भाषण हुआ उससे जापानी विद्यार्थियों और अध्यापकों के हृदय पर विलक्षण प्रभाव पड़ा।

वहाँ से अमेरिका पहुँचकर, कुछ दिनों तक, स्वामी रामतीर्थ कुछ अध्यापकों और छात्रों के साथ घूमते और व्याख्यान देते रहे। बाद, कालिफोर्निया में डाक्टर एलबर्ट हिल्लर के साथ रहे। डाक्टर महोदय ने डेढ़ वर्ष तक बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें अपने पास रखा। उनसे नित्यप्रति सत्संग का लाभ उठाने के लिए 'Hermatic Brotherhood' (साधु का भाईचारा) नाम की एक संस्था स्थापित की गई। इसमें अधिकतर स्वामीजी के उपदेश होते थे। इन उपदेशों का इतना प्रभाव पड़ा कि वहाँ के कई समाचार-पत्रों ने उनका चित्र छापकर, Living Christ has come to America (जीवित ईसा अमेरिका आये हैं) शीर्षक देकर, अपने लेखों में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। अमेरिका में स्वामीजी की इतनी ख्याति हुई कि तत्कालीन अमेरिका के राष्ट्रपति ने भी उनके दर्शन किये।

सेंट लुईस (St Louis) की धार्मिक कान्फरेन्स में उनके भाषण के सम्बन्ध में वहाँ के एक पत्र ने लिखा—'इस समारोह में प्रफुल्ल मुखमंडल केवल स्वामी रामतीर्थ का था, जो एक भारतीय तत्त्ववेत्ता के नाते हमें ज्ञान सिखाने आया है।'

रामतीर्थ के दर्शनों में इतना प्रभाव था कि अमेरिका में एक बार एक नास्तिक-समाज (Atheist Society) की एक विदुषी महिला स्वामीजी के पास वाद-विवाद करने आई। उस समय वे समाधिस्थ थे। जबतक वे समाधि की अवस्था में थे, नास्तिक महिला चुपचाप बैठी उनकी ओर देखती रही। समाधि टूटने पर जब उन्होंने उसकी ओर देखकर अपना अभिप्राय प्रकट करने का संकेत किया तब वह उस नीरवता को भंग करती हुई बोली—'माई लार्ड! मैं नास्तिक नहीं हूँ। आपके दर्शन से मेरे सब सन्देह दूर हो गये।'

श्रीमती वेलमैन अमेरिका में एक अत्यन्त प्रेमपूर्ण महिला थीं। वे राम-बादशाह के 'ओम्-ओम्' की हृदय-हारिणी ध्वनि सुनकर ऐसी पुलकित हुईं कि अपने पश्चिमीय वेश-भूषा उतारकर संन्यासिनी बन गईं, और भारतीय संन्यासियों की तरह बिना पैसा-कौड़ी पास रखे ही नगर-नगर विचरण करने लगीं। वे भारतवर्ष भी आईं और रामतीर्थ की जन्मभूमि मुरारीवाला को निरखकर हर्षातिरेक से गद्गद हो गईं।

उन्होंने अमेरिका में लाखों पवित्र हृदयों में वेदान्त का भाव भरकर और जिस कार्य को स्वामी विवेकानन्द ने कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ किया था उसको सुदृढ़ बनाकर जिब्राल्टर के मार्ग से मिस्र के लिए प्रस्थान किया। इन दो सन्तों के वेदान्त-प्रचार का प्रभाव यह हुआ कि अमेरिका की जनता भारत को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी।

मिस्र पहुँचकर स्वामी रामतीर्थ ने एक मसजिद में फारसी भाषा में एक जादू-भरा व्याख्यान दिया, जिसका श्रोताओं पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अन्य देशों में

वेदान्त का सिंहनाद करते हुए स्वामी रामतीर्थ प्रायः ढाई वर्ष बाद ८ दिसम्बर, १६०४ ई० में बंबई में उतरे। सब सम्प्रदायों के समाचार-पत्रों ने उनका अत्यन्त प्रेमपूर्ण शब्दों में स्वागत किया। उनके उदार विचारों के कारण उनके स्वागत में आर्यसमाजी, सनातनधर्मी, ब्रह्मसमाजी, सिख और ईसाई-मुसलमान सभी सम्मिलित थे।

अमेरिका से वापस आने पर जब स्वामी रामतीर्थ मथुरा पहुंचे; तब उनके कुछ भक्तों ने उनको परामर्श दिया कि अब आप किसी नये नाम से किसी संस्था की स्थापना कीजिए। उस समय उन्नतमना राम-बादशाह ने जिन अनमोल वचनों का उच्चारण किया, उन्हें प्रत्येक देशभक्त भारतवासी को अपने अन्तःकरण में अंकित कर लेना चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया—

"भारतवर्ष में जितनी सभा-समितियाँ हैं वे सब राम की हैं, राम उनमें काम करेगा। ईसाई, आर्य, सिख, हिन्दू, पारसी, मुसलमान और वे सब लोग जिनके अंग—हड्डियाँ, रक्त और मस्तिष्क—मेरे इष्टदेव भारत-देवता के अन्न-जल से बने हैं, वे मेरे भाई हैं—मेरे अपने हैं।

"जाओ, उनसे कह दो कि राम उनका है। राम उन सबको अपनी छाती से लगाता है और किसी को अपने प्रेमालिंगन से पृथक् नहीं करता।

"मैं संसार पर प्रेम की वर्षा करूँगा और संसार को आनन्द की धारा में नहलाऊँगा। यदि कोई मुझसे विरोध प्रकट करेगा, तो मैं उसका स्वागत करूँगा।

"क्योंकि मैं प्रेम की वर्षा करता हूँ, इसलिए समस्त सभा-समितियाँ मेरी हैं, प्रत्येक शक्ति मेरी शक्ति है, चाहे वह बड़ी हो या छोटी।"

स्वामी रामतीर्थ ने एक स्थान पर लिखा है—

"मैं शाहंशाह राम हूँ। मेरा सिंहासन तुम्हारे हृदय में है। जब मैंने वेदों का उपदेश दिया, जब कुरुक्षेत्र में गीता सुनाई, जब मक्का और यरुशलम में अपने सन्देश सुनाये, तब लोगों ने मुझे गलत समझा था। अब मैं अपनी आवाज फिर ऊँची करता हूँ। मेरी आवाज तुम्हारी आवाज है—तत्त्वमसि, तत्त्वमसि, तत्त्वमसि।"

१६०६ ई० के १२ अक्टूबर को जब स्वामीजी के प्रधान शिष्य श्रीनारायण स्वामी उनके आज्ञानुसार एकान्तवास के लिए बमरोगी-गुफा को जाने लगे तब स्वामीजी ने उनको अनेक सदुपदेश इस शैली से दिये जिससे प्रतीत होता था, मानों वे उनको अपना अन्तिम आदेश सुना रहे हैं। रामतीर्थ के उन वियोग-व्यथा-व्यंजक वाक्यों को सुनकर श्रीनारायण स्वामी अश्रुपात करने लगे। स्वामीजी ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'बेटा, घबराओ नहीं। गुफा में एकान्त रहकर अभ्यास और अध्ययन करो, नित्य आत्मचिन्तन करते हुए अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख करो। राम के पार्थिव शरीर का प्रेम छोड़ दो। राम के दिव्य रूप में वास करो। सब प्रकार से वेदान्त का स्वरूप बनो। किसी का सहारा मत लो, अपने पैरों आप खड़े होना सीखो।'

इस प्रकार अपना अन्तिम उपदेश देकर स्वामी रामतीर्थ ने श्रीनारायण स्वामी को विदा किया। उसके पाँचवें दिन अर्थात् १७ अक्टूबर १९०६ ई० तदनुसार कार्तिक-कृष्ण

अमावास्या—दीपमालिका के दिन प्रातःकाल से ही उनकी मस्ती का कुछ और ही रंग-ढंग दीखने लगा—केवल 'ओम्-ओम्' की धुन लग रही थी। वे मध्याह्न के समय, गंगा में डुबकी लगाने उतरे और उसकी प्रखर धारा में उनका शरीर बह चला। फिर भी उनके मुख से 'ओम्-ओम्' की धुन चल रही थी। दीवाली को ही वे भूमिष्ठ हुए थे और दीवाली को ही वे अपने प्रभु के चरणों में लौट गये।

स्वामी रामतीर्थ का सिद्धान्त था कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वे नियतिवाद—'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्' के कायल नहीं थे। उनके कथनानुसार कर्म अथवा कर्मवाद का वास्तविक अर्थ साहसिक क्रिया, शक्ति तथा जीवन है। कर्मवाद का सिद्धान्त अकर्मण्यता तथा भाग्य पर निर्भरता नहीं सिखलाता। यह तो शक्ति, जीवन और संघर्ष का उपदेश देता है।

वेदान्त में दासता की भावना लेशमात्र भी नहीं है। बौद्धधर्म में बुद्ध के प्रति, इस्लाम में मुहम्मद के प्रति, पारसी धर्म में जरथुस्त्र के प्रति तथा ईसाई धर्म में ईसा के प्रति दासता की भावना मौजूद है; किन्तु वेदान्त दासता की भावना से सर्वथा परे है। इसका आधार सत्य है, जो समानरूप से मनुष्यमात्र के हृदय की वस्तु है। जो चाहे, इसका प्रयोग कर सकता है। वेदान्त सिखलाता है कि चरित्रवान बनो, कर्त्तव्य-पालन करो, अपने शरीर के प्रति ममता और आसक्ति मत रखो। निरन्तर अनुभव करो कि तुम इस हाड़-मांस के भौतिक शरीर से परे हो। सर्वदा अपने को उसी सच्चिदानन्द का स्वरूप समझो। 'ओम्' का निरन्तर उच्चारण करो और अनुभव करो कि वही एकमात्र सत्य है।

स्वामी रामतीर्थ ने किसी मत अथवा मठ की स्थापना नहीं की। जिस काम का स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में श्रीगणेश किया था, उसको अपने जीवन के अल्पकाल में सुदृढ़ करने में वे सफल हुए। हृषीकेश से डेढ़ मील पर भावुक भक्तों ने 'रामाश्रम' नामक एक वाचनालय खोल रखा है जो आज भी स्वामीजी के हिमालय के प्रथम प्रवास की याद दिलाता है।*

---

*स्वामीजी के अनुभवसिद्ध उपदेश तथा व्याख्यान पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। उनकी भाषा सुबोध और सरल है। स्वामी नारायण के उद्योग से उनके लेख, भाषण आदि अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू में रामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग, रामतीर्थनगर, लखनऊ से सुलभ मूल्य पर प्रकाशित हुए हैं। वेदान्त के तत्त्व को समझने के लिए संसार के साहित्य में इससे सुगम और हृदयग्राही रचना शायद ही मिले।

सातवाँ खण्ड

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृति

'संस्कृति' शब्द का अर्थ है मन की, हृदय की वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। देश-देश के आचार-विचार भिन्न रहने से सुधार-संबन्धी भावना भी भिन्न होती है। अतएव अलग-अलग देशों की संस्कृति में भिन्नता पाई जाती है। किन्तु यदि इस विषय की छानबीन की जाय तो ज्ञात होगा कि संस्कृति के मूलतत्त्व सब देशों में प्रायः एक-से रहते हैं। देश-काल के अनुसार बाह्य स्वरूप में अंतर दीख पड़ता है जो स्वाभाविक है। वस्तुतः संस्कृति आन्तरिक गुणों का समूह है। वह एक प्रेरक शक्ति है। संस्कृत होने की क्षमता सबमें है; यह किसी विशेष जाति या वर्ग में सीमित नहीं है। किसी जाति के मनुष्य ऊँची संस्कृति के एकाधिकारी नहीं हो सकते। एक जाति, रंग या देश के मनुष्य जितने संस्कृत हुए हैं, दूसरी जाति, रंग या देश के मनुष्यों में उतनी ही संस्कृत होने की क्षमता है। हाँ, इसके लिए उन्हें अनुकूल अवसर या परिस्थिति मिलनी चाहिए। इसके अभाव में वे मध्यस्तर पर रह सकते हैं। किन्तु इस दशा में यह निष्कर्ष निकालना भ्रमपूर्ण और अज्ञानमूलक है कि एक जाति स्वभावतः ऊँची संस्कृतिवाली है और दूसरी संस्कार-विहीन। सुविधा मिलने पर प्रत्येक जाति संस्कृति में दूसरी जाति से प्रतियोगिता कर सकती है। इस प्रकार संस्कृति के ऊँचे-नीचे स्तर हो सकते हैं और होते भी हैं। किन्तु धर्म या देश के आधार पर संस्कृति के भेद स्थायी नहीं हो सकते। निदान, हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति आदि भेद करना या भारतीय संस्कृति या चीनी संस्कृति आदि की बातें उठाना ठीक नहीं है। हाँ, उसके बजाय यदि यह कहा जाय कि मानव-संस्कृति के विकास में अमुक जाति के या धर्म के अनुयायियों ने इस परिमाण तक भाग लिया है और उनकी अमुक-अमुक विशेषताएँ रहीं एवं उन्होंने मानवता को ऊँचा उठाने में इन-इन सिद्धान्तों या आदर्शों की खोज की और उनके अनुसार यहाँ तक व्यवहार किया तो वह कुछ असंगत नहीं कहा जायगा।

संस्कृति तथा सभ्यता में भेद—भिन्न-भिन्न देशों में संस्कृति की भावना भिन्न-भिन्न रही है। साधारणतः लोग संस्कृति का प्रयोग सभ्यता के अर्थ में करते हैं। इङ्गलैंड

में आज से सौ वर्ष पूर्व संस्कृति का अर्थ पुस्तकों, चित्रों, संगीत और नृत्य का ज्ञान एवं उनकी व्याख्या करने का कला-कौशल समझा जाता था। सभ्यता और संस्कृति सर्वथा सम्बद्ध होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न है। संस्कृति आभ्यन्तरिक होती है और सभ्यता वाह्य तत्त्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है; परन्तु सभ्यता का सद्यः अनुकरण किया जा सकता है। दरअसल, संस्कृति का मूलसूत्र न धर्म है, न भाषा और न भौगोलिक खण्ड। यह सूत्र तो है जीवन-यात्रा के वास्तविक उपकरण, सामाजिक व्यवस्था और इन सबकी सहायता से बना मानसलोक। जीवन के भौतिक उपादान अक्सर बदलते रहते हैं। और, उन्हीं के अनुसार समाज की व्यवस्था भी बदलती रहती है तथा बदलता रहता है जनता का मानस-लोक। कोई भी संस्कृति अपरिवर्त्तनीय नहीं होती, रूपान्तर बराबर होता रहता है। ऋग्वेदकालीन संस्कृति, अशोककालीन संस्कृति से भिन्न थी। मुस्लिम और ईसाई संस्कृति ने कुछ और ही रंग पकड़ा। अतएव अनादिकाल से भारत में अनेक जाति, सभ्यता, धर्म एवं संस्कृति का अबाध प्रवाह रहा। भारत ने, समय और आवश्यकता के अनुसार विविध सभ्यताओं एवं संस्कृतियों से समझौता किया तथा आवश्यकतानुसार आदान प्रदान भी। इसी कारण बेबिलोनिया, सिरिया, मिस्र तथा यूनान की सभ्यता का लोप नहीं हुआ। भारत में, बीच-बीच में, बड़े-बड़े सम्राटों का उत्थान-पतन हुआ। अन्धकारमय युग आया और कितनी ही राजनीतिक घटनाएँ घटीं, जिनमें अधिकांश का नामोनिशान अब नहीं रहा। फिर भी भारतीय संस्कृति की धारा कभी सूखी नहीं और उसने समय-समय पर हुए उत्थान पतन के बावजूद अपनी अनेक विशेषताओं को सुरक्षित रखा।

वर्त्तमानकाल में पाश्चात्य संस्कृति के प्रथम दर्शन ने भारत को मुग्ध और मोहान्ध कर दिया। कुछ शताब्दियों के सम्पर्क के फलस्वरूप पाश्चात्य जगत् की अनेक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रेरणाएँ भारतीय संस्कृति में आकर बद्धमूल हो गई। भारत की प्राचीन संस्कृति ने इस नवीन संस्कृति के साथ काफी दूरतक विनिमय-संबन्ध स्थापित किया। इस विनिमय के स्वरूप, राष्ट्रवाद और विधानवाद के पश्चात् सिद्धान्तवाद, भारत की उर्वर भूमि में आया और सुपोषित होकर अंकुरित हो गया। इन दोनों संस्कृतियों का भारतभूमि में सम्मेलन हुआ और समन्वय की प्रयोगशाला में फलतः नवीन संस्कृति की रूपरेखा बनी। कहीं पुरानी बातों के मूलरूप को सुरक्षित रखकर भी समझौता किया गया और कहीं नवीन बातों को बिल्कुल आत्मसात् कर लिया गया। भारतीय संस्कृति की यह सहिष्णुता और समन्वय-शक्ति उसकी एक बड़ी विशेषता है।

"आर्य-संस्कृति की यदि कोई विशेषता कही जा सकती है तो यही कि उसने स्वार्थ-सिद्धि की अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा और स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ पर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्ति को समाज में, समष्टि में और भगवान,में लीन होने का उपदेश दिया है एवं मार्ग भी बताया है। जो मार्ग, जो विधि, जो क्रिया हमें भगवान् की तरफ ले जाती है वह हिन्दू-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, सज्जन-संस्कृति एवं सुसंस्कृति है। जो हमें उससे विमुख बनाती है वह अहिन्दू, अनार्य, दुर्जन-संस्कृति और कुसंस्कृति है*।"

---

* पं० हरिभाऊ उपाध्याय

मुण्डक-उपनिषद् के निम्नलिखित मंत्र में वैदिक आर्य के सभी धार्मिक आदर्शों का संक्षेप में समावेश किया गया है—

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।। ३।१।५

अर्थात्—सबके शरीर के भीतर, हृदय में विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, जिनको सब प्रकार के दोषों से रहित हुए प्रयत्नशील साधक ही जान सकते हैं; सदैव सत्य-भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थ-त्याग तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थज्ञान-द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। इनसे रहित होकर जो भोगों में आसक्त हैं, भोगों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के मिथ्या भाषण करते हैं और आसक्तिवश नियमपूर्वक अपने वीर्य की रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वार्थपरायण अविवेकी मनुष्य परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकते; क्योंकि वे उनको चाहते ही नहीं।

अतएव भारतीय संस्कृति का ध्येय मनुष्य का चरम लक्ष्य बताकर उसे प्राप्त करने का उपाय और मार्ग प्रदर्शित करना है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मशक्ति का विकास इस लक्ष्य के साधन के मार्ग हैं। अतः जिस संस्कृति में इनके विकास का जितना आधिक्य होगा वह उतनी ही ऊँची मानी जायगी। इस कसौटी पर कसने से भारतीय संस्कृति बिल्कुल ठीक उतरेगी।

प्राचीन भारत में शारीरिक, मानसिक तथा आत्मशक्ति का सामंजस्यपूर्ण विकास ही मानव-जीवन का ध्येय माना गया था। शुक्ल-यजुर्वेद के अन्तर्गत विख्यात ईशावास्योपनिषद् के प्रथम दो मंत्रों में इन शक्तियों के विकास का आदेश दिया गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिवीषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

अर्थात्—अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी चराचरात्मक जगत् देखने-सुनने में आता है, सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वकल्याणस्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है; सदा उन्हीं से परिपूर्ण है। इसका कोई भी अंश परमेश्वर से रहित नहीं है, ऐसा समझकर ईश्वर को निरन्तर अपने पास समझते हुए, सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए, इस जगत् में केवल कर्तव्यपालन के लिए ही विषयों का यथाविध उपयोग करो और सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करो। किसी के धन का लोभ न करो। कर्म करते हुए कर्मों में लिप्त न होना ही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग कर्मबन्धन से मुक्त होने का नहीं।

इस प्रकार इन दो मंत्रों से स्पष्ट है कि भारतीय सभ्यता के उष:काल में ही शारीरिक, मानसिक तथा आत्म-शक्ति के विकास पर जोर दिया गया है। इन आदेशों के अनुसार कार्य करने के परिणामस्वरूप साधक में स्वभावत: इन तीनों शक्तियों का विकास होगा। आदेश दिया गया है कि कर्म में लिप्त हुए बिना सौ वर्षों तक जीने का प्रयत्न करो, और किसी के धन की ओर लालच न करो। जो कुछ तुम्हें भगवान ने दिया है उस पर संतोष करो। सौ वर्षों का जीवन शारीरिक विकास तथा मानसिक शान्ति-द्वारा ही संभव है और भगवान् की उपस्थिति हर जगह समझने तथा निर्लिप्त रहने से ही आत्मोन्नति होगी।

भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है मानव की आध्यात्मिक उन्नति। भारतीय संस्कृति मनुष्य का चरम लक्ष्य बताकर उसे प्राप्त करने का उपाय और मार्ग प्रदर्शित करती है। सुकर्म ही आत्मा एवं मन को पवित्र तथा निर्मल बनाने का मुख्य साधन है। जन्म-मरण का बन्धन ही जीवात्मा को परमानन्द प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। यह अनन्त एवं अक्षय सुख मोक्ष ही है। प्रत्येक जीवात्मा इसे प्राप्त कर सकती है। जीवन्मुक्त महापुरुष ही मोक्ष में शाश्वत् शान्ति और परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए भारत के ऋषियों ने शारीरिक, मानसिक तथा आत्मोन्नति को ही इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन बतलाया है।

अतएव प्राचीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास के लिए ऐसा नियम और इस प्रकार का जीवन-क्रम बनाया गया था जिसमें शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक तथा आत्म-विकास में भी बाधा न पड़े। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को पुष्ट करने के लिए व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ब्रह्मचर्य आदि का विधान किया गया है। ये साधन शारीरिक उन्नति के साथ-साथ चंचल चित्तवृत्ति का निरोध कर मनुष्य को एकाग्र बनाते हैं, जो आत्मोन्नति में सहायता देते हैं। प्राणायाम फेफड़ों को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्ति प्रदान करता है जिससे मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिलती है। इस प्रकार प्राचीन भारत ने शारीरिक शक्ति के विकास की एक ऐसी योजना बनाई थी जिससे मानसिक और आत्म-विकास में भी स्वत: काफी सहायता मिल सकती है। शारीरिक विकास की ऐसी व्यवस्था संसार के अन्य किसी देश की संस्कृति में नहीं पाई जाती। यह भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता है।

जबतक आत्मा को नहीं समझा जाता तबतक ज्ञान अधूरा ही रहता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा को समझकर उसे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव-जीवन का एकमात्र ध्येय है। किस प्रकार इस हाड़-मांस के पुतले में हमलोग समा गये और जब निकलेंगे तब कहाँ जायँगे, हम कौन हैं, आदि समस्याओं का समाधान आवश्यक है। वर्त्तमान युग के भारतीय सन्त महर्षि रमण ने मुमुक्षु को 'मैं कौन हूँ ?' इस खोज में लगने का उपदेश दिया है। इस समस्या को समझ लेने पर प्राणिमात्र में कोई भेद नहीं रह जाता; किसी से द्रोह करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। ईशावास्योपनिषद् के मंत्र ६-७ में कहा है—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थात्—जो मनुष्य प्राणिमात्र को सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मा में देखता है वह सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्मा को प्राणिमात्र में देखता है, वह कैसे किसी से घृणा या द्वेष कर सकता है ! वह प्राणिमात्र में एक तत्त्व—परमात्मा—को देखता है। उसे सर्वत्र परमात्मा के दर्शन होते रहते हैं। इस कारण वह इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारों की छाया भी कहीं उसके चित्त में नहीं रह जाती। अतएव परमात्मा को जीवमात्र में व्याप्त अनुभव करना मनुष्य-जीवन का ध्येय है।

उपर्युक्त भाव अज्ञात रूप से भारत के वातावरण में आज भी व्याप्त है। अपढ़ को भा विना मानी-मतलब समझे आज हम 'प्यारे मन की गठरी खोल; उसमें लाल भरे अनमोल' आदि वाक्यों को गाते-गुनगुनाते पाते हैं। कबीर, दादू-सदृश भारत के अपढ़ सन्तों के वाक्यों में भी इस भाव का प्रचुर रूप में आभास मिलता है। अतएव भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा को समझकर जीवन-मरण के बन्धन से उसे मुक्त करना ही मानव-जीवन का एकमात्र ध्येय है। यह भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है।

ससार की सभ्यता के उषःकाल में मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने यह ज्ञान प्राप्त किया कि सत्य और ऋत (जीवन में सुव्यवस्था) ही इस सृष्टि के आदि उपादान-कारण हैं। यह पृथ्वी सत्य पर ही स्थिर है। तभी से सत्याचरण का भाव मानो इस देश के वातावरण में फैल गया। ऐतिहासिक युग में मेगास्थनीज ने भारतीयों के सच्चरित्र और सदाचरण की प्रशंसा में जो वाक्य कहे हैं उन्हें मुगलकालीन अंग्रेज यात्रियों ने भी दोहराया है।

भारत मे आस्तिकवाद, नास्तिकवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद-प्रभृति विभिन्न मत-मतान्तरों के लिए स्थान रहा है। यहाँ विचार-स्वतंत्रता तो इतनी रही है कि महाभारत के वन-पर्व १३१। ११ में कहा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत् ।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥

अर्थात्—जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचावे, दूसरे धर्म से रगड़ पैदा करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुमार्ग है। धर्म तो वह है जो धर्मविरोधी नहीं होता है।

अतएव भारत ने चरित्रबल को धर्म की कसौटी समझा है। इस कसौटी पर जो सफल उतरे उन्हें भारत आदर और गौरव की दृष्टि से देखता आया है, भले ही उनकी विचारधारा सर्वमान्य और सर्वप्रिय न हो। प्राचीन भारत के इतिहास के पन्ने हमें धार्मिक विचार-स्वतंत्रता के कारण किसी के पीड़ित अथवा अनादृत होने का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता। इस देश में अपने चरित्रबल के कारण ईश्वर को न माननेवाले महापुरुष भी न केवल आदर और मर्यादा के भाजन हो सके हैं; वरन उन्हें समाज में उच्चतर स्थान भी मिला है। ईश्वर में विश्वास न रखने से मान-मर्यादा में विरोध उपस्थित नहीं हो सका

है। क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूलाधार सत्य तथा ऋत (आचार) रहा है। भगवान बुद्ध ने स्पष्टरूप से ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की है और न वेदों का ही आदर किया है। अपने प्रधान शिष्य आनन्द के पूछने पर कि 'ईश्वर है या नहीं?'—भगवान ने विषय को टालते हुए कहा कि ईश्वर के होने अथवा न होने पर मनुष्य का निर्वाण निर्भर नहीं करता। अतएव यह चर्चा व्यर्थ है। बुद्ध ने न ईश्वर को माना, न वेद को; किन्तु वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आचारवान पुरुष थे। जीवमात्र के प्रति उनकी समदृष्टि थी। सत्य और अहिंसा उनका मूलमंत्र था। अतएव उनकी विशेष प्रतिष्ठा हुई। उनकी गणना विष्णु के नवम अवतार में की गई और विष्णु के अवतार के रूप में आज भी जनता में उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है।

कपिल मुनि सांख्य-दर्शन के प्रणेता थे। आपने प्रकृति-पुरुष की कल्पना से विश्व की पहेली समझाई है। अनावश्यक होने के कारण ईश्वर की सत्ता सांख्य को मान्य नहीं। अतः सांख्य नितान्त निरीश्वरवादी है। कपिल उपनिषत्कालीन ऋषि थे। आप अत्यन्त चरित्रवान महापुरुष थे। किसी भी ग्रन्थ में आपके सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं आई है जो आपके विमल चरित्र में लेशमात्र भी धब्बा लगा सकी हो। अतः निरीश्वरवादी होने पर भी आपकी गणना भगवान के चौबीस अवतारों में हुई है।

मीमांसादर्शन भी निरीश्वरवादी है। इसके आचार्य जैमिनि का कथन है कि वेद स्वयं नित्य है। किसी के द्वारा उसकी रचना नहीं हुई है। इस दर्शन के अनुसार विश्व में कर्म ही सबसे प्रधान वस्तु है। आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफलों का दाता मानते हैं। परन्तु जैमिनि की सम्मति में यज्ञ से ही तत्तत् फलों की उपलब्धि होती है। इस प्रकार ईश्वर की अवहेलना करने पर भी सिर्फ जैमिनि ही नहीं, किन्तु आचारवान मीमांसक की भी प्रतिष्ठा और मर्यादा बनी रही।

लंकाधिपति-रावण चारों वेदों का पंडित होने के साथ-साथ भगवान शंकर का परम भक्त था; किन्तु आचारहीन होने के कारण उसकी गणना राक्षसों में की जाती है। सदाचार के कारण ही उसके भाई विभीषण को मर्यादापूर्ण स्थान मिला था।

अतएव यह स्पष्ट है कि भारत में अनादिकाल से धार्मिक स्वतंत्रता रही है। मनुष्य के आदर और प्रतिष्ठा का मापदंड ईश्वर की भक्ति और वेदादि सद्ग्रन्थों का अनुशीलन न होकर ऋत (चरित्र) रहा है। यह भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता है।

भारतीय संस्कृति कर्मवादमूलक है। इसलिए इसका लक्ष्य अखंड विश्व की ओर है। भारतीय सिद्धान्त है कि जीव एक जन्म से जन्मान्तर में परिभ्रमण करता रहता है। विभिन्न योनियों में घूमता हुआ कभी स्वर्ग में जाता है तो कभी नरकादि में। कभी भारत में जन्म लेता है तो कभी दूसरे देश में। कभी पुरुष होता है तो कभी स्त्री। क्योंकि कर्म की विचित्र गतियाँ होती हैं। जबतक आत्मज्ञान की अग्नि में कर्म और अकर्म भस्म नहीं हो जाते और आत्मा तथा परमात्मा में तादात्म्य नहीं हो जाता, तबतक मनुष्य आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। ८४ लक्ष योनियों के सब जीव ही उस (ब्रह्म) के अपने हैं, समस्त जगत् उसका संचार-क्षेत्र है। कोई देश, कोई काल, कोई जीव उसका

अपरिचित नहीं है। सभी उसके निज जन हैं। अतएव कर्मवाद मनुष्य को कुकर्म से हटाकर सुकर्म में लगाता है। यह सत्य है, कि भारत में ऐसी विचारधारा के लोग भी हो गये हैं जिनका सिद्धान्त रहा—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥[1]

अर्थात्—'जबतक जीओ, सुख से जीओ। घी पीते रहो, चाहे उसके लिए कर्ज भी क्यों न लेना पड़े। शरीर भस्म हो जाने के बाद उसका फिर जन्म कहाँ?' परंतु भारतीय संस्कृति कभी भी इस भावना की नींव पर खड़ी नहीं हुई और सर्वदा इस विचार-धारावालों की संख्या न्यून ही रही।

कर्मवाद की भावना सुकर्म की ओर प्रेरित करती है। प्राचीन भारत में जो विश्वजित् यज्ञ होता था, उसके मूल में भी यही भावना थी। यज्ञ का अभिप्राय है—अपना सर्वस्व दूसरों के लिए दे देना। महाराज रघु आदि का विश्वजित् यज्ञ प्रसिद्ध है। जब राजा ने अपार धनराशि गुरु के चरणों में रख दी; गुरु प्रसन्न हुए और उन्होंने वह धनराशि पीड़ितों और दरिद्रों की सेवा में लगा दी। इस प्रकार महायज्ञ से दरिद्रनारायण की तृप्ति हुई और वे आशीर्वाद देते हुए चले गये।

इसी भावना ने भीष्म को आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करने तथा राज्याधिकार परित्याग करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार त्याग और परोपकार का ज्वलन्त उदाहरण, जिसको कवि कालिदास ने 'रघु और वरतन्तु के शिष्य की गाथा' में अमर कर दिया है, कर्मवाद पर विश्वास का ही फल था। अतएव कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीयों में प्रेम, सहिष्णुता, दया आदि उच्चादर्शों का पालन करने में प्रेरणा देता आ रहा है। यह भारतीय संस्कृति की चौथी विशेषता है।

आदिकाल में अपने समन्वय और समुच्चय की प्रगतिशील नीति-द्वारा आर्यों ने अनार्यों को मिला लिया था। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की त्रिमूर्ति इसी समन्वय और समुच्चय की कल्पना है। अनार्यों की लिंग-पूजा आर्यों में प्रचलित हो गई। उसी प्रकार विष्णु भी अनार्यों के उपास्य देव बन गये। इसके बाद भारत में अनेक यूनानी, ईरानी, हूण, शक, सीथियन आदि आये; किन्तु उदार भारतीय संस्कृति में वे विलीन हो गये और अपना अस्तित्व खो दिया। भारत में आज उनका चिह्न भी शेष नहीं है। उदार भारतीय संस्कृति ने ऋषि अगस्त्य के सदृश उक्त सभी संस्कृतियों को सोख लिया। इसका परिणाम हुआ कि उन प्राचीन आक्रमणकारियों के वंशजों का पृथक् अस्तित्व नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति में यही क्षमता है कि यह संपूर्ण विश्व को अपने विशाल उदार अंक में भर सकी। यह इसकी पाँचवीं विशेषता है।

किन्तु भारत में जब से इस उदार भावना का ह्रास हुआ, इसका पतन प्रारंभ हुआ। जबतक यह विदेशियों को आत्मसात् कर सका तबतक इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। जब से इसकी भावना संकीर्ण होने लगी और आगंतुकों को आत्मसात् करने में

---

१ चार्वाक

यह असमर्थ हो गया तब से इसकी अवनति होने लगी। यदि मुसलमानों के आक्रमण-काल में भी भारतीय संस्कृति जीती-जागती होती तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि हजरत मुहम्मद भी आज हिन्दुओं के अवतारों अथवा महापुरुषों में गिने गये होते। और मुसलमान भी ग्रीक, सीथियन, हूण आदि की तरह अपना अस्तित्व खो बैठे होते। आज तो भारतीय हिन्दू-समाज की पाचन-शक्ति इतनी क्षीण हो गई है कि अपने अनेक राम-कृष्णोपासक भाइयों को भी अपनाने में वह असमर्थ हो रहा है। विधर्मियों को पचाने में सबसे बड़ी रुकावट जाति-पाँति है। इसी जन्मजात जाति-पाँति की भावना से जकड़े हुए वर्त्तमान भारतीय समाज में विधर्मियों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया। जबतक एक बार पुनः हिन्दुओं में समता, बंधुत्व और स्वतंत्रता का पुनीत भाव भरकर हम अछूतों के चित्त में यह भावना पैदा नहीं कर देते कि हम सब इस विशाल हिन्दू-जाति के एक अभिन्न अंग हैं तबतक हम भारत की प्राचीन गौरव-गरिमा को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यदि हिन्दू जनता की मनोवृत्ति बदल जाय तो छत्तीस करोड़ का यह भारतीय राष्ट्र संसार में अग्रगण्य होकर एक बार पुनः संसार का पथ-प्रदर्शक हो सकेगा।

'सर्वजन-सुखाय' की भावना भारत में आदिकाल से प्रबल रही है। भारतीय संस्कृति की इस आधार-शिलारूप भावना पर भारतीय जीवन और धर्म का भव्य भवन अडिग और अचल खड़ा हुआ है। इन उदार, उदात्त और सर्वोच्च अभिलाषाओं के कारण ही आर्य-संस्कृति की मौलिक महत्ता है। आर्यपुरुषों की अभिलाषा केवल अपने को ही नहीं, वरन् संपूर्ण विश्व को सुखी और शान्त बनाने में पूरी होती है। और प्रत्येक आर्य अपनी दैनिक प्रार्थना में चाहता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात्—'जीवमात्र सुखी हों, सब नीरोग हों, सब लोग कल्याण लाभ करें। कोई भी दुःख का भागी न हो।' इस भावना का मूलाधार हमें ऋग्वेद के उस मंत्र (मंडल १, सूक्त ८६, मंत्र ८) में मिलता है जहाँ ऋषि शान्ति प्रार्थना करता है—

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति नो इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नो पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ओम् शांतिः शांतिः शांतिः

'हे देवगण, हमलोग भगवान् का भजन करते हुए कानों से कल्याणमय वचन सुनें। नेत्रों से कल्याण ही देखें, सुदृढ़ अंगों से और शरीर से भगवान् की स्तुति करते हुए अपने जीवन को भगवान् के कार्य अर्थात् लोकहित में लगावें। सब ओर फैले हुए सुयशवाले इन्द्र हमारे लिए कल्याण का पोषण करें। समस्त विश्व का ज्ञान रखनेवाले पूषा हमारे लिए कल्याण का पोषण करें। अरिष्टों को मिटाने के लिए तार्क्ष्य और बुद्धि के

स्वामी बृहस्पति भी हमारे लिए कल्याण की पुष्टि करें। हे परमात्मन्, हमारे विविध तापों की शांति हो।'

अतएव हमें किसी भी प्रार्थना-मंत्र में सिर्फ आत्म-लाभ के उद्गार नहीं मिलेंगे; किन्तु उसमें समाज एवं विश्व की मंगल-कामना के ही अधिकतर भाव मिलेंगे।

इस 'सर्वजन-सुखाय' की सद्भावना तो चरम सीमा को तब पहुँच जाती है जब ऋषि दधीचि-सदृश महान् तपस्वी जनकल्याण के लिए अपने जीवन का विसर्जन सहर्ष कर देता है। ऋषि दधीचि ने यह कहकर अपना शरीर जन-कल्याण के लिए अर्पित किया कि—'जब एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, तब इसको पालकर क्या करना है? जो मनुष्य इस विनाशी शरीर से दुःखी प्राणियों पर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यश का संपादन नहीं करता, वह जड़ पेड़-पौधों से भी गया-बीता है। बड़े-बड़े महात्माओं ने इस अविनाशी धर्म की उपासना की है। इसका स्वरूप, बस, इतना ही है कि मनुष्य किसी प्राणी के दुःख में दुःख का अनुभव करे और सुख में सुख का। जगत् में धन, जन, शरीर आदि पदार्थ क्षणभंगुर हैं। कितने दुःख की बात है कि यह मरणधर्मा मनुष्य इसके द्वारा दूसरों का उपकार नहीं कर लेता।'

स्वयं मुक्त होकर यदि और किसी को मुक्त न कर सकें तो अपनी मुक्ति की सार्थकता कहाँ? यदि वस्तुतः एक ही आत्मा सत्य है तो क्या यह भी सत्य नहीं कि जबतक और-और जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर लें तबतक वास्तव में किसी भी आत्मा का पूर्णत्व लाभ नहीं हुआ। भारत के प्रत्येक महापुरुष इसकी घोषणा कर गये हैं कि समस्त विश्व-कल्याण और आत्म-कल्याण—दोनों एक और अभिन्न हैं। इस प्रकार प्रशान्त पूर्णकाम मानव के संमुख उसकी तपस्या और निष्ठा पर मुग्ध होकर जब स्वर्गाधिपति वर माँगने के लिए आये तब महामानव राजा रन्तिदेव के मुख से सहसा निकला—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥
कश्चास्य स्यादुपायोऽत्र येनाऽहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक्सदा॥

अर्थात्—मुझे राज्य की कामना नहीं है, स्वर्ग तथा मोक्ष की भी मुझे चाह नहीं है। मैं चाहता हूँ, दुःख से संतप्त प्राणियों का दुःख से छुटकारा। दुःखी मानवों के अन्तःकरण में पैठकर दुःख को भोग लूँ—इसका कौन-सा उपाय है!

इस प्रकार मानव-कल्याण की कामना के सामने आये हुए ऐश्वर्य तथा मुक्ति को भी ठुकराना भारतीय संस्कृति के लिए ही संभव था। यह है इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता। अतएव आज भी सारे संसार की आँखें भारत की ओर लगी हैं।

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति का प्रसार (बृहत्तर भारत)

पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार कर चुके हैं कि संसार के साहित्य में ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ है। भारतवर्ष ही ससार का सर्वप्रथम सभ्य देश है। अतएव स्वभावतः भारत से ही ज्ञान-ज्योति विश्व में फैली। एशियामाइनर के बोगजकुई नामक स्थान में खुदाई के बाद जो शिलालेख प्राप्त हुआ है उससे यह प्रमाणित होता है कि प्रायः चार हजार वर्ष पूर्व भी वहाँ वैदिक संस्कृति का प्रचार था और वैदिक देवता वहाँ मान्य थे। अतएव यह स्पष्ट है कि वैदिक सभ्यता की धाक वहाँ के रहनेवाली मित्तानी और हिटाइट नामक जातियों में जम चुकी थी, क्योंकि ई० पू० १३६० में अंकित सधिपत्र में साक्षिरूप चार वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद से ही स्पष्टतया ज्ञात होता है कि आर्यों का दूर-दूर देशों से भी संपर्क था। यह सम्पर्क राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दोनों क्षेत्रों मे हुआ था, किन्तु राजनीतिक की अपेक्षा सांस्कृतिक क्षेत्र में ही यह संपर्क अधिक रहा। यह वेद के 'कृणुध्व विश्वमार्यम्' अर्थात् 'हम समस्त विश्व को आर्य बनावें'—मंत्र से स्पष्ट है। अतएव सैन्यबल द्वारा संसार के भिन्न-भिन्न देशों को जीतकर उपनिवेश स्थापित करने के बदले आर्यों ने संसार के भिन्न-भिन्न देशों में अपनी संस्कृति का संदेश भेजना शुरू किया। इसी भावना से प्रेरित होकर वैदिक युग के हजारों वर्ष बाद भगवान् राम समस्त दक्षिण भारत तथा लंका को पदाक्रान्त करके भी, साम्राज्य स्थापित करने के बदले, वहाँ के अनार्य निवासियों को प्रेमसूत्र में बाँधकर, आर्य-संस्कृति को दक्षिण में विकसित करने में सफल हुए।

भारतीय सभ्यता के उषःकाल में भारत का किन-किन देशों से संबन्ध था—इसका हमें कहीं स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता; किन्तु वेदों में ही हमें ऐसे-ऐसे मंत्र मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि आर्य व्यापारी, जिन्हें 'पणि' कहते थे, व्यापार-वाणिज्य के लिए दूर-दूर देशों में जाते थे। इसका समर्थन विभिन्न देशों की किंवदन्तियों, प्राचीन ग्रन्थों तथा खुदाई से प्राप्त चिह्नों से होता है। वेदों में अनेक जगह नावों की चर्चा आई है। जिस-जिस देश में आर्य 'पणि' वाणिज्य के उद्देश्य से गये, उन्होंने 'कृणुध्व विश्वमार्यम्' की सद्भावना से प्रेरित हो, वहाँ के निवासियों में आर्य-संस्कृति की पताका फहराई।

भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रचार का कारण भारत का विदेशों से व्यापार तथा प्रतिभाशाली नरेशों एवं ऋषियों की प्रचार-वृत्ति ही था। इनमें महर्षि अगस्त्य अग्रगण्य थे। आपने सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का विस्तार सुदूरवर्त्ती बालीद्वीप-पर्यन्त किया। भारतीय संस्कृति के अग्रदूतों ने वहाँ के निवासियों के हृदय पर प्रभाव जमा रखा था। हमारा उन दिनों का उपनिवेशीकरण प्राय: संस्कृति के बल पर अवलंबित था और मित्र-भाव पर आश्रित था। व्यापार के द्वारा धन कमाना एवं देशान्तरों और द्वीपान्तरों में भ्रमण करने की लालसा भारत के कुछ उत्साही वणिक् पुत्रों को उधर खींच ले गई और वे उधर के ही बन गये—घुल मिल गये। किन्तु वे स्वभावत: आर्य-सभ्यता के रंग में रँगे थे, कलाओं में प्रवीण थे, धर्म पर श्रद्धा रखनेवाले थे, देवताओं की पूजा एवं यज्ञ-हवन आदि नित्यकर्मों को करनेवाले, धर्म पथपर चलनेवाले और अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहनेवाले थे। वणिकों के अतिरिक्त क्षत्रिय एवं ब्राह्मण भी बड़ी संख्या में संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जाते थे। इन लोगों ने इन देशों में यश और सत्कार पाया। आर्य विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही समस्त विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर महान धर्म-विजय करना चाहते थे। उनका आदर्श था—

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खभाग्भवेत्॥

अर्थात्—'सभी प्राणी सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सब कल्याण लाभ करें और किसी को दु:ख न हो।' संसार के इतिहास में ईसाई और इस्लाम धर्मावलंबियों ने भी संसार के कोने-कोने में अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार किया है; किन्तु आर्यों की प्रणाली से इनकी प्रणाली भिन्न रही है। ईसाइयों ने छल-बल से विभिन्न देशों पर आधिपत्य जमाकर धर्म और संस्कृति का प्रचार किया और इस्लाम धर्मावलंबी भी ईरान, अरब, मिस्र आदि देशों में तलवार के सहारे अपने धर्म और संस्कृति को फैलाने में समर्थ हुए। किन्तु आर्य-प्रचारक शांतिमय धर्म के प्रचार के साथ-साथ अपनी शिक्षा, सभ्यता तथा आदर्श के द्वारा अपनी संस्कृति का अमिट प्रभाव स्थापित कर सके। इन्हीं गुणों के कारण आर्यों ने विभिन्न देशों के मूल निवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया तथा वे आर्य संस्कृति से प्रभावित हो आर्य बन गये। आर्यों ने वहाँ के अशिक्षित लोगों से प्राय: दूर हटने की प्रवृत्ति नहीं दिखलाई, परन्तु उनमें वे दूध में मिश्री की तरह घुल मिल गये। संस्कृति तो प्रीतियोग पर पनप उठती है और शीघ्र ही फलने फूलने लगती है। इस लिए इने-गिने भारतीयों ने ही आर्य-संस्कृति को संसार के विभिन्न देशों में विकसित कर दिया। जहाँ कहीं भी भारतवासी गये, उन्होंने वहाँ के लोगों को आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में प्रगतिशील बनाने का सतत प्रयत्न किया। भारतीय दृष्टिकोण सांस्कृतिक क्षेत्र में कभी संकुचित नहीं रहा। भारत ने संस्कृति का गड्ढा नहीं बनाया; अपितु, इससे संस्कृति की विशाल धारा की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटीं और वे संसार के कोने-कोने में फैल गईं। उन सभी धाराओं में प्रवाह रहा, लहर रही और उथल-पुथल रही। संस्कृति के रूप में जो निधि भारत के पास थी उसका वितरण उदारता-

पूर्वक हुआ। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रकाश न केवल ऐशिया में ही; अपितु यूरोप, अफ्रिका तथा सुदूरवर्त्ती अमेरिका में भी पहुँचा।

अफगानिस्तान—आर्यों का मूल निवासस्थान सप्तसिन्धु के पास ही अफगानिस्तान है। अतएव भारत-भूमि से जानेवाले अथवा यहाँ आनेवाले समस्त राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक आन्दोलनों में अतिप्राचीन काल से ही अफगानिस्तान ने खुले तौर पर भाग लिया है। कौरवों की माता गान्धारी अफगानिस्तान के अंतर्गत कान्धार की रहनेवाली थी। अफगानिस्तान के नरेशों ने महाभारत में भाग लिया था। वैदिक नाम 'पकथन' वर्तमान पख्तून और पठान का मूल है। 'आश्वलायन' से अफगान बना। प्रसिद्ध पख्तून कबीले अफ्रिदो और महम्मद महाभारत-काल में 'अप्रिट' एवं 'मधुमत' नाम से प्रसिद्ध थे। आज सारा अफगानिस्तान एवं पश्चिमोत्तरप्रदेश इस्लाम-धर्मावलंबी है तथा वहाँ की भाषा पश्तो है जो अपने शब्द-संग्रह एवं व्याकरण के ढाँचे की दृष्टि से संस्कृत की ही एक शाखा है। इसी कारण अफगानिस्तान के विश्वविद्यालय में संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य है। यह विदेशियों के लिए कुतूहल की बात है।

बलूचिस्तान—बलूचिस्तान भी 'वलयस्थान' शब्द का अपभ्रंश है। इसमें केलात नामक नगर अबतक मौजूद है। जब किरात-नामक पतित क्षत्रिय यहाँ आकर बस गये तब इस स्थान का नाम केलात पड़ा। आज भी बलूचिस्तान का यह एक मुख्य नगर है।

ईरान—वैदिककाल में ईरान का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिससे वहाँ के लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ईरानी धार्मिक ग्रन्थ 'अवेस्ता' बहुत हदतक वेदों से मिलता है। यह तो ऋग्वेद का स्थानीय रूपान्तर मात्र मालूम होता है। उसमें वैदिक देवता—वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु आदि का वर्णन है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ईरान तथा आर्यावर्त की जनता के देवता सार्वदेशिक थे और दोनों ही देशों में वे लोकप्रिय थे। अतएव आर्यों का आदि निवासस्थान चाहे कहीं भी हो, लेकिन आर्यों की एक शक्तिशाली शाखा ईसा के पूर्व की शताब्दियों में ईरान में अवश्य बस गई थी। इसी कारण वर्तमान ईरानी भाषा क्रमशः प्राचीन पहलवी भाषा से विकसित होती हुई आर्यों की प्राचीन भाषा से उसी प्रकार बन गई, जिस प्रकार अनेक भारतीय भाषाएँ वैदिक भाषा से उत्पन्न हुई हैं। इस तरह भारत का ईरान से बराबर सम्पर्क रहा।

ईसामसीह के जन्म से बहुत पहले लिखी गई एक फारसी की पुस्तक से पता चलता है कि महर्षि व्यास कभी ईरान गये थे। उसमें व्यास की प्रशंसा बुद्धिमान कहकर की गई है। ऐतिहासिक काल में यूनान और ईरान से कई बार भारत की पश्चिमी सीमा पर चढ़ाइयाँ हुईं, जिनके परिणामस्वरूप भी भारतीय संस्कृति का प्रचार इन देशों में हुआ।

असीरिया—यहाँ भी आर्यों की संस्कृति फूलती-फलती रही। कीथ साहब ने लिखा है[१] कि वहाँ के सुवरदत्त, जसदत्त, सुवन्धि, दसरत्त, अन्तर्ताम, सूर्तन आदि राजाओं के नामों से सिद्ध होता है कि असीरिया के निवासी आर्य थे। वे आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति से

१ अर्ली हिस्ट्री अफ ईरानियन्स

ओतप्रोत थे। इन देशों के निवासियों को आर्य लोग 'असुर' कहा करते थे। इसलिए वे सदैव अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते थे।

मेशोपोतामिया—मेशोपोतामियावाले भी आर्य ही थे। कीथ साहब का कथन है कि दशरथ नाम का राजा जो मितानी था, मिस्र के राजा का साला था। यह ईसा से १३००-१४०० वर्ष पूर्व राज्य करता था। इसी प्रकार मितानियों के दूसरे राजा के नाम—'हरिनाम' से भी आर्य नाम ही सिद्ध होता है। 'बोगजकुई' नामक स्थान से उपलब्ध शिलालेखों से पता चलता है कि यहाँ के लोग मित्र, वरुण, इन्द्र आदि आर्य-देवताओं को मानते थे।

अरब—अरब के विद्वान स्वयं ही अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित और चिकित्सा-शास्त्र आदि के लिए अपने को भारत का ऋणी कहते हैं। अबुजाफर और अलबरुनी की भाँति अरब विद्वान यह मानते हैं कि 'दशमलव-गणनाविधि' भारतीयों ने ही प्रकट की। एनसाइक्लोपेडियाब्रिटेनिका भी इसी मत की पुष्टि करता है। अरब के चिकित्सा-शास्त्र की आधारशिला आयुर्वेद के संस्कृत ग्रन्थों के अरबी अनुवाद है। विद्वान लेखक मेकडानल का कहना है कि 'ईसा के सात सौ वर्ष पश्चात् अरबनिवासियों पर आयुर्वेद का गहरा प्रभाव पड़ा; क्योंकि बगदाद के खलीफों ने कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया।'

मध्यएशिया—मध्यएशिया के खोतान प्रदेश का शासनकार्य भारतीय भाषा में होता था। राजकर्मचारियों के नाम भी पूर्णतः भारतीय होते थे। जैसे—नन्दसेन, भीम आदि। पुरातत्त्व-विशारद सर औरलस्टाइन को इस भाग के नगरों के ध्वंसावशेष, इतने भारतीय लगे कि उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'रेत में दबे पड़े इन खोदे हुए स्थानों को देखकर प्रायः मैं सोचा करता था कि शायद अब भी मैं पंजाब के किसी विध्वस्त प्राचीन नगर के परिचित वातावरण में हूँ।' अतएव यह स्पष्ट है कि मध्यएशिया तक या तो आर्यों का प्रसार था अथवा उनका गहरा असर था। और भारतीय कला, साहित्य, धर्म और रीति-रिवाज का यहाँ के निवासियों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

फिनीसिया—यह प्रदेश भूमध्यसागर के किनारे पर स्थित है। ऋग्वेद (७।६।३।) में लिखा है कि पणि लोग बदमाश, ठग और धनलोलुप थे। इन्हीं पणियों की दूसरी शाखा, जो जहाज बनाने में प्रवीण थी, व्यापार के सिलसिले में अफ्रिका के उत्तरी समुद्रतट के पास बस गई। अतः वह स्थान पणिदेश के नाम से विख्यात हुआ; वही बाद में फिनिसिया कहलाने लगा।

मिस्र—मिस्र की सभ्यता प्राचीनतम मानी जाती है। किन्तु इस सभ्यता में भारतीय संस्कृति की झलक स्पष्ट है। इतिहास[१] बतलाता है कि मिस्र-निवासी पणियों की एक शाखा हैं। विद्वानों ने भारत और मिस्र की प्राचीन खोपड़ियों को मिलाकर भी निश्चित किया है कि मिस्र-निवासी भारतीय आर्य थे। मिस्र के कई स्थानों के नाम शिव और मेरु आदि हैं जिनसे ये आर्य ही सिद्ध होते हैं। 'इण्डिया इन ग्रीस' के विद्वान लेखक 'पोकाक' ने लिखा है कि मिस्रवासी अपने को सूर्यवंशी कहते हैं और सूर्य की पूजा करते हैं तथा मनु

---

१ हिस्टोरिकल हिस्ट्री अफ द वर्ल्ड, भाग १

को ही अपना मूल पुरुष भी मानते हैं। मिस्री नदियों तथा प्रान्तों के नाम भी भारतीय नामो से मिलते-जुलते हैं। मिस्री राजाओं के नामों में भी भारतीय राजाओं के नामों से आश्चर्यजनक समानता है। भवन-निर्माण की शैली में और मिस्री भाषा तथा संस्कृत भाषा में भी समानता है।

यूनान—सांस्कृतिक साम्य के आधार पर यूनानियों को आर्यों की एक शाखा कहना अत्युक्ति न होगा। यूनानियो के संबन्ध में सिनोबस ने 'एनसियण्ट सिविलिजेशन' में लिखा है—'यूनानी लोग उस लम्बी यात्रा को, जो उनके पूर्वजों ने की थी, भूल चुके थे; किन्तु उनकी भाषा और उनके देवताओं के नाम के कारण उनके आर्य होने में लेशमात्र भी शंका नहीं है। आर्यों की तरह वे प्रकृति की पूजा करते थे।' विद्वान लेखक चार्ल्स मैरिस की राय है कि भारतीय और यूनानी कहावतों, गाथाओं तथा धर्मग्रन्थों में अपूर्व समानता पाई जाती है। कर्नल आलकट का कथन है कि बेबिलोनिया, मिस्र, यूनान, रोम तथा यूरोप के धर्म और दर्शन भारतीय सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं। और, स्पष्टतया पाश्चात्य दर्शन की आधारशिला भारतीय दर्शन ही है। इन देशों के विचारों और भारतीय वचारो में उतनी ही समानता है जितनी किसी वस्तु और उसके प्रतिबिम्ब में।

इटली—इटली तथा प्राचीन भारत में भी बहुत समानता पाई जाती है। इटली की वर्णव्यवस्था तथा भारतीय वर्णव्यवस्था में सामंजस्य था। इटली में विवाह के समय भारतीयो की तरह ही कन्या का पिता अग्नि को साक्षी कर कन्यादान करता था। रोम-निवासी भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानते थे, मुर्दों को जलाते थे, मृतक श्राद्ध भी करते थे, जैसा सिनोबस ने लिखा है—'रोम के निवासी अग्नि-पूजक थे, उनके घरों में तथा सार्वजनिक स्थानों में आग जला करती थी, जिसमें सुगंधित द्रव्यादि डालकर हवन किया जाता था।' भारत के सदृश ही रोमनिवासी विवाह को एक धार्मिक कृत्य मानते थे। क्योंकि उनके धर्म की भी आज्ञा थी कि वंशोच्छेद न होने पावे। इसलिए प्रत्येक रोमन विवाह के समय कहता था कि संतानोत्पत्ति द्वारा वंश-वृद्धि के लिए विवाह करता हूँ। यह भावना पारस्कर गृह्य-सूत्र के मंत्र 'प्रजा मंजनयावहै' (हम दोनों संतति की उत्पत्ति करें) की भावना से मिलती जुलती है। आज भी हिन्दू-विवाह की पद्धति के अनुसार वर-वधू दोनों को ही यह प्रण करना पड़ता है कि संतानोत्पत्ति के लिए हम विवाह करते हैं।

जर्मनी—पाश्चात्य विद्वान मोयर लिखता है कि जिस प्रकार हिन्दू लोग मनु को अपना पूर्वपुरुष मानते हैं उसी प्रकार जर्मन वाङ्मय में पूर्वपुरुष को मानुस कहा है। इस प्रकार जर्मन 'मानुस' या 'मेन्स' और 'मनु' शब्दों में पूर्ण सामंजस्य है। प्राचीन इतिहासज्ञ टेसिटस का कथन है कि जर्मनी मे वहाँ के वासी प्रातःकाल उठकर स्नान करते, सिर के बालों में गाँठ लगाते तथा ढीले वस्त्र पहनते थे। ई० पू० पहले शतक में भारतीय जहाजी व्यापारियों का पथ भूलकर जर्मनी पहुँच जाना प्रसिद्ध है। इन्हीं व्यापारियों ने आर्य-संस्कृति को सुदूरवर्त्ती जर्मनी तक पहुँचाया।

जगत् के मुख्य धर्म-पंथ या तो भारत में उद्भूत हुए या शुरू से ही भारतीय धार्मिक भावों से प्रभावित रहे; विशेषतः यहूदी धर्म पर इसका प्रभाव रहा। लोकमान्य तिलक के अनुसार यहूदी देवता 'जेहोवा' 'यह्वे' संस्कृत के 'यहु' 'यह्व' 'यह्वत' से बिलकुल समान

है जो ऋग्वेद में कई जगह उल्लिखित है। इस संबंध में टामसटेलर का कहना है—यह शब्द (जेहोवा) यहूदियों को भारत के साथ व्यापारिक संबन्ध के कारण प्राप्त हुआ। यह व्यापार फ़ारस की खाड़ी के द्वारा होता था। ईसामसीह के धार्मिक सिद्धान्त यहूदीमत के सिद्धान्तों पर विकसित हुए। इस विकास पर बौद्धधर्म की जबरदस्त छाप है। ईसा के पूर्व फिलस्तीन में एसिनिज नाम के धार्मिक पंथ के अस्तित्व का उल्लेख सुप्रसिद्ध रोम-निवासी प्लिनी ने ई० सन् ७५ के लगभग किया है। 'जान वैपटिस्ट' जिससे ईसा ने दीक्षा ली थी, ऐसेनिज सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित था। अतएव अनुमान होता है कि ईसामसीह ने बहुत-से बौद्ध सिद्धान्त 'जान वैपटिस्ट' से ग्रहण किये। ईसाई मत पर जो बौद्धों का प्रभाव पड़ा है वह बाइबल के उपदेशों (Pslams) और 'धम्मपद' के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। आरंभ के ईसाई गिरजे प्राचीन बौद्ध मठों से मिलते-जुलते-से हैं। आज भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत-से धार्मिक कृत्य बौद्ध-कृत्यों से प्रायः मिलते-जुलते हैं। मध्यकालीन यूरोप के ईसाई मठों तथा वहाँ की जीवन-यापन-प्रणाली और पादरियों की वेश-भूषा में तथा बौद्ध भिक्षुओं की जीवन-यापन-प्रणाली और वेश-भूषा में भी समानता दिखलाई पड़ती है।

पूर्वी देशों पर प्रभाव

चीन—चीन और भारत का सांस्कृतिक संसर्ग किस समय आरम्भ हुआ—यह कहना कठिन है। दोनों ही देश सभ्यता के प्राचीन केन्द्र हैं, दोनों ही कला, विज्ञान और आध्यात्म्य में संसार के आदि गुरु हैं। रामायण में चीन का एक बार और महाभारत में कई बार उल्लेख हुआ है। युधिष्ठिर ने अपने राजसूययज्ञ में परसने का कार्य हूणों, चीनियों, तुषारों और सैन्धवों को सौंपा था। चीनी परंपराएँ भी इसी प्राचीन परिचय की परिचायिका हैं। 'लीहत्जू' नामक प्राचीन चीनी ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध और महावीर के समकालीन महान् धर्मप्रचारक कनफ्यूसियस भारत के किसी बड़े ऋषि की शिक्षा से प्रभावित थे। चीनी इतिहासज्ञों का मत है कि पहले-पहल यहाँ बौद्धप्रचारक, ई० पू० २७१ के लगभग, धर्मप्रचारार्थ पहुँचे। 'पूना ओरिएण्टलिस्ट' की आठवीं जिल्द में लिखा है कि ई० सन् ६७ में चीन के सम्राट् ने बौद्ध भिक्षु बुलवाये। भारत से कश्यप मातंग नामक भिक्षु चीन भेजे गये। अनेक कष्ट सहकर, केवल धर्मप्रचार के उद्देश्य से, चीन जानेवाले बौद्ध भिक्षुओं की धारा अबाधरूप से ग्यारहवीं शताब्दी तक चलती रही। कुछ काल के बाद स्वयं चीनियों ने ३७२ ई० के लगभग बौद्धधर्म का प्रचार कोरिया में किया। उस समय कोरिया के तीन विभाग थे और तीनों ने ही बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।

जापान—ईसा की सातवीं शताब्दी में जापान के राजा ने बौद्धधर्म को अपनाया। फलस्वरूप जापान में बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ने लगा। आठवीं शताब्दी में वहाँ यह राजनियम बना दिया गया कि देवता 'शिन्ते' बोधिसत्त्व के अवतार ही हैं। सत्रहवीं शताब्दी तक जापान की संस्कृति बौद्धधर्म पर अवलंबित रही।

तिब्बत—अन्वेषण के बाद पता चला है कि पुराणों में वर्णित गंधर्वदेश यही तिब्बत है। कालिदास के मेघदूत के वर्णन से भी यही मालूम होता है। आज तिब्बत का प्रवेशद्वार बदरिकाश्रम के मार्ग में ज्योतिर्मठ से प्रायः ४० मील और बदरीनारायणधाम से प्रायः ६० मील दूर स्थित है। तिब्बतीय गाथा के अनुसार महाराज युधिष्ठिर उस देश में हिमालय को पार करके पहुँचे थे। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि प्राचीनकाल से भारत और तिब्बत का सांस्कृतिक संबन्ध रहा है। ऐतिहासिक काल में विख्यात राजा रांगसान गम्पो के समय में तिब्बत पर बौद्धधर्म का पूर्णरूपेण प्रभाव स्थापित हो गया था। भारतीय विद्वानों की सहायता से उसने तिब्बत में ऐसी लिपि का जन्म दिया जो सातवीं शताब्दी में प्रचलित भारतीय लिपि के आधार पर बनी थी। भारतीय धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथों का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद किया गया। वह 'तंजूर' और 'कंजूर' के संग्रहालयों में आजतक सुरक्षित है। १३वीं शताब्दी में मंगोल-सम्राट् कुबलाई खान ने तिब्बती लिपि को अपनी राजलिपि माना। उसने मतिध्वज नामक एक भारतीय विद्वान को तिब्बत बुलाया, जिसने भारतीय लेखन-प्रणाली के आधार पर एक नई लिपि की सृष्टि की।

नेपाल—नेपाल की भाषा, लिपि, कला आदि सभी पर भारत का गहरा प्रभाव है। भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी नेपाल की सीमा के अंदर है। बौद्धधर्म का नेपाल में प्रचार करने तथा पाटन के स्तूपों का निर्माण करने का श्रेय अशोक को दिया जाता है। मध्यकाल में बौद्धधर्म तथा हिन्दूधर्म के समन्वय से एक नूतन तांत्रिक सम्प्रदाय का विकास हुआ। इसने नेपाल में अपनी जड़ जमा ली। १२वीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा बौद्ध-केन्द्रों के विध्वंस के उपरान्त, नेपाल ने बौद्ध भिक्षुओं को शरण दी। वे अपने साथ कीमती हस्तलिखित पुस्तकें एवं मूर्त्तियाँ भी यहाँ लाये। इस प्रकार भारत में अप्राप्य महायानपंथ के ग्रन्थों का विशाल संग्रह नेपाल में सुरक्षित रहा। यहाँ की बौद्ध तांत्रिक देवताओं की सोने का मुलम्मा की हुई ताँबे एवं पीतल की मूर्त्तियाँ सुप्रसिद्ध हैं। नेपाल में हिन्दू और बौद्ध सस्कृति इस तरह घुलमिल गई है कि वेशभूषा से यह जानना कठिन है कि कौन हिन्दू है और कौन बौद्ध।

लंका—यह रावण की राजधानी थी। यहाँ हजारों वर्ष पूर्व राम-रावण-युद्ध हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप लंका आर्य-संस्कृति के रंग में रँग गया। ऐतिहासिक काल में अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्धधर्म के प्रचारार्थ यहाँ भेजा था। लंका ने विस्तृत टीकाओं-सहित सस्कृत-ग्रंथों एवं पाली भाषा के बौद्ध-धर्मग्रन्थों को सुरक्षित रखा, जो भारत में बहुत पहले ही लुप्तप्राय हो गये थे। भारत तथा लंका के सांस्कृतिक सबन्ध का श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व हमें 'बुद्धघोष' में मिलता है। बुद्धघोष बोधगया से लंका गये। उन्होंने अनेक बृहत् टीकाओं की रचना कर पाली-साहित्य की श्रीवृद्धि की, जो आज समस्त बौद्ध-संसार में प्रसिद्ध हैं।

बर्मा—अफगानिस्तान की तरह बर्मा भी भारत का पड़ोसी है। रामायण में यह चाँदी की खान की जगह बताया गया है। बर्मा के नगरों के नाम प्रायः भारतीय हैं। यथा हस्तिनापुर (वर्त्तमान टगाउंग), श्रीक्षेत्र (प्रोम), विष्णुपुर (पिसानुमयु), सधामावती (थाटन), अरिमर्दनपुर (पागन) आदि। अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार के

लिए यहाँ 'सोन' तथा 'उत्तर' नाम के भिक्षुओं को भेजा था। थाटन में जो हीनयान का केन्द्र है, वहाँ लगभग ४५० ई० में बुद्धघोष गये थे। बर्मा के राजा अनिरुद्ध (१०४०-१०७७ ई०) ने भारत से वैवाहिक संबन्ध के उद्देश्य से अपने दूतों को वैशाली भेजा था। उन दूतों ने पंचकल्याणी नाम की सुन्दरी राजकन्या प्राप्त की, जिसने बर्मा के सबसे शक्तिशाली राजा किंजित्था को जन्म दिया। उसका राज्याभिषेक भारतीय रीति से वैदिक मंत्रों द्वारा हुआ। यह संस्कार अरिमर्दनपुर (पागन) में संपन्न हुआ। यहाँ का आनन्द-मंदिर सबसे सुन्दर है। यह उड़ीसा के एक मंदिर के नमूने पर हिन्दू कलाकारों द्वारा बनाया गया था। १३ वीं शताब्दी के उपरान्त भारत और बर्मा का सांस्कृतिक संबन्ध विदेशी आक्रमणों के कारण शिथिल पड़ गया। ब्रिटिश शासनकाल में राजनीतिक संबन्ध के कारण, भारत का पुनः बर्मा से संबन्ध बढ़ने लगा और यह भारत का एक अंग बन गया।

स्याम—भारत की दक्षिण-पूर्वी सीमाओं की ओर के पड़ोसी देशों में स्याम, अनाम, मलाया, सुमात्रा, जावा, बाली और अस्ट्रेलिया हैं। बर्मा से सटा पूरब स्याम देश है। इसे थाईलैंड भी कहते हैं। यहाँ पर भी भारतीय संस्कृति के चिह्न केवल खँडहरों और शिलालेखों में ही नहीं, प्रत्युत भाषा में भी दिखलाई देते हैं। यहाँ की भाषा में प्रतिशत पचास शब्द संस्कृत के हैं। कलिंग (उड़ीसा) और तोलिंगण के भारतीय प्रवासियों ने यहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। पहली-दूसरी शताब्दी में बुद्धधर्म की हीनयानशाखा का तथा ८ वीं से ११ वीं शताब्दी तक ब्राह्मणधर्म का यहाँ प्रभुत्व रहा। यहाँ ब्राह्मणों का अब भी बौद्ध श्रमणों जैसा आदर है। मुंडनसंस्कार अब भी चालू है। राजा को यहाँ भी चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, यम, कुबेर के अंशों से बना हुआ व्यक्ति मानते हैं जिसकी चरण-पूजा ब्राह्मण भी करते हैं। रामायण और महाभारत की कथा का प्रचार आज भी यहाँ के निवासियों में है। गणेश, विष्णु, लक्ष्मी तथा शिव की प्रतिमाएँ भी यहाँ धातुओं और शिलाओं की बनी हुई मिलती हैं। इस देश की राजधानी बैंकाक के एक मंदिर में रामायण की कथाएँ दीवारों पर खुदी हैं। यहाँ शिव की भी कई तरह की प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। रामलीला तथा सावित्री-सत्यवान नाटक बड़ी श्रद्धा से खेले जाते हैं। यहाँ भारतीय संस्कृति आज भी अक्षुण्ण रूप में वर्त्तमान है।

चम्पा—स्याम के पूर्व समुद्रतट पर अनाम-प्रदेश है। इसके अंतर्गत कोचीन-चीन, कंबोज, टोंकिंग तथा लाओए प्रदेश भी हैं। इसका उत्तरी भाग चम्पा नाम से प्राचीन ग्रंथों में अभिहित है। आजकल इसे वियतनाम कहते हैं। पूर्व में यह समस्त प्रदेश चंपा-साम्राज्य के अंतर्गत था। यह नाम संभवतः भारत के चंपा-नामक नगर (भागलपुर) का अनुकरण था। ई० सन् की पहली शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण समुद्र-यात्रा करते हुए दक्षिण अनाम के कंबोडिया नामक प्रांत में पहुँचा। वहाँ एक रानी राज्य करती थी। रानी और उसकी प्रजा नंगी रहती थी। कौण्डिन्य कौशल से रानी से विवाह कर देश के शासक बनने में समर्थ हुआ। उसने रानी को वस्त्र पहनने की आज्ञा दी। इसके बाद इस विजयी ब्राह्मण ने यहाँ शासन किया और इस देश को सभ्य बनाया। यहाँ भी भारत-जैसी अभिषेक-संस्कार की प्रथा है। यहाँ यज्ञ, हवन तथा श्राद्ध

की भी प्रथा है। चूँकि रानी यशोमती का विवाह कौण्डिन्य से हुआ था, अतः यहाँ नियम है कि राजकन्या का विवाह ब्राह्मण से ही हो।

यहाँ गणेश, स्कन्द, नन्दी, शिव तथा शेषशायी विष्णु की मूर्त्तियाँ बहुतायत-से प्राप्त हुई हैं। यहाँ ६०० से अधिक शिलालेख पाये गये हैं, जिनमें संस्कृत भाषा का प्रयोग है; द्राविड़, देवनागरी, बँगला-जैसी लिपि है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ के निवासी भारतीय संस्कृति के रंग में रँगे हुए थे। सन् ४०० ई० के आस-पास (कंबूज) फूनान पर हिंदू राजा श्रुत-वर्मन का राज्य था। लगभग ५ वीं शताब्दी तक यहाँ का धार्मिक विश्वास एवं पौराणिक कथाएँ वास्तव में भारतीय रहीं। ब्राह्मण एवं बौद्ध के लगभग सभी देवता इसमें सम्मिलित रहे। सुतराम्, कंबोडिया-निवासियों ने भारतीय रीति-रिवाजों, धार्मिक कृत्यों आदि को पूर्णतः अपना लिया। यहाँ के राजा अधिकतर शैवमतावलंबी थे। अतएव शिव-मंदिर बहुतायत-से पाये जाते हैं। परन्तु वैष्णव एवं शाक्तमतों का भी प्रचार था। शिलालेखों में भारतीय देवताओं के नाम मिलते हैं; जैसे—पुरुषोत्तम, नारायण, हरि, गोविन्द, माधव आदि। पीछे बौद्धधर्म का प्रचार होने पर तथागत के नाम भी आने लगे। कहा जाता है कि राजमहल में अबतक इन्द्र की तलवार सुरक्षित है। भारतीय संस्कृति का यहाँ से लोप हो जाने पर भी अबतक राजा के अभिषेक के समय ब्राह्मण ही राजा को अभिषिक्त करते हैं।

कम्बोडिया—कंबोडिया एवं चंपा में ही सबसे पहले भारत के उपनिवेश बसे थे। यहाँ से ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति आगे फैलती चली गई। यहीं से स्याम में भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ। भारतीयों की तरह यहाँ पुरुष और स्त्री कानों में बाली पहनते हैं। यहाँ भी रामायण और महाभारत का अच्छा सम्मान है। यहाँ भूत, प्रेत आदि की पूजा की भी प्रथा है। अनाम के शिया मुसलमान उमा भगवती की पूजा करते हैं तथा हिन्दुओं ने भी पोओवला (अल्लाह) को अपनाया है। यहाँ शैवधर्म विशेषरूप से फूला-फला। उसके बाद बौद्धधर्म की महायान-शाखा का बोलबाला रहा। ब्राह्मणों का आदर स्याम-जैसा यहाँ भी है। सती-प्रथा चालू है। चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्त्तियाँ बहुतायत-से पाई जाती हैं। कुछ नगर आज भी भारतीय नामों—अमरावती, चम्पापुर, इन्द्रपुर—से प्रसिद्ध हैं। कंबोडिया में अंकोरवट का मंदिर मध्यकालीन कारीगरी का उत्कृष्ट नमूना है। इसकी चहारदिवारी १०८×११०० फीट तथा चारों ओर २३० फीट गहरी खंदक है। मंदिर की दीवारों पर सर्वत्र संस्कृत में लेख खुदे हैं। चारों ओर पौराणिक मूर्त्तियाँ बनी हैं, जिनमें रामायण, महाभारत, देवासुर-संग्राम, समुद्र-मंथन आदि के दृश्य पाये जाते हैं। मुख्य-मुख्य घटनाएँ चित्ररूप में दिखाई गई हैं। यह मंदिर संसार में अद्‌भुत है।

मलाया—बर्मा से दक्षिण मलाया है। इसका उत्तर भाग स्याम-राज्य में है और दक्षिण भाग अंग्रेजी साम्राज्य के अंतर्गत है जहाँ सिंगापुर में अंग्रेजों ने सामुद्रिक बेड़े का प्रधान केन्द्र बनाया है। यहाँ सन् ५१५ ई० के आसपास राजा भगदत्त का राज्य था। १२ वीं शताब्दी तक मलाया शैलेन्द्र राजाओं के अधीन रहा। यहाँ हिन्दू-संस्कृति फूलती-फलती रही। १५वीं शताब्दी में महाराज परमेश्वर ने एक मुस्लिम

कन्या से विवाह किया; और उसकी शुद्धि करने में असमर्थ हो स्वयं मुसलमान हो गया। यहाँ दुर्गा, नन्दी, गणेश आदि की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यद्यपि मलाया के राजनीतिक रूप बदलते रहे हैं तथापि आज बृहत्तर भारत के इस भूभाग पर भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रभाव विद्यमान है। मलाया के साहित्य, वर्णमाला, राजपद्धति, रीति-रिवाज और वास्तुकला एवं अन्य ललित कलाओं तथा ज्योतिषविद्या आदि सभी पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप वर्तमान है। ईसा की पहली शताब्दी में संपूर्ण कोचीन-चीन, कंबोडिया, स्याम, जावा, सुमात्रा आदि में फूनान-साम्राज्य के नाम से एक विशाल साम्राज्य था। उसी साम्राज्य के भीतर मलाया के भारतीय व्यापारियों ने 'केदा' में एक विशाल बौद्ध मंदिर बनवाया। बौद्धधर्म का प्रचार शिलालेखों द्वारा भी किया गया। फिर भी पाँचवीं और छठी शताब्दियों में मलाया में बौद्धधर्म की अपेक्षा हिन्दूधर्म की अधिक प्रतिष्ठा रही। इसका कारण यह था कि भिक्षुओं के साथ ही दक्षिणभारत के ब्राह्मणों ने भी वहाँ शैवमत का जोरों से प्रचार किया। फूनान-साम्राज्य के पतन के बाद मलाया, शैलेन्द्र-साम्राज्य का एक अंग बन गया। यहाँ से मलाया के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। मलाया की उस समय बड़ी उन्नति हुई। भारतीय कलिंगों (शैलेन्द्रों) ने ही मलाया के मूल निवासियों को सिंचाई का तरीका बतलाया। भारत से हल लाकर वहाँ हल का प्रचार किया गया, जिसे पालतू भैंसे खींचते थे। आज भी मलाया में हल को हल ही कहते हैं। १४वीं शताब्दी में मलाया में वहाँ के राजा के इस्लाम धर्म अपनाने पर मुस्लिम धर्म का प्रचार आरम्भ हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी तक मलाया में इस्लामी संस्कृति और सभ्यता का बोलबाला रहा। उसके बाद पोर्तुगीज, डच, अंग्रेज आदि जातियाँ यहाँ आईं। यहाँ आज अंग्रेजों का आधिपत्य है।

यद्यपि मलाया में राजनीतिक शासक के रूप में भारत नहीं रहा तथापि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की अमिट छाप अभीतक वहाँ पाई जाती है। मलाया के गाँव-गाँव में रामायण एवं महाभारत की कथाएँ प्रचलित हैं। लोग इन कथाओं को बड़ी श्रद्धा-भक्ति से सुनते हैं। भारतीय किसानों की तरह ही यहाँ लोग वर्षा के देवता इन्द्र की पूजा-स्तुति करते हैं। यहाँ जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर भारत की भाँति ही संस्कार हुआ करते हैं। मलाया के देहाती चिकित्सक मुसलमान होने पर भी भूत-प्रेतों से बचने के लिए भगवान शिव की पूजा कराया करते हैं। पेराक के मुसलमान सुलतान सिंहासनारोहण के अवसर पर पहले हवन-यज्ञ किया करते हैं, और उसके बाद उनका तिलक किया जाता है। सुलतान की तलवार पर महादेव के चित्र बने रहते हैं। इस अवसर पर संस्कृत के कुछ मंत्र पढ़े जाते हैं। मलाया में आज भी भारतीय काफी संख्या में रह रहे हैं—विशेषतः सिंगापुर में।

इण्डोनेशिया—मलाया के दक्षिण-पूर्व में प्रायः आस्ट्रेलिया तक द्वीपसमूह है। यह आज इण्डोनेशिया अथवा हिन्देशिया के नाम से प्रसिद्ध है। गत दो वर्षों से हालैंड के साथ स्वातन्त्र्य-संग्राम के फलस्वरूप आज यह बहुत प्रसिद्ध हो गया है। स्वातंत्र्य-संग्राम में अपनी हार्दिक सहानुभूति एवं नैतिक सहायता द्वारा आज भारत यहाँ के लोगों का प्रिय हो गया है। संपूर्ण हिन्देशिया की जनसंख्या ७ करोड़ से कुछ अधिक है।

जावाद्वीपसमूह—अकेले जावा की आबादी पाँच करोड़ है। जावा की भूमि अति उर्वरा होने से यहाँ की आबादी अत्यन्त सघन है। अतः विद्वान लोग हिन्देशिया के संबन्ध में जो कुछ भी जानते हैं वह केवल जावा के संबंध से। प्रशांतमहासागर के द्वीप-समूहों में सुमात्रा नाम का भी एक बड़ा द्वीप है, किन्तु वह बहुत कम आबाद है और सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। इसी कारण इसकी ओर न व्यापारी ही आकृष्ट हुए, न धर्मार्थी ही। जहाँ तक सुमात्रा के पुरातन अवशेषों का सम्बन्ध है, १६३५ ई० से पूर्व इस दिशा में नियमित रूप से कोई प्रयत्न नहीं हुआ। संपूर्ण सुमात्रा में बिखरे हुए भारतीय सभ्यता के अवशेषों की क्रमबद्ध खोज का श्रेय स्किटगर महोदय को ही है। सुमात्रा के आसपास के द्वीप जावा, बोर्नियो, मलक्का आदि में कला की वस्तुएँ ही नहीं, अपितु चीन, बङ्गाल, नेपाल, बर्मा, उत्कल, दक्षिणभारत आदि सुदूरवर्ती देशों की कला के नमूने भी मिले हैं। सुतरां, इस प्रदेश में अनेक मूर्तियाँ, स्वर्णमुद्राएँ तथा शिलालेख मिले हैं। इस प्रदेश में हिन्दू-प्रभाव के द्योतक सभी प्रकार के कुछ-न-कुछ चिह्न मिलते हैं। 'सोरिकमेरापो' नामक ज्वालामुखी पर शिलालेख-युक्त चार स्तम्भ हैं। पनाई नदी के कछार में 'बाटक' नामक जाति निवास करती थी। इस जाति के लोग मूर्ति-निर्माण-कला में बड़े निपुण होते थे। काँसे की वस्तुएँ भी बहुत अच्छी बनाते थे। यहाँ यत्र-तत्र नागरी लिपि भी पाई जाती है। यह पादांगलावास-प्रदेश जो कभी सुमात्रा में हिन्दू-सभ्यता का केन्द्र था, आज प्रत्येक प्रकार की संस्कृति से विहीन सूर्य-ताप से झुलसी हुई भूमिमात्र है। हिन्द-द्वीप-समूह में जितने भी राज्य थे, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण जावा ही था। मलाया और सुमात्रा का उत्तरी हिस्सा 'स्वर्णद्वीप' तथा शेष सुमात्रा और जावा मिलाकर 'यवद्वीप' कहलाता था। भारत और जावा में बहुत पुराना संबन्ध था और जावा का संस्कृत नाम 'यवद्वीप' था, जिसका उल्लेख रामायण में है। सुग्रीव ने सीता की खोज में वहाँ वानरसमूह भेजे थे। टाल्मी ने अपने भूगोल में, जिसे उसने दूसरी ईसवी सदी में लिखा था, यवद्वीप का नाम 'जौबाद्वीप', लिखा है। चीनी लेखों में भी आता है कि लगभग १३२ ई० सदी में यी-ताओ (यवद्वीप) के राजा देववर्मन ने राजदूत चीन भेजा था। इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि पहली ई० सदी में, या उससे भी पहले, जावा में हिन्दू-राज्य भली भाँति स्थापित हो गया था।

बोर्नियो और पश्चिमी जावा के मलाया-द्वीपसमूह में हिन्दू-शासन के प्राथमिक चिह्न हैं, किन्तु संस्कृत के शिलालेख इन दोनों द्वीपों में, कंबोडिया और अनाम की अपेक्षा, बहुत कम मिलते हैं। इन्हीं शिलालेखों में हमें पश्चिमी जावा के पूर्णवर्मन का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि पूर्णवर्मन ने गोमती और चन्द्रभागा नाम की दो नहरें बनवाई थीं।

जावा—हिन्द-द्वीपसमूह में आदि से ही जावा की प्रधानता रही है। आज भी, इंडोनेशिया के सभी द्वीपों में जावा ही अग्रगण्य माना जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में भी इसीकी चर्चा होती है—क्षेत्रफल में भले ही सुमात्रा और बोर्नियो बड़े हों। मानचित्र पर जावाद्वीप का आकार लम्बा-सा, कुछ आदमी के पाँव की तरह, जान पड़ता है। आजकल इसका निर्देश स्थूलरूप से तीन भागों में करते हैं—पश्चिमी जावा, मध्य जावा एवं पूर्वी जावा। रामायण के अनुसार, यह सात राज्यों में विभक्त था।

ऐतिहासिक काल में, सन् ७५ ई० में, भारतीयों ने कलिंग (उड़ीसा) से वहाँ जाकर उसे अपनी संस्कृति का केन्द्र बनाया। १३१ ई० में, यहाँ के राजा देववर्मन ने अपना दूत चीन भेजा था। चौथी सदी में यहाँ पूर्णवर्मन राजा था। ६७५ से ७७३ ई० तक श्रीविजय-राज्य की प्रबलता रही। उससे भी पहले ४१४-१५ ई० में भारत से लौटते समय, फाहियान यहाँ ठहरा था। यहाँ उन दिनों हिन्दू-धर्म का प्रभाव था। फाहियान ने यहाँ केवल मंदिर और ब्राह्मण देखे थे। प्रम्बनम-मंदिर में रामायण खुदी हुई है। उसमें शिव के त्रिशूल और विष्णु के शंख-चक्र-गदा-पद्म का भी वर्णन है। विष्णु, गरुड़, लक्ष्मी, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, दुर्गा, अगस्त्य आदि देवताओं की प्रतिमाएँ यहाँ प्राप्त हुई हैं। आज भी यहाँ राम, अभिमन्यु, कौसल्या-जैसे नाम प्रचलित हैं। यहाँ की रामायण वाल्मीकीय रामायण से पूर्णतः नहीं मिलती और मलाया की रामायण से भी कुछ भिन्न है। कश्मीर के बौद्ध राजकुमार मणिवर्द्धन ने यहाँ बौद्धधर्म का बीजारोपण किया। श्रीविजय-नामक एक हिन्दू राजा ने जावा में राज्य-विस्तार करते हुए स्याम और चंपा पर भी अधिकार कर लिया। उसने सुमात्रा में, नालन्दा-विद्यापीठ के आदर्श पर, एक विद्यापीठ खोला, जो नालन्दा-विद्यापीठ की देखरेख में ही चलता था। यह राजा सप्तम शतक में सुमात्रा के शैलेन्द्र-वंश में उत्पन्न हुआ था। इस वंश का प्रवर्तक शैलेन्द्र बौद्धधर्म तथा भारतीय विद्याओं एवं शिल्प-कलाओं का समर्थक था। शैलेन्द्र के शासनकाल में ही, समस्त हिन्देशिया के जन-जीवन के सभी अंगों पर, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। इसका शासनकाल हिन्देशिया में भारतीय संस्कृति के लिए स्वर्णयुग माना जाता है। छठी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक हिन्देशिया में शैलेन्द्रों का शासन अपनी उन्नति के चरम शिखर पर रहा। शैलेन्द्रों की राजधानी पहले, पालमबंग के पास, सुमात्रा में थी। शैलेन्द्र राजा हीनयान-मत के अनुयायी थे। इन्होंने मध्य-जावा के प्रायः सभी बौद्ध-स्मारकों का निर्माण किया है। इनमें सर्वप्रसिद्ध और विश्व-विख्यात स्तूप बरबुदर का है। यह स्तूप जोगजाकार्ता से प्रायः २० मील उत्तर की ओर प्रामा और इला नदियों के संगम पर है। बरबुदर-स्तूप सारे संसार की कला की उत्कृष्ट कृतियों में एक है। संभवतः, कंबोडिया के अंगकोरवाट के प्रसिद्ध मंदिर को छोड़कर, इसका सानी और कहीं नहीं मिलता। यह सर्वोत्तम कलाकृति, कलाप्रेमी शैलेन्द्र नरेशों के संरक्षण में, सन ७५० से ८५० ई० में तैयार हुई। इसके द्वार एवं परिक्रमा के मार्ग शिलाफलकों से निर्मित एवं मूर्तियों द्वारा सुसज्जित हैं। इनमें मनुष्यों और विशिष्ट स्थिति में बैठे हुए पशुओं के चित्र तथा वन्य दृश्य बड़ी कुशलता से अंकित हैं। इनके चौखटों पर भगवान बुद्ध का जीवनचरित्र अनेक बौद्ध-जातककथाओं के आधार पर दिखाया गया है।

बरबुदर-स्तूप के समान ही जावा का शिव-मंदिर 'लाराजोगरंग' भी अत्यन्त भव्य एवं आकर्षक है। यह जावा की प्रम्बनम घाटी में स्थित है। इसके उत्तर में विष्णु का मन्दिर और दक्षिण में ब्रह्मा का मन्दिर है। लाराजोगरंग की कला बरबुदर की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और भाव-भङ्गिमाओं को अभिव्यक्त करनेवाली है।

यद्यपि आज समस्त इण्डोनेशिया का धर्म इस्लाम है तथापि भारतीय संस्कृति की

छाप यहाँ स्पष्टरूप में विद्यमान है। यहाँ की राजधानी जोगजाकार्ता 'यज्ञकर्ता' का अपभ्रंश है। आज भी यहाँ अनेक रश्म-रिवाज भारतीय हैं।

बालीद्वीप–हिन्देशिया में बाली-सा छोटा द्वीप भी काफी महत्त्व रखता है। सदियों से यह भारतीय संस्कृति का गढ़ रहा है। बाली के शिलालेख तथा धातुलेख भारत के साथ इसके संबंध पर पूरा प्रकाश डालते हैं। ये शिलालेख बाली की प्राचीन भाषा में हैं और जावा के शिलालेखों से बिलकुल भिन्न हैं। बात यह है कि जावा के प्रभाव में बाली कम रहा है। इसका सीधा संपर्क भारत से ही रहा है। यद्यपि बाली पर भी बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा तथापि वैदिकधर्म के सामने बौद्धधर्म की एक न चली। यहाँ की जनता का अब भी वैदिकधर्म ही लोकप्रिय धर्म है। आज भी यहाँ भारत की तरह ब्राह्मणों के पाँच भेद माने जाते हैं। भारत से बाहर, यहीं भारतीय संस्कृति कुछ अंश में अक्षुण्ण है। चातुर्वर्ण्य, मूर्ति-पूजा आदि भारतीय संस्कृति के अवशेष यहाँ आजतक चले आ रहे हैं। सती-प्रथा भी वर्त्तमान है। सती होनेवाली नारियों को लोग बड़ी धूम-धाम से विदा करते हैं। यहाँ भारतीय सतियों के चरित्र बड़े चाव से पढ़े जाते हैं। जब पूर्वीय द्वीपसमूहों पर मुस्लिमधर्म का आक्रमण हुआ तब दूसरे-दूसरे द्वीपों के धर्मप्राण लोग बालीद्वीप में आ बसे और अपने धर्म की रक्षा की। वेदों के कुछ अंश भी यहाँ पाये जाते हैं। ब्रह्मपुराण यहाँ पूरा-का-पूरा प्राप्य है। हिन्दू-धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति-विषयक अनेक संस्कृत-ग्रन्थ यहाँ मिलते हैं। रामायण भी यहाँ जावा की 'कवि-भाषा' में है। सम्पूर्ण महा-भारत यद्यपि यहाँ प्राप्य नहीं तथापि छः पर्व पूर्णतया उपलब्ध हैं। यहाँ का साहित्य तालपत्रों पर अंकित है। संस्कृत से इसकी ममता अबतक नहीं छूटी है। भोजन यहाँ केले के पत्तों पर किया जाता है। नारियों की संख्या विशेष है। विवाह में 'समपदी' आवश्यक है। पूजा में अक्षत, तिल, कुश, पुष्प-माला, धूप, दीप, आरती तथा जलपात्र का उपयोग होता है। नदियों के नाम भी गंगा, कावेरी, सिन्धु, यमुना आदि हैं। गो-पूजन अभी तक होता है। प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व ओङ्कार-सहित मंत्रों का उच्चारण होता है। प्राणायाम भी प्रचलित है। यहाँ की गीता ५० श्लोकों की है।

इस प्रकार बर्मा, मलाया, चंपा, कंबोडिया, सुमात्रा, जावा, बाली आदि पूर्वी देशों और द्वीपों में बहुतेरे भारतीय संस्कृति से दीक्षित होकर प्राचीनकाल में वृहत्तर भारत के अंग बने हुए थे। किन्तु उत्तर-काल में भारत की राजनीतिक परतंत्रता के कारण वे भारत से इतने दूर हो गये कि आज पृथक्-से दीख पड़ते हैं। वास्तव में औपनिवेशिक प्रणाली संसार में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आती है और उसका आदि जनक भारत ही है। किन्तु उस प्राचीनकाल में भी भारत अपने किसी उपनिवेश को परतंत्र नहीं बनाता था और न उनका शोषण ही करता था। भारत और उसके उपनिवेशों में केवल अटूट सांस्कृतिक संबन्ध रहता था। इसी कारण, उसके सभी भूतपूर्व उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति के अवशेष अब भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

आस्ट्रेलिया—जिस प्रकार कलिंग और मद्रासप्रांत से भारतीय लोग बर्मा, चम्पा, कंबोडिया तथा हिन्देशिया में पहुँचे उसी तरह उनकी एक अग्र-शाखा आस्ट्रेलिया में भी जाकर बसी। आधुनिक खोज के अनुसार आस्ट्रेलिया में मनुष्यों का निवास बहुत

प्राचीन है। इसका वर्णन ऐतरेयब्राह्मण में भी आया है। कहते हैं कि उस समय भारत और आस्ट्रेलिया के बीच आज-सा अंतर न था। उस समय लंका और मैडागास्कर की भूमि बहुत चौड़ी थी और वह भारत तथा आस्ट्रेलिया को एक में जोड़ती थी। वाल्मीकीय रामायण से ज्ञात होता है कि ऋषि पुलस्त्य धर्मोपदेश के लिए आस्ट्रेलिया गये थे।

आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में, हिन्दुओं की भाँति ही, बहुत बड़ा जातिभेद है। ये लोग परस्पर एक दूसरे का छुआ नहीं खाते, अपनी जाति में दूसरी जातियों का मिश्रण नहीं होने देते और पूर्वजन्म पर विश्वास करते हैं। अगस्त, १६१४ ई० की 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका में विद्वद्वर श्री जिनराज दास ने वाल्डविन स्पेंसर और एच० गिलेन की पुस्तक 'नदर्न ट्राइब्स आफ सेंट्रल एशिया' के आधार पर, एक लेख लिखा था जिसमें आपने इसका सविस्तर वर्णन किया है।

अमेरिका—यूरोप और अमेरिका के विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अमेरिका की प्राचीन सभ्यता भारत की ही देन है। विद्वद्वर प्रेस्काट का विचार है कि मैक्सिको के निवासी संसार को अनादि स्वीकार करते हैं। यहाँ के प्राचीन लोग संपूर्ण काल को चार युगों में विभक्त करते थे, जिनमें प्रत्येक युग लाखों वर्ष का होता था। सृष्टि और प्रलय से संबद्ध भारतीय सिद्धान्तों से वे पूर्णतया सहमत थे। शुभ अवसरों पर उनके यहाँ घंटे-घड़ियाल भी बजाये जाते थे। उन लोगों में यह बात प्रचलित थी कि उनकी संस्कृति का मूल स्रोत भारत है। सर विलियम जोन्स ने गहरे अनुसंधान के बाद यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन अमेरिकन लोग सीताराम को मानते थे और उनके यहाँ, रामलीला के समान, राम-रावण-युद्ध-संबंधी वार्षिक लीलाएँ हुआ करती थीं।

प्राचीन अमेरिकनों के धार्मिक विश्वास के विषय में कहा जाता है कि वे नागपूजक थे। यह बात भारत में प्रसिद्ध है कि पाताल में नाग और राक्षस रहते हैं। विष्णुपुराण में लिखा है कि पाताल के समृद्ध नगरों में दैत्य, दानव, यक्ष तथा नाग बसते हैं। मार्कण्डेयपुराण में लिखा है कि शुम्भ और निशुम्भ राक्षसों को जब दुर्गा ने मार दिया तब जो राक्षस बचे वे भागकर पाताल लोक चले गये। यह पाताल या नागलोक आज का अमेरिका ही माना जाता है। उसमें 'बालविया' (Bolvia) नामक नगर भारत के पौराणिक राजा बलि की राजधानी था। इससे यह अनुमान किया जाता है कि मूल अमेरिका-निवासियों का आदि स्थान यही है।

यहाँ के आदिम निवासी एक ऐसा देवता बनाते हैं जिसका धड़ आदमी का और सिर हाथी का होता है। यह विचित्र मूर्त्ति गणेश की मूर्ति से बिल्कुल मिलती है। अमेरिका में तो हाथी होते नहीं, फिर यह हाथी का चित्र वहाँ भारत के सिवा और कहाँ से गया? नागपूजा की प्रथा भारत के समान मैक्सिको में भी विशेष रूप से प्रचलित थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों देशों के निवासियों में संपर्क था।

अमेरिका के पुरातत्त्व-विभाग के विद्वान हर्वर्ट की राय है कि मिस्र की भाँति यहाँ के लोग भी पहले सूर्य की उपासना करते थे। 'एब' की खुदाई में उन्हें एक मूर्त्ति मिली जो ठीक मिस्र में पाई गई मूर्ति के सदृश थी। मूर्त्ति को देखकर सहसा उनके मुख से

निकल पड़ा—'यह तो वैसी ही मूर्त्ति है जैसी दक्षिण-भारत के गुफा-मंदिर की सूर्य-मूर्त्ति है—चाहे मिस्र से इसकी पूजा भारत में आई हो चाहे भारत से मिस्र में गई हो।' बात यह है कि कतिपय इतिहासज्ञों के अनुसार, भारत की सभ्यता मिस्र की देन है, किन्तु पोकोकी साहब ने निश्चित रूप से प्रमाणित कर दिया है कि भारत के सूर्यवंशियों ने मिस्र, सीरिया (सूर्यस्थान) तथा प्लेस्टाइन (पालीस्थान) में जाकर आर्य-सभ्यता को उन देशों में विकसित किया था।

दक्षिण-अमेरिका के निवासी लिंगपूजक थे। वैदिक युग के अनार्य, मोहेंजोदड़ो-सभ्यता-युग के निवासी तथा द्रविड़ भी स्पष्टतया लिंगपूजक थे। अतएव, यह स्पष्ट है कि दक्षिण-भारत के कतिपय निवासियों ने, जावा होते हुए, दक्षिण-अमेरिका पहुँचकर, वहाँ अपने धर्म और संस्कृति को विकसित किया था। मैक्सिको के सदृश, दक्षिण-अमेरिका के पेरू देश के आदिनिवासी आज भी रामलीला करते हैं। अमेरिका का सबसे विख्यात और सम्पन्न मंदिर पेरू में था। स्पेन-निवासियों ने इसे नष्ट-भ्रष्ट कर गिरजाघर के रूप में परिवर्त्तित कर दिया। आज भी अमेरिका में अनेक सूर्य-मंदिरों के भग्नावशेष मिलते हैं। इनमें कतिपय मंदिरों के नाम संस्कृत में हैं।

अमेरिका के आदिनिवासी और खास करके मैक्सिको के 'मय' जाति के लोग कला-कौशल में विशेषरूप से प्रवीण थे। आज भी अनेक मन्दिरों और राजप्रासादों के खँडहरों द्वारा इस धारणा की पुष्टि होती है। महाभारत में लिखा है कि जब पाण्डवों को आधा राज्य मिला तब उन्हें नगर-निर्माण करवाने और राजप्रासाद बनवाने की आवश्यकता हुई। 'मय' राक्षस ने इन्द्रप्रस्थ में जो महल तैयार किया वह अपूर्व था। स्पष्ट है कि मय दानव (मय) मैक्सिको के निवासी थे।

प्राचीन अमेरिकावासियों और विशेष कर मैक्सिको के मय जातिवालों की वेश-भूषा, रहन-सहन, धार्मिक विचार तथा देवी-देवता अमेरिका पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव सिद्ध करते हैं। होली, दशहरा-जैसे उत्सव वहाँ मनाये जाते हैं जिनमें झाँझ, मृदंग आदि भारतीय वाद्यों का उपयोग होता है। यज्ञोपवीत-धारण विधि, स्त्रियों और पुरुषों के पहनावे, उनके मुख की बनावट आदि से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि अमेरिका के आदि-निवासी मूलतः भारतीय थे। श्रीमती रटल ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में प्रमाणित किया है कि अमेरिका-निवासियों की पूजाविधि प्रायः वैदिक ढंग की है। जर्मनी के दार्शनिक और प्रसिद्ध पर्यटक हमबोल्ट साहब ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है कि अमेरिका में अब भी हिन्दुओं के सांस्कृतिक चिह्न विद्यमान हैं। हैल्थ साहब ने अपने अनेक ग्रंथों में उल्लेख किया है कि भारतीय देवी-देवताओं के अनुकरण पर अमेरिका में मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं और उनकी पूजा भी उसी प्रकार हुआ करती थी। भारत के राम-पद-चिह्न तथा बुद्ध-पद-चिह्न के समान मैक्सिको में भी कोयटेजाल, सूर्यकोट आदि देवताओं के पद-चिह्नों की पूजा होती है।

'हाम्सवर्थ हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड' में संसार की समस्त प्राचीन जातियों के चित्र दिये गये हैं। उन चित्रों में सबके पास धनुष-बाण पाये जाते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि संसार की समस्त जातियाँ आदिकाल में धनुष-बाण चलाती थीं, और धनुष-बाण आर्यों के ही अस्त्र हैं।

भारत के प्राचीनतम साहित्य में अमेरिकनों का जिक्र है—ऐतरेयब्राह्मण में वीच्यों और अपाच्यों के राजाओं का वर्णन है। कहा जाता है कि ये देश पश्चिम में थे। मेक्सिको में अपाच्य-नामक मूल निवासी अभी तक हैं। महाभारत में लिखा है कि उद्दालक मुनि पाताल में ही निवास करते थे। अर्जुन की स्त्री उलूपी वहीं की थीं। इन सब आधारों पर मैक्सिको के एक इतिहासकार ने स्पष्टतया कहा है कि अमेरिका की भूमि पर जिन लोगों ने पहले-पहल पदार्पण किया था वे उन्हीं लोगों में से थे जो सभ्यता-विस्तार के निमित्त भारत से पूरब की ओर बढ़े थे।*

इस प्रकार प्राचीनकाल से ही भारत का विदेशों के साथ संबन्ध पाया जाता है। पुरातत्त्व-विशारदों की तो मान्यता है कि भारत ही संसार का सर्वप्रथम सभ्य देश है; विश्व के अन्यान्य भागों में इसी देश से ज्ञान-ज्योति पहुँची थी। अन्य देशों पर भारत की विजय राजनीतिक नहीं, अपितु धार्मिक थी। भारतीयों ने, पाश्चात्यों के समान, उन देशों के आदिनिवासियों का उन्मूलन और शोषण नहीं किया। वे उनसे मिलकर रहे तथा उनके देशों की हर तरह से अभिवृद्धि की, जिसके फलस्वरूप अब भी उन देशों में भारत गौरव की दृष्टि से देखा जाता है। जगत् को भारत की देन है—धर्म, दर्शन, ज्ञान और आध्यात्मिकता। भारत अपनी आध्यात्मिकता के द्वारा जनता के हृदय-परिवर्त्तन में सफल हुआ। वह आदिकाल से ही मनुष्य-जीवन को सुख-शांतिमय बनाने का सफल अनुसंधान करता आ रहा है। भारत को धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिए यह आवश्यकता नहीं हुई कि सेना आगे-आगे मार्ग निष्कंटक करती चले। भारत ने ज्ञान और दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए कभी रक्तपात नहीं किया।

भारत अब स्वतन्त्र है। अब भी उसकी स्वार्थमय नीति नहीं। आज भी वह 'बहुजन-हिताय'-'बहुजन-सुखाय' की भावना से प्रेरित होकर ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहता है। आशा है, वह एक बार फिर सारे संसार में आर्य-संस्कृति की महत्ता प्रतिष्ठित करने में समर्थ होगा।

---

*अमेरिका में हिन्दू-प्रभाव-संबन्धी विशेष जानकारी के लिए दीवान चमनलाल का 'हिन्दू-अमेरिका' नामक ग्रंथ पढ़ना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद
भारतीय संस्कृति का मूलाधार—गो-सेवा

गाय के प्रति भारतीयों की श्रद्धा-भावना न तो मनोवैज्ञानिक कुतूहल ही है और न निराधार विश्वास की बहक ही। इसका आध्यात्मिक सिद्धान्त के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। यह महान भारतीय धर्म का एक अंग है। गौ के अंग-अंग और रोम-रोम में देवताओं का निवास माना जाता है। ऐसा समझना उचित भी है।

अनेक विद्वानों की धारणा है कि वैदिककाल के प्रारम्भ में गोमेध (गोवलि) की प्रथा यज्ञ की मुख्य क्रिया थी। किन्तु, यह धारणा गलत है। ऋग्वेद (८।१०१।१५) के निम्नलिखित मंत्र से इसकी पुष्टि होती है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

अर्थात्—'गौ शत्रुओं को रुलानेवाले वीर मरुतों की माता, वसुओं की कन्या, अदिति के पुत्रों की बहिन और अमृत का तो मानो केन्द्र ही है। इसलिए मैं विवेकी मनुष्यों से घोषणापूर्वक कहता हूँ कि निरपराध तथा अवध्य गौ का बध न करें।'

गौ की महिमा अथर्ववेद के निम्नलिखित मंत्रों से भी स्पष्ट है—

(१) **यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ्ङ सूर्यं च मेहति**
तस्य वृश्चामि ते मूलं नच्छायो करवो परम्। अथर्ववेद १३।१।४६

अर्थात्—जो गाय को लात मारता है, वह सूर्य के सम्मुख मल-मूत्रादि त्याग करता है, अतः वह दंडनीय है।

(२) **मुग्धा देवा उत शुनायजन्तो त गोरङ्गैः पुरुधा यजन्तः।** अथर्ववेद ७।५।५

अर्थात्—वे याजक मूढ़ हैं जो कुत्ते, गौ आदि पशुओं के अंगों से हवन करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि गौ की वलि द्वारा यज्ञ करने की प्रथा वैदिकयुग में हेय समझी जाती थी। पाणिनि के अनुसार तो गोवलि का अर्थ पूजोपहार, भेंट या गायों का खाद्यपदार्थ होता है, न कि गोवध। रघुवंश के दूसरे सर्ग में 'ततो न्यस्तवलिप्रदीपाम्' पद आया है जिससे वलि का अर्थ—स्पष्टतया 'नंदिनी' गौ के लिए उसके सम्मुख रखे गये घासादि खाद्य पदार्थ का बोध होता है। राजा दिलीप नन्दिनी की सेवा में रत थे। उनका एकमात्र उद्देश्य था उसकी सेवा और रक्षा। अतएव यह वलि शब्द स्पष्टतया नंदिनी के लिए भेंट, पूजोपहार आदि अर्थ ही व्यक्त करता है, न कि उसकी हत्या।

महाभारत (आ० १००।११८) में स्पष्टतया कहा है कि हे राजेन्द्र युधिष्ठिर, जो लोग गोरक्षा, स्त्रीरक्षा, गुरु और ब्राह्मण की रक्षा के लिए प्राण दे देते हैं, वे इन्द्रलोक जाते हैं। महाभारत में ही लिखा है कि जो उच्छृङ्खलतावश मांस बेचने के लिए गोहिंसा करते हैं, गोमांस खाते हैं तथा स्वार्थवश कसाई को गाय मारने की सलाह देते हैं, वे महान् पाप के भागी होते हैं। गोघाती, उसका मांस खानेवाले तथा उसकी हत्या का अनुमोदन करनेवाले पुरुष, गाय के शरीर में जितने रोएँ होते हैं उतने वर्षों तक, नरक में पड़े रहते हैं (अनु० ७४।३०४)। पुराणों में, पद-पद पर, गाय की अनन्त महिमा गाई गई है। श्रीकृष्णचरित्र तो गो की महिमा से ओतप्रोत है।

बौद्ध धम्म-सुत्त में भगवान बुद्ध कहते हैं कि पूर्वकाल में ऋषि लोग माता-पिता और बंधु-बान्धवों के समान ही गायों को अपना मित्र मानते थे। गाय से औषध-निर्माण होता है। वह अन्न, बल, रूप और सुख देती है। यह जानकर वे गायों को नहीं मारते थे।

जैन-धर्म के पंच महाव्रतों में भी अहिंसाधर्म सर्वोपरि माना गया है। अहिंसा-धर्म-प्रेमी होने के कारण, गोपालन में जैनी लोग बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

यह निर्विवाद है कि पारसियों के पूर्वजों और वैदिक आर्यों में बहुत-से आचार-विचार समान थे। पारसी-मतानुसार, भगवान ने महान जरथुस्त्र को ईरान में जन्म देकर वहाँ के लोगों को गो की इज्जत सिखाने के लिए भेजा था। जरथुस्त्र द्वारा प्रवर्तित धर्म में गाय जीवन की आत्मा ही नहीं, सारे विश्व की प्रतीक बनी। जरथुस्त्र-धर्म का एक अत्यन्त महान और पवित्र उत्सव 'निरंगदीन' है। उसमें वृषभ-मूत्र अभिमंत्रित करके सँभालकर रखा जाता है। सारे शुभ अवसरों पर इस अभिमंत्रित गोमूत्र का उपयोग आवश्यक समझा जाता है। इसका पान भी किया जाता है और यह शरीर पर मला भी जाता है। पुरोहितों के प्रत्येक दीक्षा-संस्कार में इस पवित्र पदार्थ का उपयोग आवश्यक है। आज भी पारसी लोग घास खरीदकर सड़कों पर गायों और गोजाति के अन्य मारे-मारे फिरनेवाले पशुओं को खिलाया करते हैं। गाय का महत्त्व, पारसी धर्मग्रन्थ 'यश्न' (२६।१) की गाथाओं से स्पष्ट है। 'जो गाय के प्रति दयालु होते हैं जरथुस्त्र उनपर दया करते हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं। किन्तु जो गाय को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाते हैं उनपर वे बड़ी कड़ी दृष्टि रखते हैं, उन्हें अभिशाप देते हैं।' यश्न ३२।१२ की गाथाओं के अनुसार 'दुष्टों का एक लक्षण यह भी है कि अकारण ही गायों को सताते हैं।' यश्न (४६।४) में, ईश्वर के सभी सच्चे भक्तों को धर्म-विरोधी और गो-द्रोही लोगों के प्रयत्नों को विफल कर देने के लिए कहा गया है। यश्न (५१।१४) में जरथुस्त्र अपने भक्तों को बताते हैं कि

जो लोग गाय की सेवा से जी चुराते हैं, परलोक जाने पर वे नरक या असत्यलोक को प्राप्त होते हैं। यश्न (३३।४) में जरथुस्त्र भगवान से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो, हमारे हृदय के अन्य दोषों के साथ-साथ गोहित के प्रति हमारी उदासीनता भी नष्ट कर दीजिए। यश्न (४५।६) में उन्होंने ईश्वर से विनय की है कि मनुष्य-जाति के अभ्युदय तथा गौओं का हित करने के लिए आवश्यक बुद्धि, सदाचार और दृढ़ता प्रदान करें।

कुरान के पहले, अरब में गाय की पूजा विधिवत् होती थी। कुरान (१।११४६-४८) में कहा है—'जो बैल को काटता है वह उस आदमी की तरह है जो मनुष्य को मारता है।' हजरत मुहम्मद ने एक जगह पर कहा है कि भेड़ की कुर्बानी सबसे अच्छी है। आपने गाय की कुर्बानी कभी नहीं की। हजरत मुहम्मद के जामाता और मुस्लिम-धर्म के प्रधान संत 'अली' को गाय के लिए इतना सम्मान था कि उन्होंने अपने जीवन में कभी गोमांस नहीं छुआ।

मध्य-पूर्व एशिया में जो मुस्लिम देश हैं उनमें गोहत्या प्रचलित नहीं है। एक अफगान लेखक लिखते हैं कि हम नौ बरस अरब में रहे और चार वर्षों तक दमिश्क में। वहाँ शाह के कयाल बाजार में गाय के गोश्त की सिर्फ एक ही दूकान थी। किसी भी मुसलमान को कभी उस दूकान से गोश्त खरीदते हुए नहीं देखा। सिर्फ यहूदी और ईसाई ही खरीदते थे। वे लिखते हैं कि हम कुस्तुनतुनिया और अंतोलिया में भी रहे। वहाँ भी मुसलमानों को गोमांस छूते तक नहीं देखा। केवल ईसाई उसका व्यवहार करते थे। मिस्र के 'केरो' शहर में बारह लाख आदमी है। वहाँ गाय के गोश्त की सिर्फ चार-पाँच दूकानें हैं। ये दूकानें भी सिर्फ अंग्रेजों और यहूदियों के लिए हैं। अफगानिस्तान में काम के लायक जानवर नहीं मारे जाते।

भारत के अधिकांश मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं के भावों का बराबर आदर किया। इतिहासकार 'हंटर' लिखते हैं—प्रारंभ में मुसलमान बादशाहों ने गोवध पर एक तरह का कर लगा दिया था जिसे 'जजारी' कहते थे। यह कर कसाइयों से वसूल किया जाता था। फीरोजशाह तुगलक के समय में यह कर जारी था। बर्नियर आदि विदेशी यात्री उस समय भारत आये थे। उनके वर्णन में आता है कि उस समय गोवध मनुष्यवध की तरह दंडनीय था। उन लोगों ने बादशाह के भोज्य पदार्थों की जो सूची दी है, उसमें गोमांस नहीं है। १८ नवंबर, सन् १९२२ के 'तौफी हिन्द' नामक पत्र ने इस आशय का एक वक्तव्य निकाला था कि लोदी शासकों के समय भारत में कहीं गोवध नहीं होता था। १७वीं सदी में भारत आनेवाले यात्रियों ने ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे प्रकट होता है कि गोवध करनेवालों को बादशाह प्राणदंड तक देते थे। मरने के समय, बाबर ने अपने पुत्र हुमायूँ के नाम गोवध के विरुद्ध एक पत्र लिखा था। बादशाह द्वारा हस्ताक्षरित उस पत्र की मूल प्रति भोपाल राज्य-पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसका फोटो लेकर बिहार के कांग्रेसी मुसलमान नेता डा० सैयद महमूद ने 'माडर्न रिव्यू', (कलकत्ता) में एक विस्तृत लेख लिखा था। मुसलमानी शासन का अंत होने के बाद उस धर्म के नेताओं और आचार्यों ने जो फतवे दिये तथा समय-समय पर मत प्रकट किये हैं उनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) गाय की कुर्बानी करना इस्लाम-धर्म का नियम नहीं है। (फतवे हुमायूनी, भाग १, पृष्ठ ३६०)

(२) बकरे और भेंड़ की कुर्बानी भी गाय की कुर्बानी से अच्छी है। (दारउल मुखतियार, भाग ४, पृ० २२८)

(३) गाय की कुर्बानी की अपेक्षा भेंड़-बकरे की कुर्बानी अच्छी है। (कस्तुनतुनिया के सादिक का फतवा)

(४) गाय की कुर्बानी आवश्यक और नैमित्तिक नहीं है। अगर कोई इसे छोड़ देता है तो धर्मविरुद्ध काम नहीं करता। (लखनऊ के मौलाना का फतवा)

(५) न तो कुरान और न अरब की प्रथा ही गाय की कुर्बानी का समर्थन करती है। (हकीम अजमल खाँ)

(६) गाय की कुर्बानी मुसलमानी धर्म का नियम नहीं है। (मिया छोटानी)

(७) मुसलमान गाय नहीं मारें। यह हदीस के खिलाफ काम है। (मौ० हयात साहब)

(८) मुसलमान मुल्लाओं की राय लेकर अफगानिस्तान के अमीर ने गोवध रोकने के लिए कानून बनवाया था।

(९) सन् १९२३ में अफगानिस्तान के अमीर के फरमान के पश्चात् उसी तरह का मिलता-जुलता फरमान हैदराबाद के निजाम ने निकाला था तथा अपने राज्य में गोवध बंद करवा दिया था।

मुसलमानों में ऐसे कितने ही सन्त, वैष्णव और कवि—कबीर, जायसी, रसखान, रहीम आदि—हुए हैं जिन्होंने मुक्त हृदय से गोरक्षा का समर्थन किया है।

गोवध के लिए हिन्दू भी बहुत अंशों में जिम्मेवार हैं। अनेकों हिन्दू प्रतिदिन बूढ़ी-निकम्मी गायों या बैलों को, कुछ रुपयों के लोभ से, कसाइयों हाथ बेच देते हैं। निर्दय हिन्दू किसान और गाड़ीवान भी गोजाति के साथ जो व्यवहार करते हैं वह सर्वविदित है। वे एक प्रकार से नाममात्र के गोपूजक हैं। वास्तविक गोपूजक तो पाश्चात्य देशों के लोग हैं जो गोपालन में चरमोत्कर्ष तक पहुँचे हुए हैं। हिन्दुओं की तरह वे गोपूजक तो नहीं हैं, किन्तु आर्थिक लाभ के खयाल से ही सही, समुचित गोसेवा अवश्य करते हैं।

भारत के प्रसिद्ध विद्वान्, भक्त और दार्शनिक डा० मुहम्मद हाफिज सैयद लिखते हैं—"जब मैं इंगलैंड में था, मैंने वहाँ की बहुत-सी दुग्धशालाओं को देखा था। वहाँ का उच्च कोटि का प्रबंध देखकर मैं तो आश्चर्यचकित रह गया। लंदन की दुग्धशालाओं की गायों को निश्चित समय पर भोजन दिया जाता है तथा प्रतिदिन स्नान कराया जाता है। गाय दूहनेवाली ग्वालिनों के नख प्रतिदिन काटे जाते हैं। यदि चाहते तो हम भी, अंग्रेजों की तरह, सावधानी से गोमाता का पालन-पोषण कर सकते थे। अंग्रेज लोग शुद्ध गोदुग्ध और उसके पोषक तत्त्वों को बहुत महत्त्व देते हैं, परंतु हम भारतवासी इन मूक प्राणियों के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही पूर्ण संतोष लाभ कर लेते हैं और अपने धार्मिक भावों को कार्यरूप में बहुत कम परिणत करते हैं।"

क्या हिन्दू एक मुसलमान के उक्त हृदयोद्‌गार पर ध्यान देंगे? हिन्दू-धर्म में विभिन्न मत हैं; उनमें बहुत-सी असमानताएँ भी हैं। किन्तु इन सब विषमताओं के बीच भी, गोरक्षा और गोसेवा ही वह केन्द्रबिन्दु है जहाँ पर सभी एकमत हैं। भारत के पारसी, सिख, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी अपने-अपने दृष्टिकोण से गाय का आदर करते हैं। अतएव, समस्त भारतीयों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे कृषिप्रधान भारत के लिए अतीव उपयोगी जीव (गाय) के वास्तविक आदर और सेवा की भावना को सक्रिय महत्त्व दें। इसी भावना की नींव पर भारतीय संस्कृति का विशाल नूतन प्रासाद खड़ा हो सकता है जिसकी भव्यता समग्र भूमंडल की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होगी।

चौथा परिच्छेद

वर्णाश्रमधर्म तथा अस्पृश्यता

जिस देश में मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए ऊँचे-से-ऊँचे सिद्धान्त बने हों और ऊँची-से-ऊँची सामाजिक व्यवस्था विकसित की गई हो, वहाँ मानव-समाज के एक आवश्यक अंग को अस्पृश्य कहकर ठुकराया जाय—यह अत्यन्त दुःख और आश्चर्य की बात है। मनुष्यमात्र के निमित्त कल्याणकारी और गौरवान्वित भारतीय संस्कृति के लिए अस्पृश्यता बड़ा भारी लाञ्छन है। वेदों और स्मृतियों के माननेवाले उच्चवर्ण हिन्दू अपने ही समाज के एक अंग को काट-फेंकने में जरा भी नहीं हिचकते, बल्कि अपने इस कुकृत्य को श्रुति-स्मृति-सम्मत मानने की भूल करते हैं। इस दूषित मनोवृत्ति के कारण समाज और राष्ट्र का कितना अहित हो रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है[1]। इसीलिए वर्त्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ मानव महात्मा गांधी का कथन था कि हमलोग अपने पूर्वजों के किये पापों को धोने के लिए हरिजनों की सेवा करते हैं।

वैदिककाल में वर्णव्यवस्था

वर्णव्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद (१०।६०।१२) में मिलता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थात्—उस पुरुष (परमेश्वर) के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

पुरुषसूक्त के उक्त मंत्र में अर्थशास्त्र के कार्यविभाग-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। समाज को पुरुष मानकर आलंकारिक भाषा में उसके भिन्न-भिन्न अवयवों का वर्णन किया गया है। शूद्रों को उस पुरुष के पैरों का स्थान दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शरीर पैरों के आधार पर टिका हुआ है, उसी प्रकार समाज भी शूद्रों के बल पर टिका हुआ है।

---

१ देखिए, प्रो० शिवदत्तशानी—भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १७४

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अस्पृश्य जन शूद्रों से भिन्न हैं। किन्तु पुरुषसूक्त में सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन रहते हुए भी कहीं अस्पृश्यों का उल्लेख नहीं है।

पूर्वकाल में गो-हत्या, ब्राह्मण-हत्या और भ्रूण-हत्या करते जो पाये जाते थे उन्हें अभिशप्त होकर आर्यों की बस्ती से दक्षिण की ओर रहना पड़ता था। वे द्विज के रूप में आर्यों की बस्ती में फिर नहीं आ सकते थे। सूर्योदय से पूर्व, आर्यों की बस्ती साफ करना, गौओं को चराना, मल-मूत्र उठाना, उनका दैनिक कार्य होता था। इस प्रकार प्रथम आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, चार वर्ण ही थे; किन्तु समय के पलटा खा जाने पर आर्यों ने पाँचवें वर्ण को भी जन्म दिया।

यों, उस प्राचीनतम काल में चार ही वर्ण थे और पतितों की गणना अस्पृश्यों में होती थी। यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में जो बहुत-सी जातियों का उल्लेख है, वह भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले लोगों के विषय में है। जाति का तात्पर्य जन्म से है और वर्ण का कर्म से। मनु के अनुसार सुसंस्कृत वर्णवाले—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य 'द्विजाति' कहलाते थे और असंस्कृत वर्णवाले शूद्र। वैदिककाल में वर्ण और जाति में अन्तर माना जाता था। वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म के अनुसार मानी जाती थी। तदनुसार कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार) आदि नामों के साथ-साथ तस्कर (चोर), क्लीव (नपुंसक), पुंश्चली (कुलटा स्त्री) आदि नाम भी जातियों के न होकर गुण-कर्मानुसार हैं।

वर्त्तमान छूत-अछूत की प्रथा न तो किसी विशेष नियम पर निर्धारित है और न उसका कोई शास्त्रीय आधार है। वेदादि शास्त्र तो उसके परम विरोधी हैं ही, स्मृतियों, सूत्रग्रन्थों, पुराणों तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों से भी इसका खण्डन होता है। ऋग्वेद (६।६८।१२) में कहा है—

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः।
अश्नाम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥

अर्थात्—हे मित्रो! तुम और हम मिलकर बलवर्द्धक तथा सुगन्धियुक्त अन्न खाएँ अथवा सहभोज करें।

अथर्ववेद (६।३०।६) ने तो इस भावना को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने याकत्रे सहवो युनज्मि
सम्यचोग्निसपर्यतारा नाभिमिवाभितः।

अर्थात्–हे मनुष्यो! तुम्हारे पानी पीने के स्थान एक हो; तुम्हारा खान-पान एक साथ हो। मैं तुम सबको एक ही प्रकार के नियमों के बंधन में जोड़ता हूँ। तुम सब मिलकर इस प्रकार अग्निहोत्र आदि सार्वजनिक तथा सर्वोपकारी यज्ञ करो जिस प्रकार चक्के की नाभि में डंडे दृढ़ता से जुड़े रहते हैं।

इस मंत्र में सब मनुष्यों को मिलजुलकर खाने-पीने का आदेश दिया गया है, किसी को अछूत नहीं बताया गया है। शूद्र के प्रति घृणा के भाव का कहीं उल्लेख नहीं है, जैसा निम्नलिखित मंत्र से भी स्पष्ट होता है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसमा कृणु

प्रियं सर्वस्य पश्यात उत शूद्र उतार्ये। अथर्व० १६।६२।१

अर्थात्, मुझे देवताओं तथा राजाओं में प्रिय बनाओ। मैं सबका प्रिय बनूँ, चाहे आर्य हो या शूद्र।

इस मंत्र में आर्यों को शूद्रों में भी प्रिय बनने की शिक्षा दी गई है। हम शूद्रों के प्रिय तभी हो सकते हैं जब हम उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।

वैदिक काल में शूद्रों को भी वेद पढ़ने का पूर्ण अधिकार था, जैसा कि यजुर्वेद (२६।२) में कहा गया है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च स्वाय चारणाय च।

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः

समृध्यतामुपमादो नमतु।

अर्थात्—मैं, परमेश्वर और राजा के सदृश सबको सुखदेनेवाली वाणी से समस्त उत्पन्न लोकों के हित के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपने और पराये, सब जनों को सर्वत्र उपदेश करूँ। मैं सर्वजन-हितकर वाणी बोलूँ जिससे मैं विद्वानों का और दक्षिणा वृत्ति देनेवाले पुरुषों का भी इस राष्ट्र में या लोक में प्रिय होऊँ। मेरी यह कामना पूर्ण हो। अमुक पुरुष और मेरा अमुक प्रयोजन मुझे प्राप्त हो, मेरे अनुकूल हो, मेरे अधीन हो।

यहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, सभी का हितकारी बनने को कहा गया है।

मनु ने, श्रुति के अनुसार, आर्यों को चार प्रमुख भागों में विभक्त कर दिया, जिससे धर्म तथा सत्य की रक्षा हो सके और समाज का कार्य सुचारुरूप से चले। आपने इन चारो वर्णों के गुण और कर्म निम्नलिखित रीति से निर्धारित किये—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १।८८

अर्थात्—परमेश्वर ने पढ़ना, पढ़ाना; यज्ञ करना, कराना; दान देना, लेना;—ये छः कर्म ब्राह्मण के बताये हैं।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १।८९

अर्थात्—प्रजा की रक्षा, दान, यज्ञ, पढ़ना तथा विषयवासना से दूर रहना,—ये क्षत्रिय के कर्म हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वाणिक्यं च कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ १।९०

अर्थात्—पशुपालन, दान, यज्ञ, पढ़ना, व्यापार और लेन-देन—ये वैश्य के कर्म हैं।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुकर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ १।९१

अर्थात्—शूद्र का कर्म मुख्यरूप से केवल तीनों वर्णों की सेवा-सहायतामात्र ही रहेगा जिसे वे द्वेषरहित होकर करने में समर्थ हो सकें।

मनु महाराज के उपर्युक्त विधान के अनुसार, आर्यजाति चार वर्णों में बँट गई। जो आर्यजन वेदपाठ, वीरता तथा व्यापार करने में अशक्त थे, वे स्वभावतः शूद्र-वर्ण में आ गये।

किन्तु मनु ने अपने विधान में कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जन्मतः नहीं माने जा सकते; कोई नीच वर्ण का व्यक्ति बुद्धि तथा प्रतिभा के बल पर अपने से ऊँचे वर्ण में भी लिया जा सकता है। इसी प्रकार कोई ऊँच वर्ण का व्यक्ति भी अपने कुत्सित कर्मों और कुसंस्कारों के कारण अपने से नीच वर्ण में भी आ सकता है। यथा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥१०।६५

अर्थात्—शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है और ब्राह्मण शूद्रत्व को। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य को भी जानो।

ब्राह्मण और शूद्र के लक्षण

महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय १८९) में महर्षि भरद्वाज ने भृगु ऋषि से पूछा—'हे द्विजोत्तम, ब्राह्मण कैसे होते हैं? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कैसे होते हैं?' भृगु ने उत्तर दिया—'ब्राह्मण वही है जो यथाविधि सुसंस्कृत, पवित्र, वेदाध्ययनशील, षट्कर्मान्वित, सदाचारी, विद्याव्यसनी, गुरुप्रिय, नित्यव्रती और सत्यपरायण हो। जिसमें सत्य, दान, अद्रोह (मैत्री), अक्रूरता, लज्जा, क्षमा और तप है, वही ब्राह्मण है।' क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में बताने के बाद भृगु कहते हैं—'जो नित्य सब प्रकार की वस्तुएँ खाता है, जो अपवित्र है, जो सब तरह के कर्म करता है, जो वेद को त्याग कर आचारहीन हो गया है, वही शूद्र है।' आगे चलकर महर्षि कहते हैं—'जन्मजात शूद्र यदि चरित्रवान और सुसंस्कृत हो तो वह शूद्र नहीं रहता और यदि उपर्युक्त लक्षण जन्मना ब्राह्मण में न हों तो वह ब्राह्मण नहीं रहता।' महाभारत में इस प्रकार का कथन आदिपर्व, वनपर्व, उद्योगपर्व आदि में भी आया है। अनुशासनपर्व (१४३।५०) में तो पार्वती से शिव स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि द्विजत्व का कारण केवल चरित्र ही है; चरित्र हो तो कोई भी ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है।

वायुपुराण (८।१३४) में कहा गया है कि आदिकाल में न तो वर्णव्यवस्था थी और न वर्णसंकरता। आदिकाल में शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही ब्राह्मणादि वर्ण उत्पन्न हुए थे।

ब्रह्मपुराण (२२३।५३) में कहा है कि शूद्र भी यदि निगमागम-सम्पन्न और सुसंस्कृत हो तो वह द्विज हो जाता है। इसके विपरीत, ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है (२५३।५४)। आगे (२५३।५५) कहा है कि ब्राह्मण शुचि-कर्म-परायण शूद्र की भी सेवा करेगा—यह मत स्वयं ब्रह्मा का है।

महर्षि कवष ऐलूष शूद्रोत्पन्न थे, किन्तु उपर्युक्त विधान के अनुसार, विद्याध्ययन तथा अपने उज्ज्वल चरित्र के बल से वेदमंत्रों के द्रष्टा हुए। मंत्रद्रष्टा ऋषि काक्षिवत, घोषा, काक्षीवती आदि भी शूद्र थे। ऐतरेयब्राह्मण के रचयिता ऐतरेय ऋषि भी शूद्र थे। उनके सम्बन्ध में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि' एक ऋषि की इतरा या शूद्रा पत्नी से उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे। यज्ञ के समय ऋषि ने अपनी ब्राह्मणी पत्नी से उत्पन्न पुत्र को गोद में लेकर उसे नाना तत्त्वों का उपदेश दिया और बेचारे ऐतरेय की उपेक्षा की। दुःखित होकर ऐतरेय ने अपनी माता से अपने मन का दुःख बताया। उनकी माता ने अपनी कुलदेवी मही का स्मरण किया। शूद्रगण तो मही की ही सन्तान हैं (Children of the soil)। पृथ्वी-गर्भ से देवी अविर्भूत हुई और ऐतरेय को दिव्य सिंहासन पर बिठा सर्वोत्तम ज्ञान देकर तिरोहित हुई। तपस्या तथा उक्त प्रकार से प्राप्त ज्ञान के बल पर उन्होंने जिस ग्रन्थ की रचना की वही ऋग्वेद का सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण 'ऐतरेयब्राह्मण' है। मही देवी से शिक्षा पाने के कारण ऐतरेय महीदास भी कहलाते हैं।

अतएव, शूद्र अस्पृश्य नहीं समझा जाता था और न घृणा का पात्र ही था। उसे भी समाज में उपयुक्त स्थान प्राप्त था। विभिन्न वर्णों के लोग योग्यपात्र निर्वाचन-पूर्वक आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार किया करते थे। विवाह में प्राचीन आर्यों को वर्ण-विभेद मान्य नहीं था। किन्तु मनु ने अपने विधान में निम्नलिखित सिद्धान्त निरूपित किया है—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥३।१३

अर्थात्—शूद्र की स्त्री शूद्रा हो, वैश्य की स्त्री वैश्या तथा शूद्रा हो और ब्राह्मण की स्त्री ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा शूद्रा हो।

इस प्रकार, मनुकाल में भी शूद्र की कन्या अन्य उच्च वर्णों से ब्याही जाती थी। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं माना जाता था। किन्तु शूद्र का ब्राह्मण-कन्या से विवाह हेय समझा जाता था। शास्त्र के मत से, अनुलोम विवाह तो मान्य था, किन्तु प्रतिलोम विवाह (ऊँचे वर्ण की कन्या का नीच वर्ण के वर के साथ विवाह) मान्य नहीं था। तो भी अनेक प्रतिलोमज सन्तानें अपने सदाचार और तपस्या के कारण ब्रह्मर्षियों द्वारा सम्मानित हुईं। प्रतिलोमज रोमहर्ष सूतपुत्र ने नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को भागवत की कथा सुनाई थी।

श्रीधर स्वामी ने भी अपनी टीका में 'उन्हें सूत प्रतिलोमज' कहा है। परन्तु प्रतिलोमज होने से रोमहर्षण का स्थान नीचा नहीं गया हो था।[२]

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पतितों का अधर्म से उपार्जित किया हुआ धन लेने का निषेध किया गया है। किन्तु पतितों की कन्या का ग्रहण करने का निषेध नहीं है। कन्या के लिए उपवास का जो बन्धन लगाया गया है, वह केवल इसीलिए कि कदाचित् कन्या ने पतित पिता के घर में रहते हुए कभी अभक्ष्य-भक्षण किया हो तो वह उपवास करके शुद्ध हो जाय। मनु के अतिरिक्त, महाभारत के अनुशासनपर्व (अध्याय ४७ श्लो० ३।४) में भी ब्राह्मणों को चारों वर्णों की कन्या से विवाह करने की अनुमति दी गई है। इससे

१ भारत में जातिभेद, पृष्ठ ८५ २ भारत में जातिभेद, पृष्ठ ६०

विदित होता है कि शूद्र अछूत नहीं थे। ऊपर के प्रमाणों में पतितों तथा शूद्रों की कन्याओं से विवाह करने की जो व्यवस्था दी गई है उसके अनुसार, समय-समय पर विवाह होते रहे हैं। कहा है—

> अक्षमाला वशिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
> शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥ ६।२३

अर्थात्—अधम योनि में उत्पन्न होकर भी अक्षमाला ने वशिष्ठ से तथा शारंगी ने मन्दपाल से विवाह करके सम्मान पाया।

भविष्यपुराण (४२। २२-२४) में खुले-खजाने जातिभेद पर आक्रमण किया गया है। लिखा है कि कैवर्त-कन्या से व्यास का और चाण्डाली से पराशर मुनि का जन्म हुआ। शुकी से शुकदेव तथा उलूकी से कणाद मुनि पैदा हुए। मृगी से शृंगी ऋषि और गणिका से वशिष्ठ ऋषि उत्पन्न हुए। मुनियों में श्रेष्ठ मन्दपाल 'लाविक' से उत्पन्न हुए और अपने कर्मबल से ब्राह्मण बन गये। कैवर्त की रूपवती कन्या सत्यवती का विवाह पाण्डवों के प्रपितामह शान्तनु के साथ हुआ। इसी प्रकार महाभारत-शान्तिपर्व (२६६। १४-१६) में हम पराशर ऋषि का प्रसंगवश यह उद्‌गार पाते हैं—'हे राजन्! मेरे नाना, शृंगी ऋषि, कश्यप, वेद, ताण्डव, कक्षीवान्, कमठ, यवक्रीत, द्रोण, आयु, मातंग, दत्त, द्रुपद, मात्स्य आदि बहुत-से ऋषि नीच कुल में उत्पन्न हुए थे, फिर भी तप तथा वेदाध्ययन से वे श्रेष्ठता को प्राप्त हुए।'

स्मृतियों तथा सूत्रग्रन्थों में शूद्रों और अछूतों के घर का बना हुआ अन्न खाना भी विहित था। मनु ने कहा है—

> संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
> याजनाध्यापनाद्यौनात्नतु यानासनाशनात्॥ ११।१८०

अर्थात्—एक वर्ष तक पतितों के साथ मिलकर यज्ञ कराने, पढ़ने और योनि-सम्बन्ध करने से मनुष्य पतित हो जाता है। परन्तु एक आसन और एक यान पर बैठने तथा सहभोज करने से पतित नहीं होता।

इस श्लोक में मनु ने पतितों को भी अछूत नहीं माना।

वराहपुराण (३८।११-३०) में दुर्वासा ऋषि के एक व्याध के घर पर भोजन करने का उल्लेख है। व्याध के पास जाकर ऋषि कहते हैं—'हे व्याध, मैं बहुत भूखा हूँ। मुझे जौ, गेहूँ, चावल आदि अन्न द्वारा उत्तम संस्कार के साथ तैयार किया हुआ भोजन दो, क्योंकि मैं इसी आशा से तुम्हारे घर आया हूँ कि मुझे यहाँ भोजन मिलेगा।' तब व्याध ने घर में जाकर, जो भोजन तैयार था, लाकर ऋषि को दे दिया। जब दुर्वासा की क्षुधा शान्त हो गई तब प्रसन्न होकर उन्होंने उसको रहस्य-सहित वेद पढ़ाया। इससे यह स्पष्ट है कि उस काल में शूद्रों का वेदपाठ भी मान्य था।

स्मृतियों, पुराणों तथा सूत्रग्रन्थों में केवल शूद्रों के हाथ और घर का अन्न खाने की व्यवस्था ही नहीं दी गई है; बल्कि, इसके अनुसार, शूद्र सदा ही द्विजों के घर रसोई आदि

बनाते थे और द्विज उनके घर का अन्न भी खाते थे। बाद में इस व्यवहार का निषेध हो गया।[१]

पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में शूद्र और पतित भी अछूत नहीं थे। वे वेदादि शास्त्र पढ़ते थे। द्विज उनके हाथ और घर का बना हुआ भोजन करते थे, साथ-साथ, उनकी कन्याओं से विवाह भी। इस प्रकार, शूद्र और पतित उचित व्यवसाय करते हुए आत्मोन्नति कर सकते थे।

उपर्युक्त प्रमाणों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में समाज 'श्रम-विभाजन' के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। सबको विवाहादि की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इतिहास से पता चलता है कि पाँचवीं शताब्दी तक जातिभेद के कुंठित विचार समाज में नहीं फैले थे। अतएव, उस समय तक जितने भी विदेशी आये, उन सबको हमारा समाज पचा गया। किन्तु मुसलमानों के आते ही हमारे समाज को मन्दाग्नि रोग हो गया और उसका शरीर सड़ने लगा। परिणामस्वरूप, भारत की सामाजिक स्थिति असन्तोषप्रद हो गई। धार्मिक ग्रन्थों के सच्चे मर्म धीरे-धीरे भुलाये जाने लगे। अहिंसा के सिद्धान्त के कारण भी शाकाहारी लोग, मांसाहारियों के साथ, भोजन न कर सके। इसलिए भोजन के नियम बनने लगे। क्रमश: रीति-रिवाजों की भिन्नता के कारण भी समाज के छोटे-छोटे टुकड़े होने लगे। फल यह हुआ कि प्रत्येक वर्ण में भोजन-विवाह-संबन्धी भिन्नता आ गई। ऊँचे वर्णों की देखादेखी, शूद्रों ने भी अपने को उपवर्णों में विभाजित कर लिया। जो शूद्र भारतीय समाज की सफाई के जिम्मेवार थे, किन्तु पिछड़े हुए थे, वे अछूत समझे जाने लगे। उन लोगों को बस्ती से बाहर रहना पड़ता था। गरीबी के कारण वे सभ्य ढंग से नहीं रह पाते थे। उन्हें और भी बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। धीरे-धीरे उन अन्त्यजों में भी छोटे-छोटे विभाग बन गये और छुआछूत का रोग फैल गया।

वर्णव्यवस्था की जटिलता का परिणाम

पराशरस्मृति ने निम्नलिखित बातों को कलि में निषिद्ध घोषित किया है—

(१) द्विजों का असवर्ण-विवाह। (२) शूद्र भृत्यों के हाथ से ब्राह्मणादि का अन्नग्रहण। (३) यतियों द्वारा सर्ववर्ण का अन्न-ग्रहण।

इन निषेधों के संबन्ध में शामशास्त्री कहते हैं कि बौद्ध और जैनधर्म का वैराग्य-प्रधान मत और कृच्छ्राचार ही इनके कारण हैं। ऊँचे वर्ण के लोगों ने जीवहिंसा छोड़ी, किन्तु शूद्रों ने नहीं छोड़ी। इसीलिए शूद्रों के हाथ का अन्न निषिद्ध हुआ।[२]

आज भी, जगन्नाथपुरी तथा श्रीबदरीनारायण में अन्न जल के स्पर्श का विचार नहीं है। किन्तु वहाँ भी मन्दिर में हीन जाति के लोग प्रवेश नहीं पाते हैं।

मालावार के नाम्बूद्री ब्राह्मण अछूत नायरों की लड़कियों के साथ गृहस्थी चलाते हैं। वे दिन में इनका स्पर्श नहीं करते, और प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं। इस

---

१ पराशरमाधव, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १२३-२५, आचारकाण्ड

२ भारत में जातिभेद, पृष्ठ ५८

प्रकार नायर स्त्रियों के साथ नाम्बूद्री ब्राह्मणों का सम्बन्ध तो होता है, पर नायर से छू जाने पर वे अपवित्र माने जाते हैं।

यह जातिभेद बढ़ते-बढ़ते पराकाष्ठा पर पहुँच गया। दक्षिणभारत में, उल्लादन जाति के लोग यदि चालीस हाथ के भीतर आ जायँ तो शूद्र भी दूषित हो जाता है, ब्राह्मणादि की तो बात ही क्या? दक्षिण में नीच जाति यदि ब्राह्मण के मुहल्ले में आ जाय, अथवा ब्राह्मण नीच जाति के मुहल्ले में चला जाय, तो खूनखराबी की नौबत आ जाती है।

जातिभेद का परिणाम

मनुष्य-समाज में ऊँच-नीच का भेद सर्वत्र है, किन्तु हमारे देश के जातिभेद-सा और कहीं नहीं है। अन्यान्य देशों में, समस्त भेदों के भीतर धर्म ही ऐक्य स्थापित करता है, किन्तु हमारे देश में जातिभेद की दीवार ही धर्म पर खड़ी की गई है। सहजबुद्धि इस भेद को स्वीकार नहीं करती।

जिस महान उद्देश्य से वेदों ने वर्णव्यवस्था चलाई थी, उसके अन्तर में जो महान आदर्श निहित था, उससे आदर्श समाज-व्यवस्था कायम हुई। वर्णाश्रमव्यवस्था द्वारा मानवमात्र का परमकल्याण-साधन ही उनका अभीष्ट था। किन्तु, कालान्तर में, वर्ण-व्यवस्था के पूर्णतया जन्मगत हो जाने के कारण, भारत की अवनति होने लगी। अनेक भारतीय, हिन्दू-समाज से अलग हो गये अथवा बलात् अलग कर दिये गये। बेसनगर में प्राप्त सन् ईसवी-पूर्व की दूसरी शताब्दी के एक शिलालेख से जान पड़ता है कि तक्षशिला-वासी ग्रीक नरपति हेलियोडोरस ने जो परमभागवत था, गरुड़ध्वज बनवाया था। कनिष्क, हुविष्क आदि शक्तिशाली राजा, जो विदेशी थे, भारतीय समाज में अनायास ही गृहीत हो गये। काडवाइसर परममाहेश्वर (शैव) हो गये थे। श्रीनगर (कश्मीर) के राजा मिहिरकुल ने मिहिरेश्वर महादेव की स्थापना की थी। इस प्रकार नाना युगों में नाना स्थानों से आये हुए शक, हूण, यवन, कांची, मीना प्रभृति वीरों के दल भारतीय समाज की शक्ति को संजीवित रखते रहे। हाल में जयन्तिया, काछारी, मणिपुरी आदि जातियों ने भी हिन्दू-समाज का अंग पुष्ट किया है।

किन्तु समय ने पलटा खाया। एक ओर तो अन्यान्य धर्मावलम्बी नाना उपायों से अपनी जन-संख्या बढ़ाने लगे, और दूसरी ओर, हिन्दू अपने समाज के अंगों का विच्छेद करने लगे। भारत के इतिहास में यह कथा अत्यन्त दुःखद और लज्जाजनक है। इससे हिन्दू-समाज का क्रमशः क्षय होता जा रहा है। हिन्दू-समाज में बाहर से आने का रास्ता बन्द है। घर का आदमी भी यदि एक बार बाहर चला गया तो फिर उसका घर में आना असम्भव ही है। भीतर आने में प्रधान बाधा जातिभेद है। यदि बाहरवालों को भीतर बुलाया भी जाय तो समस्या यह होती है कि उन्हें रखा जाय किस जाति में? इसी कारण स्वामी श्रद्धानन्द तथा आर्यसमाज का शुद्धि-आन्दोलन सफल नहीं हुआ। अनेक विधर्मी शुद्ध होने पर भी समाज में यथोचित स्थान न पा सके और वापस हो गये। कश्मीर और पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की बहुलता इसी निष्ठुर काण्ड का दुष्परिणाम है। फिर अपना जब एक बार पराया हो जाता है तब उसकी प्रतिक्रिया बड़ी ही प्रचण्ड

और निर्मम होती है। कालापहाड़ की कथा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जो अपमानित करके जाति से बहिष्कृत किया जायगा वह उस अपमान को भला कैसे भूल सकेगा।

जातिभेद के कारण जो एक बड़ा ही निष्ठुर काण्ड चलता आया है, वह यह है कि बहुत-से हिन्दू जो बर्मा आदि देशों में जाकर वहाँ की स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं, उन्हें लेकर घर नहीं लौट सकते। उन्हें जाति-पाँति का भय रहता है। स्वदेश लौटते समय उन्हें अपनी स्त्रियों और सन्तानों-सहित विधर्मियों की शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार हिन्दू-समाज तिल-तिल छीजता जा रहा है।

जब हिन्दू-समाज में जातिभेद की प्रथा इतनी जटिल और कठोर नहीं हुई थी तब हिन्दुओं ने नाना देशों में जाकर नये-नये उपनिवेश स्थापित किये थे। उन दिनों भारतीय संस्कृति ब्रह्मदेश, स्याम, कंबोडिया, जावा सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों तक ही नहीं फैल सकी थी, अपितु, सुदूर अमेरिका तक भी हिन्दू-संस्कृति का प्रसार हुआ था। जब भारत में छुआछूत का विचार प्रबल हुआ तभी समुद्रयात्रा निषिद्ध हुई और साथ-ही-साथ, पृथ्वी के अन्यान्य स्थानों से भारतीय समाज का सम्बन्ध टूट गया। ऐसे ही समय में पश्चिम की ओर से भारत पर अनेक आक्रमण हुए। जिन देशों में जातिभेद नहीं है उन देशों के लोग बाहरी आक्रमण होने पर सम्मिलित शक्ति से लड़ते हैं। इस देश में युद्ध करना एक श्रेणी-विशेष का कार्य माना जाता था। परिणाम यह हुआ कि जब यह श्रेणी—क्षत्रिय जाति—पारस्परिक फूट और असंगठित होने के कारण पराभूत हो जाती थी तब बाकी लोग असहाय होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। इस प्रकार आक्रमणकारियों को बराबर सुविधा और उत्तेजना मिलती गई।

जिस हिन्दूजाति ने ही बाहर से आनेवाली कितनी जातियों को अपने में मिला लिया, जिसमें संसार को अपना कुटुम्ब बनाने की अद्भुत क्षमता और एकत्व स्थापित करने की महत् आकांक्षा थी, वह आप अपने ही अंग को सदा के लिए अछूत ठहराये, इस बात को बुद्धि अंगीकार नहीं करती। अतएव बीसवीं सदी के सर्वश्रेष्ठ मानव महात्मा गांधी ने यथार्थ ही कहा है कि 'अछूतपन धर्म-विहित नहीं है, बल्कि यह शैतान का धर्म है।'

अस्पृश्यता का रिवाज अनीतिमूलक है; जंगलीपन और क्रूरता से भरा है। जो समाज ऊँच-नीच के भेदों की प्रथा पर आश्रित है उसका नाश होता ही है। अतएव ज्यों-ज्यों अपनों के प्रति घृणा की भावना भारत में बढ़ती गई, भारत का पतन होता गया।

अस्पृश्यता का निवारण अब एक निर्विवाद विषय हो गया है। इस प्रथा का मूल और औचित्य किसी समय चाहे जो भी रहा हो, आज तो यह एक ऐसी निर्दय रूढ़ि-मात्र रह गई है जो लोगों के जाग्रत् धार्मिक विचारों और विश्वासों पर आघात पहुँचा रही है।

हिन्दूधर्म तो हमें यह उपदेश देता है कि सारी मनुष्यजाति को हम एक अविभक्त कुटुम्ब समझें और हममें से प्रत्येक व्यक्ति समाज के हर-एक मनुष्य-द्वारा की हुई बुराई के लिए अपने को जिम्मेवार समझे।

हिन्दू-परम्परा प्रेम और सहिष्णुता के सिद्धान्तों पर स्थापित है। इसका पोषण कबीर, गौरांग, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, नरसी मेहता तथा तमाम द्राविड़ आलवार-साधु-संतों की मंडली द्वारा हुआ है। उन लोगों ने सामाजिक मेल-जोल के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को केवल हटाया ही न था, बल्कि उनका जोरदार खण्डन भी किया था।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि इतनी उज्ज्वल परम्परा के रहते हुए भी आज हम अपने ही एक तिहाई भाइयों के साथ हृदय-शून्य बर्ताव करते हैं, उन्हें कुत्तों या पालतू जानवरों से भी बदतर समझते हैं। गांधीजी ने भारतीय समाज से इस कलंक को दूर करने का आमरण प्रयत्न किया। उन्होंने अछूतों को हरिजन के नाम से सम्बोधित किया और उनके मन्दिरप्रवेश का आन्दोलन चलाया। उन्हीं के प्रयन्न का फल है कि भारतीय संविधान में अस्पृश्यता अवैध घोषित की गई है।

यद्यपि अस्पृश्यता अभी बिल्कुल दूर नहीं हुई है तथापि आशा है कि निकट-भविष्य में यह निर्मूल हो जायगी, जिसके परिणामस्वरूप भारत अपनी पूर्व-गौरव-गरिमा को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

आठवाँ खण्ड

पहला परिच्छेद

वर्त्तमान काल

धर्म और सम्प्रदाय की वर्त्तमान स्थिति

भारत-सरीखे बड़े विस्तार और आबादीवाले देश में—जिसके आचार-विचार के विकास का इतिहास संसार में अत्यन्त प्राचीन है, जिसके जन-समुद्र में समय-समय पर बाहरी सरिताएँ आकर मिलती गई हैं—धार्मिक सम्प्रदायों के अगणित विभाग होना अस्वाभाविक बात नहीं है। पिछले अध्यायों में उन्हीं मत-मतान्तरों का उल्लेख किया गया है जिनके अनुयायियों की संख्या और साहित्य नगण्य नहीं है; फिर भी, आबादी का एक भारी अंश ऐसा भी है जो अपने को किसी सम्प्रदाय, पन्थ या मत में नहीं गिनता और अपने को साधिकार हिन्दू कहता है; क्योंकि वह किसी-न-किसी हिन्दू जाति या बिरादरी का है। उसके चौके-चूल्हे, खान-पान, पर्व-त्योहार, जन्म, विवाह, प्रेतकर्म, श्राद्ध आदि के काम-काज हिन्दू-रीति-रस्म के साथ होते हैं। उसका धर्म भी हिन्दू-धर्म है, जिसके अनुसार वह किसी देवी या देवता की पूजा और भजन भी करता है जिसमें परमात्मा, परमेश्वर, भगवान या प्रभु की भावना भरी होती है। उसके यहाँ नवरात्रों में दोबारा नवदुर्गा की पूजा होती है—साथ-साथ रामनवमी, गंगादशहरा, श्रावणी, जन्माष्टमी, पितृपक्ष, विजयादशमी, दीपावली, प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक-पूर्णिमा, संक्रान्ति, वसन्त-पंचमी, शिवरात्रि, होली आदि पर्व-त्योहार और व्रत मनाये जाते हैं और विविध देवताओं की पूजा होती है। ऐसे लोगों को साधारणतया स्मार्त कहते हैं। स्मार्त-धर्म कोई सम्प्रदाय या पन्थ नहीं है। इसे साधारण जन-समुदाय का धर्म समझना चाहिए।[1]

भारत की हिन्दू जनता को हम सात धार्मिक विभागों में बाँट सकते—

(१) वे जो देवी-देवताओं को पूजते हैं, पर्व-त्योहार मनाते हैं और कुछ आवश्यक संस्कार करते हैं तथा अपना कोई उपास्य देव अथवा विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति नहीं रखते। ऐसे हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक है।

---

१ हिन्दुत्व, पृष्ठ ७५३-५६

अहमात्मा हि लोकानां विश्वानां पाण्डुनन्दन।
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम्॥
यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम्।
आत्मानं नार्चयेत्कश्चित् इति मे भावितात्मनः।
मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्त्तते।
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम्॥
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनुतं सहि मामनु।
रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥

भावार्थ यह कि रुद्र और नारायण एक ही सत्ता के दो नाम हैं। यह बात आज भी भागवत-सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हैं।

साम्प्रदायिक फूट और विरोध से होनेवाली हानियों को खूब समझकर ही शंकराचार्य ने अनेक सम्प्रदायों का खण्डन करके अपने स्थापित स्मार्त्तमत में सबका समन्वय किया। परन्तु यह भी उनका केवल व्यवहारमात्र था। वस्तुतः वे अद्वैतवादी थे। जैसा हम पहले कह आये हैं, वे जगत् को मिथ्या और मुक्ति को ज्ञान-प्राप्य ही मानते थे।

यद्यपि पुराणों और इतिहासों में दार्शनिक दृष्टि से भी समन्वय देख पड़ता है, तथापि दर्शनों में सिद्धान्तभेद का पूरा समन्वय कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में देखा जाता है। इसमें रूपक-द्वारा यह दिखलाया गया है कि छहों आस्तिक-दर्शन विविध दृष्टिकोणों से परमात्मा का ही प्रतिपादन करते हैं। विज्ञान भिक्षु ने भी 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में बड़ी योग्यता और स्पष्टता से सिद्ध किया है कि छहों दर्शन परस्पर-विरोधी लगते हुए भी एक ही परमात्मसत्ता का प्रतिपादन करते हैं। 'प्रस्थानभेद' में मधुसूदन सरस्वती ने भी बड़ी सुन्दरता से इनका दार्शनिक समन्वय किया है। इस तरह भगवतधर्म और स्मार्त्तमत के अतिरिक्त अन्य विद्वानों और दार्शनिकों के प्रयत्न से भी पहले का कट्टरपन समय पाकर धीरे-धीरे क्षीण होता गया। इधर बहुत दिनों से सम्प्रदायवादियों में पारस्परिक सहनशीलता काफी बढ़ गई थी और समन्वयवाद लोकप्रिय हो चला था, परन्तु १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में साम्प्रदायिक विचारों के पुनः प्रचार से समाज में फिर खलबली मच गई और आपस के झगड़े बढ़ चले।

हिन्दू-व्रत

हिन्दुओं में व्रत और उपवास की बड़ी महिमा है। प्राचीनकाल में तो अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण-सदृश बड़े कठोर व्रत भी किये जाते थे। अतिकृच्छ्र में केवल एक कौर भोजन किया जाता था। वह नौ दिन का व्रत था। चान्द्रायणव्रत पूर्णिमा को १५ कौर पायस खाकर आरम्भ किया जाता था। उसके बाद प्रत्येक दिन एक कौर कम खाया जाता था। उसके बाद फिर एक-एक कौर क्रम से भोजन बढ़ाया जाता था और अमावस को पन्द्रह कौर भोजन करने का विधान था। इस प्रकार यह व्रत एक महीने का था। वर्त्तमानकाल में ये दोनों व्रत प्रचलित नहीं हैं। वैष्णव लोग प्रतिमास दोनों एकादशियों

(२) वे जो सभी देवी-देवताओं को पूजते हैं; सभी पर्व-त्योहार मनाते और मुख्य-मुख्य संस्कार करते हैं, परन्तु, साथ-साथ, अपना कोई विशेष उपास्य देव भी मानते हैं, उसका भजन करते हैं और विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति भी रखते हैं—यद्यपि अपने को किसी विशेष पन्थ या सम्प्रदाय का नहीं समझते या बतलाते।

(३) वे जो किसी विशेष पन्थ, सम्प्रदाय या मत के अनुयायी हैं और उसी के अनुकूल अपना आचार-विचार और व्यवहार रखते हैं; उन संस्कारों, व्रत-त्योहारों, उत्सवों और सिद्धान्तों या दार्शनिक विचारों को मानते हैं जो उनके सम्प्रदाय, पन्थ या मत के अनुकूल पड़ते हैं।

(४) एक ऐसा विभाग भी है जिसमें आर्यसमाजी मुख्य हैं, जो देवी-देवता, अवतार आदि नहीं मानते; किन्तु निराकार ईश्वर की उपासना करते और वेद को ईश्वर का वाक्य समझते हैं।

(५) एक समुदाय शुद्ध वेदान्तियों का है जो अपनेको ही ईश्वर मानता है, 'सोऽहमस्मि' और अपने शुद्ध स्वरूप की उपासना करता है। इस समुदाय का उपासना-मंत्र 'ओम्', 'सोऽहम्' आदि है।

(६) एक समुदाय सुधारवादी हिन्दुओं का है—जिसमें राधास्वामी, कबीरपन्थी आदि सम्मिलित हैं—जो निराकार ईश्वर की उपासना करते हुए गुरु एवं गुरु-वाक्यों का आदर करते हैं; किन्तु वेदादि में विशेष आस्था नहीं रखते।

(७) एक विभाग उन लोगो का है जो जन्म से हैं तो हिन्दू-परिवार के अंग, परन्तु अपने को अनीश्वरवादी कहते हैं और किसी तरह का धार्मिक बन्धन नहीं मानते।

समन्वय का प्रयत्न

विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न इतिहासकाल में भागवत-धर्म ने किया। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य ने जब विशेषरूप से पंचदेवोपासना प्रचलित की तब स्मार्तमत सबल होने लगा, जिसका परिणाम है कि आज भारतवर्ष में स्मार्तों की संख्या अस्सी प्रतिशत के लगभग है। कबीर, सूर, तुलसी आदि दूरदर्शी सन्तों ने भी, मुसलमानी शासनकाल में, धर्म-समन्वय का प्रबल प्रयत्न किया।

जिस प्रकार प्राचीनकाल में भागवतमत समन्वयवादी था उसी तरह आधुनिक काल में स्मार्त मत भी समन्वयवादी है। इसीलिए स्मार्तों का किसी सम्प्रदाय से विरोध नहीं है। स्मार्त वे लोग हैं जो स्मृतियों के अनुकूल आचार-विचार रखते हैं तथा पुराण-कथित विधियों से देवाराधन, जप, तप, व्रत, उत्सव आदि करते हैं। स्मार्त और भागवत में कुछ अन्तर अवश्य है। भागवत वह है जिसमें स्मार्त के सभी गुणों के साथ-ही-साथ निष्कामकर्म की भावना और अपने आराध्यदेव की भक्ति भी हो।

शिव और विष्णु के उपासकों के पुराने आपसी विरोध का निराकरण न केवल श्रुति-स्मृतियों में ही है, वरन् शैव और वैष्णव-सम्प्रदायों के प्रधान मान्य ग्रन्थों में भी है। महाभारत में जो नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व, अध्याय ३४१) है उसमें कृष्ण स्वयं अर्जुन से अपने नामों के निर्वचन के प्रसंग में कहते हैं—

को व्रत करते हैं। व्रत में कन्द, मूल, फल और दूध खाया जाता है। शैव भी महीने में दो बार त्रयोदशी को शिवरात्रिव्रत करते हैं और उनकी स्त्रियाँ अपने चिर-सौभाग्य के लिए द्वादशी को प्रदोषव्रत करती हैं।

ध्येय के विचार से व्रत तीन प्रकार के हैं—

(क) जिस व्रत के न करने से दोष लगता है वह नित्य है; जैसे, एकादशी।

(ख) जो किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है वह नैमित्तिक व्रत है।

(ग) किसी विशेष कामना से तिथि-विशेष पर जो व्रत किया जाता है वह काम्य व्रत है।

चारो वर्णों और आश्रमों का प्रत्येक स्त्री पुरुष व्रत करने का अधिकारी है। सधवा स्त्री को स्वामी की अनुमति से, अविवाहिता कन्या को अपने माता-पिता की आज्ञा से और विधवा को अपने पुत्र या अभिभावक के आदेश से व्रत करना चाहिए। व्रतारम्भ में संयम और संकल्प आवश्यक हैं। व्रती का व्रतकथा सुनना भी अनिवार्य है।

व्रतारम्भ के समय अशौच हो जाय तो व्रत करना वर्जित है। किसी कारण से कोई व्रत न किया जा सके तो प्रतिनिधि-द्वारा वह कराया जा सकता है। पति-पत्नी एक दूसरे के प्रतिनिधि हो सकते हैं। कोई ब्राह्मण भी निष्क्रय-द्रव्य लेकर प्रतिनिधि बन सकता है।

मुख्य व्रत

[१] **विष्णु-सम्बन्धी**—(क) 'रामनवमी' श्रीराम का जन्मदिन, चैत्र-शुक्ल-नवमी; (ख) कृष्णाष्टमी, भगवान कृष्ण का जन्मदिन, भाद्र-कृष्ण-अष्टमी; (ग) वामन-द्वादशी, भाद्र-शुक्ल-द्वादशी; भगवान वामन का जन्मदिन; (घ) वर्ष के प्रत्येक मास की दोनों एकादशी तिथियाँ व्रत के लिए आवश्यक समझी जाती है। सब एकादशियों में कर्त्तिक-शुक्लपक्ष की एकादशी, जो देवोत्थान एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है। अनेक स्मार्त केवल इस एकादशीव्रत को ही करके संतुष्ट रहते हैं।

[२] **शिव-सम्बन्धी**—प्रत्येक मास की द्वादशी को प्रदोषव्रत और त्रयोदशी को शिवरात्रिव्रत होता है। फाल्गुन की शिवरात्रि महाशिवरात्रि है। श्रावणमास विशेषरूप से शिव-मास समझा जाता है उसके प्रति सोमवार को पूजा तथा उत्सव होते हैं।

[३] **विष्णु-शिव-सम्मिलित-पर्व**—कार्तिक-शुल्क-चतुर्दशी वैकुण्ठचतुर्दशी के नाम से प्रसिद्ध है। इस तिथि को विष्णु और शिव की पूजा एक साथ होती है। यह समन्वयवादी पर्व है।

[४] **देवी-सम्बन्धी व्रत**—चैत्र तथा आश्विन के शुक्लपक्ष के प्रथम नौ दिन 'नवरात्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। नौ दिन पूजा करके दशमी को देवी का विसर्जन किया जाता है। बंगाल और बिहार में यह उत्सव धूमधाम से होता है। माघ-शुक्ल-पञ्चमी (वसन्तपञ्चमी) को सरस्वती की पूजा होती है और साथ-साथ वसन्तागमन का उत्सव मनाया जाता है। वैशाख-शुक्ल-नवमी को सीतानवमी कहते हैं। यह सीता का जन्मदिवस है।

[५] **सूर्य के पर्व**—प्रत्येक संक्रान्ति को सूर्य की पूजा सौर-सम्प्रदायवाले करते हैं। मुख्य संक्रान्ति मकर और मेष—पौष और माघ—की है जिसे सब लोग मनाते हैं। इसमें

नदी-स्नान और दानादि किया जाता है। श्रावण के प्रत्येक रविवार को अनेक हिन्दू सूर्य की पूजा जल, दूध, दही, घी, तिल, सरसों, चावल और कुश से करते हैं। रविवार सूर्य का दिन है। कार्तिक-शुक्ल-षष्ठी को समारोह के साथ सूर्य-पर्व मनाया जाता है जो 'छठ' व्रत के नाम से विख्यात है। इस पर्व की प्रतिष्ठा और मर्यादा सर्वोपरि है। अनेक स्मार्त्त इस पर्व को निष्ठापूर्वक करते हैं। षष्ठी को दिनभर निर्जल उपवास रखकर संध्या में सूर्य को पहला अर्घ्य देते हैं और सप्तमी के प्रातःकाल सूर्य के दर्शन करने एवं अर्घ्यदान के बाद व्रत समाप्त करते हैं। पहले अनेक मुसलमान भी इसे करते थे। हिन्दुओं में यह विश्वास बद्धमूल है कि सूर्यव्रत अथवा सूर्य की उपासना से कुष्ठादि भयानक रोग भी दूर हो जाते हैं। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' यह शास्त्रोक्त वचन भी वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(६) **गणेश-पर्व**—ऐसे तो प्रत्येक मास की चतुर्थी गणपति की तिथि है, किन्तु खास करके भाद्र-शुक्ल-चतुर्थी विशेष प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में तो यह तिथि बहुत समारोह के साथ मनाई जाती है।

(७) **अन्य पर्व**—अन्य पर्वों में अनन्तचतुर्दशी (भाद्र-शुक्ल-चतुर्दशी), यमद्वितीया-व्रत (कार्तिक-शुक्ल-द्वितीया) तथा तीजव्रत (भाद्र-शुक्ल तृतीया) महत्त्वपूर्ण हैं। तीजव्रत सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही करती हैं; क्योंकि यह उनका सौभाग्यवर्द्धक महान् व्रत समझा जाता है और पति-प्रेम का प्रत्यक्ष पुण्य-पर्व है। आश्विन-कृष्णाष्टमी को स्त्रियों का 'जीवत्पुत्रिका' व्रत होता है जो केवल सन्तानवती स्त्रियाँ ही करती हैं। आश्विन का पूरा कृष्णपक्ष पितृपक्ष कहलाता है और कृष्ण-अमावास्या (महालया) को विशेषरूप से पिण्डदान और तर्पण किया जाता है। इस अवसर पर नैष्ठिक हिन्दू बिहार के 'गया' धाम में पितृश्राद्ध करते हैं।

समस्त चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण और संक्रान्ति तथा तिथियों में अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा पर्व-दिन समझे जाते हैं। पर्व के दिन, तीर्थस्नान, दान, उपवास, जप, श्राद्ध, उत्सव, मेला आदि करते हैं।

दान

दान तो सभी धर्मों में सत्कर्म माना जाता है। सत्पात्र को श्रद्धापूर्वक उचित देश और काल में दिया हुआ दान सात्त्विक और धर्मदान कहलाता है। बुलाकर देने की अपेक्षा दानपात्र के पास जाकर दान देना अधिक पुण्यप्रद है। सूर्यास्त के बाद और भोजन करके दान नहीं देना चाहिए। पीड़ा के निवारणार्थ भी अनेक प्रकार के दान बताये गये हैं। पापादि की शान्ति के लिए सत्पात्र को दान देना नैमित्तिक दान है। सन्तान, ऐश्वर्य और स्वर्गादि की कामना से दिया हुआ दान 'काम्य' दान है। ईश्वर की प्रीति के लिए सत्पात्र को या ब्रह्मविद् ब्राह्मण को दान देना विमल दान है। दान देने के लिए तीर्थस्थान प्रशस्त देश है। विद्वान, तपस्वी और चरित्रवान दान के सत्पात्र हैं। अपात्र को मंत्रपूर्वक दान देना निषिद्ध है। दान देने का संकल्प करके न देने से मनुष्य ऋणी होता है।

रोगों और पीडाओं के निवारण के लिए भी अनेक प्रकार के दान बताये गये हैं। ग्रहों के कारण उपजी हुई पीड़ा की शान्ति के लिए ग्रहों के अलग-अलग दान हैं और

उनके लिए विविध पात्र भी हैं। दुःखी, पीड़ित और असहाय को दान द्वारा सहायता देना सब दानों में श्रेष्ठ है।

उत्सव और त्योहार

श्रावणी पूर्णिमा विशेषतः ब्राह्मणों का पर्व है। उस दिन वे रक्षाबन्धन द्वारा अन्य वर्णों को आशीर्वाद देते हैं। ब्राह्मण-परिवारों में उस दिन कलशस्थापन भी होता है। उसी दिन हिन्दू बहनें अपने भाइयों की कलाई में राखी बाँधती हैं। विजयादशमी को रामचन्द्र ने रावण से युद्ध के लिए प्रस्थान किया, और विजयी हुए। वह क्षत्रियों का पर्व है। उस दिन वे शस्त्रों की पूजा करते हैं। सर्वसाधारण के लिए उस दिन नील-कण्ठ पक्षी का दर्शन शुभ है। कार्तिक-कृष्ण-अमावास्या को दीपमालिका का उत्सव होता है। इस अवसर पर घर की सफेदी और सजावट होती है। रात में रोशनी की जाती है और महालक्ष्मी की पूजा भी। यह त्योहार विशेषरूप से वैश्यों का है। इस दिन वे नये बही-खाते बदलते हैं। जुआ खेलने की कुप्रथा इस तिथि पर चल पड़ी है। बम्बई की दीवाली विशेष प्रसिद्ध है।

वसन्त के आगमन के उपलक्ष्य में माघ-शुक्ल-पञ्चमी को वसन्तोत्सव मनाया जाता है। उस दिन सरस्वती की पूजा होती है और हिन्दू बच्चों का विद्यारम्भ कराया जाता है। तरह-तरह के पक्वान्न बनते हैं। उसी दिन से होली और फाग का गान शुरू होता है। फाल्गुन-पूर्णिमा को होलिकादहन होता है और चैत्र-कृष्ण-प्रतिपदा को होलिकोत्सव। बंगाल और नेपाल में पूर्णिमा को ही उत्सव मनाया जाता है। उस दिन खाने-पीने का और राग-रंग का विशेष आयोजन होता है; ऊँच-नीच सब गले मिलते हैं। यद्यपि यह शूद्रों का त्योहार कहा जाता है, तथापि इसे चारो वर्ण के लोग मनाते हैं। इस दिन नये वस्त्र धारण कर सब लोग परस्पर अबीर-गुलाल उड़ाते हैं। यह त्योहार हास्य-प्रधान है। इसमें मनोरंजन के नाना प्रकार के स्वाँग प्रदर्शित किये जाते हैं।

महाराष्ट्र का गणेशोत्सव, बंगाल का दुर्गा-पूजा-महोत्सव, उड़ीसा का रथयात्रा-महोत्सव, द्रविड़देश का दोगलमास और मिथिला का शरत्पूर्णिमा को मनाया जानेवाला 'कोजागरा'-महोत्सव ऐसे उत्सव हैं जो प्रान्तीय विशेषता रखते हैं।

तीर्थ और तीर्थयात्रा

पद्मपुराण में तीन प्रकार के तीर्थ कहे गये हैं—(१) जंगम, (२) स्थावर और (३) मानस। पवित्र स्वभाववाले ब्राह्मण और सर्वकामप्रद गाय जंगम तीर्थ हैं। गंगादि नदी, पवित्र सरोवर, अक्षयवटादि वृक्ष, गिरि-कानन, समुद्र, काशी आदि पुरियाँ स्थावर तीर्थ हैं और सत्य, क्षमा, शम, दम, दया, दान, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, तपस्या आदि मानस तीर्थ हैं।

पद्मपुराण के अनुसार पृथ्वी पर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। किन्तु मुख्य तीर्थ—(१) बदरीनारायण, (२) द्वारका, (३) रामेश्वर तथा (४) जगन्नाथ पुरी—चार धाम हैं। ये भारत की चारों दिशाओं की सीमा पर स्थित हैं; अतः इनकी यात्रा करने से समस्त भारत की परिक्रमा हो जाती है।

(१) अयोध्या, (२) मथुरा, (३) माया (हरिद्वार), (४) काशी, (५) कांची, (६) अवन्तिका (उज्जैन) तथा द्वारका की गणना मोक्षदायिनी पुरियों में है। प्रयाग तीर्थों का राजा और पुष्कर (अजमेर) तीर्थों का गुरु है।

शिव के स्थानों में (१) अमरनाथ (कश्मीर), (२) केदारनाथ, (३) पशुपतिनाथ (नेपाल), (४) विश्वनाथ (काशी), (५) वैद्यनाथ (बिहार), (६) अरुणाचल (मद्रास), (७) ओंकारनाथ (मध्यभारत) तथा (८) सोमनाथ (सौराष्ट्र) सबसे मुख्य हैं।

देवी के स्थानों में (१) कामाख्या (आसाम), (२) काली (कलकत्ता), (३) गुह्येश्वरी (नेपाल), (४) विन्ध्याचल (उत्तरप्रदेश), (५) मीनाक्षी (मदुरा), (६) कन्याकुमारी (कुमारी अन्तरीप) एवम् (७) चामुण्डी (मैसूर) मुख्य तीर्थ हैं।

विष्णु-सम्बन्धी तीर्थों में (१) बदरीनारायण, (२) अयोध्या, (३) मथुरा, (४) द्वारका, (५) जगन्नाथपुरी, (६) विष्णुपद (गया) और श्रीरंगम् (दक्षिणभारत) मुख्य हैं।

नदियों में गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा एवं कावेरी परम पवित्र मानी जाती हैं।

तीर्थाटन करने से आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है; बहुदर्शिता और उदारता की भावना आती है; सत्संग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापों से बचने का भाव मन में उदित होता है। इससे समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप का दर्शन होता है और विभिन्न प्रदेशों के लोगों के परस्पर मिलने-जुलने से राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती है।

भाषा और वेषभूषा

गत कई शताब्दियों से हिन्दू तीर्थयात्रियों एवं साधुओं ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का अनवरत प्रचार जारी रखा है। सुदूरवर्ती रामेश्वरम् में भी परस्पर मिलनेवाले बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्री, उड़िया आदि विभिन्न भाषाभाषी लोग बातचीत और व्यवहार के लिए हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि महाराष्ट्री, गुजराती आदि पुराने सन्त कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ की हैं। अब तो हिन्दी और देवनागरी भारत की राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि हो गई है।

भाषा के साथ-साथ, भारत में, वेश-भूषा की समानता भी थोड़ी-बहुत पाई जाती है। एक समय था जबकि शिखा ही हिन्दुओं का सार्वभौम चिह्न थी। पहले, संन्यासियों के सिवा, हिन्दू मात्र शिखा रखते थे। कर्मनिष्ठ ब्राह्मण तो आज भी शिखा रखते हैं। किन्तु आज अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने प्रायः शिखा का बहिष्कार-सा कर दिया है। विभिन्न सम्प्रदायवाले अपना तिलक अलग-अलग रखते हैं; किन्तु अब अधिकांश हिन्दू तिलक नहीं लगाते हैं। सिर्फ कश्मीर में सभी हिन्दू तिलक लगाते हैं। अलग-अलग सम्प्रदायवाले खास-खास माला व्यवहार में लाते हैं। तुलसी की माला वैष्णवों और रुद्राक्ष की माला शैवों तथा शाक्तों में विशेष रूप से मान्य है।

पहनावे के सम्बन्ध में हर प्रान्त में भेद है। बंगाल, आसाम और उड़ीसा का पहनावा साधारणरूप से कुर्ता या कमीज और धोती है। मद्रास में धोती के स्थान में लुङ्गी

का व्यवहार होता है। गुजरात, उत्तरप्रदेश और बिहार की वेषभूषा प्रायः एक-सी है। पंजाब में कुर्ता और पाजामा प्रचलित है। स्त्रियों के पहनावे में साड़ी की चाल पंजाब और राजपुताना को छोड़कर प्रायः सारे हिन्दुस्तान में है। इनमें महाराष्ट्री महिलाओं का पहनावा अपनी विशेषता रखता है। राजपुताने की स्त्रियाँ लहँगा और ओढ़नी तथा पंजाब की स्त्रियाँ सलवार, कुर्ता और दुपट्टे का व्यवहार करती हैं। सधवा स्त्रियाँ माँग में सिन्दूर लगाती हैं। मद्रास और महाराष्ट्र की सधवा स्त्रियाँ ललाट पर सिन्दूर का टीका देती हैं। मद्रासप्रान्त में सधवा स्त्रियों के लिए जूड़े में फूल लगाना अनिवार्य है। भारतीय विधवाएँ साफ वस्त्र पहनती हैं और किसी प्रकार का अलंकार धारण नहीं करतीं।

शिष्ट लोगों के और साधारण जनता के पहनावे में मद्रास, आसाम और उड़ीसा में विशेष भेद नहीं है; किन्तु पंजाब एवं उत्तरप्रदेश के अधिकांश पढ़े-लिखे लोग पाजामा तथा कुर्त्ता का व्यवहार करते हैं और बम्बई, गुजरात में बन्द गले के लम्बे कोट का। पाश्चात्य रंग में रँगे हुए हर प्रान्त के शिक्षित पुरुष कोट-पैण्ट आदि पहनते हैं। उसी प्रकार गांधीजी के रंग में रँगे हुए हर प्रान्त के लोग खादी का कुर्ता, टोपी और धोती-पाजामा तथा चप्पल का व्यवहार करते हैं।

दक्षिणभारत में हिन्दू-घरों के द्वार पर गृहस्वामिनी नित्य तड़के उठकर चौक पूर देती है। चौक पूरना मंगल-सूचक है और स्त्रियों के परम्परागत चित्रकला-कौशल का निदर्शक है। यह चिह्न उस दिन नहीं रहता जिस दिन घर में कोई अमंगल हो जाता है।

जाति-पाँति की प्रथा

भारत में छुआछूत की दीवार टूटती जा रही है। खान-पान में सबसे कट्टर मद्रास-प्रान्त एवं मिथिला (बिहार) है। कुछ दशक पहले मद्रासप्रान्त में जगह-जगह ब्राह्मण और अब्राह्मण-होटल अलग-अलग थे। किसी अब्राह्मण का ब्राह्मण-होटल में प्रवेश असम्भव था। किन्तु अब यह प्रथा विशेष प्रबल नहीं है, क्योंकि दक्षिण के ब्राह्मण-होटलों में भी अब प्रायः जाति-पाँति की पूछ नहीं की जाती। मिथिला में भी अब बहुत-से सार्वजनिक होटल खुल गये हैं जिनमें प्रायः सभी हिन्दू एक साथ बैठकर भोजन करते हैं।

हरिजन-आन्दोलन के परिणामस्वरूप मन्दिर-प्रवेश की विषम समस्या भी अब हल होती जा रही है। भारत के प्रमुख तीर्थमन्दिरों में भी ब्राह्मण-अब्राह्मण का समानरूप से प्रवेश होने लगा है।

खान-पान के सम्बन्ध में भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में रुचिभेद पाया जाता है। बंगाल, आसाम और मिथिला में प्रायः ब्राह्मण भी मांस-मछली खाते हैं। मद्रासप्रान्त में द्विजेतर जातियों के सिवा बिरला ही कोई मत्स्य-मांस का भक्षण करता है। महाराष्ट्र में भी प्रायः यही अवस्था है। पंजाब में अधिकांश हिन्दू मांस-भक्षण करते हैं। बिहार, उत्तर-प्रदेश और मध्यप्रदेश के कुछ ब्राह्मण मांसभक्षी हैं; किन्तु अन्य जातिवाले प्रायः मांस खाते हैं। नगरों में ग्रामों से अधिक अनुपात में मांसभोजी मिलते हैं। मारवाड़ी, खत्री और अग्रवाल प्रायः निरामिषभोजी होते हैं।

विवाह-सम्बन्धी कट्टरपना अब कम होता जा रहा है। अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित हो चला है। एक ही जाति की अनेक उपजातियों में अब विवाह-सम्बन्ध होने लगा है। विधवा-विवाह का भी अब हिन्दुओं में प्रचलन हो रहा है। इस प्रकार जाति-पाँति और रोटी-बेटी का बन्धन भी ढीला होता जा रहा है।

हिन्दू-समाज की व्यापक रूढ़ियाँ

भारतीय समाज में विचार-स्वातन्त्र्य प्राचीनकाल से है। अब भी, एक ही परिवार में विभिन्न विचार और मत रखनेवाले व्यक्ति प्रेमपूर्वक रहते हैं और बिरादरी में कोई झगड़ा नहीं उठता। अब खान-पान के कारण किसी के जातिच्युत होने का भय नहीं रहा।

स्वर्गीय रामदास गौड़ का विचार है—'भारत की प्राचीन सभ्यता में, समाज में उस संगठन की मुख्यता है जिसे हम वर्णाश्रम धर्म कहते हैं, जो आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शासन की अपूर्व आदर्श व्यवस्था है; जिसके अनुसार, राजा और दण्डव्यवस्था के बिना भी, सब काम चलता था और आज भी चल सकता है। यही हमारा प्राचीन समाजवाद या समष्टिवाद है। इसी प्राचीन समाजवाद के बल पर बड़े लम्बे काल तक हमारा समाज सुखी और समुन्नत था। यह समाज आज भी प्रायः अक्षुण्ण है। इस समाज-व्यवस्था को बिना बिगाड़े ही भारत में, अवश्य ही, स्वराज्य की स्थापना हो सकती है। पाश्चात्य देशों में ऐसी समाज-व्यवस्था न थी, अतः वहाँ के तथोक्त समाजवाद ने जो रूप धारण किया वह इससे भिन्न है।'[1]

---

१ हिन्दुत्व, पृष्ठ ७६३

दूसरा परिच्छेद
संस्कृति पर व्यक्तित्व का प्रभाव

भारतीय संस्कृति के आधुनिक संवर्द्धकों में लोकमान्य तिलक, महामना मदनमोहन मालवीय, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, महर्षि रमण और योगी अरविन्द के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लोककल्याण का कार्यक्रम आपलोगों का भिन्न-भिन्न रहा है। भावुक भारतीय जनता अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आपलोगों की ओर आकृष्ट हुई। उपर्युक्त दिवंगत महापुरुषों की विचारधाराएँ भारत की सीमा का अतिक्रमण कर विदेशों में भी पहुँची और समादृत हुई हैं। जीवित महापुरुषों में स्वामी शिवानन्द, उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् और डा० भगवानदास के दार्शनिक विचारों ने भी भारतीय संस्कृति की महत्ता भूमण्डल में प्रतिष्ठित की है। लोकमान्य तिलक ने श्रीमद्भगवद्गीता का अपूर्व भाष्य लिखकर समस्त संसार के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। उस ग्रंथ को जनता के सामने वास्तव में कर्मयोगशास्त्र सिद्ध करने का श्रेय आपको ही है। अपने 'ओरायन' ग्रन्थ द्वारा भी आपने प्रामाणिक रीति से आर्यों की स्थिति के प्रश्न का समाधान करके इतिहास की भ्रान्ति का उन्मूलन किया है। आप आर्य-संस्कृति के कट्टर पक्षपाती थे और 'गीता' के प्रत्येक भगवद्वाक्य के जीवित प्रतीक।

महामना मदनमोहन मालवीय के व्यक्तिगत जीवन और कार्यकलाप से भारतीय संस्कृति का उन्नयन प्रचुर मात्रा में हुआ है। आपने सनातनधर्म और गोजाति की रक्षा के सामूहिक आन्दोलन को भारतव्यापी बना दिया। आपका विचार था कि गो, गंगा, गीता और गायत्री, ये चार 'ग'कार भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। आपका जीवन भारतीय आचार-विचार का आदर्श प्रतीक था। काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय आपकी ही कीर्त्ति है, जिसके द्वारा आधुनिक भारतीय समाज प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख होता जा रहा है।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भावमयी कविताओं और अन्य उत्कृष्ट रचनाओं ने संसार के लोगों के विचार पर भारतीय संस्कृति की छाप डाली है। आपने अपने पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित 'शान्तिनिकेतन' को विश्व-संस्कृतियों का

संगम बना दिया। शान्तिनिकेतन के 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय द्वारा आपने प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति को तो सजीव किया ही, भारतीय कला-कौशल को भी नई प्रेरणा और प्रवृत्ति दी। विदेशों में आपके सांस्कृतिक भाषणों ने, भारत के पराधीन रहते हुए भी, इस देश की सांस्कृतिक निधियों की झलक दिखाकर भारत का जगद्गुरुत्व सिद्ध कर दिया।

डा० राधाकृष्णन् ने भारत का आध्यात्मिक सन्देश देश-देशान्तर में पहुँचाया है। आपके दार्शनिक विचारों में प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों का समन्वय है। यूरोप और अमेरिका में आपके ओजस्वी भाषणों से पश्चिम का ध्यान एक बार फिर पूर्वीय आलोक की ओर आकृष्ट हुआ है।

डा० भगवान दास के दार्शनिक ग्रन्थों ने मानव-जीवन में दर्शन के प्रयोजन का महत्त्व सुबोध रीति और दैनन्दिन दृष्टान्तों से प्रतिपादित किया है। आपका ऋषिकल्प जीवन सादगी और उच्च विचार का प्रत्यक्ष निदर्शन है।

महर्षि रमण का दृष्टिकोण ज्ञानपरक होकर 'मैं की खोज में' सीमित रहा। इस खोज में सफलता पाकर अनेक सन्त अपने प्रभु में लीन हो चुके हैं। आज भी अनेक जिज्ञासु इस खोज में संलग्न हैं।

अरविन्द ऊर्ध्वतर लोक का ऐसा कोई प्रकाश इस जगत् में लाना चाहते थे जिसके फलस्वरूप मानव-प्रकृति के अन्दर एक महान् क्रान्ति घटित हो जाय, जिससे जहाँ कहीं हममें से कोई व्यक्ति खड़ा हो वहाँ उसके चारों ओर का वातावरण भगवान् की ज्योति और शक्ति से भर जाय और उसके द्वारा मानव-जीवन का स्तर ऊँचा होकर नर-नारायण के बीच का अन्तर कम हो सके।

महात्मा गांधी का ध्येय सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवहारों को भी धार्मिक ढाँचे में ढालकर मनुष्य-जीवन में आमूल परिवर्त्तन करना था। आपने भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और दिशा को अपने विचार, व्यवहार और कार्यक्रम से प्रभावित और आलोकित किया है।

स्वामी शिवानन्द मनुष्य की अभिरुचि के अनुसार उसे ज्ञान, कर्म, योग अथवा भक्तिमार्ग की शिक्षा देकर साधना-पथ पर अग्रसर करने में संलग्न हैं। आप आधुनिक कर्मयोग के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल से विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर ली है और इसे वह प्रकृति पर अपनी विजय मानता है। किन्तु मनुष्य वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग मानव-समाज के निर्माण एवं विकास में न करके उसके विनाश में कर रहा है। सभ्यता आज कुण्ठित है; मानवता उद्विग्न और उत्पीड़ित है; हमारा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन विशृंखल हो गया है। 'सर्वजन-सुखाय' की भावना लुप्त-सी हो गई है। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक जाति दूसरी जाति का, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का, सभ्यता और संस्कृति फैलाने के बहाने, शोषण कर रहा है। ऐसी अवस्था में मानव-जाति को एक नई चेतना की आवश्यकता थी जो विश्वकल्याण के लिए प्रेरणा देती; जो सुप्त राष्ट्र को जाग्रत् कर दलित और पीड़ित जनता में आशा और उत्साह का संचार करती तथा विनाशोन्मुख मानवता को शान्ति के पथ पर अग्रसर करती।

विश्व-इतिहास के मनन से ज्ञात होता है कि जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की प्रबलता होती है तब-तब मानवजाति की रक्षा के लिए अवतार, ईश्वरदूत, पैगम्बर, अर्हत, बुद्ध अथवा मार्ग-प्रदर्शक का संसार में शुभागमन होता है। तदनुसार, लोकमान्य तिलक, महर्षि रमण, योगी अरविन्द, स्वामी शिवानन्द तथा महात्मा गांधी भारत में अवतीर्ण हुए।

महात्मा गांधी ने तो न सिर्फ एक महान् सुप्त राष्ट्र को जगाया, बल्कि समस्त मानव-जाति के सम्मुख आत्मोद्धार का एक नया मार्ग प्रदर्शित किया। गांधीजी जनता में 'सर्वजन-सुखाय' की भावना जगाने में बहुत दूर तक सफल हुए।

गांधीजी एक युगपुरुष थे। आपका संदेश सदियों के लिए है। बुद्ध और ईसा के सदृश आपकी वाणी अमर है। आपने जन-समाज में एक नई चेतना पैदा की, जो आज भी विश्व-कल्याण के लिए प्रयत्नशील है। विश्व की नवजागृति के इतिहास में आपका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और रहेगा।

गांधीजी की महत्ता युग की परिस्थितियों को अपने आदर्शों और सिद्धान्तो के अनुकूल मोड़ने की क्षमता में है। आपकी विचारधारा में व्यक्ति और समाज में एक सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आपके अहिंसक जनतंत्रीय समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा समाज के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्यों में समझौता कराने का प्रयास है। आपने अपने सत्य और अहिंसा के आधारभूत सिद्धातो में परिवर्तन करने की कल्पना तक कभी स्वीकार नहीं की। फिर भी, आप इस बात का बराबर प्रयत्न करते रहे कि समाज आपके सिद्धान्तों को अपने व्यवहार में सुगमतापूर्वक ला सके। आपका संदेश आपके जीवनकाल में ही चारों ओर फैल गया। निश्चित है कि संसार ज्यों-ज्यों अपनी उत्पन्न की हुई नई-नई समस्याओं में उलझकर अधीर और विकल होगा, त्यों-त्यों वह अपने उद्धार के लिए गांधीवाद की ही शरण लेगा।

इस प्रकार जहां लोकमान्य तिलक, महर्षि रमण, योगी अरविन्द तथा स्वामी शिवानन्द ने देश-विदेश में धार्मिक प्रवृत्ति को उत्तेजना दी, वहाँ गांधीवाद ने अहिंसा, सत्य और विश्वप्रेम का महान् आदर्श संसार के सामने रखा है।

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति के आधुनिक उन्नायक

१. लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

जीवन-वृत्त—लोकमान्य तिलक का शुभ-जन्म, सन् १८५६ ई० में, २३ जुलाई को हुआ था। महाराष्ट्र के कोंकण-प्रदेश का रत्नागिरिनामक समुद्रतटस्थ नगर आपका जन्म-स्थान था। आप मराठा जाति के चित्पावन ब्राह्मण थे। आपके पिता गंगाधरराव रत्नागिरि की एक पाठशाला के शिक्षक थे, और संस्कृत तथा गणित के माने हुए विद्वान् थे। उन्हीं से आपको बचपन में संस्कृत और गणित की शिक्षा मिली। आपका बाल्यकाल का नाम बलवन्त राव था। बचपन से ही आप बड़े साहसी, स्पष्टवादी, दृढ़प्रतिज्ञ और प्रतिभाशाली थे। पूना के डेक्कन कालेज से आप ग्रेजुएट हुए। बम्बई के एल्फिन्स्टन कालेज से सन् १८७९ ई० में एल० एल० बी० परीक्षा पास की। किन्तु वकालत शुरू न करके आप तन-मन-धन से देश, समाज और साहित्य की सेवा में ही लग गये। सन् १८८१ ई० में आपने 'मराठा' और 'केसरी' नामक क्रमशः अंग्रेजी और मराठी साप्ताहिक पत्र निकाला। उनके द्वारा आपने देश में राष्ट्रीय जागरण पैदा किया। सन् १८९३-९४ में आपने महाराष्ट्र में 'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी-जयन्ती' मनाने का सार्वजनिक आन्दोलन शुरू किया, जिससे महाराष्ट्र में धार्मिक और जातीय भावनाओं का विशेष उद्बोधन हुआ। इसी समय 'दि ओरायन' नामक आपका वेदकाल-निर्णायक प्रसिद्ध शोध-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। आपका दूसरा प्रसिद्ध शोध-ग्रन्थ 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज' (आर्यों का मूल निवासस्थान) सन् १९०३ ई० में निकला। आप कई शिक्षा-सम्बन्धी और राजनीतिक संस्थाओं के कर्णधार थे। सत्य और न्याय की रक्षा के लिए आवाज बुलन्द करने के कारण आपको कई बार जेल जाना पड़ा। अन्तिम बार सन् १९०८ ई० में आपको छः वर्ष के लिए बर्मा की प्राचीन राजधानी माण्डले के किले में कैद रहना पड़ा। वहीं पर आपने श्रीमद्भगवद्गीता का 'कर्मयोग' या 'गीता-रहस्य' नामक प्रसिद्ध भाष्य लिखा, जिसका स्थान जगद्गुरु शंकराचार्य के भाष्य के बाद ही माना जाता है। सन् १९१८ ई० में आप भारतीय कांग्रेस के दिल्ली-अधिवेशन के सभापति चुने गये थे। किन्तु अपने एक मुकदमे के सिलसिले में आपको इंगलैण्ड की यात्रा करनी

पड़ गई, इसलिए आपकी जगह महामना मालवीयजी सभापति हुए। सन् १६२० ई० की १ अगस्त को, लगभग, ६४ वर्ष की आयु में, आप बम्बई में गोलोकवासी हुए। आपकी मृत्यु के अनन्तर, सन् १६२५ ई० में, आपका 'वैदिक कॉनॉलॉजी—वेदांग ज्योतिष' (वेदों का कालनिर्णय और वेदांग ज्योतिष) नामक चौथा अनुसंधान-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

विचारधारा—आपके राजनीतिक विचार बड़े उग्र थे। राजनीति के क्षेत्र में आप 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के हिमायती थे। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—इस सिद्धान्त के आप प्रचण्ड उद्घोषक, परिपोषक और प्रचारक थे। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आप महती साम्राज्यसत्ता के सामने भी कभी नहीं झुके। अपने स्वतंत्र विचारों के संबन्ध में किसी के साथ किसी प्रकार का समझौता करना आपके स्वभाव के विरुद्ध था। गीता के 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ !' और 'युद्धस्व विगतज्वरः' भगवद्वाक्यों को अपने जीवन में आपने प्रत्यक्ष चरितार्थ कर दिखाया। राष्ट्र की एकता के लिए आपने उसी समय हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के रूप में अपनाने की नेक सलाह देश की जनता को दी थी। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में आप वहीं तक आगे बढ़ने के पक्ष में थे जहाँतक वैदिक और शास्त्रीय सिद्धान्तों के युगानुकूल विश्लेषण से सहायता मिलती थी। आपके धार्मिक विचार भी अधिकतर प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों से अनुप्राणित और अनुशासित थे। वर्त्तमान भारतीयता को आप प्राचीन आर्य-मर्यादा से गौरवान्वित देखना चाहते थे। शास्त्रीय मीमांसा को मानव-जीवन के साथ संलग्न करने का जो अथक प्रयास आपने किया वह आज भी भारतीय संस्कृति के श्रद्धालुओं के लिए वांछनीय और अनुकरणीय है।

२. महामना पं० मदनमोहन मालवीय

जीवन-वृत्त—मालवीयजी का शुभ जन्म तीर्थराज प्रयाग में एक विप्रवंश में हुआ था। सन् १८६१ ई० का २५ दिसम्बर (ईसा-जयन्ती) आपका जन्मदिन है। आपके पिता पं० ब्रजनाथ मालवीय परमभागवत और संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। आपकी आरंभिक शिक्षा प्रयाग की एक संस्कृत-पाठशाला में हुई और वहीं के म्योर सेंट्रल कॉलेज से आप सन् १८८४ ई० में ग्रेजुएट हुए। उसके बाद आप प्रयाग के सरकारी स्कूल में कुछ दिन अध्यापक रहे। सन् १८८६ ई० में कांग्रेस का द्वितीय अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था जिसमें पहले-पहल आप सम्मिलित हुए। उसी समय से आप राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट होकर क्रमशः आगे बढ़ते गये। राजनीतिक संसार में आते ही आपने कालाकाँकर (अवध) के सर्वप्रथम हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्थान' का संपादन-भार ग्रहण किया। सन् १८६३ ई० में आपने प्रयाग में वकालत शुरू की। १६०२ ई० में आप अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य हुए। इसके बाद आप केन्द्रीय व्यवस्थापिका के भी सदस्य चुने गए और १६२६ ई० तक वहाँ रहकर देश की बड़ी सेवा की। सन् १६०६ ई० में आप प्रथम बार लाहौर-कांग्रेस के सभापति हुए। उसके एक साल बाद ही, काशी में आप अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सर्वप्रथम

अधिवेशन के अध्यक्ष हुए। आपके ही उद्योग से अदालतों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रचार बढ़ा। आपने प्रयाग से 'अभ्युदय' नामक हिन्दी साप्ताहिक, 'मर्यादा' नामक हिन्दी मासिक और 'लीडर' नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र निकाला था, जिनमें 'लीडर' अबतक जीवित है। सन् १६१६ ई० में आपने काशी में गंगातट पर हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना की। सन् १९१८ ई० में आप दूसरी बार दिल्ली-कांग्रेस के सभापति हुए। सन् १६३० ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन में आप पहली बार जेल गये। सन् १६३१ ई० में लन्दन की गोलमेज-सभा में सम्मिलित होने के लिए आपने पहली बार विदेश-यात्रा की। सन् १६३२ में, जब गाँधीजी ने दलितोद्धार की विषम समस्या हल करने के लिए पूना में आमरण अनशन किया, तब सरकार से समझौता कराने में आप ही अग्रणी थे। भारतीय सनातनधर्म महासभा, भा० हिन्दू-महासभा, भा० ब्राह्मण-महासभा, भा० गोरक्षा-महासभा, प्रयाग की सेवासमिति आदि प्रसिद्ध संस्थाएँ आपकी ही प्रेरणा से स्थापित हुई थीं। सन् १९४६ ई० की १२ नवंबर को, काशी में, आप कैलासवासी हुए। आपकी रुग्णावस्था से लेकर मृत्यु-पर्यन्त, भारतीय संस्कृति के कट्टर पृष्ठपोषक और हिन्दू-हिन्दी-हिन्दुस्तान के परमभक्त राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन निरन्तर आपके पास रहे।

विचारधारा—धार्मिक विचारों की दृष्टि से लोकमान्य तिलक यदि सच्चे हिन्दू थे तो मालवीयजी कट्टर। प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को आप प्रत्येक भारतीय के जीवन, आचार-विचार, खान-पान और वेशभूषा में प्रतिबिम्बित देखना चाहते थे। हिन्दू-धर्मशास्त्रों में कर्मकाण्ड और धर्माचरण की निष्ठा पर जितना बल दिया गया है, उतना ही आप, आज के युग में भी, उसपर जोर देते थे। आपने 'सनातनधर्म' नामक पुस्तक लिखकर हिन्दूमात्र के लिए एक धर्मसंगत दिनचर्या बना दी थी और तदनुकूल आचरण के आप स्वयं भी ज्वलन्त उदाहरण थे। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए आप प्राचीन युग के तपोवनों, आश्रमों और गुरुकुलों की जीवनचर्या की पुनः प्रतिष्ठा करना आवश्यक समझते थे। तब भी वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था, शिक्षापद्धति आदि में, प्रस्तुत युग की आवश्यकता के अनुसार, शास्त्रसम्मत सुधार करने में आप कभी पश्चात्पद न रहे। यद्यपि आपके राजनीतिक विचार विशेष उग्र नहीं थे तथापि जब कभी देश पर विषम संकट आया, आप प्रचण्ड क्रान्तिकारी के समान, आगे बढ़कर उससे मोरचा लेते रहे। आपकी चरित्रगत विनयशीलता, मधुरता और कोमलता के कारण आपकी राजनीति बराबर उदार और नरम रही, परन्तु आपके भाव और विचार आपकी ओजस्विनी वाणी के माध्यम से बराबर अंगारे ही बरसाते रहे। जिस समय आप व्यासगद्दी पर बैठकर गीता का प्रवचन और श्रीमद्भागवत की कथा सुनाते थे, उस समय आपकी अमृतमयी वाणी श्रोताओं की अन्तरात्मा का स्पर्श करके उन्हें भाव-विभोर कर देती थी। पीड़ितों की सेवा, गौओं की सेवा और भगवद्भक्ति के प्रसंग उपस्थित होने पर आपके हृदय की करुणा और श्रद्धा अनायास उमड़कर आँखों की राह प्रवाहित होने लगती थी। आपके आदर्श जीवन और मर्मस्पर्शी भाषण ने देश के असंख्य व्यक्तियों को भारतीय संस्कृति का सच्चा अनुरागी बना दिया।

३. कवीन्द्र रवीन्द्र

जीवन-वृत्त—महाकवि का नाम यद्यपि 'रवि' बाबू था, तथापि आप वस्तुतः 'कवि' ही थे, क्योंकि जहाँ रवि भी नहीं पहुँच पाता है, वहाँ कवि पहुँचा हुआ है। आपका जन्म सन् १८६१ ई० में ७ मई को कलकत्ता के जोड़ासाँकूवाले राजप्रासाद में हुआ था। आपके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर अपने युग के एक तपस्वी पुरुष थे, जिन्होंने पश्चिम बंगाल के बोलपुर-नामक स्थान में 'शान्ति-निकेतन'-जैसे एकान्त आश्रम को अपना निवासस्थान बनाया था, और उसी स्थान में आगे चलकर महाकवि ने 'विश्वभारती' नामक विश्वविद्यालय की स्थापना करके विश्व-संस्कृतियों के संगमस्थल का निर्माण किया, तथा उससे थोड़ी ही दूर पर, 'श्रीनिकेतन' नामक ग्राम-सुधार-केन्द्र स्थापित करके ग्रामोद्धार के रचनात्मक कार्यक्रम का एक आदर्श उपस्थित किया। बचपन से ही आप बड़े कल्पनाशील थे। प्राकृतिक वातावरण में आपका बहुत जी लगता था। कलकत्ता के नार्मल स्कूल में आपकी पढ़ाई शुरू हुई। सन् १८७३ ई० में आपका उपनयन-संस्कार हुआ। इसी अवस्था से आप काव्यरचना का भी प्रयास करने लगे। सन् १८७८-७९ में आपने पहली बार इंगलैण्ड की यात्रा की। वहाँ 'ब्राइटन पब्लिक स्कूल' में, बाद 'लन्दन-विश्वविद्यालय' में आपकी पढ़ाई चलती रही। सन् १९०१ ई० में बोलपुर में आपने ब्रह्मचर्याश्रम खोला जो कुछ दिनों के बाद 'विश्वभारती' का केन्द्र बना। सन् १९०२ ई० में पत्नी, पिता आदि के निधन से शोकसन्तप्त होने के कारण आपकी आध्यात्मिक और कलात्मक प्रवृत्तियाँ जाग उठीं। सन् १९०५ ई० के बंग-भंग के फलस्वरूप क्रान्तिकारी भावनाओं और स्वदेशी आन्दोलन को आपकी रचनाओं और वक्तृताओं से प्रचुर प्रेरणा और उत्तेजना मिली। सन् १९१२-१३ ई० में आपने पुनः विदेश-यात्रा की और अंग्रेजी के प्रसिद्ध आयरिश कवि 'यीट्स' से आपका घनिष्ठ परिचय हुआ। उसी समय आपकी 'गीतांजलि' नामक कविता-पुस्तक पर विश्वविख्यात 'नोबेल' पुरस्कार मिला। इसके बाद ही ब्रिटिश सरकार ने आपको 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया, जिसे आपने 'जालियाँवालाबाग' हत्याकाण्ड के विरोध में त्याग दिया। गांधी-युग में आपने प्राच्य और पाश्चात्य जगत् के सभी प्रमुख देशों का परिभ्रमण करके भारत के सांस्कृतिक संदेश को विश्वव्यापी बनाया तथा साम्राज्यवाद, स्वार्थान्धता और संकुचित राष्ट्रीयता की नीति एवं मनोवृत्ति का खुलकर विरोध किया। साथ-ही-साथ, आपने अपनी सद्भावना और अपने आकर्षक प्रवचनों से पूर्व और पश्चिम के बीच की खाई को भरसक पाटने का प्रयत्न किया जो एक हद तक सफल भी हुआ। सन् १९३१ ई० में आपकी ७०वीं बरस-गाँठ पर, देश ने आपको श्रद्धापूर्वक एक सर्वाङ्गसुन्दर अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित किया था, जिसमें समस्त भूमण्डल के यशस्वी विद्वानों की रचनाएँ हैं। सन् १९४० ई० में 'ऑक्सफोर्ड' विश्वविद्यालय आपको डी० लिट् की उपाधि से विभूषित करके धन्य हुआ। 'विश्वभारती' के जिस कुटीर में आप निवास करते थे उसका नाम 'उत्तरायण' था। विश्वसंस्कृतियों के पुरोधा और शान्तिनिकेतन के विश्व-गुरुकुल के कुलपति होने के कारण, आपको सब लोग गुरुदेव कहते थे। अपनी रमणीय रचनाओं से साहित्य की प्रायः सभी शाखाओं को पल्लवित एवं पुष्पित करके आप उनपर कोकिल

बनकर कूजते रहे। संगीत और कला के क्षेत्र में भी उनकी अपनी शैलियों की देन चिरस्मरणीय है। सन् १९४१ ई० की ७ अगस्त को, कलकत्ता में, आपका वैकुण्ठवास हो गया। उस समय आपकी आयु ८१ वर्ष की थी।

विचारधारा—महाकवि रवीन्द्र विश्वकवि तो थे ही, विश्वधर्मी, विश्वप्रेमी, विश्व-नागरिक और विश्वबन्धु भी थे। मानवता और प्रकृति देवी के आप प्रकृत पुजारी थे। राजनीतिक विचारों में मतभेद होते हुए भी गाँधीजी से आपका हार्दिक स्नेह था। वर्त्तमान अशान्तिमय संसार के लिए आपका 'शान्तिनिकेतन' एक प्रकाशस्तम्भ के समान है। जीवन-भर, दिन-रात सौन्दर्य के मधुर-कोमल वातावरण में ही रमते रहने के कारण, आपके भाव, विचार, संभाषण, व्यवहार और कर्तव्य—सब-के-सब अलौकिक सौन्दर्य से ओतप्रोत थे जिनसे प्रभावित होकर मानव-समाज ने 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की दिव्य झाँकियाँ पाईं। आपके आध्यात्मिक विचारों पर हिन्दी के संत-साहित्य का विशेष प्रभाव था। आपके सरस गीतों में औपनिषदिक विचारधारा प्रवाहित दीख पड़ती है। हिन्दी के संतकवि महात्मा कबीरदास के प्रति आपकी बड़ी आस्था थी और उनकी निर्गुणवादी कविताओं की स्पष्ट छाप आपकी रचनाओं में भी परिलक्षित होती है।

४. महर्षि रमण

जीवन-वृत्त—आपका जन्म ३० दिसम्बर, १८७९ में मदुरा (मद्रास-प्रान्त) से ३० मील दक्षिण तिरुचुली ग्राम में हुआ। इसके निकट कौडिन्या नदी बहती है। कौडिन्या को पापहरी भी कहते हैं। तिरुचुली एक पवित्र तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। तिरुचुली शब्द का अर्थ, दक्षिणी भाषा में, ओंकार है। आपके पिता सुन्दरमय्यर सफल वकील थे और चाचा संन्यासी हो गये थे। बचपन में आपमें कोई विशेषता न दीख पड़ी। प्रतिभा भी साधारण-सी थी। पढ़ाई में भी कोई विशेषता न थी। हाँ, खेल-कूद और कुश्ती में आप बहुत दिलचस्पी लेते थे। फुटबाल खेलने और तैरने में आपका बहुत मन लगता था। साधारण विद्यार्थियों की तरह झगड़ा-फसाद, मारपीट में भी रहते थे। आप मितभाषी थे, किन्तु सोने में कुम्भकर्ण। ग्यारह वर्ष की अवस्था तक आप तिरुचुली में तमिल भाषा का अध्ययन करते रहे। १८९५ में, पिता की मृत्यु के बाद, बड़े भाई और चाचा के साथ मदुरा में रहने लगे। अमेरिकन मिशन हाई स्कूल की दसवीं श्रेणी तक आपकी शिक्षा हुई। इस समय भी आपमें आध्यात्मिकता का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ता था, न भक्ति की ओर ही झुकाव था। १८९५ के नवम्बर में आपको तिरुचुली का एक आदमी मिला। वह तीर्थ-यात्रा से लौटा था। पूछने पर उसने कहा—'अरुणाचल से आ रहा हूँ।' न जाने, क्या बात थी कि अरुणाचल का नाम सुनते ही महर्षि की नसों में बिजली दौड़ गई। लगभग इसी समय आपको 'परिय-पुराणम्' की एक प्रति मिल गई। इस ग्रन्थ में द्रविड़ देश के तिरसठ शिवोपासक नायरों की वार्ता है। इस ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ते आपके मानस में भक्ति की लहरें उठने लगीं। आप ऐसे तल्लीन हुए कि भूख-प्यास तक भूल गये। एक वर्ष बाद, १८९६ में, एक ऐसी घटना हुई जिसने आपके जीवन की दिशा बदल दी। उन दिनों आप पूर्णरूप से स्वस्थ थे। बीमारी का नाम-निशान न था।

अचानक आपको डर लगा कि मरनेवाले हैं। जान पड़ा कि मर रहे हैं। शरीर में किसी प्रकार का परिवर्त्तन दिखाई नहीं दिया, किन्तु भावों का वेग इतना तीव्र था कि मृत्यु का भय और उसका अनुभव बराबर होने लगा। शरीर शून्य-सा हो गया। साँस रुक गई और होठ बन्द हो गये। आपको ऐसा भास हुआ कि शरीर वहीं लाश के समान पड़ा है। आपको विश्वास हो गया कि मृत्यु इसी को कहते हैं। इस घटना का गहरा प्रभाव आपपर पड़ा। आपकी दृष्टि अन्तर्मुखी होने लगी, इष्ट-मित्रों का साथ छूटने लगा। खेल-कूद में जी नहीं लगने लगा। लड़ाई-झगड़े और मानापमान का भाव बिल्कुल जाता रहा। आप एकान्त-प्रिय हो गये। नियमित रूप से मदुरा की प्रसिद्ध मीनाक्षी देवी के मन्दिर में जाने लगे। वहाँ एकान्त में बैठकर भगवद्भक्ति की याचना करते। पढ़ाई पर अब ध्यान न था। परिणाम-स्वरूप, सर्वत्र आपका तिरस्कार होने लगा। एक बार बड़े भाई ने आपको आसन बाँधे ध्यान करते देखकर ताने से कुछ कटु वाक्य कह दिये। यह कटु वाणी तीर-सी चुभ गई। सहसा आपको अरुणाचल का स्मरण हो आया। उसी दिन घर से निकल पड़े। कुछ दूर गाड़ी पर, कुछ दूर पैदल, रास्ते की कठिनाई को झेलते हुए अरुणाचल पहुँचे। अरुणाचल के ज्योतिर्लिङ्ग के दर्शन करते ही आपने संसार के सब नाते तोड़कर अपने-आपको श्रीअरुणाचल के चरणों में समर्पित कर दिया। सन् १८९६ ई० के १ सितम्बर को आपके भावी दिव्य जीवन का आरम्भ हुआ।[१]

तपश्चर्या के विचार से आपने संन्यास ग्रहण किया। मन्दिर में रहने लगे, और मौन धारण किया। आपका कथन है कि जीव और ईश्वर का भेद मिटने पर जो सहज समाधि प्राप्त होती है, उसी में स्थित रहने का नाम मौन है। मन्दिर के भीतर एक जगह बैठकर आप तप करने लगे। कोई खाने को देता, तो खा लेते। किसीसे माँगने न जाते। लड़के और ऊधमी युवक सिर्फ १७ वर्ष के नवयुवक को तपश्चर्या में लीन देखकर कुतूहलवश अथवा शरारत से निन्दा और हँसी-मजाक करते और पागल कहते। कुछ दुष्ट तो ईंट-पत्थर भी फेंकने से बाज नहीं आते। इससे तपश्चर्या में बाधा पड़ने लगी। अतएव आप मन्दिर के एक ओर तहखाने में चले गये, जहाँ कीड़े-मकोड़ों का राज्य था। कीड़े आपके पैरों और जाँघों को काटते; किन्तु आप इस प्रकार ध्यान में मग्न रहते कि उसका ज्ञान भी नहीं होता। वेंकटाचल गोदली नामक एक सहृदय का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ और उसने एक साधु की सहायता से घाव और पीब से भरे इनके शरीर को उठाकर सुब्रह्मण्य स्वामी के गोपुर में लिटा दिया। उठाकर ले जाते समय भी आपकी समाधि नहीं टूटी। इससे लोगों की श्रद्धा और बढ़ गई और आपका नाम ब्राह्मण स्वामी पड़ गया। यहाँ भी आप बराबर ध्यानमग्न रहते। आँखें न खुलती थीं। इसके बाद आप मन्दिर के दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित बगीचे में चले गये और तत्पश्चात् वाहन-मंडप में रहने लगे। लड़कों ने पुनः छेड़-छाड़ शुरू कर दी और आप दूसरी जगह एकान्त तपस्या में रत हुए। एक

---

१ इस चिरस्मरणीय दिन की स्वर्ण-जयन्ती एक बार आपके भक्तों ने बड़ी धूमधाम से मनाई थी। उस अवसर पर संसार के भिन्न-भिन्न देशों के अनेक महानुभावों के महर्षि-सम्बन्धी आत्मोद्गारों एवं श्रद्धाञ्जलियों के संग्रह-रूप में जो स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, वह अति उपादेय और पठनीय है।

दिन एक लड़के ने आपकी पीठ पर पेशाब कर दिया। इससे दुखी होकर तंबिरान नाम के एक शैव साधु ने आपसे अपने गुरुमूर्त्तम् मन्दिर में रहकर तपस्या करने का अनुरोध किया जिसको आपने स्वीकार कर लिया। आपने यहाँ कठोर तपस्या की। आपकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। आप यहाँ डेढ़ वर्ष रहे। जब भीड़ बढ़ने लगी, तब आप वेंकटराम के निकटस्थ बगीचे में रहने लगे। यहाँ आने पर समाधि सहज, नित्य हो गई। बाद में आप पवलकुन्नु अथवा प्रवालगिरि पर रहने लगे। आपकी माताजी पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँचीं, और घर वापस ले जाने का निष्फल प्रयत्न किया। अन्त में रो-धोकर माताजी घर लौट गईं। कुछ काल के बाद उन्होंने आपके आश्रम में ही रहकर भगवद्भक्ति में मग्न रहते हुए प्राणत्याग किया। १८९६ में आप अरुणाचल पर्वत के तिरुपच्चि गुफा में रहने लगे। इस गुफा के उत्तर में मूलैपाल तीर्थ है और वहाँ भी एक गुफा है। कुछ और ऊपर जाकर स्कन्दाश्रम है, जिसके पास पानी का एक सोता बहता है। बड़ा सुन्दर और रमणीय स्थान है। यदा-कदा आप इन स्थानों में भी रहते थे। पहाड़ पर साँप, बन्दर, मोर आदि थे। आश्रम के साँप और मोर को स्वाभाविक वैर-भाव छोड़कर मित्र के ऐसा विचरण करते और साथ-साथ नाचते देखकर लोगों को कुतूहल होता था। सितम्बर, १८९६ में, आपने मौन धारण किया और प्रायः ११ वर्ष बाद १९०७ में आपने सर्वप्रथम गणपति मुनीन्द्र को उपदेश दिया। गणपति मुनीन्द्र असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। १८ वर्ष की आयु में विद्या में अनुपम क्षमता प्राप्त की थी। निरन्तर मन्त्र-जप में लगे रहते थे। शिव-पंचाक्षर-मंत्र का कोटि-जप किया था; किन्तु शिव का साक्षात्कार न हुआ। अतएव शंका-निवारणार्थ आपके पास आये और अपने को आपके चरणों में समर्पित कर दिया। पन्द्रह मिनट तक आप स्थिर दृष्टि से गणपति मुनीन्द्र की ओर देखते रहे। फिर धीरे-धीरे तमिल में इस प्रकार उपदेश दिया—'१. अहं का बोध जहाँ से उत्पन्न होता है, उसीका परिशीलन करें तो मन उसीमें लीन हो जाता है—यह तप है। २. मंत्र के जपते समय मंत्र का नाद जहाँ से फूटता है, उसका परिशीलन करें, तो मन उसीमें लीन हो जाता है—यह तप है।' इस उपदेश से गणपति मुनीन्द्र की समस्त शंकाएँ दूर हुईं और मुमुक्षुओं के लिए सर्व-दर्शन एवं योग के एक सरल महामंत्र की घोषणा हुई। तभीसे आप 'महर्षि' के नाम से विख्यात हुए। कुछ दिन के बाद भक्तों के आग्रह पर पालितीर्थ के पास आकर महर्षि रहने लगे। धीरे-धीरे वहाँ एक आश्रम बन गया। यह रमणाश्रम मद्रास से प्रायः १०० मील दक्षिण-पश्चिम, तिरुवनमले नगर के पास, तिरुवनमलाय स्टेशन से लगभग दो मील पर है। यद्यपि महर्षि ने कोई शिष्य नहीं बनाया, आडम्बर से दूर भागते रहे; मंत्र-तंत्र, योग-सिद्धि, चमत्कार-प्रदर्शन आदि को कभी महत्त्व नहीं दिया तथापि अनेक भारतीय तथा विदेशी अध्यात्म-साधक एवं मुमुक्षु आपके निकट आते रहे, और आपसे प्रभावित होकर बिना दीक्षा पाये ही अपने को आपका शिष्य समझने लगे। इनमें हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, मुसलिम आदि नाना धर्म के अनुयायी हैं। वे लोग अपने-अपने धर्म पर आस्था रखते हुए महर्षि के उपदेशानुसार आत्मशोध में निरन्तर लीन रहते हैं। विदेशियों में हम्फ्रे, पालब्रण्टन, फ्रेडरिक फ्लेयर (भिक्षु प्रज्ञानन्द), हैरी डिकमैन, राफेल हर्स्ट, मर्स्टन मीज (साधु एकरसा), रिचर्डसन, वर्नोसिया हदन, डाक्टर

जंग, ग्रण्ट डफ, ओलिवर लाकुम्बी, विलियम स्पौलडिंग, मेजर चाडविक, इला मेलर्ट, इलेनर पौलनी नोयी, डन्कन ग्रीनलेस और भारतीयों में स्वामी सिद्धेश्वरानन्द, सर राधाकृष्णन, प्रिन्सिपल संजीवराव, कुपुस्वामी शास्त्री, मनु सूबेदार, दिलीपकुमार राय, जस्टिस चन्द्रशेखर आयर, सरदार रुद्रराज पाण्डेय (नेपाल), सर अल्लपाचेटियर, सर सी० पी० रामस्वामी आयर, डाक्टर मोहम्मद सईद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पालब्रण्टन के 'गुप्त भारत की खोज' (Search after Secret India) तथा अन्य ग्रन्थों ने पाश्चात्य संसार का ध्यान महर्षि की ओर विशेषरूप से आकृष्ट किया। सन् १९५१ में आपका निर्वाण हो गया।

विचारधारा—महर्षि उपदेश नहीं देते थे, किन्तु आपके सम्पर्क में आने से ही मनुष्य अपने में आध्यात्मिक उन्नति पाने लगता था; मन में शान्ति और प्रतिरोधहीन परिवर्त्तन होने लगता था। मन में उठे प्रश्न अनायास हल होने लगते थे। जिन समस्याओं और उलझनों से मुमुक्षु चिन्तित रहता था, उनका अन्त होने लगता था और शंकाकुल मस्तिष्क शान्ति पा जाता था। सारांश, जैसे पुष्प-पराग से सुगन्धि उठती है, वैसे ही महर्षि से आध्यात्मिक शान्ति की सुगन्धि निकलकर फैलती थी, जिससे दर्शनार्थी मुमुक्षु प्रभावान्वित हुए बिना नहीं रह सकते थे। जीवन्मुक्त होने के कारण आपमें प्रदर्शन की वृत्ति लेशमात्र नहीं थी। आश्रम की ओर से किसी को प्रचार करने की अनुमति नहीं थी। आप किसी को शिष्य नहीं बनाते थे। आपका विचार था कि मनुष्य को यदि गुरु बनाना है, तो स्वयं अपने ही अन्दर अपनी आध्यात्मिक चेतना में गुरु की खोज करे। आप कहते थे कि आत्मा ही गुरु है, उसी को खोजो। आप आत्मानुभूति के उपदेष्टा थे, समाजसेवा पर विशेष जोर देते थे और सेवामार्ग में आगे बढ़ने के बाद ही एकान्त में साधना करने की सलाह देते थे। आपके मतानुसार, भगवान् में दृढ़ विश्वास ही सच्चा आसन है और कर्त्तव्य-पालन ही वास्तविक पूजा। एकान्त तो मनुष्य के चित्त की वृत्ति पर निर्भर है। सांसारिक वस्तुओं की ममता में फँसे हुए मनुष्य को निर्जन अरण्य में भी एकान्तता का अनुभव नहीं होता, किन्तु संसार के झमेलों में रहकर भी शान्त चित्तवाले व्यक्ति को निर्जनता का बोध होता है। आसक्तिहीन चित्त के लिए हर जगह एकान्त है। जो अवस्था वाणी एवं विचार का भी अतिक्रमण करती है, वही मौन अवस्था है; यही ध्यान का रूप है। यह अवस्था चित्त को, तीव्रता का सम्पूर्णतया अभाव होने पर ही, प्राप्त होती है। चित्त का दमन ही ध्यान है। गम्भीर ध्यान ही अनन्त वाणी है। मौन ही आत्मा की भाषा का अविरोध प्रवाह है; उपदेश तो ज्ञान-प्रसार का एक साधारण तरीका है, जो सम्यक्रूप से मौन द्वारा ही सम्भव है, अर्थात्, मूक भाषा द्वारा ज्ञान का वितरण अधिक प्रभावशाली होता है। पवित्र सन्तों के सत्संग का जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा व्याख्यान का नहीं। मनुष्य ईश्वर का ध्यान करे अथवा अपने शुद्ध स्वरूप का, दोनों में कोई भेद नहीं; क्योंकि दोनों की परिणति एक ही है। ईश्वररूप हुए बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अपने स्वरूप में लीन होने के पूर्व अपने स्वरूप में प्रेम होना आवश्यक है। ईश्वर ही वह शुद्ध स्वरूप है। अपने स्वरूप का प्रेम ईश्वर का प्रेम है, और वही भक्ति है। ज्ञान और भक्ति एक ही वस्तु हैं। जप का एकमात्र उद्देश्य चित्त में उठनेवाले अनेक विचारों का दमन है।

जप से ध्यान होता है, जिसकी परिणति आत्मानुभूति अथवा ज्ञान में होती है। नाम-जप में सफलता प्राप्त करने के लिए अनन्यभाव से आत्म-समर्पण अनिवार्य है। आत्म-समर्पण के बाद ही ईश्वर का नाम निरन्तर मनुष्य के चित्त में व्याप्त रहता है। ज्ञान और पूर्ण आत्म-समर्पण में भेद नहीं है। इस पूर्ण आत्म-समर्पण में ही ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम—सब-कुछ व्याप्त है। आत्मा ही गुरु है, अतएव ईश्वर गुरु का रूप धारण कर सत्य की शिक्षा देता है और अपने सत्संग से भक्त के चित्त को पवित्र कर देता है। भक्त का चित्त दृढ़ होकर अन्तर्मुख होने में समर्थ होता है। ध्यान द्वारा यह और भी परिष्कृत हो जाता है, और चंचलता शान्त हो जाती है। गुरु एक ओर चित्त को अन्तर्मुख बनाता है और दूसरी ओर उसे आत्मा की ओर आकृष्ट करके शान्ति प्राप्ति करने में सहयोग देता है। यही गुरु-कृपा है। गुरु, ईश्वर और आत्मा में कोई भेद नहीं है। अन्तस्थ ईश्वर प्रेमी भक्त पर दया करके, भक्त की चित्तवृत्ति के अनुसार, अपने को प्रकट करता है। अहंभाव बहुत बलवान हाथी के सदृश है और उसका दमन सिर्फ शक्तिशाली शेर द्वारा ही हो सकता है; वह गुरु ही है, जिसकी कृपा-दृष्टि से अहंभाव विलीन होने लगता है। अहंभाव की शान्ति में ही मनुष्य का कल्याण है, और इसे प्राप्त करने के लिए आत्म-समर्पण आवश्यक है। जब पूर्ण आत्म-समर्पण हो जाता है, अहंभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है, तब न शोक रह जाता है और न दुःख ही। आत्मानुभूति की शक्ति समस्त गुप्त शक्तियों से बढ़कर है। आत्मानुभूति से जो आनन्द होता है, वही शान्ति की परिणति है। जिस सन्त की चित्त-वृत्ति पूर्णतया शान्त है, वही अपनी आत्मानुभूति से दूसरों को सुखी बना सकता है। महर्षि के उपदेश का केन्द्र 'मैं' की खोज है। पहले 'मैं' को जानो, फिर तुम सत्य को जान सकोगे। तुमको केवल एक ही काम करना है। तुम अपने भीतर देखो, और तुम्हें अपनी सारी उलझनों का हल मिल जायगा। आत्मा के विषय में गम्भीर विचार और सतत ध्यान करो, प्रकाश मिलेगा। जब मन आत्म-स्वरूप से वहिर्मुख होता है, तब जगत् भासमान होता है। जब जगत् दीखता है, तब आत्मस्वरूप दिखाई नहीं देता और जब आत्मस्वरूप का दर्शन होता है, तब जगत् नहीं दीखता। अपने स्वरूप की विचारणा करते-करते मन निजी स्वरूप में पलट जाता है। वस्तुतः मन का निजी स्वरूप आत्मस्वरूप ही है। मन हमेशा किसी स्थूल वस्तु का आश्रय लेकर ही टिक सकता है। वह अपने-आप नहीं टिक सकता। मन को ही सूक्ष्म शरीर या जीव कहा जाता है। इस देह में जो 'मैं' रूप से पैदा होता है, वही मन है। हृदय में 'अहम्' विचार का प्रथम स्फुरण होता है, अतएव हृदय ही मन का जन्मस्थान है। मन में उठनेवाले तमाम विचारों में अहं-विचार ही प्रथम विचार है। 'मैं कौन हूँ ?'—इसकी विचारणा द्वारा निश्चय ही मन का लय होता है। जिस प्रकार चिता की अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला काठ अंत में खुद भी जल जाता है, उसी प्रकार अहं-विचार दूसरे सब विचारों का नाश करके स्वयं नष्ट हो जाता है। 'मैं कौन हूँ' की विचारणा की जाय, तो मन अपने जन्म-स्थान में लौट जाता है और साथ हो उठा हुआ विचार भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मन की अपने जन्मस्थान में स्थिर होने की शक्ति बढ़ती जाती है। जब सूक्ष्म मन, बुद्धि और इंद्रियों द्वारा, वहिर्मुख होता है, तब स्थूल नाम-रूप दृश्यमान होते हैं। जब मन वहिर्मुख होने नहीं पाता और हृदय में स्थिर हो

जाता है, तब वह अहम्मुख या अन्तर्मुख मन कहलाता है। जब मन हृदय के बाहर भटकने लगता है, तब वह वहिर्मुख मन कहा जाता है। यदि मन हृदय में स्थिर हो जाय तो 'मैं', जो सब विचारों का मूल है, अदृश्य हो जाता है। जिस दशा में अहं-विचार का लेश भी नहीं, उसे स्वरूप-स्थिति कहते हैं। वास्तव में वही मौन कहलाता है। मौन की दशा का दूसरा नाम ज्ञानदृष्टि है और उसका अर्थ है—आत्मस्वरूप में मन का लय करना। इसके विपरीत, दूसरों के विचारों का जानना, तीनों काल का ज्ञान होना, दूर देशों की घटनाओं को जान लेना आदि को ज्ञानदृष्टि नहीं कह सकते। केवल आत्म-स्वरूप ही सत्य है। मन का लय करने के लिए आत्मचिन्तन से अन्य कोई योग्य उपाय नहीं है। प्राणायाम से भी मन का निग्रह होता है; परन्तु जबतक प्राण का निग्रह जारी रहता है, तभी तक मनोनिग्रह टिकता है। जब प्राणायाम बन्द किया जाता है, तब मन वहिर्गामी होकर वासनावश हो जाता है और इधर-उधर भटकने लगता है। मन एवं प्राण का जन्मस्थान एक ही है। विचार ही मन का प्रथम विकार है और वही अहंकार है। मनोनिग्रह करने में प्राणायाम सहायक तो होता है, परन्तु इसके द्वारा मनो-नाश नहीं हो सकता। प्राणायाम की तरह, मूर्ति-ध्यान, मंत्र-जप और आहार-नियम भी सहायक हैं। मूर्ति-ध्यान और मंत्र-जप से मन एकाग्रता को प्राप्त होता है। नियमों में सबसे बड़ा सात्त्विक मिताहार का नियम है। इससे मन में सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, जो आत्म-विचार में सहायक है। ज्यों-ज्यों स्वरूप-ध्यान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वासनाएँ नष्ट होती जाती हैं। अतएव स्वरूप-ध्यान में ही एकाग्र होने का अभ्यास निरन्तर जारी रखना चाहिए। जबतक मन में विषय-वासनाएँ भटक रही हों, तबतक 'मैं कौन हूँ' की विचारणा आवश्यक है। किसी चीज की आशा न करना अर्थात् आशा का त्याग ही वैराग्य है। आत्मस्वरूप का त्याग न करना ज्ञान है। वास्तव में वैराग्य और ज्ञान एक ही हैं। प्रत्येक साधक वैराग्य धारण करके निज स्वरूप के अंदर गहरी डुबकी लगाकर आत्ममुक्ति पा सकता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति न होने तक यदि आत्मस्वरूप का निरन्तर स्मरण किया जाय, तो वही एक साधन काफी है। आत्म-विचार के अलावा अन्य जो विचार पैदा हों, उनको जरा भी जगह न देते हुए, आत्मनिष्ठ होकर रहना, अपने-आपका ईश्वरार्पण करना, ईश्वर की शरणागति है। ईश्वर पर चाहे कितना भी भार रखा जाय, वह सारा बोझ वहन करता है। अतः इस प्रकार की चिन्ता कोई क्यों करे! जो सुख कहलाता है, वह आत्मस्वरूप ही है। सुख एवं आत्मस्वरूप अलग नहीं हैं। आत्म-सुख ही एकमात्र सत्य है। शुभ मन और अशुभ मन—इस प्रकार के दो मन नहीं हैं; मन एक ही है। सिर्फ वासनाएँ शुभ और अशुभ—दो प्रकार की होती हैं। दूसरे लोग चाहे कितने ही बुरे मालूम हों, फिर भी उनका तिरस्कार मत करो, राग-द्वेष दोनों का त्याग करो, मन को सांसारिक विषय में अधिक मत बहाओ। जहाँ तक हो सके, दूसरों के काम में दखल मत दो। हमारा बर्ताव जितना ही विनम्र होगा, उतना ही हमारा श्रेय होगा।

५ योगिराज अरविन्द

जीवन-वृत—१५ अगस्त को, सन् १८७२ ई० में, कलकत्ता में श्रीअरविन्द घोष का जन्म हुआ। सन् १८६७ ई० में अपने दो बड़े भाइयों के साथ शिक्षा प्राप्त करने के

लिए आप इंगलैंड भेजे गये। वहाँ आप १४ वर्षों तक रहे। १८६० ई० में आपने आइ० सी० एस० परीक्षा पास की, पर इसके दो वर्ष के अभ्यासक्रम के अन्त में, घुड़सवारी की परीक्षा में हाजिर नहीं होने के कारण, अनुपयुक्त समझे गये। बाद, बड़ौदा-राज्य की सेवा स्वीकार कर वहाँ १६०६ ई० तक रहे। बड़ौदा में आपने संस्कृत का अध्ययन किया। १६०५ ई० में बंग-भंग के कारण जो आन्दोलन उठा, उसके चलते १६०६ ई० में बड़ौदा छोड़कर नव-स्थापित बंगाल नैशनल कालेज के प्रिंसिपल होकर आप कलकत्ता आये। १६१० ई० तक आप राजनेतिक कार्य में लगे रहे। इन्हीं दिनों महाराष्ट्र के लोकप्रिय नेता बाल-गंगाधर तिलक को लोकनायक मानकर 'राष्ट्रीय दल' कायम हुआ और आप उसमें सम्मिलित हुए। इसी समय 'वन्दे मातरम्' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ और आप उसके सम्पादक बनाये गये। आपके प्रभाव के कारण राष्ट्रीय दल ने इसे अपना मुखपत्र माना। १६०७ ई० में आप राजद्रोह के मामले में गिरफ्तार किये गये; किन्तु निर्दोष छूट गये। मई, १६०८ ई० में अपने भाई वारीन्द्र की क्रान्तिकारी दल की कार्रवाइयों के सम्बन्ध में आप फिर गिरफ्तार किये गये, पर आपके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिला; अतएव आप छोड़ दिये गये। किन्तु फैसले तक एक वर्ष आपको अलीपुर जेल में रहना पड़ा। मई, १६०६ ई० में आप छूट गये। जेल से छूटने के बाद ही आपने उत्तर-पाड़ा में भाषण दिया जिसमें आपके आध्यात्मिक जीवन की स्पष्ट झलक थी। अलीपुर-जेल में बारह मास तक जो बंद रहना पड़ा, आपने उस समय को योगाभ्यास में व्यतीत किया। आध्यात्मिक जीवन के लिए आपने एकान्त-सेवन की आवश्यकता का अनुभव किया और १६१० ई० के फरवरी मास में चन्दरनगर के एक निर्जन स्थान में रहने चले गये फिर अप्रैल महीने में समुद्र के रास्ते पांडिचेरी पहुँचे। जिस समय आप बंगाल से गये, उस समय अनुकूल परिस्थिति में वापस आकर राजनैतिक क्षेत्र में काम करने का आपका विचार था। किन्तु, बहुत शीघ्र ही, आपको अनुभव हुआ कि जो आध्यात्मिक कार्य आपने हाथ में लिया है, उसीमें सब तरफ से मन को हटाकर प्राण-प्रण से लग जाना पड़ेगा। तब से आप अपनी आध्यात्मिक साधना में ही लगे रहे। पांडिचेरी में आपने पहले ४-५ अनुयायियों के साथ एकान्त-सेवन किया। फिर धीरे-धीरे कुछ और लोग आकर सम्मिलित हो गये। उसके बाद सन् १६२० ई० में, जब श्रीमाताजी* ने आकर उनका साथ दिया, तब लोग इतनी अधिक संख्या में आने लगे कि उनके रहने का बन्दोबस्त करना अत्यावश्यक हो गया। फलतः एक आश्रम की स्थापना हो गई। आश्रम की व्यवस्था श्रीमाताजी के बनाये पारिवरिक नियमों के अधीन है। आश्रमवासियों को सभी प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रचार-कार्य से अलग रहना पड़ता है। यह आश्रम कोई धर्म-संघ नहीं है। यहाँ सभी धर्म के लोग हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका कोई धर्म नहीं है। यहाँ कोई मतवाद नहीं है। श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुसार सभी आश्रमवासी, आध्यात्मिक विकास के लिए साधना किया करते हैं। श्रीअरविन्द ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें गीता-विषयक निबन्ध 'एसेज ऑन गीता' और दिव्य जीवन 'डिवाइन लाइफ' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आश्रम से अंग्रेजी एवं बँगला

* माताजी एक फ्रेञ्च वृद्ध महिला हैं और साधनापथ में काफी अग्रसर हो चुकी हैं।

के अतिरिक्त हिन्दी पत्रिका 'अदिति' निकलती है। १९४७ ई० के स्वतन्त्रता-दिवस (१५ अगस्त) से वार्षिक हिन्दी पत्रिका 'अर्चना' निकलने लगी है। श्रीअरविन्द आश्रम के एक एकान्त कमरे में रहते थे। वर्ष में चार दिन—१५ अगस्त, २४ नवम्बर, २१ फरवरी, और १५ जून को—आपके सार्वजनिक दर्शन होते थे। आश्रम में एक पुस्तकालय है, जो आध्यात्मिक विषय के अध्ययन का साधन प्रस्तुत करता है। एक वाचनालय भी है। आश्रमवासियों को सादा और सात्त्विक भोजन मिलता है।

विचारधारा—श्रीअरविन्द की साधना का लक्ष्य था—मनुष्य-जाति में भगवान् को पाना और प्रकट करना; मनुष्य-जीवन का केवल दुःख दूर करना नहीं, बल्कि उसका सर्वथा रूपान्तर करना; मनुष्य जीवन को दिव्य बनाना। आपके अनुसार, योग का अर्थ है आत्मोपलब्धि की पूर्ण चेतना, जिसके प्रकाश में मनुष्य देख सके कि वह किस लिए जन्मा है और जान सके स्वाधिकार का महत्त्व; योग का लक्ष्य है मनुष्य की प्रत्येक शक्ति को शुद्ध, निर्मल बनाकर उसकी चरम परिणति तक पहुँचा देना। इसकी सबसे पहली प्रक्रिया है आत्म-समर्पण का संकल्प करना। आपका कथन था कि हमें अपनी सारी शक्ति से अपने-आपको भगवान के हाथों सौंप देना चाहिए; लेकिन कोई शर्त न रहे, कोई चीज न माँगी जाय, यहाँ तक कि योगसिद्धि भी नहीं; जो लोग अपने-आपको दे देते हैं और कुछ भी नहीं माँगते, उन्हें भगवान सब चीज दे देते हैं; साधक को निस्पृह, निर्द्वन्द्व और निरहंकार होना आवश्यक है।

दूसरी प्रक्रिया है अपने अन्दर दिव्य शक्ति की क्रिया को देखना। दिव्य शक्ति की यह क्रिया जब हमारे अन्दर होती है तब बहुधा देहादि में विक्षोभ और कष्ट उत्पन्न होता है। अतएव श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यकहै, यद्यपि पूर्ण श्रद्धा का एकबारगी होना सदा सम्भव नहीं है—क्योंकि हमारे अन्दर जो कुछ मलिनता है, चाहे वह बाहर दिखाई पड़ती हो या भीतर छिपी पड़ीहो, वह आरम्भ में उमड़ पड़ती है और जबतक जड़मूल से बाहर नहीं निकाल दी जाती तबतक वह बराबर आक्रमण करती है। और, इस अवस्था में संदेह का उत्पन्न होना एक ऐसी दुर्बलता है जो प्रायः सभी साधकों में पाई जाती है। जब कोई भीतरी कष्ट तुम्हें सतावे या बाहर से आक्रमण करे तब सदा गीता के इन शब्दों को स्मरण करना चाहिए—'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रासादात्तरिष्यसि' अर्थात् अपने-आपको हृदय और मनसे मुझे दे देने से तू समस्त कठिनाइयों और संकटों को मेरे प्रसाद से पार कर जायगा। चाहे कोई रोग, शोक हो, या शंका उत्पन्न हो या हृदय में कोई पाप या शंका उमड़ती हो—किसी बात से जरा भी घबराना न चाहिए। केवल भगवान को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना चाहिए। भगवान कहते हैं—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' अर्थात् मैं तुम्हें समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूँगा—अतः स्वयं भगवान ही मुक्त कर देंगे। किन्तु यह मुक्ति अचानक किसी चमत्कार के रूप में नहीं आती, यह पवित्रीकरण की एक प्रक्रिया द्वारा आती है; और ये सब चीजें उसी प्रक्रिया का एक अंग हैं।

तीसरी प्रक्रिया है सभी दृश्य वस्तुओं को भगवान के रूप में देखना। इस अनुभूति में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि सद्वस्तु तो बस 'एक' ही है, और अन्य सब-कुछ माया है, उद्देश्यहीन और अनिर्वचनीय भ्रम है। इसके बाद यदि हम यहीं रुक न जायँ तो हमें

यह दिखाई देगा कि वही आत्मा सभी सृष्ट वस्तुओं को न केवल अपने अन्दर रखती और धारण करती है, बल्कि उनमें परिव्याप्त और ओतप्रोत भी हो रही है और अन्त में हम यह समझ सकेंगे कि यह सब नाम और रूप भी ब्रह्म ही हैं। तब हम अधिकाधिक उस ज्ञान में निवास करने लगेंगे जिसे गीता और उपनिषदों ने जीवन का सिद्धांत माना है। उस समय हम आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखेंगे। इस योग की सर्वोच्च अनुभूति तो वह है जिससे हमें पता चलेगा कि यह सारा जगत् एक अनन्त दिव्य पुरुष की ही अभिव्यक्ति या लीला है। किन्तु सभी वस्तुओं और प्राणियों में भगवान को देखना ही पर्याप्त नहीं है। हमें सभी घटनाओं, क्रियाओं, विचारों और अनुभवों में, अपने में और दूसरों में, यानी जगत् भर में भगवान को देखना होगा। इस अनुभूति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—पहली तो यह कि हमें अपने सभी कर्मों का फल भगवान को सौंप देना होगा, और दूसरी यह कि कर्मों को भी उन्हें अर्पित कर देना होगा। कर्मफल को अर्पित करने का यह अर्थ नहीं है कि उससे वैराग्य हो जाय अथवा उससे हम मुँह मोड़ लें। इस बात पर दृढ़ विश्वास रखना उचित है कि जब हम अपने कर्त्तव्य कर्म का ठीक-ठीक पालन करेंगे तब उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से वही होगा जो उचित और आवश्यक है। और अगर फल हमारी पसन्द या आशा के अनुरूप न भी हो, तोभी, उस विश्वास को ज्यों-का-त्यों बनाये रखना चाहिए। हमें सभी सुखों को बिना आसक्ति के ग्रहण करना होगा। हमें विश्व-मानव को अमृतत्व प्राप्त करने का अधिकारी बनाना होगा। हमें इस जगह में उस दिव्य विद्युच्छक्ति को थरथराहट और जगमगाहट के साथ सारी मनुष्य-जाति के अन्दर संचारित करना होगा, जिसमें जहाँ-कहीं हममें से कोई भी एक आदमी खड़ा हो वहाँ उसके चारों ओर हजारों मनुष्य भगवान की ज्योति और शक्ति से भर जायँ, भगवन्मय और आनन्दमय बन जायँ। जो केवल अपनी मुक्ति या थोड़े-से लोगों की मुक्ति के लिए प्रयास करता है, उसका कार्य अगर सफल भी हो जाय तो भी अत्यन्त सामान्य है। किन्तु जो समस्त मनुष्यजाति में आत्मा की शान्ति, आनन्द, पवित्रता और पूर्णता स्थापित करने के लिए ही जीवन धारण करता है, उसका कार्य यदि असफल भी हो जाय अथवा केवल आंशिक रूप में कुछ काल के लिए ही सफल हो, तोभी वह अनन्त गुणा महान है।

६. स्वामी शिवानन्द

जीवन-वृत्त और विचारधारा—स्वामीजी के पूर्वज अप्पय दीक्षित एक सन्त थे। यद्यपि सन्त दीक्षित की प्रतिभाशालिनी एवं प्रगल्भ रचनाएँ वेदान्त-विषयक ही हैं तथापि संस्कृत-साहित्य का ऐसा कोई भी अंग नहीं है जो आपसे अछूता हो। अप्पय दीक्षित भगवान शैव के अवतार कहे जाते हैं। आपके सम्बन्ध की एक चामत्कारिक घटना प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि जब आप तिरुपति (दक्षिणभारत) के विष्णु-मन्दिर में भगवान के दर्शन करने गये तब शैव होने के कारण वैष्णव पुजारियों ने आपको मन्दिर में नहीं घुसने दिया।, प्रातःकाल जब मन्दिर के पट खुले तब महन्थ और पुजारियों को यह देखकर आश्चर्य और साथ-ही-साथ भय भी हुआ कि विष्णुमूर्त्ति शिवमूर्त्ति में बदल गई है। आश्चर्यचकित महन्थ ने अप्पय दीक्षित से क्षमायाचना की और शिवमूर्त्ति को पुनः विष्णु-

मूर्त्ति परिवर्तित करा देने की प्रार्थना की। स्वामीजी के पिता वेंगू आयर एक जबर्दस्त शिवभक्त, ज्ञानी और साधु पुरुष थे। इन्हीं वेंगू आयर के घर वृहस्पतिवार, ८ सितम्बर को, १८८७ ई० में प्रातःकाल स्वामी शिवानन्दजी का जन्म पट्टामदाई ग्राम में हुआ। यह ग्राम मद्रास-प्रान्त के तिन्नेवेली जंकशन से दस मील की दूरी पर स्थित है। आपका नाम कुप्पू आयर पड़ा। आपके माता-पिता इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि उनकी यह अन्तिम सन्तान अतिशय स्नेह से बिगड़ न जाय, वरन् आदर्श व्यक्ति हो। अतएव आपकी शिक्षा-दीक्षा के सुप्रबन्ध के साथ-साथ शरीर और मन को सुपुष्ट और विकसित करने का भी सफल प्रयत्न किया गया। आपका शरीर जिस प्रकार आयु की वृद्धि के साथ क्रमशः बढ़ता जाता था उसी प्रकार वह कष्टसहिष्णु, बलवान और दृढ़ भी होता जाता था। इसके साथ ही आप पढ़ने-लिखने में भी सबसे आगे रहे। आपका मन, मस्तिष्क और शरीर—तीनों एक साथ ही उन्नति करते रहे। १६०३ ई० में, मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास करने के बाद, आप त्रिचनापल्ली कालेज में भर्ती हो गये और तदनन्तर मेडिकलकालेज में भर्ती हुए। वहाँ से डाक्टरी परीक्षा पास कर आपने संसार में प्रवेश किया। ऊर्ध्वाङ्ग-चिकित्सा और नेत्र-सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा में आपने बहुत नाम और यश कमाया। आप डाक्टरी-सम्बन्धी एक पत्रिका के सम्पादक हुए। लोगों को ज्ञात हो गया कि अंग्रेजी भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है। आपकी भाषा इतनी सरल, चुस्त और प्रभावपूर्ण होती थी कि पढ़नेवाले का मन बरबस आकृष्ट कर लेती थी। धनार्जन से बलवती आपके अन्दर सेवा की भावना थी। आपको फीस और दवा से अधिक चिन्ता रोगी के लाभ की रहती थी। रोगी को लाभ हो, वह शीघ्र रोगमुक्त हो—यह आपका पहला यत्न होता था। इसी सेवा की भावना ने आगे चलकर कुप्पू स्वामी को स्वामी शिवानन्द बनाया जो आज संसार में अध्यात्मपथ के पथिकों के लिए एक महान् प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं। आप अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी थे। संसार में बढ़ने और उन्नति करने के लिए यह गुण आवश्यक है। आप १६१३ ई० में मलाया गये और वहाँ सात वर्षों तक एक सुप्रसिद्ध अस्पताल में प्रधान चिकित्सक का कार्य करते रहे। आपके अन्दर आत्मविश्वास था। आप समझते थे कि जिस रोगी को हम अपने हाथ में लेंगे उसे यथोचित चिकित्सा और सेवा द्वारा अवश्य अच्छा कर देंगे। प्राणिमात्र की सेवा, सबके प्रति सच्चा प्रेम तथा सहानुभूति आपका धर्म था। अपने प्रेमपूर्ण मधुर व्यवहार के कारण आप अधीनस्थ सभी कर्मचारियों की श्रद्धा-भक्ति के भाजन हो गये थे। आप शुरू से ही भगवान् के भजन और पद बहुत अच्छा और मधुर गाते थे। आपने करीब दस वर्षों तक मलाया और सिंगापुर में लोक-सेवा का जीवन बिताया। वेदान्त के अध्ययन की ओर आपकी प्रवृत्ति हो चली थी। आप भक्ति, योग, वेदान्त आदि सभी विषयों की पुस्तकों के अध्ययन से अपनी आध्यात्मिक पिपासा को तृप्त करते। आपका जीवन इसी प्रकार बीत रहा था कि १६२३ ई० में सहसा आपके अन्दर आत्मज्ञान-सा प्रकट हुआ। आप अपने अन्दर कुछ खोजने लगे; संसार की सभी चीजों से आपका मन उचट गया। किसीके प्रति न आकर्षण रहा; न मोह। जो भी चीजें आपके सामने आईं, आपको शिवमय दिखाई देने लगीं। आप बहुत आह्लाद, प्रेम और भक्ति से 'ओम् नमः शिवाय' की रट लगाने लगे। आपको अपनी तत्कालीन अवस्था से विरक्ति हो गई। आत्मज्ञान प्राप्त

करने की प्रचण्ड अभिलाषा आपके अन्दर जागरूक हो गई थी जिससे आपको किसी प्रकार शान्ति नहीं मिलती थी। अन्त में आपने अपनी चीजें लोगों को दे डालीं, और काशी चले आये। विश्वनाथजी के दर्शन करने पर आपने शान्ति के लिए याचना की और वह शान्ति शंकर ने दी। इसके बाद कुछ काल तक शीत, वर्षा, आतप, वात आदि की परवाह न कर आप घूमते रहे। इन यात्राओं ने जहाँ आपमें कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति उत्पन्न की वहाँ आपके भीतर शरीर के प्रति अनासक्ति का भाव भी उदित हुआ। शरीर के प्रति सारी मोह-माया से आप मुक्त होने लगे। घूमते-घूमते आप चन्द्रभागा नदी के तट पर धालजा ग्राम में पहुँचे। वहाँ एक स्थानीय वृद्ध पोस्टमास्टर से आपका संपर्क हुआ। पोस्टमास्टर बहुत ही धर्मात्मा और भक्त पुरुष थे। उनके आग्रह पर आप वहाँ चार महीने तक रहे। उन्हीं की सलाह से आप ऋषिकेश आये। ऋषिकेश आने के कुछ ही दिन बाद १६२४ ई० के मध्य में एक दिन सदा की भाँति गंगास्नान के लिए गये तो आपने एक परम तेजस्वी संन्यासी को देखा। उस तेजस्वी और निर्भय संन्यासी को देखते ही आपके अन्दर भी संन्यासाश्रम में दीक्षित होने की प्रेरणा हुई। महात्मा ने कहा—मेरी अन्तरात्मा से यह ध्वनि निकलती है कि तुमसे बढ़कर योग्य व्यक्ति मुझे दीक्षित करने के लिए न मिल सकेगा, इसलिए मैं तुम्हें संन्यासाश्रम में अवश्य दीक्षित करूँगा। अन्त में शृंगेरीमठ की शाखा के परमहंस संन्यासी स्वामी विश्वानन्दजी ने डाक्टर कुप्पूस्वामीको दीक्षित कर उनका नाम शिवानन्द सरस्वती रखा। इसके बाद स्वामीजी की अन्तरात्मा की प्रेरणा तपस्या की ओर हुई और लक्ष्मणझूला के पास स्वर्गाश्रम की एक जीर्ण-शीर्ण कुटिया में आप तपस्या में संलग्न हुए। ध्यान और साधना के अतिरिक्त जो समय बचता उसका उपयोग आप आस-पास के जङ्गलों, पहाड़ियों और गिरि-कन्दराओं में भ्रमण करने तथा उच्च स्वर से भगवान् का नाम लेने में अथवा विनयपत्रिका पढ़ने में व्यतीत करने लगे। नित्य-प्रति ब्राह्ममुहूर्त में उठकर आप भगवान का नाम जपते, गंगास्नान करने जाते, कुटिया में आठ-नौ बजे दिन तक जप और ध्यान में समय व्यतीत करते; फिर जनता कीसेवा-शुश्रूषा और चिकित्सा के कार्य में लग जाते। इसके बाद कमण्डलु लेकर भिक्षा माँगने के लिए क्षेत्र की ओर चल पड़ते। आगे चलकर क्षेत्र के अधिकारियो ने आपके महत्त्व को समझा, और आहारके मामले में आपको अनेक प्रकार की सुविधाएँ देने लगे। आप इन सुविधाओं को स्वीकार कर लेते, किन्तु स्वयं साधारण पदार्थ खाकर घी, दूध और दही उन लोगों के लिए यत्नपूर्वक रख लेते जिनके स्वास्थ्य के लिए इन पौष्टिक पदार्थों की आवश्यकता थी। क्रमशः आपकी साधना उग्र होती गई और अन्त में आप सिद्धावस्था को प्राप्त हुए। आपके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि देशाटन करके पथ-भ्रष्ट मानव-समाज को सन्मार्ग पर लायें। दो वर्ष तक ऋषिकेश में रहने के बाद आपने परिव्राजक-जीवन बिताना आरम्भ किया। रामेश्वर, पुरी, कैलाश, मानसरोवर आदि तीर्थों की यात्रा की। चार वर्षों तक भ्रमण करने के बाद आप पुनः ऋषिकेश लौट आये। इस बार आप स्वर्गाश्रम नहीं गये। गंगा-तट पर आपने 'आनन्द-कुटीर' नामक अपना स्वतन्त्र आश्रम स्थापित किया। क्रमशः विस्तार पाकर यह 'शिवग्राम' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ वानप्रस्थाश्रम, प्राथमिक पाठशाला, कैवल्य गुहा, भजन-भवन, सार्वजनिक आराधना-मन्दिर आदि दर्शनीय हैं। यहाँ आकर सन्त-असन्त, पुण्यात्मा-पापात्मा, सज्जन-दुर्जन, आस्तिक-नास्तिक, सभी के

मनोभाव विशुद्ध हो जाते हैं। भक्तों के अनुरोध पर आपने दिव्य-जीवन-संघ (डिवाइन-सोसाइटी) की स्थापना की है। संघ की शाखाएँ भारत और भारत के बाहर अनेक स्थानों में खुल गई हैं—जैसे, दक्षिण अफ्रिका, बर्मा, मलाया, सिंगापुर और यूरोप के भी कई स्थानों में। इस संघ के प्रायः हजार सदस्य हैं। बिना आपका सान्निध्य प्राप्त किये भी, अनेक साधक साधना-पथ पर अग्रसर हैं। इस संघ ने देश-विदेश में आध्यात्मिक चेतना की लहर पैदा कर दी है। संघ की ओर से 'डिवाइन लाइफ' नामक मासिक अंग्रेजी में, 'दिव्य-जीवन' हिन्दी में तथा अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी पत्रिका प्रकाशित होती है, जिसमें आपके लेख, उपदेश और साधकों के लेख, प्रश्न, अनुभव आदि रहते हैं। आप ऋषिकेश में एक आध्यात्मिक कालेज भी खोलने के उद्योग में हैं। आपने भक्ति, योग, वेदान्त, सभी विषयों पर सरल अंग्रेजी में पुस्तकें लिखी हैं। आपके उपदेशों एवं गाये हुए भजनों का प्रचार ग्रामोफोन के रेकार्डों द्वारा भी हुआ है। आपकी अनेक पुस्तकों का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ है। आपकी मुद्रित रचनाओं की पृष्ठसंख्या लगभग चालीस हजार हो गई है। वस्तुतः आप एक सिद्ध, कर्मयोगी और सन्त हैं। महाभारत में आया है कि आत्मज्ञान के दान से बढ़कर संसार में और कोई दान नहीं है। आज आप 'सर्वभूतहिते रतः' की भावना से ओत प्रोत होकर यही कर रहे हैं।

७. डाक्टर सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन

जीवन-वृत्त और विचारधारा—श्रीराधाकृष्णन् का जन्म सन् १८८८ ई० में ५ सितम्बर को, दक्षिण-भारत के तिरुत्तवी नामक तीर्थस्थान के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। आप बचपन से ही एकान्तवासी और मननशील थे। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने गाँव की पाठशाला में हुई। उसके बाद क्रिश्चियन मिशन स्कूल और मद्रास के क्रिश्चियन मिशन कालेज में पढ़कर आप मद्रास-विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। बी० ए० और एम० ए० में आपने विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान पाया। पढ़ते समय ईसाई मिशनरियों के मुख से भारतीय धर्म की निन्दा सुनकर आपकी प्रवृत्ति भारतीय धर्म और दर्शन के अध्ययन में हुई। सन् १६०८ ई० में 'एथिक्स ऑफ वेदान्त' (वेदान्त की नैतिक भूमिका) शीर्षक आपके निबन्ध ने, सर्वप्रथम, विद्वानों का ध्यान आपकी प्रखर प्रतिभा की ओर आकृष्ट किया। उसके बाद ही आप मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज में दर्शन-शास्त्र के असिस्टेण्ट प्रोफेसर हो गये। तत्पश्चात् आप मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर बहाल हुए। उसी समय आपने 'दि फिलॉसफी ऑफ् रवीन्द्रनाथ टैगोर' नामक पुस्तक लिखी जिसमें महाकवि की रचनाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। इस बीच देश-विदेश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में आपके अनेक विद्वत्तापूर्ण दार्शनिक और सांस्कृतिक निबन्ध प्रकाशित होते रहे। सन् १६२० ई० में आपने 'दि रेन ऑफ रेलिजन इन कण्टेम्पोरेरी फिलॉसफी' (सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में धर्म का प्रभाव) नामक ग्रन्थ लिखा जिसने देश-विदेश के दार्शनिकों की आस्था और बढ़ा दी। सन् १६२१ ई० में भारतीय दर्शन के सर्वमान्य अधिकारी विद्वान सर ब्रजेन्द्रनाथ सील का 'किंग-जॉर्ज प्रोफेसरशिप' पद कलकत्ता-विश्वविद्यालय में रिक्त होने पर आप उसपर नियुक्त हुए। उन्हीं दिनों आपने 'इण्डियन फिलॉसफी' (भारतीय दर्शन)

और निर्मम होती है। कालापहाड़ की कथा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जो अपमानित करके जाति से बहिष्कृत किया जायगा वह उस अपमान को भला कैसे भूल सकेगा।

जातिभेद के कारण जो एक बड़ा ही निष्ठुर काण्ड चलता आया है, वह यह है कि बहुत-से हिन्दू जो बर्मा आदि देशों में जाकर वहाँ की स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं, उन्हें लेकर घर नहीं लौट सकते। उन्हें जाति-पाँति का भय रहता है। स्वदेश लौटते समय उन्हें अपनी स्त्रियों और सन्तानों-सहित विधर्मियों की शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार हिन्दू-समाज तिल-तिल छीजता जा रहा है।

जब हिन्दू-समाज में जातिभेद की प्रथा इतनी जटिल और कठोर नहीं हुई थी तब हिन्दुओं ने नाना देशों में जाकर नये-नये उपनिवेश स्थापित किये थे। उन दिनों भारतीय संस्कृति ब्रह्मदेश, स्याम, कंबोडिया, जावा सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों तक ही नहीं फैल सकी थी, अपितु, सुदूर अमेरिका तक भी हिन्दू-संस्कृति का प्रसार हुआ था। जब भारत में छुआछूत का विचार प्रबल हुआ तभी समुद्रयात्रा निषिद्ध हुई और साथ-ही-साथ, पृथ्वी के अन्यान्य स्थानों से भारतीय समाज का सम्बन्ध टूट गया। ऐसे ही समय में पश्चिम की ओर से भारत पर अनेक आक्रमण हुए। जिन देशों में जातिभेद नहीं है उन देशों के लोग बाहरी आक्रमण होने पर सम्मिलित शक्ति से लड़ते हैं। इस देश में युद्ध करना एक श्रेणी-विशेष का कार्य माना जाता था। परिणाम यह हुआ कि जब यह श्रेणी—क्षत्रिय जाति—पारस्परिक फूट और असंगठित होने के कारण पराभूत हो जाती थी तब बाकी लोग असहाय होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। इस प्रकार आक्रमणकारियों को बराबर सुविधा और उत्तेजना मिलती गई।

जिस हिन्दूजाति ने ही बाहर से आनेवाली कितनी जातियों को अपने में मिला लिया, जिसमें संसार को अपना कुटुम्ब बनाने की अद्भुत क्षमता और एकत्व स्थापित करने की महत् आकांक्षा थी, वह आप अपने ही अंग को सदा के लिए अछूत ठहराये, इस बात को बुद्धि अंगीकार नहीं करती। अतएव बीसवीं सदी के सर्वश्रेष्ठ मानव महात्मा गांधी ने यथार्थ ही कहा है कि 'अछूतपन धर्म-विहित नहीं है, बल्कि यह शैतान का धर्म है।'

अस्पृश्यता का रिवाज अनीतिमूलक है; जंगलीपन और क्रूरता से भरा है। जो समाज ऊँच-नीच के भेदों की प्रथा पर आश्रित है उसका नाश होता ही है। अतएव ज्यों-ज्यों अपनों के प्रति घृणा की भावना भारत में बढ़ती गई, भारत का पतन होता गया।

अस्पृश्यता का निवारण अब एक निर्विवाद विषय हो गया है। इस प्रथा का मूल और औचित्य किसी समय चाहे जो भी रहा हो, आज तो यह एक ऐसी निर्दय रूढ़ि-मात्र रह गई है जो लोगों के जाग्रत् धार्मिक विचारों और विश्वासों पर आघात पहुँचा रही है।

हिन्दूधर्म तो हमें यह उपदेश देता है कि सारी मनुष्यजाति को हम एक अविभक्त कुटुम्ब समझें और हममें से प्रत्येक व्यक्ति समाज के हर-एक मनुष्य-द्वारा की हुई बुराई के लिए अपने को जिम्मेवार समझे।

हिन्दू-परम्परा प्रेम और सहिष्णुता के सिद्धान्तों पर स्थापित है। इसका पोषण कबीर, गौरांग, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, नरसी मेहता तथा तमाम द्राविड़ आलवार-साधु-संतों की मंडली द्वारा हुआ है। उन लोगों ने सामाजिक मेल-जोल के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को केवल हटाया ही न था, बल्कि उनका जोरदार खण्डन भी किया था।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि इतनी उज्ज्वल परम्परा के रहते हुए भी आज हम अपने ही एक तिहाई भाइयों के साथ हृदय-शून्य बर्ताव करते हैं, उन्हें कुत्तों या पालतू जानवरों से भी बदतर समझते हैं। गांधीजी ने भारतीय समाज से इस कलंक को दूर करने का आमरण प्रयत्न किया। उन्होंने अछूतों को हरिजन के नाम से सम्बोधित किया और उनके मन्दिरप्रवेश का आन्दोलन चलाया। उन्हीं के प्रयत्न का फल है कि भारतीय संविधान में अस्पृश्यता अवैध घोषित की गई है।

यद्यपि अस्पृश्यता अभी बिल्कुल दूर नहीं हुई है तथापि आशा है कि निकट-भविष्य में यह निर्मूल हो जायगी, जिसके परिणामस्वरूप भारत अपनी पूर्व-गौरव-गरिमा को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

आठवाँ खण्ड

पहला परिच्छेद

वर्त्तमान काल

धर्म और सम्प्रदाय की वर्त्तमान स्थिति

भारत-सरीखे बड़े विस्तार और आबादीवाले देश में—जिसके आचार-विचार के विकास का इतिहास संसार में अत्यन्त प्राचीन है, जिसके जन-समुद्र में समय-समय पर बाहरी सरिताएँ आकर मिलती गई हैं—धार्मिक सम्प्रदायों के अगणित विभाग होना अस्वाभाविक बात नहीं है। पिछले अध्यायों में उन्हीं मत-मतान्तरों का उल्लेख किया गया है जिनके अनुयायियों की संख्या और साहित्य नगण्य नहीं है; फिर भी, आबादी का एक भारी अंश ऐसा भी है जो अपने को किसी सम्प्रदाय, पन्थ या मत में नहीं गिनता और अपने को साधिकार हिन्दू कहता है; क्योंकि वह किसी-न-किसी हिन्दू जाति या बिरादरी का है। उसके चौके-चूल्हे, खान-पान, पर्व-त्योहार, जन्म, विवाह, प्रेतकर्म, श्राद्ध आदि के काम-काज हिन्दू-रीति-रस्म के साथ होते हैं। उसका धर्म भी हिन्दू-धर्म है, जिसके अनुसार वह किसी देवी या देवता की पूजा और भजन भी करता है जिसमें परमात्मा, परमेश्वर, भगवान या प्रभु की भावना भरी होती है। उसके यहाँ नवरात्रों में दोबारा नवदुर्गा की पूजा होती है—साथ-साथ रामनवमी, गंगादशहरा, श्रावणी, जन्माष्टमी, पितृपक्ष, विजयादशमी, दीपावली, प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक-पूर्णिमा, संक्रान्ति, वसन्त-पञ्चमी, शिवरात्रि, होली आदि पर्व-त्योहार और व्रत मनाये जाते हैं और विविध देवताओं की पूजा होती है। ऐसे लोगों को साधारणतया स्मार्त्त कहते हैं। स्मार्त्त-धर्म कोई सम्प्रदाय या पन्थ नहीं है। इसे साधारण जन-समुदाय का धर्म समझना चाहिए।[1]

भारत की हिन्दू जनता को हम सात धार्मिक विभागों में बाँट सकते—

(१) वे जो देवी-देवताओं को पूजते हैं, पर्व-त्योहार मनाते हैं और कुछ आवश्यक संस्कार करते हैं तथा अपना कोई उपास्य देव अथवा विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति नहीं रखते। ऐसे हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक है।

---

१ हिन्दुत्व, पृष्ठ ७५३-५६

(२) वे जो सभी देवी-देवताओं को पूजते हैं; सभी पर्व-त्योहार मनाते और मुख्य-मुख्य संस्कार करते हैं, परन्तु, साथ-साथ, अपना कोई विशेष उपास्य देव भी मानते हैं, उसका भजन करते हैं और विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति भी रखते हैं—यद्यपि अपने को किसी विशेष पन्थ या सम्प्रदाय का नहीं समझते या बतलाते।

(३) वे जो किसी विशेष पन्थ, सम्प्रदाय या मत के अनुयायी हैं और उसी के अनुकूल अपना आचार-विचार और व्यवहार रखते हैं; उन संस्कारों, व्रत-त्योहारों, उत्सवों और सिद्धान्तों या दार्शनिक विचारों को मानते हैं जो उनके सम्प्रदाय, पन्थ या मत के अनुकूल पड़ते हैं।

(४) एक ऐसा विभाग भी है जिसमें आर्यसमाजी मुख्य हैं, जो देवी-देवता, अवतार आदि नहीं मानते; किन्तु निराकार ईश्वर की उपासना करते और वेद को ईश्वर का वाक्य समझते हैं।

(५) एक समुदाय शुद्ध वेदान्तियों का है जो अपने को ही ईश्वर मानता है, 'सोऽहमस्मि' और अपने शुद्ध स्वरूप की उपासना करता है। इस समुदाय का उपासना-मंत्र 'ओम्', 'सोऽहम्' आदि है।

(६) एक समुदाय सुधारवादी हिन्दुओं का है—जिसमें राधास्वामी, कबीरपन्थी आदि सम्मिलित हैं—जो निराकार ईश्वर की उपासना करते हुए गुरु एवं गुरु-वाक्यों का आदर करते हैं; किन्तु वेदादि में विशेष आस्था नहीं रखते।

(७) एक विभाग उन लोगों का है जो जन्म से हैं तो हिन्दू-परिवार के अंग, परन्तु अपने को अनीश्वरवादी कहते हैं और किसी तरह का धार्मिक बन्धन नहीं मानते।

समन्वय का प्रयत्न

विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न इतिहासकाल में भागवत-धर्म ने किया। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य ने जब विशेषरूप से पंचदेवोपासना प्रचलित की तब स्मार्त्तमत सबल होने लगा, जिसका परिणाम है कि आज भारतवर्ष में स्मार्त्तों की संख्या अस्सी प्रतिशत के लगभग है। कबीर, सूर, तुलसी आदि दूरदर्शी सन्तों ने भी, मुसलमानी शासनकाल में, धर्म-समन्वय का प्रबल प्रयत्न किया।

जिस प्रकार प्राचीनकाल में भागवतमत समन्वयवादी था उसी तरह आधुनिक काल में स्मार्त्तमत भी समन्वयवादी है। इसीलिए स्मार्त्तों का किसी सम्प्रदाय से विरोध नहीं है। स्मार्त्त वे लोग हैं जो स्मृतियों के अनुकूल आचार-विचार रखते हैं तथा पुराण-कथित विधियों से देवाराधन, जप, तप, व्रत, उत्सव आदि करते हैं। स्मार्त्त और भागवत में कुछ अन्तर अवश्य है। भागवत वह है जिसमें स्मार्त्त के सभी गुणों के साथ-ही-साथ निष्कामकर्म की भावना और अपने आराध्यदेव की भक्ति भी हो।

शिव और विष्णु के उपासकों के पुराने आपसी विरोध का निराकरण न केवल श्रुति-स्मृतियों में ही है, वरन् शैव और वैष्णव-सम्प्रदायों के प्रधान मान्य ग्रन्थों में भी है। महाभारत में जो नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व, अध्याय ३४१) है उसमें कृष्ण स्वयं अर्जुन से अपने नामों के निर्वचन के प्रसंग में कहते हैं—

अहमात्मा हि लोकानां विश्वानां पाण्डुनन्दन।
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम्॥
यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम्।
आत्मानं नार्चयेत्कश्चित् इति मे भावितात्मनः।
मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्त्तते।
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम्॥
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनुतं सहि मामनु।
रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥

भावार्थ यह कि रुद्र और नारायण एक ही सत्ता के दो नाम हैं। यह बात आज भी भागवत-सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हैं।

साम्प्रदायिक फूट और विरोध से होनेवाली हानियों को खूब समझकर ही शंकराचार्य ने अनेक सम्प्रदायों का खण्डन करके अपने स्थापित स्मार्त्त मत में सबका समन्वय किया। परन्तु यह भी उनका केवल व्यवहारमात्र था। वस्तुतः वे अद्वैतवादी थे। जैसा हम पहले कह आये हैं, वे जगत् को मिथ्या और मुक्ति को ज्ञान-प्राप्य ही मानते थे।

यद्यपि पुराणों और इतिहासों में दार्शनिक दृष्टि से भी समन्वय देख पड़ता है, तथापि दर्शनों में सिद्धान्तभेद का पूरा समन्वय कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में देखा जाता है। इसमें रूपक-द्वारा यह दिखलाया गया है कि छहों आस्तिक-दर्शन विविध दृष्टिकोणों से परमात्मा का ही प्रतिपादन करते हैं। विज्ञान भिक्षु ने भी 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में बड़ी योग्यता और स्पष्टता से सिद्ध किया है कि छहों दर्शन परस्पर-विरोधी लगते हुए भी एक ही परमात्मसत्ता का प्रतिपादन करते हैं। 'प्रस्थानभेद' में मधुसूदन सरस्वती ने भी बड़ी सुन्दरता से इनका दार्शनिक समन्वय किया है। इस तरह भगवतधर्म और स्मार्त्त मत के अतिरिक्त अन्य विद्वानों और दार्शनिकों के प्रयत्न से भी पहले का कट्टरपन समय पाकर धीरे-धीरे क्षीण होता गया। इधर बहुत दिनों से सम्प्रदायवादियों में पारस्परिक सहनशीलता काफी बढ़ गई थी और समन्वयवाद लोकप्रिय हो चला था, परन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में साम्प्रदायिक विचारों के पुनः प्रचार से समाज में फिर खलबली मच गई और आपस के झगड़े बढ़ चले।

हिन्दू-व्रत

हिन्दुओं में व्रत और उपवास की बड़ी महिमा है। प्राचीनकाल में तो अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण-सदृश बड़े कठोर व्रत भी किये जाते थे। अतिकृच्छ्र में केवल एक कौर भोजन किया जाता था। वह नौ दिन का व्रत था। चान्द्रायणव्रत पूर्णिमा को १५ कौर पायस खाकर आरम्भ किया जाता था। उसके बाद प्रत्येक दिन एक कौर कम खाया जाता था। उसके बाद फिर एक-एक कौर क्रम से भोजन बढ़ाया जाता था और अमावस को पन्द्रह कौर भोजन करने का विधान था। इस प्रकार यह व्रत एक महीने का था। वर्त्तमानकाल में ये दोनों व्रत प्रचलित नहीं हैं। वैष्णव लोग प्रतिमास दोनो एकादशियों

को व्रत करते हैं। व्रत में कन्द, मूल, फल और दूध खाया जाता है। शैव भी महीने में दो बार त्रयोदशी को शिवरात्रिव्रत करते हैं और उनकी स्त्रियाँ अपने चिर-सौभाग्य के लिए द्वादशी को प्रदोषव्रत करती हैं।

ध्येय के विचार से व्रत तीन प्रकार के हैं—

(क) जिस व्रत के न करने से दोष लगता है वह नित्य है; जैसे, एकादशी।

(ख) जो किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है वह नैमित्तिक व्रत है।

(ग) किसी विशेष कामना से तिथि-विशेष पर जो व्रत किया जाता है वह काम्य व्रत है।

चारो वर्णों और आश्रमों का प्रत्येक स्त्री-पुरुष व्रत करने का अधिकारी है। सधवा स्त्री को स्वामी की अनुमति से, अविवाहिता कन्या को अपने माता-पिता की आज्ञा से और विधवा को अपने पुत्र या अभिभावक के आदेश से व्रत करना चाहिए। व्रतारम्भ में संयम और संकल्प आवश्यक हैं। व्रती का व्रतकथा सुनना भी अनिवार्य है।

व्रतारम्भ के समय अशौच हो जाय तो व्रत करना वर्जित है। किसी कारण से कोई व्रत न किया जा सके तो प्रतिनिधि-द्वारा वह कराया जा सकता है। पति-पत्नी एक दूसरे के प्रतिनिधि हो सकते हैं। कोई ब्राह्मण भी निष्क्रय-द्रव्य लेकर प्रतिनिधि बन सकता है।

मुख्य व्रत

[१] **विष्णु-सम्बन्धी**—(क) 'रामनवमी' श्रीराम का जन्मदिन, चैत्र शुक्ल-नवमी; (ख) कृष्णाष्टमी, भगवान कृष्ण का जन्मदिन, भाद्र-कृष्ण-अष्टमी; (ग) वामन-द्वादशी, भाद्र-शुक्ल-द्वादशी; भगवान वामन का जन्मदिन; (घ) वर्ष के प्रत्येक मास की दोनों एकादशी तिथियाँ व्रत के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। सब एकादशियों में कार्तिक-शुक्लपक्ष की एकादशी, जो देवोत्थान एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है। अनेक स्मार्त केवल इस एकादशीव्रत को ही करके संतुष्ट रहते हैं।

[२] **शिव-सम्बन्धी**—प्रत्येक मास की द्वादशी को प्रदोषव्रत और त्रयोदशी को शिवरात्रिव्रत होता है। फाल्गुन की शिवरात्रि महाशिवरात्रि है। श्रावणमास विशेषरूप से शिव-मास समझा जाता है उसके प्रति सोमवार को पूजा तथा उत्सव होते हैं।

[३] **विष्णु-शिव-सम्मिलित-पर्व**—कार्तिक-शुक्ल-चतुर्दशी वैकुण्ठचतुर्दशी के नाम से प्रसिद्ध है। इस तिथि को विष्णु और शिव की पूजा एक साथ होती है। यह समन्वयवादी पर्व है।

[४] **देवी-सम्बन्धी व्रत**—चैत्र तथा आश्विन के शुक्लपक्ष के प्रथम नौ दिन 'नवरात्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। नौ दिन पूजा करके दशमी को देवी का विसर्जन किया जाता है। बंगाल और बिहार में यह उत्सव धूमधाम से होता है। माघ-शुक्ल-पञ्चमी (वसन्तपञ्चमी) को सरस्वती की पूजा होती है और साथ-साथ वसन्तागमन का उत्सव मनाया जाता है। वैशाख-शुक्ल-नवमी को सीतानवमी कहते हैं। यह सीता का जन्मदिवस है।

[५] **सूर्य के पर्व**—प्रत्येक संक्रान्ति को सूर्य की पूजा सौर-सम्प्रदायवाले करते हैं। मुख्य संक्रान्ति मकर और मेष—पौष और माघ—की है जिसे सब लोग मनाते हैं। इसमें

कहने लगी। भारतीय प्रजा के प्रति आपका जो अनूठा वात्सल्य था, उसके कारण आप देश-भर में 'बापू' कहे जाने लगे। इसी प्रकार नवीन भारत-राष्ट्र का निर्माण करने के कारण आप 'राष्ट्रपिता' कहकर सम्बोधित हुए।

आपने स्वराज्य का अर्थ शक्ति और सत्ता का उपयोग नहीं, बल्कि प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रचार द्वारा सबके लिए भोजन और वस्त्र की सुलभता बतलाया। किन्तु भोजन और वस्त्र आसमान से नहीं टपक पड़ते; उनके लिए परिश्रम और प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए आपने शारीरिक श्रम और चरखा-करघा चलाने की आवश्यकता पर जोर दिया और प्रत्येक स्त्री, पुरुष तथा बच्चे के लिए समानरूप से कताई का दैनिक यज्ञ निर्धारित किया। इस प्रकार आपने धन का ऐसा प्रबल स्रोत ढूँढ़ निकाला जो सारे संसार में अभूतपूर्व है।

गाँधीजी ने मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता–भोजन और वस्त्र–के लिए स्वावलम्बन का मार्ग बतलाया है। जहाँ मनुष्य स्वावलम्बी है, वह गाँव स्वावलम्बी होगा; जहाँ गाँव स्वावलम्बी है, नगरों का झुकाव स्वावलम्बी बनने की ओर होगा। इसके लिए कर्तव्य-पालन में सजग रहना होगा; किसी से जबर्दस्ती काम न लेकर प्रेम से काम कराना होगा; महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर संतोष से जीवन-यापन करना होगा; विषयोपभोग की जगह आत्म-संयम से तथा कूटनीति या पाखण्ड के बदले सचाई से काम लेना होगा।

इस प्रकार गाँधीवाद का लक्ष्य है—प्रत्येक व्यक्ति के समय और सुविधाओं का उपयोग एक ऊँचे उद्देश्य के लिए करना। यह आत्मत्याग और सेवा-वृत्ति पर अवलम्बित है। यह उस समाज के निर्माण और कर्त्तव्यों की व्याख्या है जिसका निरूपण ऋषियों ने, हजारों वर्ष पहले, सरस्वती और गंगा के पावन तट पर, द्वैतवन और नैमिषारण्य के गहन वन में तथा हिमालय और विन्ध्य की कन्दराओं में किया था। उसी को आधुनिक महर्षि गाँधीजी ने पुनरुज्जीवित करने के लिए आमरण प्रयत्न किया। आपने स्वयं कराची में कहा था—'गाँधी मर सकता है, किन्तु गाँधीवाद सदा जीवित रहेगा।' आज गाँधीजी नहीं हैं; किन्तु उनके इस कथन की प्रतिध्वनि संसार के कोने-कोने में गूँज रही है।

"अपनी कुर्बानी की दुश्मन का किया सर नीचा।
कौम का ध्यान, गोया, सत्य की जानिब खींचा॥
युगपरुष, ऐक्य का पौधा जो लगाया तूने।
मरते दम तक भी उसे खूने-जिगर से सींचा॥"

—अख्तर

पाँचवाँ परिच्छेद

सर्वधर्म-समन्वय

'सभी धर्म ईश्वरकृत है। ईश्वरकृत धर्म अगम्य हैं। मनुष्य उन्हें भाषा में प्रकट करता है; किन्तु मनुष्य-कल्पित होने के कारण वे अपूर्ण हैं। उनका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक वह दृष्टि बनी रहे, सच्चे हैं। परन्तु सभी का झूठ होना भी असम्भव नहीं है। इसलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होती, परन्तु स्वधर्म-विषयक प्रेम अन्ध प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है।'—महात्मा गांधी

भगवान कृष्ण ने भी गीता में स्पष्ट कहा है कि 'मैं प्रत्येक अणु में वैसे ही विराजमान हूँ, जैसे मोतियों की माला में सूत्र। जहाँ कहीं श्रेष्ठ पवित्रता तथा अद्भुत शक्ति का विकास दीख पड़े, जान लो कि मैं ही वहाँ विराजमान हूँ।'

भिन्न-भिन्न धर्मों की असलियत, तत्त्व तथा मर्म पहचानने से सब धर्मों में मेल-ही-मेल दीख पड़ेगा। मजहबी झगड़े भी मिट जायँगे, क्योंकि सब धर्मों का मूल सिद्धान्त एक है। विविध धर्मों में भिन्नता देश, काल और आवश्यकता के अनुसार हुई। एक कवि ने कहा है—

"गवामनेकवर्णानां क्षीरस्यास्त्येकवर्णता।
तथैव सर्वधर्माणां तत्त्वस्यास्त्येकवस्तुता॥"

अर्थात्—गायें अनेक रंगों की हैं, पर उनका दूध एक ही रंग का होता है। उसी प्रकार धर्म अनेक और भाषा भी अनेक हैं, पर तत्त्व सबका एक ही है।

एक सूफी कवि ने कहा है कि धर्मों में जो दृश्यमान भेद है, वह नाममात्र का ही है, वास्तविक नहीं। जो जल समुद्र में लहराता है वही जल ओस की बूँद में भी है। इस सम्बन्ध में मौलाना रूम ने एक बहुत सुन्दर कथा कही है—

"ईद के शुभ अवसर पर हज करने के लिए संसार के भिन्न-भिन्न देशों से भावुक मुसलमान मक्काशरीफ आते हैं। एक समय की बात है। संयोग से चार ऐसे मनुष्य

एथ साथ हो गये जिनमें एक दूसरे की भाषा नहीं समझता था। मार्ग में भोजन का समय हो गया और चलते-चलते भूख लगी। वे एक-दूसरे की बोली तो समझते नहीं थे, इशारे से बातें हुईं। क्या खरीदना चाहिए, इस पर बहस होने लगी। अरबी ने कहा, 'एनब' खरीदना चाहिए, तुर्की ने कहा, 'उजम'; और ईरानी ने कहा 'अंगूर'; किन्तु रूमी ने कहा 'अस्ताफील।' वाद-विवाद बढ़ा और अन्त में मार-पीट तक की नौबत आई। संयोगवश इसी समय एक मेवा बेचनेवाला उधर से निकला। जैसे भारत के तीर्थस्थानों के पंडे तथा दूकानदार देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान रखते हैं, वैसे ही वह मेवा बेचनेवाला भी, प्रतिवर्ष भिन्न भिन्न देशों के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण, अनेक भाषाओं की व्यावहारिक जानकारी रखता था। वह यह देखकर कि वे चारों अपनी-अपनी भाषा में अंगूर का ही नाम लेकर व्यर्थ झगड़ रहे हैं, हँस पड़ा। उसने यह रहस्य उन चारों को समझाया। झगड़ा खत्म हुआ।"

यह तो सभी धर्म मानते हैं कि ईश्वर एक है और वह सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान होने के कारण सबकी बोली समझता है। हम उसे चाहे जिस नाम से पुकारें या जिस भाषा में उसकी प्रार्थना करें, वह सब सुन समझ लेता है। उपर्युक्त कहानी के चारों मुसाफिरों के समान हम नाहक सिर्फ शब्द पर आपस में झगड़ते हैं।

जब हम सब धर्मों में एक ही तत्त्व, एक ही परमात्मा को देखने लगेंगे तब राग-द्वेष का कोई आधार ही नहीं रह जायगा। संसार के अणु-अणु में ईश्वर व्याप्त है—जब हमारा यह भाव हो जायगा, तब सारा संसार हमारा मित्र हो जायगा। ईशोपनिषद् में कहा भी है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

अर्थात्—जो मनुष्य प्राणिमात्र को सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मा में देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु परमात्मा को प्राणिमात्र में देखता है वह कैसे किसी से घृणा या द्वेष कर सकता है? जब मनुष्य परमात्मा को भलीभाँति पहचान लेता है, तब उसकी सर्वत्र भगवद्दृष्टि हो जाती है। तब वह प्राणिमात्र में व्याप्त एकमात्र तत्त्व परमात्मा को देखता है। उसे सदा, सर्वत्र परमात्मा के दर्शन होते रहते हैं और इस कारण शोक-मोहादि की छाया भी कहीं उसके चित्त को नहीं छू पाती।'

एक सूफी ने भी कहा कि 'जिसने अपने को पहचाना उसने ईश्वर को पहचाना।' ईसा ने भी यही कहा है—'ही दैट हैज सीन मी हैज सीन द फादर।' अर्थात्—'जिसने हमें पहचाना, उसने ईश्वर को पहचान लिया।' अतएव सभी नाम, सभी काम, सभी रूप उसी एक ईश्वर के हैं। संत मलूकदास ने इस भाव को बड़ी सुन्दर भाषा में व्यक्त किया है—

"सभहन के हम, सभे हमारे; जीव जंतु सब मोहि पियारे।
तीनो लोक हमारी माया; अंत कतहुँ काऊ नहिं पाया।
छत्तिस पवन हमारी जाति; हमही दिन और हमही राति।
हमही तरुवर, कीट पतंगा, हमही दुर्गा हमही गंगा।
हमहो मुल्ला, हमही काजी, तीरथ बरत हमारी बाजी।
हमरै क्रोध अरु हमरै काम, हमही दसरथ, हमही राम।
हमही कृष्ण, हमही बलिराम, हमही रावण हमही कंस।
हमही मारा अपना बंस, हमही किया भारत विध्वंस ॥"

कुरानशरीफ में कहा है—'लाहुल अस्माउल् हुएना।' अर्थात् 'सब सुन्दर नाम उसी के हैं।' वेद में स्पष्टतया कहा है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' अर्थात्—'उसी एक को भिन्न-भिन्न विद्वान भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं।' बाइबल में भी कहा है—'इउ आर द-लिभिंग टेम्पल्स आफ गाड।' अर्थात् 'तुम्हीं परमात्मा के प्रत्यक्ष मन्दिर हो।' उसी परमात्मा में सभी चीजें जीती हैं, बसती हैं और उसी से अपना अस्तित्व पाती हैं। पर संसार में नाम-रूप की माया बहुत प्रबल है और यही माया संसार के धार्मिक युद्ध और मनोमालिन्य का मूल कारण है।

भगवान ने गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात्—'जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और पाप बढ़ता है, तब-तब अनाचार को मिटाने और धर्म को उभारने के लिए मैं युग-युग में संसार में अवतार लेता हूँ।' कुरानशरीफ में भी कहा है कि 'बले कुल्ले कौमिन् हाद।' अर्थात्—'सब कौमों के लिए हिदायत करनेवाले भेजे गये हैं।' पुनः कहा है कि रसूलों (अवतारी पुरुषों) में फर्क नहीं है; सब बराबर हैं, क्योंकि सब एक ही बात सिखाते हैं।

कोई 'संध्या' द्वारा, कोई 'प्रेयर' के नाम से, कोई 'नमाज' की पद्धति से, सब उसी एक 'परमात्मा', 'गाड' अथवा 'अल्लाह' की याद करते हैं। कोई उसका नाम 'माला' पर, कोई 'तस्बीह' पर और कोई 'रोजरी' पर जपता है। विष्णुसहस्रनाम तथा शिवसहस्रनाम-नामक स्तोत्र-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अरबी में भी अल्लाह के सौ नाम कहे गये हैं।

सभी धर्मवाले मानते हैं कि संसार में जहाँ पाप बढ़ता और पुण्य का क्षय होता है वहाँ फिर से धर्म को दृढ़ करने के खयाल से और अधर्म को दबाने के लिए परमात्मा की ओर से अवतारी पुरुष (अर्हत्, बुद्ध, रसूल, मसीह आदि हिदायत करनेवाले) लोकशिक्षा के निमित्त भेजे जाते हैं। वे मानव-समाज को अपनी शिक्षा तथा आदर्श जीवन द्वारा बदल देते हैं।

सभी धर्मवाले मानते हैं कि अच्छे कर्म का फल सुख और बुरे कर्म का फल दुःख होता है। कोई पुण्यात्मा की मृत्यु के उपरान्त 'स्वर्ग' में उसका स्थान बताते हैं तो कोई

'जन्नत' में और कोई 'हेवेन' में। उसी प्रकार पापियों की यातना भोगने के स्थान को 'नरक', 'जहन्नुम' तथा 'हेल' के नाम से सम्बोधित करते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मपुस्तकों में इन स्थानों के सुख-दुःख-भोग का वर्णन बहुत अंशों में एक-सा है।

सभी धर्म व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, धर्मार्थदान तथा मनुष्यमात्र के प्रति दया और सौहार्द के भाव की सराहना करते हैं। इनकी विधियों में जहाँ-तहाँ भले हो कुछ फर्क हो।

अगर एक मजहबवाले 'ओम्' कहते हैं तो दूसरे 'आमीन्' और तीसरे 'एमेन'। यह जानकर पाठकों को कुतूहल होगा कि तीनों एक ही चीज हैं और तीनों का एक ही मतलब है।

ईश्वर को सभी धर्मवाले निराकार और सर्वव्यापी कहते हुए भी, केवल उपासना के सुभीते के ख्याल से अथवा भावुक जनता को आकृष्ट करने के विचार से, उसकी प्रार्थना के लिए मन्दिर, गिरजाघर, मसजिद आदि पूजास्थल अलग-अलग रूप-रंग के बनवाते हैं तथा प्रार्थना के भिन्न-भिन्न प्रकार के नियम प्रचलित करते हैं—यहाँ तक कि एक ही धर्म के अनुयायी भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा करते हैं। किन्तु सभी की पूजा और प्रार्थना में आन्तरिक समानता है।

जैसे हिन्दू, मृत व्यक्तियों के लिए श्राद्ध, तर्पण, ब्राह्मणभोजन आदि करते हैं वैसे ही मुसलमान भी मृत व्यक्तियों के लिए फातिहा (प्रार्थना) पढ़ते हैं और गरीबों को खिलाते हैं अथवा दान देते हैं। ईसाई लोग भी मृतकों के लिए ईसा से प्रार्थना करते हैं और खैरात बाँटते हैं।

अगर मुसलमान अजान की पुकार से इस्लाम-धर्मावलम्बियों को जगाकर अथवा सचेत कर खुदा की इबादत के लिए तैयार करते हैं तो हिन्दू भी शंख अथवा घड़ी-घंटे बजाकर अपने धर्मानुयायियों को मन्दिर में आकृष्ट करते हैं; ईसाई लोग भी चर्च-बेल (गिरजाघर का घण्टा) बजाकर लोगों को ईश्वर-प्रार्थना के लिए एकत्र करते हैं। वैसे ही, सभी धर्म पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्त को पाप के नाश का साधन समझते हैं।

यद्यपि स्पष्ट शब्दों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भारतीय धर्मों के अतिरिक्त अन्य धर्म नहीं मानते तथापि कहीं भी खुले शब्दों में इसका प्रतिवाद नहीं किया गया है। कुरान-शरीफ और बाइबल में तो इसका उल्लेख भी मिलता है। उदाहरणार्थ, कुरानशरीफ में कहा है[1]—"मैं तुमको मिट्टी में लौटा दूँगा और उसीसे फिर निकालूँगा, लगातार आखीर तक।" और[2] "मैंने तुमको तुम्हारे मर जाने के बाद पुनः पैदा किया ताकि तुम मेरा कुछ शुक्र करो। बाइबल में भी ईसा ने कहा है—"जो इलैजा नाम का नबी था वही जौन दि बैप्टिस्ट् नाम से फकीर के रूप में फिर जन्मा था।" उसी फकीर से ईसा ने शिक्षा ली थी।

सारांश यह कि अगर हम हृदय की आँखों से और प्रेम तथा नेकी की दृष्टि से देखें तो हमको सब एक ही और एक-से ही देख पड़ेंगे, सब दोस्त-ही-दोस्त नजर आयँगे और सबका लोक-परलोक बनेगा। जब सब-कुछ हरिमय, आत्ममय और खुदा-ही-खुदा है

१ मिनहा खलकनाकुम, वफीहा नोईदुकुम वमिनहा नुखरुजुकुम, एलातयारतीन उखरा।
२ सुम्भावअस् माकुममिन वादे मौनेकुम लअल्लकुम तुस्कुरुन्।

तब सबसे भक्ति तथा प्रीति होनी चाहिए। द्वेष किससे किया जाय ; यदि कोई दूसरा हो तब न ? सब तो अपने ही हैं। लेकिन, अगर भेदबुद्धि, अहंकार, स्वार्थ और दुराग्रह की आँखों से हम देखेंगे, और इसी भूल में डूबे रहेंगे कि हमारा धर्म सबसे अच्छा है, तो अपना और दूसरों का भी काम बिगाड़ेंगे तथा व्यर्थ वैमनस्य पैदा करेंगे।

हम अपनी बेवकूफी या घमंड के कारण नहीं समझते कि एक ही परमात्मा के भेजे हुए अनगिनत अवतार, मसीह और रसूल आये, आ रहे हैं तथा आते रहेंगे। अपने-अपने देश और युग के लिए सबने अच्छी-अच्छी बातें सिखाईं, सिखा रहे हैं और सिखायेंगे। सबका समान आदर करना चाहिए। यह समझना एकदम अनुचित है कि किसी एक ने जो कोई खास तरीका किसी देश-काल अथवा अवस्था के लिए बताया वह जबर्दस्ती सब आदमियों से, सब जगह, सब हालत में मनवाया ही जाय और बाकी सबकी बातें मिटा दी जायँ। यह सदा याद रखना चाहिए कि ज्ञानसार, परमगुह्य, मुख्य धर्मतत्त्व, सबने एक ही सिखाया है।

अपनी पाक-साफ जिन्दगी की खूबी से ही अपने धर्म का प्रचार करना सबसे अच्छा तरीका है। जिस मिठाई की दूकान पर अच्छा माल मिलता है उसकी ओर सिर्फ लड़के ही नहीं, बूढ़े भी आकृष्ट होते हैं। अतएव सब मजहबों को सिर्फ अपनी नेकी की दूकान खुली रख उसमें उम्दा सौदा रखना चाहिए। अपनी-अपनी पसन्द के मुताबिक लोग आप ही लेने आयेंगे।

जो लोग अपने धर्म का प्रचार करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे शिष्टता और प्रेम से, अपने धर्म की खूबियाँ दिखलाकर, बिना दूसरे धर्म की निन्दा किये, लोगों को प्रभावित करें। यदि धर्म-प्रचार यह समझकर किया जाय कि सभी धर्मों का मूल तत्त्व एक ही है, उनमें भीतरी समानता है, तो सभी मजहबी झगड़े खत्म हो जायें।

भारतवर्ष में संसार के प्रायः सब धर्म के लोग हैं। अतएव, यदि यहाँ सभी धर्मों के मेल का आदर्श स्थापित हो जाय तो सारी दुनिया पर इसका प्रभाव पड़ेगा और संसार के लिए भारत, पथ-प्रदर्शक हो जायगा। यह तभी सम्भव होगा जब एक धर्म की खूबी को दूसरे धर्म के लोग पहचानें। देश के कर्णधारों का कर्त्तव्य है कि पुस्तकों, भाषणों और चलचित्रों द्वारा देश के बच्चे-बच्चे में, जो भारत की भावी सन्तान हैं, भिन्न-भिन्न धर्मों की समानता का भाव भरें। तभी भारत अपनी सांस्कृतिक विशेषता की छाप दुनिया पर छोड़ सकेगा।

राम कहो या रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है।
दीन कहो या धर्म कहो, मतलब तो उसी की राह से है।
इश्क कहो या प्रेम कहो, मकसद तो उसी की चाह से है।
फिर क्यों लड़ता, मूरख बन्दा, यह तेरी खामखयाली है।
है पेड़ की जड़ तो एक वही, हर मजहब एक-एक डाली है॥

—सहृद

अनुक्रमणिका और सहायक ग्रंथ-सूची

अनुक्रमणिका

इ

ई

उ, ऊ

ऋ

ए, ऐ

ओ, औ

क

ल

व

ह

सहायक ग्रंथ-सूची

※ताराङ्कित पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में हैं

प्रथम खण्ड

पहला परिच्छेद

१ मोहेंजोदरो—श्री सतीशचन्द्र काला २ पुरातत्त्वांक (गंगा)—राहुल सांकृत्यायन
*३ इण्डस वैली इन वैदिक पीरियड—रामप्रसाद चन्दा
*४ ऋग्वैदिक कलचर आफ प्रीहिस्टोरिक टाइम्स (दो भाग)—स्वामी शंकरानन्द
*५ मोहेंजोदरो एण्ड इण्डस सिविलिजेसन—सर जान मार्शल
*६ प्रीहिस्टोरिक इण्डिया—स्टुअर्ट पिगोट
*७ सम सरवाइवल्स आफ हरप्पा कल्चर—टी० एस० अरवान्थु
*८ हिन्दू सिविलिजेसन—आर० के० मुकर्जी
*९ डिस्कवरी आफ इण्डिया—जवाहरलाल नेहरु

दूसरा और तीसरा परिच्छेद

१ आर्यों का आदिदेश—श्री सम्पूर्णानन्द २ ऋग्वेदभाष्य-भूमिका—स्वामी दयानन्द
३ वैदिक सम्पत्ति—श्री रघुनन्दन शर्मा ४ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
*५ आरटिक होम आफ द आरयन्स *६ ओरायन—बी० जी० तिलक
*७ ऋग्वैदिक इण्डिया *८ ऋग्वैदिक कल्चर—ए० सी० दास
*९ हिन्दू सिविलिजेसन—आर० के० मुकर्जी

चौथा, पाँचवाँ, छठा और नवाँ परिच्छेद

१ ऋग्वेद भाष्य २ यजुर्वेद भाष्य—स्वामी दयानन्द
३ चारो वेद का भाष्य—श्री जयदेव विद्यालंकार
४ ऋग्वेद में ऋषियों का दर्शन ५ ऋग्वेद में वशिष्ठ ऋषि का दर्शन-दा० सातवलेकर
६ अथर्ववेद का सुबोध भाष्य—सातवलेकर ७ यजुर्वेद का भाष्य-पं० रामस्वरूप शर्मा
८ सामवेदभाष्य—श्री वीरेन्द्र शर्मा ९ सामवेदभाष्य—श्री भगवदाचार्य
१० सायण और माधव ११ आर्य-संस्कृति का मूलाधार—प्रो० बलदेव उपाध्याय
१२ वैदिक वाङ्मय का इतिहास—पं० भगदत्त १३ वैदिक सम्पत्ति—पं० रघुनन्दन शर्मा
१४ वेद-रहस्य (दो भाग)—श्री अरविन्द (अनुवाद) १५ वैदिक दर्शन—डा० फतेह सिंह
१६ वैदिक साहित्य—पं० रामगोविन्द त्रिवेदी १७ वेद-संदेश (चार भाग)—विश्वबन्धु

१८ ऐतरेयब्राह्मण—गंगाप्रसाद उपाध्याय १६ हिन्दुत्व—प्रो० रामदास गौड़
२० भारत की प्राचीन संस्कृति—डा० रामजी उपाध्याय
२१ भारतीय संस्कृति—प्रोफेसर शिवदत्त शानी
*२२ डिस्कवरी आफ इण्डिया-पं० जवाहरलाल नेहरू *२३ ऋग्वेद (छः भाग)—विल्सन
*२४ चारो वेद का अंग्रेजी कविता में अनुवाद—ग्रीफिथ
*२५ रेलिजन एण्ड फिलासफी आफ वेदाज—ए० बी० कीथ
*२६ रेलिजन आफ ऋग्वेद—ग्रेसवोल्ड *२७ रेलिजन इन वैदिक लिटरेचर—देशमुख
*२८ रेलिजन आफ ऋग्वेद—ब्लूमफिल्ड
*२९ वैदिक गौड्स ऐज फीगर आफ वायलॉजी—वि० जी० रेले
*३० ऋग्वेद अनविल्ड—द्विजदासदत्त *३१ मेसेज आफ वेदाज—सर गोखुलचन्द नारंग
*३२ विजडम आफ हिन्दूज—वायन ब्राउन
*३३ लाइट ऑन वेदाज—टी० वी० कपालिशास्त्री *३४ रिक्स—टी० परमशिव ऐयर
*३५ ओमेन इन ऋग्वेद—भगवतशरण उपाध्याय
*३६ वैदिक आइडिया आफ सीन—हेनरी लेफेवर
*३७ रेलिजन आफ द हिन्दू—डी० एन० पाल
*३८ ऋग्वैदिक इण्डिया *३९ ऋग्वैदिक कलचर—ए० सी० दास
*४० हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—वि० सी० वैद्य * ४१मिस्टिक फायर—श्री अरविन्द
*४२ शतपथब्राह्मण—जे० इगलिंग *४३ ऐतरेयब्राह्मण—ए० बी० कीथ
४४ वेद-परिचय (तीन भाग) ४५ वेद का स्वयं शिक्षक (दो भाग)—दामोदर सातवलेकर
४६ वेद-प्रवेश (तीन भाग) ४७ आगम निबंधमाला ४८ देवता-परिचयग्रन्थमाला

सातवाँ परिच्छेद

१ दशोपनिषद् (शांकरभाष्य) २ श्वेताश्वतरउपनिषद् (शांकरभाष्य)—गीता प्रेस, गोरखपुर
३ एकादशोपनिषद्—स्वामी अमरदास—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, काशी
४ उपनिषद् अंक (कल्याण)-गीताप्रेस, गोरखपुर ५ दशोपनिषद्—श्रीनारायण स्वामी
६ दशोपनिषद—स्वामी विद्यानन्दजी—गीताधर्म प्रेस, काशी
७ दशोपनिषद्—श्री जालिम सिंह (नवलकिशोर प्रेस)
८ आर्य संस्कृति का मूलाधार ९ वैदिक कहानियाँ—प्रो० बलदेव उपाध्याय
*१० प्रिन्सपल उपनिसडस् *११ डायलग फ्राम उपनिषद्—स्वामी शिवानन्द, ऋषिकेश
*१२ टेन उपनिषद् विथ कमेण्टरी आफ ब्रह्मयोगिन स्वामी—अदयार प्रेस, मद्रास
*१३ टुएन्टी योग उपनिषद्, *१४ फिफटीन शैव उपनिषद् *१५ टुएण्टीफोर वेदान्त उपनिषद् *१६ फोरटीन वैष्णव उपनिषद् *१७ सेवेनटीन संन्यास उपनिषद्
*१८ एट शाक्त उपनिषद् *१९ सेवेनटीवन माइनर उपनिषद्—अदयार प्रेस, मद्रास
*२० लाइट ऑन उपनिषदस्—टी० वी० कपालि शास्त्री
*२१ फिलासफी आफ उपनिषदस्—सर राधाकृष्णन

आठवाँ परिच्छेद

१ आर्य-संस्कृति का मूलाधार—प्रो० बलदेव उपाध्याय
२ भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—प्रो० रामधन शर्मा
३ ऋग्वेदानुक्रमणी—श्री जयदेव शर्मा ४ हिन्दुत्व—प्रोफेसर रामदास गौड़
*५ निरुक्त एण्ड इट्स प्लेस इन लिटरेचर—एच० स्कोल्ड
*६ गृह्यसूत्र और रूल्स आफ वैदिक डौमेस्टिक सेरीमोनिज—ओलडेनवर्ग
७ गोभिल गृह्यसूत्र—अनु०—ठा० उदयनारायण

नवाँ और दसवाँ परिच्छेद

१ धर्म का आदि स्रोत—श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय २ आवेस्ता—प्रोफेसर राजाराम
३ ईश्वरांक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर *४ जोरास्ट्रियनिज्म—एनी बेसेण्ट
*५ जेन्द अवेस्ता एण्ड इस्टर्न रेलिजन—पलूगेल *६ टिचिंग्स आफ जोराष्ट्र—कपाडिया
*७ जोराष्ट्र रेलिजन एण्ड कस्टम्स—भरुचा *८ ब्रदरहुड ऑफ रेलिजन—सोफिया वाडिया
*९ वर्ल्ड रेलिजन—स्वामी शिवानन्दजी

दूसरा खण्ड

पहला परिच्छेद

१ महाभारत-मीमांसा—श्री विनायक चिन्तामणि वैद्य (अनुवाद)
२ महाभारत की समालोचना (दो भाग)—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
३ भारत का इतिहास—प्रोफेसर रामदेव, गुरुकुल, हरिद्वार
४ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
५ भारत की प्राचीन संस्कृति—डाक्टर रामजी उपाध्याय

दूसरा परिच्छेद

१ वाल्मीकीय रामायण (सानुवाद)—पं० चन्द्रशेखर शास्त्री
२ वाल्मीकीय रामायण (सानुवाद)—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
३ तुलसीदर्शन (बाल से सुन्दर काण्ड तक)—डाक्टर बलदेव मिश्र
४ वाल्मीकीय रामायण (सिर्फ अनुवाद)—इण्डियन प्रेस, प्रयाग
५ वाल्मीकीय रामायण (संक्षिप्त)—कल्याण का विशेषांक—गीताप्रेस, गोरखपुर

तीसरा परिच्छेद

१ महाभारत (मूल तथा अनुवाद)—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
२ महाभारत (मूल तथा अनुवाद) सिर्फ आदि और सभा पर्व-स्वामी विद्यानन्दजी, काशी

३ महाभारत (सिर्फ अनुवाद)—इण्डियन प्रेस, प्रयाग
४ महाभारत भाषा वार्तिक (सिर्फ अनुवाद)—रामकुमार प्रेस बुकडिपो, लखनऊ
५ महाभारत (कविता में)—छत्रलसिंह चौहान " "
६ महाभारत (संक्षिप्त) कल्याण का विशेषांक—गीता प्रेस, गोरखपुर
७ महाभारत-मीमांसा—(अनुवाद) श्री चिन्तामणि वैद्य
८ महाभारत की समालोचना (दो भाग)—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

चौथा परिच्छेद

१ भगवद्गीता—शंकरभाष्य-सहित २ भगवद्गीता रामानुजभाष्य-सहित—गीता प्रेस
३ गीतातत्त्वांक—जयदयाल गोयन्दका—गीता प्रेस, गोरखपुर
४ ज्ञानेश्वरी गीता—संत ज्ञानेश्वर—अनु० रामचन्द्र वर्मा, काशी
५ गीतारहस्य—लोकमान्य तिलक—अनु० माधवराव सप्रे
६ अनाशक्तियोग—महात्मा गांधी
७ पुरुषार्थबोधिनी टीका—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
८ गीतादर्पण—स्वामी आत्मानन्द मुनि
९ गीतागौरव—(पाँच भाग) महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दजी, गीताधर्म प्रेस, काशी
१० गीताभाष्य (आर्यसमाज की दृष्टि से) स्वामी आत्मानन्दजी
११ गीताज्ञान—(अध्याय १ से १२ तक) श्री दीनानाथ भार्गव, देहली
१२ भगवद्गीता—श्री राजगोपालाचारी (अनुवाद)
*१३ भगवद्गीता (अंग्रेजी में)—डॉ० राधाकृष्णन
*१४ सेलश्चियल सौंग (अंग्रेजी पद में) आरनॉल्ड
१५ गीताज्ञान (पद्यानुवाद)—गीताधर्म प्रेस, काशी
१६ हरिगीतामृत (हरिगीतिका छन्दो में)—स्वामी हरिहरानन्दजी
१७ गीता और विश्वप्रेम—महात्मा गांधी १८ गीताप्रवचन—विनोबा भावे
*१९ एसेज ऑन गीता—योगी अरविन्द *२० गीतासार—महर्षि रमण
*२१ दी लाइटस् आफ भगवद्गीता—वैजनाथ खन्ना *२२ भगवद्गीता—वी० जी० रेले
*२३ आर्ट आफ लाइफ इन भगवद्गीता—एच० देवतिया, विद्याभवन, बम्बई
*२४ डिस्कोरसेज ऑन भगवद्गीता—श्री मंगलानन्द

पाँचवाँ परिच्छेद

१ संसार का संक्षिप्त इतिहास भाग १—(अनुवाद) एच० जी० वेल्स
*२ ओल्ड टेस्टामेण्ट (पुरातन समाचार) ३ धर्म का आदि स्रोत—श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय
*४ थियोलोजी आफ ओल्ड टेस्टामेण्ट—डैविड्सन
*५ ब्रदरहुड आफ रेलिजन—सोफिया वाडिया
*६ वर्ल्ड रेलिजन—स्वामी शिवानन्दजी

तीसरा खण्ड

पहला, दूसरा और तीसरा परिच्छेद

१ हिन्दुत्व—प्रो० रामदास गौड़
२ आर्य-संस्कृति का मूलाधार ३ धर्म और दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय
४ भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—प्रो० रामधन शास्त्री
५ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
*६ हिन्दू सिविलिजेशन—डाक्टर आर० के० मुकर्जी
*७ ऑल एबाउट हिन्दूइज्म—स्वामी शिवानन्द

चौथा परिच्छेद

१ जैनधर्म मीमांसा—दरबारीलाल सत्यभक्त २ बुद्ध और महावीर—किशोरीलाल मशरूवाला
३ महावीर-वाणी—बेचरदास दोशी ४ धर्म और दर्शन—प्रो० बलदेव उपाध्याय
*५ जैनिज्म—एनी बेसेण्ट *६ आउट लाइन आफ जैनिज्म—जे० लाल जैन
*७ महावीर हिज लाइफ एण्ड टीचिंग—श्री विमलचरण लाल

पाँचवाँ परिच्छेद

१ बुद्ध और बौद्धधर्म—चतुरसेन शास्त्री २ बौद्धधर्म—श्री गुलाब राय
३ बुद्ध-मीमांसा—महन्थ, बोधगया ४ धम्मपद—आनन्द कौशल्यायन
५ उदान—भिक्षु जगदीश कश्यप
६ मिलिन्दप्रश्न—भिक्षु जगदीश कश्यप ७ बुद्धचरित्र—सूर्यनारायण चौधरी
८ बुद्ध और महावीर—जमनालाल जैन *९ बुद्धिज्म—एनी बेसेण्ट
*१० लाइट आफ एशिया—आरनॉल्ड *११ डिस्कवरी ऑफ इण्डिया—पं० जवाहरलाल नेहरू

छठा, सातवाँ और आठवाँ परिच्छेद

१ दर्शन-दिग्दर्शन २ बुद्धदर्शन—राहुल सांकृत्यायन
३ भारतीय दर्शन ४ बौद्धदर्शन-मीमांसा—प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय
५ पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डाक्टर देवराज
६ भारतीय दर्शन—डाक्टर दत्त और चट्टोपाध्याय
७ आत्मरहस्य—रतनलाल जैन
८ वैशेषिक दर्शन (अनु०) ९ न्यायदर्शन (अनु०) १० योगदर्शन (अनु०) तुलसीराम स्वामी
११ सांख्यदर्शन (अनु०) दर्शनानन्द स्वामी
१२ योगदर्शन (अनु०) हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर
१३ मीमांसादर्शन (अनु०) देवदत्त शर्मा १४ वेदान्तदर्शन—तुलसीराम स्वामी
१५ ब्रह्मसूत्र—स्वामी शिवानन्द, ऋषिकेश

*१६ सर्वदर्शनसंग्रह आफ माधवाचार्य—कौवेल
*१७ हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासाफी—दासगुप्ता
*१८ इण्डियन फिलासफी—डॉ० राधाकृष्णन
१६ भारतीय संस्कृति—प्रोफेसर शिवदत्त ज्ञानी
*२० डिस्कवरी आफ इण्डिया—पं० जवाहरलाल नेहरू

नवाँ और दसवाँ परिच्छेद

१ कुंगमुनि-ज्ञानामृत—डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री, लण्डन
२ धर्म और दर्शन—प्रो० बलदेव उपाध्याय
*३ कन्फूसियनिज्म *४ ताओइज्म—रावर्ट के० डोगलास
*५ वर्ल्ड रेलिजन—स्वामी शिवानन्द

चौथा खण्ड

प्रथम, द्वितीय और तृतीय परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़
२ आर्य-संस्कृति का मूलाधार—प्रो० बलदेव उपाध्याय
३ संक्षिप्त पद्मपुराण ४ संक्षिप्त स्कन्दपुराण ५ संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण ६ संक्षिप्त ब्रह्मपुराण (सिर्फ भाषा)—कल्याण का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर
७ श्रीमद्भागवत पुराण ८ विष्णुपुराण (मूल तथा अनुवाद), गीता प्रेस
९ शिवपुराण (सिर्फ अनुवाद) प्यारेलालजी—रामकुमार प्रेस बुकडिपो, लखनऊ
१० भविष्यपुराण ११ वाराहपुराण (सिर्फ अनुवाद) श्री दुर्गाप्रसाद ,,
१२ गरुडपुराण (मूल तथा अनु०)—श्री खूबचन्दजी, रामकुमार प्रेस, बुकडिपो
१३ मत्स्यपुराण १४ वायुपुराण—श्री रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
१५ नारदपुराण १६ कूर्मपुराण १७ ब्रह्माण्डपुराण (मूल)—श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
*१८ देवीभागवतपुराण (अंग्रेजी अनुवाद)—पाणिनि प्रेस, प्रयाग
*१९ महापुराण—डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री (बिहार रीसर्च सोसाइटी जर्नल, वालूम १४)
२० लिंगपुराण (भाषानुवाद)—पं० दुर्गा प्रसाद
२१ वामनपुराण—(भाषानुवाद)—पं० श्यामसुन्दर लाल
२२ अग्निपुराण (मूल)—श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
*२३ ब्रह्मवैवर्त पुराण—श्री राजेन्द्रनाथ सेन
२४ अष्टादशपुराणदर्पण—पं० ज्वालाप्रसादमिश्र

चौथा परिच्छेद

१ शिवपुराण (भाषा)—रामकुमार प्रेस बुक डिपो, लखनऊ
२ धर्म और दर्शन—प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय

३ मोहेंजोदरो—प्रो० सतीशचन्द्र काला ४ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़
*५ शैविज्म—डाक्टर भण्डारकर *६ कश्मीर शैविज्म—जे० सी० भट्टाचारी
*७ बिगनिंग आफ लिंग कल्ट इन इण्डिया—अतुलकृष्ण सूर
८ भारतवर्ष में जातिभेद—आचार्य क्षितिमोहनसेन शास्त्री

पाँचवाँ परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़ २ आर्य-संस्कृति का मूलाधार—प्रो० बलदेव उपाध्याय
३ तारास्वरूपतत्त्व—श्री श्यामानन्द नाथ ४ चक्रपूजा—श्री भद्रशील शर्मा
५ वाममार्ग—श्री वंशीधर शुक्ल ६ मंत्रसिद्धि का उपाय—श्री भद्रशील
७ गुप्तसाधनतंत्र ८ योगिनीतंत्र—श्री कन्हैयालाल
९ गणेश—श्री सम्पूर्णानन्द १० मार्कण्डेयपुराण (भाषा)—गीता प्रेस, गोरखपुर
११ शक्ति अंक (कल्याण) १२ साधनांक (कल्याण)—गीता प्रेस
*१३ देवीभागवतपुराण (अंग्रेजी)—पाणिनी प्रेस, प्रयाग
*१४ तंत्र द ग्रेट लिटरेचर *१५ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर ऐवलेन
*१६ गारलैण्ड आफ लेटर्स—आर्थर ऐवलन (जौन उडरफ)
१७ मातृ-उपासना—श्री रमाचरण

छठा और सातवाँ परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़ २ धर्म और दर्शन—प्रो० बलदेव उपाध्याय
३ गणेश—श्री सम्पूर्णानन्द
४ ब्रह्मपुराण ५ पद्मपुराण ६ स्कन्दपुराण (कल्याण विशेषांक)—गीता प्रेस, गोरखपुर
७ शिवपुराण (अनु०)—प्यारेलालजी—रामकुमार प्रेस बुकडिपो, लखनऊ

आठवाँ परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़ २ मनुस्मृति—पं० राजाराम
३ मानवधर्मशास्त्र—पं० इन्दिरारमण शास्त्री
४ आर्य-संस्कृति का मूलाधार—प्रो० बलदेव उपाध्याय
५ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी

नवाँ परिच्छेद

*१ न्यू टेस्टामेण्ट (बाइबल)
२ धर्मशास्त्र (बाइबल का हिन्दी अनुवाद)—ब्रिटिश एण्ड फॉरेन बाइबल सोसाइटी, इलाहाबाद
*३ दि किंगडम आफ अर्थ—सी० डोवर *४ इमीटेशन आफ क्राइस्ट
५ धर्म का आदि स्रोत—गंगाप्रसाद उपाध्याय ६ सत्यार्थप्रकाश—स्वामी दयानन्द
*७ अनकवर्ड—जज रदरफोर्ड

पाँचवाँ खण्ड

प्रथम परिच्छेद

१ कुरानसार २ इस्लामधर्म की रूपरेखा—राहुल सांकृत्यायन
३ इस्लामी त्योहार—श्री महेश प्रसाद ४ सत्यार्थप्रकाश—स्वामी दयानन्द
*५ कोरान (अंग्रेजी अनुवाद)—मुहम्मद अली
*६ मोहम्मद द प्रॉफेट आफ डेजर्ट—के० एल० गौवा
*७ फिलासफी आफ कोरान—जी० सरवार *८ इन्कारनेशन इन इस्लाम—मिर्जा नादरबेग
*९ इस्लाम—एनी बेसेण्ट *१० इस्लामिक कलचर—ए० ए० फैजी

दूसरा परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—श्री रामदास गौड़ २ शंकराचार्य—श्री बलदेव उपाध्याय
३ मनुस्मृति का मानवार्थ भाष्य—श्री इन्दिरारमण शास्त्री
४ वेदान्त अंक, कल्याण—गीता प्रेस, गोरखपुर
*५ वेद एण्ड वेदान्त—अर्नेस्ट पी० होरविटज *६ वेदान्त—जी० एस० घाटे
७ सूर्यकान्त—पं० शिवनारायण शर्मा

तीसरा परिच्छेद

१ योग के आधार—श्री अरविन्द २ नाथ-सम्प्रदाय—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी
३ सचित्र हठयोग—स्वामी शिवानन्द ४ सूर्य-नमस्कार—श्रीमान् बालासाहब पन्त
५ योगवासिष्ठ—डाक्टर अत्रेय ६ श्रीधर्मकल्पद्रुम (चौथा भाग)—स्वामी दयानन्द, काशी
७ योगांक (कल्याण)—गीता प्रेस, *८ योग-उपनिपद्—अडयार प्रेस, मद्रास
*९ योग फॉर इयु—अडयार प्रेस, मद्रास
*१० कनवरसेशन ऑन योग—स्वामी शिवानन्द

चौथा, पाँचवाँ, सातवाँ और आठवाँ परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़ २ धर्म और दर्शन—प्रो० बलदेव उपाध्याय
३ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
४ भारत का धार्मिक इतिहास—पं० शिवशंकर मिश्र
५ अद्वैतवाद—श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय
६ कबीर—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ७ तुलसीदर्शन—डाक्टर बलदेव मिश्र
८ संत-अंक ९ भक्त-अंक १० संस्कृति-अंक (कल्याण) गीता प्रेस, गोरखपुर
*११ वैष्णविज्म—डाक्टर आर० जी० भण्डारकर
*१२ भक्ति कल्ट इन एनसिएण्ट इण्डिया—भगवतकुमार गोस्वामी
*१३ द फिलासाफी आफ वैष्णव रेलिजन—जी० एन० मल्लिक

*१४ मिस्टिसिज्म आफ मिडल एज—आचार्य क्षितिमोहन सेन
*१५ कबीर एण्ड भक्ति मुवमेण्ट—श्री मोहन सिंह

छठा परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड़ २ आर्य-संस्कृति का मूलाधार—प्रो० बलदेव उपाध्याय
*३ शैविज्म—डाक्टर आर० जी० भंडारकर *४ कश्मीर शैविज्म—जे० सी० भट्टाचारी

नवाँ परिच्छेद

१ श्री गुरुग्रन्थसाहिबजी (नागरी लिपि)—खालसाप्रचार प्रेस, अमृतसर
२ संत अंक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर *३ सिखीज्म—ऐनी बेसेण्ट
*४ सिख सेरीमोनिज—सर योगेन्द्र सिंह
*५ सिख रेलिजन, इट्स गुरु एण्ड सैक्रेड राइटिंग—आर्थर माकोलिफ
*६ इवोलिशन आफ खालसा—इन्दुभूषण बनर्जी
*७ सिखीज्म, इट्स आइडियल एण्ड इन्सटीट्यूशन—तेजासिंह

छठा खण्ड

प्रथम परिच्छेद

१ जापानरहस्य—श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव
*२ स्टडी आफ शिन्तो द रेलिजन आफ जापान—जी० केटो
*३ पोलीटिकल फिलासफी आफ मॉडर्न शिन्तो—डी० सी० होल्टन

दूसरा, तीसरा तथा चौथा परिच्छेद

१ हिन्दूत्व—प्रो० रामदास गौड
*२ राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन तथा दयानन्द—गंगाप्रसाद उपाध्याय
*३ हिस्ट्री आफ ब्रह्मो समाज—शिवनाथ शास्त्री
*४ डिस्कवरी आफ इण्डिया—पं० जवाहरलाल नेहरू
५ सत्यार्थप्रकाश—स्वामी दयानन्द ६ संत-अंक (कल्याण)—गीता प्रेस
*७ स्वामी दयानन्द—श्री अरविन्द *८ आर्यसमाज—ग्रिसवोल्ड

पाँचवाँ तथा छठा परिच्छेद

१ सारवचन, २ शब्दसंग्रह, ३ संतबानी संग्रह, ४ रत्नावली—दयालबाग, आगरा
*५ राधा स्वामी सेक्ट—ग्रिसवोल्ड
६ धर्मज्योति ७ परलोक की कहानियाँ—श्री जगतनारायण

*८ थियोसोफी एक्सलेंएड—श्री पात्री
*९ इन द आउटर कोर्ट—श्रीमती एनी बेसेएट
*१० द फर्स्ट प्रिन्सपल आफ थियोसोफी—श्री जिनराज दास
*११ टेस्टबुक आफ थियोसोफी—श्री लेडविटर, *१२ इयु (you)—श्री आरेएडल
*१३ एनसिएएट विजडम—श्रीमती एनी बेसेएट
*१४ मेन विजिबुल एएड इनविजिबुल—श्रीमती एनी बेसेएट और श्री लेडविटर
१५ मानव—श्री वैद्यनाथ पएडा, १६ क्या हम फिर जन्म लेंगे—रविशरण
१६ जीवन्मुक्त और मुक्तिमार्ग—श्री वैद्यनाथ पएडा

सातवाँ परिच्छेद

१ ईश्वरबोध—श्री केदारनाथ गुप्त
२ रामकृष्णचरितामृत—श्री लल्लीप्रसाद पाण्डेय
३ श्री रामकृष्णवचनामृत—पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी
*४ रामकृष्ण परमहंस—रोमाँ रोलाँ ५ कल्याण (संत-अंक)—गीता प्रेस

आठवाँ परिच्छेद

१ विवेकानन्दचरित्र—श्री सत्येन्द्रनाथ मजुमदार
२ विवेकानन्द के लेखों का हिन्दी अनुवाद—श्री रामकृष्णआश्रम, धन्तोली, नागपुर
*३ वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द—अद्वैत आश्रम, मायावती, अलमोड़ा
*४ इन उड्स रियलिजेशन (आठ भाग)—श्री रामतीर्थ पब्लिशिंग लीग, लखनऊ
५ स्वामी रामतीर्थ के लेख भाषणादि का हिन्दी अनुवाद ,, ,,
६ संत-अंक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर
*७ डिस्कवरी आफ इण्डिया—पं० जवाहरलाल नेहरु

सातवाँ खण्ड

प्रथम परिच्छेद

१ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
२ भारत की प्राचीन संस्कृति—डाक्टर रामजी उपाध्याय
३ भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—प्रो० रामधन शर्मा
४ भारतीय संस्कृति का इतिहास—श्री रामचन्द्र सिंगल
५ भारतीय संस्कृति और अहिंसा—धर्मानन्द कौसम्बी
६ आर्य-संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष—महादेव शास्त्री दिवेकर
७ हिन्दुस्तान की सभ्यता—डाक्टर बेनी प्रसाद
८ हिन्दुत्व—प्रो० रामदास गौड़ ९ वैदिक सम्पत्ति—पण्डित रघुनन्दन शर्मा

१० संस्कृति-अंक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर
*११ हिन्दू सिविलिजेशन—आर० के० मुकर्जी
*१२ डिस्कवरी आफ इण्डिया—जवाहरलाल नेहरू

दूसरा परिच्छेद

१ विशाल भारत का इतिहास—वेदव्यास
२ वृहत्तरभारत—चन्द्रगुप्त वेदालंकार
३ इतिहासपत्रिका का विशेषांक—देहली
४ वैदिक सम्पत्ति—पं० रघुनन्दन शर्मा
*५ हिन्दू अमेरिका—श्री चमनलाल
*६ एनसिएण्ट इण्डियन कौलोनिज
इन द फार इस्ट, भाग १-२—आर० सी० मजुमदार
७ वाल्मीकीय रामायण—(अनु०) चन्द्रशेखर शास्त्री
*८ डिस्कवरी आफ इण्डिया—पं० जवाहरलाल नेहरू

तीसरा परिच्छेद

१ ऋग्वेद—(अनु०) श्री रामगोविन्द त्रिवेदी
२ अथर्ववेद—(अनु०) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
३ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
४ गो-अंक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर
*५ हिन्दू सिविलिजेशन—डाक्टर आर० के० मुकर्जी

चौथा परिच्छेद

१ भारतवर्ष में जातिभेद— आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री
२ छूत और अछूत (दो भाग)—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
३ भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवदत्त ज्ञानी
४ आर्यसंस्कृति का उत्कर्षापकर्ष—पण्डित महादेव शास्त्री दिवेकर
५ ऋग्वेदसंहिता—(अनु०) श्री रामगोविन्द त्रिवेदी
६ अथर्ववेदसंहिता—(अनु०) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
७ मनुस्मृति—८ पद्मपुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर
९ मानव धर्मशास्त्र—इन्दिरारमण शास्त्री
१० स्कन्दपुराण ११ श्रीमद्भागवतपुराण १२ ब्रह्मपुराण—गीता प्रेस
१३ वायुपुराण—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
१४ भविष्यपुराण १५ वराहपुराण—रामकुमार प्रेस बुकडिपो, लखनऊ
१६ महाभारत शान्तिपर्व—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

आठवाँ खण्ड

पहला और दूसरा परिच्छेद

१ हिन्दुत्व—प्रो० रामदास गौड़ २ हिन्दुओं की पोथी—पं० देवदत्त शुक्ल
३ हिन्दूजाति की समीक्षा—पं० लक्ष्मण शास्त्री जोशी
४ हिन्दुओं के पर्व और त्योहार—छविनाथ पाण्डेय
५ हिन्दू त्योहारों की कथा—रामानुग्रह शर्मा
६ स्त्री-अंक ७ संत-अंक (कल्याण)—गीता प्रेस
*८ नियो हिन्दूइज्म—डी० वी० अथलेय

तीसरा परिच्छेद

१ मैं कौन हूँ ? *२ महर्षिज गॉसपेल—महर्षि रमण
३ योग का चमत्कार—रामनाथ सुमन
४ गुप्त भारत की खोज (अनु०) पाल ब्रण्टन—लीडर प्रेस, प्रयाग
*५ स । दर्शनभाष्य—'श्री के' *६ महायोग—हूँ
*७ सेज आफ अरुणाचल—असलंगन *८ महर्षि एण्ड हिज मैसेज—पाल ब्रण्टन
*९ डायमण्ड जुबली सोवेनियर—स्वामी निरञ्जनान्द, श्रीरमण-आश्रम
१० पूर्णयोग—श्री नलिनीकान्त गुप्त
११ अरविन्द और उनका योग—श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
१२ वेद-रहस्य ('एसेज ऑन वेद' का अनुवाद)—देहली
१३ अर्चना का वार्षिक अंक १९४७,१९४८-१९४९—श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डीचेरी
*१४ ऐसेज औन गीता *१५ लाइफ डीवाइन—श्री अरविन्द
१६ स्वामी शिवानन्द—श्री महेन्द्र
१७ प्रणव-रहस्य १८ भक्तियोग १९ हठयोग—स्वामी शिवानंद
२० वेदान्त इन डेली लाइफ—स्वामी शिवानन्द
*२१ सिक्रेट वेज आफ सकसेस इन लाइफ एण्ड गौड रियलिजेशन—स्वामी शिवानन्द
*२२ हेल्थ एण्ड लौंग लाइफ— स्वामी शिवानन्द
*२३ प्रैक्टिकल लेशन इन योग— „ „
*२४ योग इन डेली लाइफ— „ „
*२५ कन्सेण्ट्रेशन एण्ड मेडिटेशन— „ „
*२६ शिव द प्रौफेट आफ न्यू एज—वासुदेवनारायण सिनहा
२७ भारत-निर्माता—श्रीकृष्णवल्लभ द्विवेदी

चौथा अध्याय

१ आत्मकथा २ गीता और विश्वधर्म ३ अनासक्तियोग—महात्मा गांधी
४ आत्मकथा ५ बापू के कदमों में ६ चम्पारण में महात्मा गांधी—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

*७ गाँधीवाद *८ कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया
९ गांधी-ग्रन्थमाला—विद्यापीठ, काशी
१० प्रार्थना-प्रवचन—सस्ता साहित्य-मण्डल ११ राष्ट्रपिता—जवाहरलाल नेहरू

पाँचवाँ अध्याय

१ गीता और कुरान—पं० सुन्दरलाल २ समन्वय—डाक्टर भगवानदास
*३ इसेनशियल इउनिटी ऑफ ऑल रेलिजन्स—डा० भगवानदास
*४ ब्रदरहुड आफ रेलिजन—सोफिया वाडिया
*५ मेसेज आफ पीस—हजरत गुलामहुसैन कादियानी
*६ वर्ल्ड रेलिजन—स्वामी शिवानन्द

परिशिष्ट

[१] स्वामी रामदास*

स्वामी रामदास का जन्म दक्षिणभारत के कनाडा जिले के होसडुग नामक गाँव में एक सारस्वत ब्राह्मण-परिवार में, सन् १८८४ ई० में, हनुमान-जयंती के दिन हुआ था। बचपन में उनके माता-पिता ने उनका नाम रखा था बिट्ठल राव।

बिट्ठल राव के पिता का नाम था बालकृष्ण राव और माता का नाम था ललिता देवी। उनके नौ भाई और तीन बहनें थीं। उनके पिता एक सरकारी दफ्तर में बीस रुपये मासिक वेतन पर क्लर्क का काम करते थे। इतने बड़े परिवार का भरण-पोषण और बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करना बालकृष्ण राव के लिए संभव नहीं था। इस काम में उनके एक छोटे भाई बराबर मदद करते थे। वे एक अच्छे वकील थे और उनके अपनी कोई संतान नहीं थी।

बिट्ठल राव बचपन से ही बड़े स्वस्थ थे। वे कभी बीमार नहीं पड़े। बराबर प्रसन्न रहते थे। स्वभाव के बड़े निर्भीक थे। संभवतः हनुमान-जयंती के दिन जन्म ग्रहण करने के कारण पेड़ों से उनकी बड़ी प्रीति थी। सड़क के पेड़ों पर चढ़ना और एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर बन्दर की तरह कूद जाना उन्हें खूब पसन्द था। बड़े-बड़े नारियल के पेड़ों पर चढ़ना-उतरना उनका रोज का खेल था।

वे सबसे पहले अपने गाँव की पाठशाला में भर्त्ती कर दिये गये। पीछे मंगलोर से उन्होंने हाई-स्कूल की परीक्षा पास की। स्कूल में उनका मन उतना कोर्स की पुस्तकों में न लगता—इधर-उधर की पुस्तकें बड़े शौक से पढ़ा करते। उनमें थोड़ी कला की रुचि भी थी। स्कूल में जब अध्यापक पाठ पढ़ाया करते तब वे अपनी नोट-बुक में अध्यापकों का चित्र आँका करते। इस तरह हाई-स्कूल की पढ़ाई खतम कर वे मद्रास के एक कालेज में भर्त्ती हो गये। पर यहाँ की पढ़ाई समाप्त होने से पहले ही वे बम्बई के विक्टोरिया टेकनिकल इन्स्टीट्यूट में चले गये। वहाँ उन्होंने तीन वर्ष तक कताई और बुनाई का काम सीखा। इन्हीं दिनो उन्हें पुस्तकें पढ़ने का मानों रोग-सा लग गया था।

---

* श्रीअरविंद-आश्रम, पाण्डीचेरी के एक साधक श्रीचंद्रदीपजी द्वारा प्रेषित।

उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों को कई बार पढ़ा। साथ ही अन्यान्य अंग्रेज दार्शनिकों के ग्रंथों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। पर यहीं आकर उनका विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो गया और अब वे पूरे सांसारिक जीवन में प्रवेश करने के लिए तैयार हो गये।

उनकी शिक्षा समाप्त होने पर सन् १९०८ ई० में रुकमाबाई के साथ उनका विवाह हुआ। प्रायः सन् १९२२ ई० तक वे साधारण गृहस्थ-जीवन में रहे। इस बीच उनके एक लड़की उत्पन्न हुई जिसका नाम रमाबाई है। रुकमाबाई सन् १९३१ ई० में इस संसार से विदा हो गईं।

बम्बई से शिक्षा-ग्रहण कर वे सबसे पहले मद्रास की एक मिल में नौकर हो गये। परन्तु थोड़े दिन बाद ही वे वहाँ से निजाम-सरकार की एक मिल में, गुलबर्गा में आ गये। वहाँ कुछ दिन नौकरी करने के बाद वे फिर मद्रास चले आये। फिर ट्रावनकोर, गदक, कोयम्बटूर, अहमदाबाद, नाड़ियाद आदि कई स्थानों की मिलों में काम किया। नड़ियाद में तो उन्होंने मिल के मैनेजर के रूप में काम किया। नौकरी की हालत में वे जहाँ भी गये, खूब प्रसिद्ध हुए। अन्त में उन्होंने स्वयं ही मंगलोर में कपड़ा और सूत रँगने का काम आरम्भ किया और फिर हाथ का करघा भी बैठाया। पर इस धंधे में उन्हें सफलता नहीं मिली।

इन्हीं दिनों उनका मन सांसारिक जीवन से हटकर आध्यात्मिक साधना की ओर झुकने लगा। स्वामी रामतीर्थ की पुस्तकों के पढ़ने से उनकी आध्यात्मिक भूख बहुत तीव्र रूप में जग गई। अब रोजगार गौण विषय बन गया और आध्यात्मिक खोज दिन-दिन बढ़ने लगी। अन्त में सांसारिक काम-काज देखना उनके लिए कठिन होने लगा। ठीक इन्हीं दिनों एक घटना घटी जिसने उन्हें सांसारिक जीवन से एकदम हटाकर आध्यात्मिक जीवन का यात्री बना दिया।

उक्त घटना का वर्णन उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है—"प्रायः एक वर्ष तक दुश्चिन्ता, उद्वेग और दुख कष्ट से भरे हुए इस जगत् में रामदास संघर्ष कर रहा था। यह एक भयानक अशांति और कष्ट का समय था—पर था सब-कुछ अपना ही रचा हुआ। इस निःसहाय अवस्था में, इस विपत्ति की अवस्था में, रामदास का हृदय चिल्ला उठा—'कहाँ है मुक्ति? कहाँ है शांति?' यह पुकार सुनी गई और महान शून्य के भीतर से आवाज आई—'निराश मत हो! मेरे ऊपर भरोसा रखो और तुम इन सब चीजों से मुक्त हो जाओगे।' और, यह थी राम की वाणी। राम के साहस बँधानेवाले ये शब्द ठीक उस तख्ते के समान थे जो तूफानी समुद्र में अपने जीवन की रक्षा करने के लिए संघर्ष करनेवाले किसी मनुष्य के सामने फेंक दिया गया हो।....उसके बाद से ही सांसारिक कार्यों में बीतनेवाले समय का कुछ अंश राम के ध्यान में बीतने लगा और राम ने, उसी समय से, रामदास को सच्ची शांति और मुक्ति दी। धीरे-धीरे शांति के दाता राम के प्रति प्रेम बढ़ा। जितना ही अधिक रामदास उनका ध्यान करते और उनका नाम जपते उतना ही अधिक वे शांति और आनन्द अनुभव करते। धीरे-धीरे एक-दो घंटा विश्राम के अतिरिक्त बाकी सारी रात राम-भजन में बीतने लगी। रामदास के हृदय में राम की भक्ति दिन दूनी-रात चौगुनी बढ़ने लगी।

"दिन के समय जब रुपये-पैसे की कमी या अन्य असुविधाओं के कारण नाना प्रकार की दुश्चिन्ताएँ रामदास को बेचैन कर देतीं तब अप्रत्याशित रूप में राम उनकी सहायता के लिए आ जाते। इसलिए जब कभी वे सांसारिक कर्मों से मुक्त होते, चाहे वह समय जितना ही थोड़ा क्यों न हो, वे राम का ध्यान करने और उनका नाम जपने बैठ जाते। सड़क पर चलते-चलते वे—'राम, राम' कहते रहते। अब संसार की चीजों के प्रति रामदास का आकर्षण कम होने लगा। ···सुन्दर कपड़े-लत्ते का स्थान खद्दर ने ले लिया। बिछौना का काम बस एक चटाई देने लगी। भोजन, पहले दो जून की जगह एक जून हो गया और कुछ दिन बाद वह भी घटकर केवल कुछ केलों और उबले आलुओं पर आ गया—नमक और मिर्च को एकदम छोड़ दिया। राम-भजन के सिवा और किसी चीज का स्वाद नहीं रहा। राम का ध्यान तेजी से बढ़ने लगा। उसने दिन के समय को और सांसारिक कार्यों को भी आक्रांत कर लिया।

"इसी अवस्था में एक दिन, राम के भेजे हुए, रामदास के पिता रामदास के पास आये और उन्होंने रामदस को अलग बुलाकर राम-मंत्र—'श्रीराम, जयराम, जयजयराम।'—का उपदेश दिया। उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि अगर वे (रामदास) सब समय इस मंत्र का जप करें तो राम उन्हें शाश्वत आनन्द प्रदान करेंगे। पिता के द्वारा—जिन्हें पीछे बराबर गुरुदेव ही माना गया—प्राप्त इस दीक्षा ने बड़ी तेजी से साधक की आध्यात्मिक उन्नति कराई। प्रायः राम उनको श्रीकृष्ण की शिक्षा—भगवद्गीता, भगवान बुद्ध—द लाइट आफ एशिया, महात्मा ईसा—न्यू टेस्टामेण्ट, महात्मा गांधी—यंगइण्डिया और एथीकल रिलीजन आदि पढ़ने की प्रेरणा देते।······इन्हीं दिनो रामदास के मन में धीरे-धीरे यह बात जमकर बैठ गई कि राम ही एकमात्र सत्य है और बाकी सब-कुछ मिथ्या है। एक ओर जहाँ सांसारिक चीजों के उपभोग करने की कामना तेजी से दूर होती जा रही थी वहाँ दूसरी ओर 'मैं' और 'मेरा' का भाव भी क्षीण होता जा रहा था। अधिकार और संबंध की भावना भी विलीन हो रही थी। समस्त विचार, सारा मन, हृदय और अन्तरात्मा राम पर केन्द्रीभूत हो गया, राम सर्वत्र छा गये, सब चीजों में भर गये।"

इस तरह कुछ दिन और संसार में रहते हुए साधना करने के बाद एक रात नाम-जप करते-करते उनके हृदय से यह प्रार्थना निकल पड़ी—"ऐ राम! जब तेरा दास तुझे इतना शक्तिमान और साथ ही इतना प्रेममय अनुभव कर रहा है और यह जानता है कि जो तुझपर निर्भर करता है वह सच्ची शांति और आनन्द निश्चित रूप से पाता है, फिर वह सम्पूर्ण रूप से तेरी कृपा पर ही अपने-आपको क्यों नहीं छोड़ देता? और यह तो तभी संभव हो सकता है जब वह उन सभी चीजों को छोड़ दे जिसे वह 'मेरा' कहता है! अपने दास के लिए तू ही सब-कुछ है। तू ही संसार में एकमात्र रक्षक है।······ सब-कुछ, हे राम! तेरा ही है, और सभी कार्य तेरे द्वारा ही संपादित होते हैं। तेरे दास की बस एक ही प्रार्थना है कि तू इसे पूर्णरूप से अपने पथ-प्रदर्शन में ले ले और इसका 'मेरा'-पन दूर कर दे।"

स्वामी रामदास स्वयं लिखते हैं—"यह प्रार्थना सुन ली गई। रामदास के मुँह से एक लम्बी साँस निकली—इच्छा जगी कि सब-कुछ त्याग कर साधु-वेष में पृथ्वी पर

विचरण करें—राम की खोज करें। इसी समय राम ने 'लाइट आफ एशिया' पुस्तक को अचानक खोलने की प्रेरणा दी और वहाँ पर ये पंक्तियाँ मिलीं—

For now the hour is come when I should quit,
This golden prison, where my heart lives caged,
To find the Truth; which hence-forth I will seek,
For all men's sake, until the truth be found."

अर्थात्—

"क्योंकि अब आ गया है वह समय जब मुझे छोड़ देना चाहिए,
यह स्वर्ण-कारागार, जहाँ बन्दी है मेरा हृदय,
सत्य को पाने के लिए; जिसे ही अब मैं बराबर खोजूँगा,
सभी मनुष्यों के लिए, जबतक कि सत्य मिल नहीं जाता।"

फिर रामदास ने 'न्यू टेस्टामेण्ट'—(बाइबिल) खोली और उन्हें ईसामसीह के ये वचन मिले—

"And everyone that hath forsaken houses or
Brethren, or sisters, or father or mother or wife,
or children or lands for my name's sake, shall receive
a hundred-fold and shall inherit everlasting life."

अर्थात्—"और प्रत्येक आदमी, जिसने मेरे नाम पर घर-द्वार या भाई या बहन या पिता या माता या स्त्री या सन्तान या भूमि छोड़ी है, सौगुना अधिक पायेगा और शाश्वत जीवन का अधिकारी होगा।"

फिर उन्होंने भगवद्गीता खोली और उन्हें यह श्लोक मिला—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात्—सर्व धर्मों को त्याग कर केवल एक मुझ परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

इस तरह बुद्ध, ईसा और कृष्ण—तीनों महान अवतारों की एक ही वाणी पाकर रामदास ने तुरत निश्चय कर लिया कि मैं राम के लिए उन सभी चीजों को, जिन्हें मैं अबतक अपना समझकर अपनी छाती से लगाये हुए था, छोड़ दूँगा और संसार से संन्यास ले लूँगा। उन दिनों वे बस दो ही कपड़े बदन पर रखते थे—एक कमर में और एक कंधे पर। दूसरे दिन उन्होंने दो कपड़े गेरुआ रंग में रँग लिये और रात को दो चिट्ठियाँ लिखीं—एक अपनी पत्नी के नाम और दूसरी अपने एक मित्र के नाम जिन्होंने उन्हें ऋण से मुक्त होने में सहायता की थी। प्रातःकाल सवेरे पाँच बजे के लगभग वे घर से निकल पड़े—राम के सिवा अब उनका अपना कोई नहीं था।

सबसे पहले वे रेल के द्वारा मंगलोर से 'इरोड' स्टेशन पर आये। पर अब आगे क्या करना है—कुछ भी उन्हें नहीं सूझा। दिन में वे इधर-उधर घूमते रहे। उनके पास पचीस रुपये थे और गीता, बाइबिल आदि पुस्तकें थीं। शाम को सड़क के किनारे

एक झोपड़ी के दरवाजे पर वे आये जहाँ एक बुढ़िया खड़ी थी। उससे उन्होंने कुछ खाने को माँगा। बुढ़िया ने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया और दही-भात खाने को दिया। बड़ी कठिनाई से रामदास ने उसे कुछ पैसे लेने के लिए राजी किया। वहाँ से वे फिर स्टेशन पर आ गये और एक कोने में लेट गये। प्रायः आधी रात को गाड़ी के आने की घंटी बजी और वे जग पड़े। उनके पास ही एक तामिल सज्जन बैठे थे जिन्होंने उनसे पूछा—'आपको कहाँ जाना है?' पर रामदास उत्तर देने में असमर्थ थे। उनका भविष्य तो राम पर निर्भर था। उन्हें मौन देख उन तामिल सज्जन ने उन्हें अपने साथ त्रिचनापल्ली चलने को कहा। रामदास ने टिकट के पैसे दे दिये और दोनों ट्रेन में बैठ गये। त्रिचनापल्ली में आकर उन्होंने एक रात वहाँ बिताई और दूसरे दिन पैदल श्रीरंगम् आ गये। पहले वे सीधे कावेरी नदी पर गये और वहाँ उन्होंने नदी के पवित्र जल में स्नान किया। यहीं पर उन्होंने राम की इच्छा जान संन्यासी का गेरुआ वस्त्र धारण किया। इस तरह उनका नया जन्म हुआ और उनके हृदय से यह प्रार्थना निकल पड़ी—

"हे राम! हे असीम प्रेम! हे समस्त लोकों के पालक! केवल तेरी इच्छा से ही तेरे इस तुच्छ सेवक ने आज संन्यास लिया है। केवल तेरे नाम पर ही, हे राम! इसने संसार का त्याग किया है और अपने सभी बन्धनों को छिन्न-भिन्न किया है। हे राम! अपने दीन भक्त को अपनी कृपा प्रदान कर। रामदास को शक्ति, साहस और श्रद्धा तथा विश्वास से भर दे जिससे वह नीचे लिखे अपने संकल्प को अपने जीवन में पूरा कर सके और संन्यास-पथ में आनेवाली सभी कठिनाइयों और संघर्षों को पार कर सके—

(१) यह जीवन अब पूर्णरूप से श्रीराम के ध्यान और सेवा में ही समर्पित हो।

(२) ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन खूब सचाई के साथ हो और सभी स्त्रियों के प्रति मातृभाव जाग्रत् हो।

(३) भिक्षा द्वारा या दानरूप में प्राप्त अन्न के द्वारा शरीर का पालन-पोषण हो।"

इस तरह प्रार्थना करने के बाद, स्वयं स्वामी रामदास लिखते हैं—"तुरत राम के मधुर प्रेम के साथ-साथ इस नये जन्म का, इस नये जीवन का आनन्द अनुभूत हुआ। एक शांति ने आकर रामदास की छटपटाती आत्मा को अभिभूत कर लिया।······ऐसा मालूम हुआ कि राम ने रामदास के मस्तक पर अपना हाथ रख दिया है और आशीर्वाद देते हुए कह रहे हैं—"मैं अपने पथ-प्रदर्शन और संरक्षण में तुझे ले रहा हूँ—बराबर मेरा भक्त बना रह—तेरा नाम आज से रामदास होगा।"

बस, यहीं से विट्ठल राव 'रामदास' बन गये। राम का चिंतन-पूजन, सेवा-भजन ही अब पूर्णरूप से उनका काम हो गया। राम जहाँ ले जायँ वहाँ जाना; जैसे रखें वैसे रहना; जो कुछ दे दें उसीसे निर्वाह करना—बस यही उनके जीवन का मंत्र हो गया। यहाँ से वे रामेश्वर, मदुरा, चिदंबरम्, पांडुचेरी, तिरुवन्नमलाई, तिरुपति, पुरी, कलकत्ता, काशी, हरिद्वार, ऋषिकेश, केदारनाथ, बदरिकाश्रम, मथुरा, वृन्दावन, सोमनाथ, द्वारका, नासिक, बम्बई, पंढरपुर, इत्यादि स्थानो में होते हुए अंत में हुबली में सिद्धारूढ़ स्वामी के आश्रम में आये। यहीं आने पर मंगलोर खबर पहुँची और उनकी धर्मपत्नी ने आकर उनसे

घर चलने का आग्रह किया। सिद्धारूढ़ स्वामी ने भी उनसे मंगलोर जाने को कहा। वहाँ से वे मंगलोर वापस आये और फिर वहाँ से कादी पहाड़ी की एक गुफा में जाकर रहने लगे।

इस गुफा में रामदास प्रायः तीन महीनों तक रहे। मोटा खद्दर उनका वसन था। एक मृगचर्म आसन और बिछौना था और दूध-केला भोजन था। दिन-रात भजन और ध्यान करते और आने-जानेवाले लोगों को अपने अनुभव सुनाते, राम की महिमा का बखान करते, मानव-जीवन के लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के उपाय के विषय में उपदेश करते। यहीं पर उन्हें गहरी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं जिससे वे अपनी सत्ता की गहराई में पैठकर अक्षर, शान्त और शाश्वत आत्मा का साक्षात्कार कर सकें। धीरे-धीरे इस आत्मस्थिति में उनका स्थायी निवास हो गया और फिर आगे चलकर एक सहज आनन्द की स्थिति ने उनपर अधिकार जमा लिया। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो उनकी अन्तरात्मा एक खिले फूल की तरह फैल गई हो और उसने मानो एक ज्योति के द्वारा समस्त विश्व को घेर लिया हो, प्रेम और ज्योति के एक सूक्ष्म मण्डल के भीतर मानो सबका आलिंगन किया हो। अब रामदास ने यह कहना आरम्भ कर दिया—'राम ही सब-कुछ हैं, प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु के रूप में बस वही विराजमान हैं।'

कादी गुफा में इस तरह परम ज्ञान और आनन्द की एक स्थायी स्थिति प्राप्त कर रामदास फिर एक बार यात्रा के लिए निकल पड़े। इस बार हुबली, पंढरपुर, बम्बई, सूरत, झाँसी, चित्रकूट, हरिद्वार, कश्मीर, अमरनाथ, अमृतसर इत्यादि स्थानों में घूमते हुए वे बम्बई वापस आये और वहाँ से फिर कसरागढ़ (दक्षिणभारत)। यहाँ उनके भाई आनन्द राव उनके लिए एक आश्रम बनाने की बात सोच रहे थे और उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। आनन्द राव के प्रस्ताव करते ही आश्रम बनाने की बात तय हो गई और 'पिलिकुंजी' पहाड़ी पर एक सुन्दर जगह भी मिल गई। इस आश्रम में स्वामी रामदास प्रायः डेढ़ वर्षों तक रहे और उसके बाद तीसरी बार समस्त भारत की यात्रा करने निकल पड़े। यात्रा से वापस आने पर उन्होंने फिर एक नये आश्रम की स्थापना १९३१ ई० के १५ मई को की और तब से प्रायः वहीं स्थायी रूप से रहते हैं। यह आश्रम 'मंजापति' पहाड़ी के ऊपर स्थित है और इसका नाम आनन्दाश्रम है। जिस भाग में यह आश्रम है वह भाग अब रामनगर के नाम से प्रसिद्ध हो गया। रामनगर का यह आनन्दाश्रम आज असंख्य मनुष्यों के लिए परम शान्ति और आनन्द का केन्द्र-स्थान बन गया है। इस आश्रम में प्रायः अनेक देशी-विदेशी विद्वान शंका-समाधान, ज्ञान-चर्चा, सत्संग और उपदेश-ग्रहण के लिए पहुँचते रहते हैं और स्वामी रामदास से भारतीय धर्म और संस्कृति का शुद्ध सन्देश लेकर लौटते हैं।

श्रीरामदास की शिक्षा

श्रीरामदास की शिक्षा का सार है एकमात्र राम का हो जाना—सब-कुछ उन्हीं पर छोड़ देना और उन्हीं के आदेशानुसार अपना जीवन परिचालित करना। राम का नाम-जप, स्मरण, ध्यान इत्यादि इस निर्भरता में सहायक हो सकते हैं।

उनकी दिव्यवाणियों का हम यहाँ सकलन कर रहे हैं जिनसे उनकी शिक्षा का कुछ मर्म पाठकों को मालूम हो सकेगा—

१. बाह्य नाम-रूपात्मक जगत् में आबद्ध और उसी में घुला-मिला जीवन दुःख-कष्ट का कारण होता है।

२. दुःख-कष्ट बाह्य परिस्थितियों के अन्दर नहीं है; वह अन्तर्निहित है—बद्ध और अज्ञ मन के अन्दर।

३. मनुष्य के दुःखी होने का कारण यह है कि वह बाहरी अवस्थाओं और विषयों में प्रसन्नता और शान्ति की खोज करता है। बाहरी अवस्थाएँ और चीजें स्वभावतः उस पूर्ण स्थिति को उत्पन्न करने में असमर्थ होती हैं जिसके लिए मनुष्य का हृदय लालायित रहता है।

४. केवल बाहरी रूपों को ही सत्य समझना, उनके भीतर पैठकर और उनका अतिक्रम कर उस दिव्य सद्वस्तु तक पहुँचने की चेष्टा न करना जिसके ऊपर सब-कुछ अवलंबित है और जिसके कारण सब-कुछ विद्यमान है—एकदम अज्ञान है।

५. बराबर इस विषय में सचेतन रहना कि हमारा व्यक्तिगत जीवन केवल लीला (खेल) की एक चीज है, जबकि वास्तव में हम चिर-मुक्त, सर्व-आनन्दमय और सर्वव्यापी आत्मा या सत्य हैं—यही है अहंकार से मुक्ति।

६. इस सत्य को कभी न भूलो कि यहाँ पर कोई भी चीज तुम्हारी नहीं है। सब-कुछ, स्वयं तुमको भी लेकर, विश्व के परम प्रभु का है। अधिकार की भावना अहंभाव की एक मुख्य विशेषता है।

७. व्यक्तिगत 'मैं' को छोड़ दो। एकमात्र भगवान् ही हैं, और वही सब-कुछ हैं। तुम्हारी अपनी साधनाएँ भी तुम्हारी नहीं हैं। जो कुछ तुम करते हो वह सब उन्हीं के काम हैं। बाहर और भीतर—सर्वत्र वही हैं। वह एक साथ ही कर्त्ता भी हैं और अकर्त्ता भी। वही सब-कुछ हैं।

८. अहं अथवा पार्थक्य का बोध मिथ्या है। आनन्द का केवल एक ही अपार पारावार है जो एक साथ ही गतिशील भी है और स्थिर भी। केवल एक ही ज्योति है, एक ही शक्ति, एक ही चेतना, एक ही सत्ता, एक ही सद्वस्तु है, वह शाश्वत और अनंत है।

९. उस महान् सत्य के लिए जीवन-यापन करो जो तुम्हारे अन्दर निवास करता है।

१०. सत्य या भगवान् के लिए दुःख भोगना केवल मनुष्य का ही गौरवपूर्ण सुयोग है। ऐसा दुःखभोग तुम्हें उनके अधिक निकट ले जाता है।

११. सच है, तुम 'सब' हो, तुम्हारे अन्दर ही 'सब' है, और तुम्हारे सिवा दूसर कोई नहीं है। इस शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करो, परिणति की इस चरम उच्चता पर। इसके सिवा सब-कुछ पूरा-का-पूरा अज्ञान है।

१२. अपने अन्दर भगवान् को देखो, और फिर सर्वत्र समस्त अभिव्यक्त जगत् के रूप में उन्हें देखो। निम्नतर लोकों में ही आबद्ध मत रहो; वहाँ पर तुष्टि पाने की चेष्टा मत करो। अपनी परात्परा सत्ता के क्षेत्रों में उड़कर चले जाओ। जबतक उच्चतम लक्ष्य प्राप्त न हो जाय तबतक बस अभीप्सा, अभीप्सा, अभीप्सा ही करते रहो।

१३. पूर्णता का लक्ष्य है मुक्त और स्वतन्त्र जीवन, जिसके भीतर शान्ति और जिसके समस्त क्रियाकलाप में आनन्द भरा हुआ हो, जो किसी भी परिस्थिति से बँधा हुआ या बाधा-प्राप्त न हो।

१४. ज्ञान है नींव, कर्म है ऊपरी ढाँचा और भक्ति है गुंबद। आत्मसिद्धि के सर्वांग-पूर्ण और सुन्दर मन्दिर की रचना करने के लिए ये तीनों ही एक साथ कार्य करते हैं।

१५. भगवान् को 'सर्व' के रूप में देखो, और फिर साथ ही उनका बच्चा और सेवक बने रहो। तुम एक साथ ही 'वह' और 'उनके' बालक हो! भगवान् स्वयं अपने भक्त हैं। वह एक रहस्य हैं, पर प्रकट रहस्य हैं—प्रेम और आनन्द में प्रकट।

१६. यह अनुभव करो कि तुम आनन्दमय आत्मा हो, और फिर तुम्हारे लिए, बाहरी कर्म में है गति, पर आत्मा की आंतरिक शान्तावस्था में है विश्राम।

१७. आओ, समस्त सत्ताओं के उन एकमात्र प्रभु के हाथों में इस यंत्र को अर्थात् अपने शरीर को, जैसे वे चाहें वैसे, व्यवहार करने के लिए छोड़ दो। जब हम सचेतन हो जायँगे कि वह उनसे कार्य कर रहे हैं तब अनुभव करेंगे कि हम मुक्त हो गये हैं।

१८. लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो साधना आवश्यक है उसके लिए साधक को अपने साथी मनुष्यों और सभी जीवों तथा अपने चारों ओर की सभी चीजों में भगवान् को देखना सीखना चाहिए।

१९. सब प्रकार के जीवनों का लक्ष्य है प्रेम से भरा हृदय प्राप्त करना और फिर एक ऐसा जीवन यापन करना जो स्वार्थहीन, मुक्त और प्रसन्न हो।

२०. निस्सन्देह कोई जीवन उस जीवन से महत्तर नहीं है जो मनुष्यजाति में विद्यमान भगवान् की सेवा में लगा हो। विश्व में और विश्व के परे भगवान् को देखना ही इस गौरवपूर्ण जीवन का आधार है।

२१. जीवन का महान लक्ष्य है सभी कामनाओं को बस एक कामना में परिवर्तित कर देना—भगवान् को प्राप्त करने की कामना में रूपान्तरित कर देना। इस एक चरम कामना की पूर्त्ति होने पर आपकी सभी कामनाएँ अपने-आप ही पूर्ण हो जायँगी।

२२. अमरत्व का आनन्द उपार्जित करो और उसीका उपभोग करो। अन्य सभी चीजों से पहले उसे ही अपना लक्ष्य और ध्येय बना लो।

२३. साधना का अन्त है शाश्वत और अक्षर आत्मा के साथ अपना एकत्व प्राप्त करना और अभिव्यक्त दुनिया के क्षेत्र में सभी कर्मों को करना।

२४. भक्ति जड़ है, वैराग्य वृक्ष है, ज्ञान फूल है और परमेश्वर की प्राप्ति फल है।

२५. भगवान् को प्राप्त करने का अत्यन्त उत्तम मार्ग है निष्काम सेवा करना।

२६. 'जबतक सभी विचार दूर न हो जायँ तबतक मेरा चिंतन करते रहो'—ध्यान के विषय में बस यही है भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा।

२७. सच्ची पूजा है सबके हृदय में निवास करनेवाले महान् सत्य का नित्य-निरंतर स्मरण करना और उसकी महिमा बढ़ाना।

२८. भगवान् की कृपा उसके लिए कभी नहीं होती जो आलसी और असावधान होता है। भगवान् की कृपा उसके लिए होती है जो परिश्रमी और अध्यवसायी होता है।

२६. 'सन्देह मत करो, भय मत करो, दुश्चिन्ता मत करो'—बस, यही होना चाहिए मंत्र, जो जीवन के सभी उत्थान-पतनों में हमें पथ दिखाये और प्रेरणा प्रदान करे।

३०. अपनी सच्ची सत्ता के साथ नित्य सम्पर्क बनाये रखकर बराबर ही प्रसन्न और आनन्दमय बने रहो। यही जीवन का गूढ़ रहस्य है।

३१. तुम्हारे गुरु, भगवान् और पथ-प्रदर्शक बराबर ही तुम्हारे अन्दर हैं। उन्हींका निरन्तर स्मरण करके उन्हीं से शक्ति और शान्ति प्राप्त करो।

३२. भगवान् का सतत स्मरण कर और उन्हें आत्मसमर्पण कर तुम एक दृढ़ संकल्प का विकास कर सकते हो जिसके द्वारा तुम अपने मन को वश में कर सकते हो और उसे समस्त सन्देहों और भयों से मुक्त कर सकते हो।

३३. चिरप्रसन्न मन समस्त मानसिक और शारीरिक रोगों को अच्छा कर सकता और दूर कर सकता है।

३४. भगवान् की प्राप्ति के मार्ग में साधक के सामने जो बाधक बनकर आता है वह है चंचल और वासना-क्लान्त मन। अतएव सबसे पहले मन को वश में करना और उसकी वासनाओं को दूर करना एकदम आवश्यक है। फिर उसके बाद ही भागवत ज्योति और ज्ञान उसके हृदय को आलोकित कर सकते हैं।

३५. अपने भीतर से पथ-प्रदर्शन पाने की चेष्टा करो। उसी वाणी को सुनो और कार्य करो। महज इसलिए कोई काम मत करो कि लोग चाहते हैं कि तुम वैसा करो।

३६ निश्चय ही संसार अभी जैसा है वैसा ही उसे स्वीकार करना होगा, क्योंकि जैसा हम चाहते हैं वैसा उसे बदल देने की शक्ति हममें नहीं है; पर यह हमारे हाथ में है कि हम अपने दृष्टिकोण को और उसके प्रति अपने मनोभाव को बदलकर हम उसमें निवास कर सकें।

३७. जागृति हो जाने के बाद साधक को अपनी श्रद्धा में सुदृढ़ और निष्कंप बन जाना चाहिए और साधना के पथ पर चलना चाहिए। भगवान् को अपने अन्दर अपने गुरु-रूप से धारण कर और जबतक लक्ष्य तक पहुँच न जायँ तबतक संघर्ष को छोड़ना नहीं चाहिए। साधना की शीघ्र सफलता निर्भर है—भगवान् को प्राप्त करने की उसकी चाह की तीव्रता पर।

३८. भगवत्-दर्शन प्राप्त करने के लिए तुम्हें गुणों और द्वन्द्वों को पार कर जाना होगा। किसी भी शास्त्र या धर्म के आदेशों से बँधे मत रहो, बल्कि 'उन' के प्रति पूर्ण हार्दिक समर्पण करके एकदम मुक्त-स्वतन्त्र बने रहो।

३९. मन को भगवत्-चिंतन में रहना सिखाओ और इस तरह उसे सर्वत्र भगवान् को देखने की शिक्षा दो और चिर-शान्ति तथा आनन्द प्राप्त करो।

४० समस्त साधनाओं को खेल के रूप में करो; उनका मूलमंत्र बस प्रसन्नता ही हो। हृदय में आनन्द लेकर और हलके पैरों 'परमप्यारी माँ' से मिलने जाओ जो बराबर ही तुम्हारी हैं। तुम उसके स्वीकृत बच्चे हो।

४१. संघर्ष उन्नति की सुनिश्चित अवस्था है। हिचको मत, बेहोश मत हो। सर्वशक्तिमान भगवान् तुम्हारे सहायक हैं, पूरे वेग से आगे बढ़ो और प्रत्येक तूफान का

बहादुरी के साथ सामना करो। जरा भी घबराओ नहीं। अपने हृदयस्थ प्रेमास्पद से मिलने के लिए प्रसन्न मन के साथ और हँसते हुए जाओ। वह बराबर ही तुम्हारे साथ है, और तुम और वह परस्पर भिन्न नहीं हैं।

४२. स्वयं भगवान् ने ही हमें अलग-अलग स्थितियाँ दी हैं। वह हमसे आशा करता है कि हम न तो झुंझलाएँ, न क्षुब्ध हों, न चिन्तित हों। कोई भी अवस्था हमारे लिए बुरी नहीं है, बशर्ते हम बराबर 'उसे' स्मरण करना न भूलें।

४३. जबतक तुम अपने अन्दर आवश्यक परिवर्तन नहीं लाते तबतक संसार को रूपान्तरित करने की चेष्टा मत करो।

४४. साधनकाल में साधक को अपने सभी कामो में खूब शान्त-स्थिर और एकाग्र होना सीखना चाहिए; उसे अपने अन्दर तथा अपने चारों ओर सर्वत्र होनेवाली भागवत शक्ति की रहस्यपूर्ण क्रिया को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए और यह बराबर याद रखना चाहिए कि सभी चीजें भले के लिए और एकमात्र भले के लिए ही घटित होती हैं।

४५. नम्रता के साथ, पर महत्ता के साथ, जीवन बिताओ। भगवान् में तथा उनके विधान में सच्चा विश्वास रखते हुए जीवन के सभी तूफानों का साहस के साथ सामना करो।

४६. भगवान् यह नहीं चाहते कि हम किसी नियम के द्वारा या किसी अनुशासन की धारा में आबद्ध हो जायँ और बराबर के लिए उसे अनिवार्य बना डालें। सच्ची स्वतन्त्रता का मतलब है जीवन के सभी परिवर्तनों, सभी मोड़ों और उत्थान-पतनों में शाश्वत प्रभु के आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होना।

४७. मन को शिक्षा दो कि वह सर्वत्र और सब चीजों में उनकी उपस्थिति का अनुभव करे। वह एक अविकार्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अरूप, सत्य हैं और साथ ही शक्ति भी हैं, सभी अभिव्यक्तियों में क्रियाशील और गतिशील शक्ति भी हैं।

४८. प्रथम सोपान के रूप में, बराबर यह समझो कि तुम बस उसी शक्ति के हाथ के एक यंत्र हो, और सभी साधनाओं में से इस प्रकार गुजरो, मानों वे उसके कार्य हों और तुम्हारे द्वारा हो रहे हो। अधीर मत हो; धीर-स्थिर भाव से बढ़ते चलो और प्रगति तथा अन्तिम सिद्धि का प्रश्न स्वयं भगवान् के ऊपर छोड़ दो।

४९. अपने दोषों के विषय में अत्यधिक सचेतन मत हो और उनके लिए दुश्चिन्ता मत करो।

५०. महज बाहरी त्याग केवल अनावश्यक ही नहीं है; बल्कि वह ठीक मार्ग भी नहीं है।

५१. बराबर बहादुर और प्रसन्न बने रहो और जीवन के क्षणिक तूफानों द्वारा अभिभूत मत हो जाओ।

५२. भगवती माता को आत्म-समर्पण कर दो जो दिव्य शक्ति हैं। वह तुम्हारे अन्दर कार्य करती हैं और वही यह देखेंगी कि तुम एक सच्चा और शान्तिपूर्ण जीवन बिताते हो और उन्हीं के सर्वज्ञ संकल्प द्वारा परिचालित हो रहे हो।

५३. अपने समस्त जीवन को और उसके सभी कार्यों को सत्य का एक आनन्दपूर्ण अभिव्यक्ति बना दो।

[२] भारतीय धर्म और संस्कृति पर तीन महापुरुषों के विचार

राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद—

"हमारे इस देश में धार्मिक सहिष्णुता की बहुत ही प्राचीन और चिरकालीन परम्परा है। हम भारतीयों का सदा यह विश्वास रहा है कि पर्वत-शिखर पर (धर्म के अंतिम लक्ष्य ईश्वर तक) पहुँचने के लिए विविध मार्ग हो सकते हैं, और उस शिखर पर पहुँचने के लिए प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है, चाहे जो मार्ग उसके लिए सुगम हो या जो मार्ग उसे पसंद हो। सदियों से भारत का सम्बन्ध दूसरे-दूसरे देशों के साथ रहा है, पर मुझे एक भी ऐसे उदाहरण का पता नहीं है कि भारत ने दूसरे देश को जीतने के लिए सैनिक चढ़ाई की हो। हमने दूसरे देशों में अपने धर्म-प्रचारकों और धर्मदूतों को भेजा है और दूसरे देशों के धर्मप्रचारकों और धर्म-दूतों का खुले दिल से स्वागत किया है। इसी प्रकार हमारे देश की संस्कृति का निर्माण हुआ है। भारतीय संस्कृति और धर्म-परंपरा के लिए साम्प्रदायिकता एक अपरिचित वस्तु थी और यदि कुछ हद तक साम्प्रदायिकता आज हो भी तो उसे निश्चित रूप से शीघ्र ही विलीन हो जाना चाहिए। भारतीय संविधान ने किसी भी धर्म को स्वीकार करने की पूर्ण स्वतंत्रता की ही गारंटी नहीं दी है; बल्कि अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म को अपनाने और उसका प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता की भी गारंटी दी है। इस प्रकार की धार्मिक स्वतंत्रता देने में संविधान बनानेवालों ने अपनी ओर से कुछ नहीं किया है, बल्कि सदियों की भारतीय परंपरा को ही कायम रखा है।"

उपराष्ट्रपति डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन—

"यदि विश्व के लिए शान्ति का पथ अभीष्ट है तो विविध धर्मों के आधारभूत सिद्धान्तों के समन्वय की आवश्यकता है। मानव-समाज के आन्तरिक सम्बन्ध में उन सिद्धान्तों का समन्वय उदारतापूर्वक होना चाहिए। ब्रह्मसूत्र तथा श्रौत सूत्र की व्याख्या में भी उदार दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। केवल वैयक्तिक सहिष्णुता की भावना को ही बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, वरन् विभिन्न धर्मों में सहिष्णुता लाने की आवश्यकता है, जिससे यदि किसी विश्व-धर्म का आविर्भाव न हो सके तो कम-से-कम धर्म का एक सार्वभौम आधार तो तैयार हो जाय। तभी विश्व में नई स्थिति पैदा हो सकती है। भौतिकवाद और पूँजीवाद के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों के कारण दुनिया में नैराश्य और संशयवाद का भाव छाया हुआ है।

यह कहना ठीक नहीं है कि धार्मिक विचार तर्क-संगत तथा बुद्धि-संगत नहीं होते। किन्तु, धार्मिक विचारों की सार्थकता की पुष्टि के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वैज्ञानिक तथा दार्शनिक तत्त्व अन्ततः एक और अभिन्न हैं। विज्ञान स्थूल सत्य पर आधारित है और दर्शन सूक्ष्म सत्य पर। दर्शन का अभिप्राय आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण करना है। उस परम शास्ता (परमेश्वर) ने मनुष्य-मनुष्य में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा, चाहे वह किसी वर्ग अथवा धर्म का क्यों न हो। वहाँ तो शत्रु-मित्र का भी भेद नहीं है।"

पण्डित जवाहरलाल नेहरू, प्रधानमंत्री और कांग्रेसाध्यक्ष—

"प्रत्येक भारतीय को यह समझना है कि भारत में जो विविध धर्म, मत, सम्प्रदाय और पंथ हैं, वे उतने ही भारत के अपने हैं, जितने दूसरे देशों के, और हम भारतवासी उसी महान परंपरा के हिस्सेदार और साझीदार हैं। हमलोग अपनी अन्तरात्मा, अपनी श्रद्धा और अपने विश्वास के अनुसार भिन्न-भिन्न धर्म-पंथों का अनुसरण कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य को ऐसा करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। लेकिन, यह खयाल करना ऐतिहासिक दृष्टि से और वास्तविक दृष्टि से भी बिल्कुल गलत है कि जो लोग हमसे भिन्न धार्मिक विश्वास के अनुयायी हैं, वे किसी तरह भारत के लिए विदेशी हैं।"